पुरानी हिन्दी और अन्य रचनाएं

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

सम्पादक: डॉ. मनोहर लाल

पुरानी हिन्दी और अन्य रचनाएं

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

सम्पादक: डॉ. मनोहर लाल

जिन श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी को मात्र तीन कहानियां और दो-तीन निबंध लिखकर अमर हो जाने वाले विरले साहित्यकार कहकर खारिज़ कर दिया जाता रहा है, डॉ० मनोहरलाल ने उनकी पहले **गुलेरी साहित्यालोक** तथा **गुलेरी रचनावली** और अब **पुरानी हिन्दी और शेष रचनाएं** के रूप में सैंकड़ों कृतियां (कविता-कहानी-निबंध-संस्मरण-इंटरव्यू-शोध-समालोचना-जीवनी) संकलित-सम्पादित करके सिद्ध कर दिया है कि वह द्विवेदी युग के शीर्षस्थ साहित्यकार होने के साथ-साथ अपने समकालीनों के बीच इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, धर्म, राजनीति, भाषा-साहित्य तथा भारत-विद्या के उद्भट विद्वान के रूप में भी समादरित थे। वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी बहुज्ञ मनीषी साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा वेद और लोक—दोनों कूलों के बीच अबाध बहती रही है।

पुरानी हिन्दी और शेष रचनाएं में गुलेरीजी की अधिसंख्य भूली-बिसरी, अज्ञात तथा दुर्लभ रचनाएं हैं जो पहली बार अपने मूल तथा प्रामाणिक पाठ में सामने आई हैं। कालक्रम की दृष्टि से 'धर्मपरायण रींछ' (भले ही मौलिक नहीं) तथा 'उसने कहा था' की अगली कड़ी 'हीरे का हीरा' कहानीकार गुलेरी को समझने की नयी भूमिका बनाती हैं। 'पुरानी हिन्दी', 'बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण', 'विक्रमोर्वशी की मूलकथा', 'सोऽहम्', 'वेद में पृथिवी की गति', 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस', 'बंग का भंग' आदि के अतिरिक्त शताधिक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षाएं प्रमाण हैं कि वह तलस्पर्शी शोधार्थी, चिन्तक तथा जागरूक समालोचक, पत्रकार और सम्पादक एक साथ थे। उन्होंने 'समालोचक'-सम्पादक के रूप में हिन्दी-समालोचना के आदर्श स्थापित करके समालोचना-पद्धति का नया मार्ग प्रशस्त किया था। उनकी रचनाओं से लक्षित है कि वह संस्कारों की जड़ता से मुक्त तथा विदग्ध फक्कड़पने के धनी थे। उनमें काशी का पाण्डित्य और काशी का कबीर एकमेक हैं। वह पाठक को रस-सिक्त करने के प्रयास में व्यंग्य-बाणों के घावों से पाण्डित्यपूर्ण हास की सृष्टि करते हुए, उसके विवेक को जगाना नहीं भूलते।

सुखद सूचना है कि डॉ० लाल गुलेरी जी की **'अभी और'** कृतियों के संधान में सच्ची शोधवृत्ति तथा श्रमशीलता से प्रयत्नशील हैं।
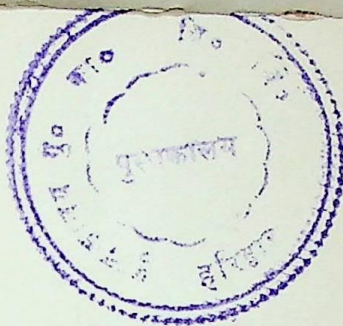
पुरानी हिन्दी और शेष रचनाएं

[अमर साहित्यकार **पण्डित श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी** विरचित साहित्य का प्रामाणिक सम्पादित संकलन]

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
प्रणीत

पुरानी हिन्दी और शेष रचनाएं

सम्पादक
डॉ॰ मनोहरलाल

ISBN : 81-7016-027-8

प्रकाशक
किताब घर
शीलतारा हाउस, २४/४८६६, अंसारी रोड
दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९८८

आवरण
इमरोज़

मूल्य
दो सौ रुपये

मुद्रक
कौशिक प्रिंटिंग प्रेस, द्वारकापुरी
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

PURANI HINDI AUR SHESH RACHANAIAN (Hindi)
Edited by Dr. Manohar Lal Price : Rs. 200 00

अमर कथा-शिल्पी, चिन्तक तथा प्रेरक

स्व० जैनेन्द्रकुमार जी

की

पुण्य स्मृति में

अपनी बात

मैंने मनीषी साहित्यकार पं० श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रतिनिधि कृतियों को, सुधी आलोचकों के अभिमत सहित, उनकी जन्मशती (१९८३ ई०) पर **गुलेरी-साहित्यालोक** के रूप में सम्पादित करके प्रस्तुत किया था, जिसका विमोचन करते हुए अमर कथाशिल्पी स्व० जैनेन्द्रकुमार जी ने कहा था—"गुलेरी जी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें गज़ब की ज़िन्दादिली थी। और, उनकी शैली भी अनोखी है। गुलेरी जी न केवल विद्वत्ता में अपने समकालीन साहित्यकारों से ऊँचे ठहरते हैं, अपितु एक दृष्टि से वह प्रेमचन्द से भी ऊंचे साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द ने समसामयिक स्थितियों का चित्रण तो बहुत बढ़िया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप में गुलेरी का जोड़ नहीं है। प्रेमचन्द अपने साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों के चित्रण से आगे नहीं बढ़े, जबकि गुलेरी ने 'उसने कहा था' में ही मानवतावाद की आत्मा का स्पर्श कर लिया है। आश्चर्य है कि उनके निधन के इतने वर्ष बाद भी उनकी रचनाएं प्रामाणिक पाठ के साथ पुस्तक रूप में नहीं आ पाईं। 'गुलेरी साहित्यालोक' इस दिशा में एक प्रेरक प्रयास कहा जाएगा।"

स्व० जैनेन्द्र जी के शब्दों से मुझे विशेष प्रेरणा मिली और मैंने मन-ही-मन गुलेरी जी की अन्य रचनाओं को भी संकलित-सम्पादित करने का प्रण कर लिया जो 'गुलेरी रचनावली', तथा अब 'पुरानी हिन्दी और शेष रचनाएं' के रूप में साकार हो सका है। मैंने पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी उनकी रचनाओं का विषयानुकूल वर्गीकरण कर दिया है। इससे उनकी सृजनशीलता के विविध आयाम स्पष्ट होते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रत्येक रचना के प्रामाणिक पाठ के साथ-साथ उसके 'प्रथम प्रकाशन' का उल्लेख भी है। ये रचनाएं उस समय खड़ीबोली के बन रहे स्वरूप की भी परिचायक हैं। मैंने गुलेरी जी के भाषा-प्रयोग—उनने, जिनने, अबके, करै, करैं, चाहै, चाहैं, पावै, पावैं, चलावै, कहै, कहैं, रहै, रहैं, तौ, हौ, हौं, छै, कैसै, लेवै आदि को यथावत् रहने दिया है। उनकी भाषा में तद्भव तथा देशज शब्दों की भी बहुलता है।

गुलेरी साहित्यालोक, गुलेरी रचनावली तथा **प्रस्तुत ग्रंथ** में गुलेरी जी का नब्बे प्रतिशत कृतित्व अवश्य ही समेट चुका हूं। अभी उस युग की पत्र-पत्रिकाओं में और कई कुछ मिलने की संभावना है। 'भारतमित्र' में उनकी और कहानियां

तथा लेख होने के संकेत मिले हैं। अभी उनकी छद्मनामों से छपी अन्य कृतियों का संधान भी शेष है। उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी में लिखा भी है; अंग्रेजी, संस्कृत तथा बंगला से अनुवाद भी किया है। प्रस्तुत ग्रंथ के अप्रत्याशित रूप से बढ़ते गए कलेवर के कारण पर्याप्त सामग्री रोकनी भी पड़ी है जिसे निकट भविष्य में प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील हूं।

प्रस्तुत ग्रंथ में संकलित 'काशी' तथा 'स्वागत' रचनाएं 'गुलेरी रचनावली' में भी हैं, पर अब इनके और प्रामाणिक मूल पाठ मिल जाने से इन्हें पुनः प्रस्तुत करना उचित समझा है। 'गुलेरी साहित्यालोक' तथा 'गुलेरी रचनावली' के **परिशिष्ट** में दी गई 'रचनाओं की सूची' संशोधित तथा परिवर्धित कर दी गई है। पाठक, अब इसे ही प्रामाणिक मानें।

गुलेरी जी का **पुरानी हिन्दी** प्रबन्ध हिन्दी के प्राचीन बनते-बदलते स्वरूप का दर्पण है। यह उनकी बहुज्ञता तथा पाण्डित्य का परिचायक है। 'हीरे का हीरा', 'धर्मपरायण रींछ' तथा 'घण्टाघर' 'उसने कहा था' के शिल्पी को नये सिरे से समझने में सहायक हैं।

सवश्री विष्णु प्रभाकर, रामदरश मिश्र, हरदयाल, कमल किशोर गोयनका, ओम्प्रकाश सारस्वत तथा प्रताप सहगल ने 'धर्मपरायण रींछ' पर सम्मतियां देकर कृतार्थ किया है। आप सब महानुभावों का आभारी हूं।

प्रस्तुत ग्रंथ की सधिसंख्य रचनाएं 'समालोचक' में से हैं। इन्हें उपलब्ध कराने में श्री ओंकारलाल मेनारिया, सहायक निदेशक : राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर का अन्यतम सहयोग मिला है। अन्यान्य कृतियों के लिए चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा की सहायता मिली है। मैं श्री मेनारिया तथा पुस्तकालय अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूं।

बन्धुवर पं० श्यामसुन्दर शर्मा ने सामग्री-संचयन में मेरा मार्ग-दर्शन किया है। मैं उनके प्रति औपचारिक धन्यवाद प्रकट करके उऋण होना नहीं चाहता।

और, प्रकाशक भाई सत्यव्रत शर्मा का तो इसलिए विशेष आभारी हूं कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इस शलाका पुरुष के अज्ञात तथा दुर्लभ साहित्य को सुचारु रूप में प्रकाशित करने का बीड़ा उठा लिया है।

—मनोहरलाल

हिन्दी-विभाग
श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७
ज्योतिपर्व, २०४५ वि०

विषय-सूची

द्वितीय खंड

शेष रचनाएं

राजनीति/धर्म

भाषा

अत्र तत्र सर्वत्र : सम्पादकीय टिप्पणियां

पत्र-पत्रिकाएं

हमारी आलमारी :

काव्य

पत्र-साहित्य

खुली चिट्ठियां

प्रेरित पत्र :

व्यक्तिगत पत्र :

परिशिष्ट

भूमिका

जीवनवृत्त

पण्डित श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म शनिवार, ७ जुलाई १८८३ ई० को पुरानी बस्ती (मोतीसिंह भोमिया के रास्ते में लाल हवेली), जयपुर में महाराजा रामसिंह के राज-पण्डित तथा मोद मन्दिर सभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पण्डित शिवराम शास्त्री के घर हुआ। इनकी माँ लक्ष्मीदेवी स्वाध्याय-परायण तथा धार्मिक प्रवृत्ति की महिला और पण्डितजी की तीसरी पत्नी थीं। वह कांगड़ा (हि० प्र०) के **गुलेर** गाँव के मूल निवासी थे। उन्होंने सन् १८६७ ई० में काशी में, हिमालय से लौटे धर्माचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित करके अपने गुरुवर भाष्यब्रह्मचारी विरुदविभूषित पं० विभवरामजी के आशीर्वाद से जयपुर-दरबार का राजसम्मान पाया और फिर वहीं बस गए।

ज्योतिर्विद् पं० शिवराम शास्त्री ने पुत्र के जन्म-लग्न में कर्क (लग्न) का स्वामी चन्द्रमा होने से नाम रखा — **चन्द्रधर**। बालक का पालनपोषण घर के संस्कृतमय वातावरण, वंशानुगत पुरोहिताई, पूजापाठ, संध्यावंदन और ब्राह्मणत्व के कर्मकाण्डी अनुशासन में हुआ। आठ-नौ वर्ष की आयु में ही 'अष्टाध्यायी' के आरम्भिक अध्याय और संस्कृत के दो-तीन सौ श्लोक कण्ठस्थ कर, बालक ने प्रखर बुद्धि का परिचय दिया और 'अमरकोश' का सस्वर पाठ करने में भी पारंगत हो गया। उसने नौ-दस वर्ष की अवस्था में 'भारत धर्म महामण्डल' के सदस्यों को धाराप्रवाह संस्कृत-भाषण से भी चमत्कृत किया।

पं० शिवरामशास्त्री ने महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद के परामर्श पर चन्द्रधर को अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के लिए महाराजा कॉलेज, जयपुर में प्रवेश दिलवाया। पं० दुर्गाप्रसाद ने उसे भाषा, साहित्य तथा देश-सेवा के सुसंस्कार दिए। बालक उन्हें 'चाचाजी' कहकर आदर देता था। बाद में, उसने इन्हीं से 'काव्यप्रकाश' भी पढ़ा।

चंद्रधर ने १८९७ ई० में द्वितीय श्रेणी में मिडिल, १८९९ ई० में इलाहाबाद से प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेंस और कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक

पास किया। इसके लिए उन्हें जयपुर-राज्य की ओर से स्वर्णपदक मिला। १९०० ई० में जैन वैद्य (श्री जवाहरलाल जैन) के सहयोग से जयपुर में 'नागरी-भवन' की स्थापना की और १९०१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी, ग्रीक, संस्कृत, विज्ञान, गणित, इतिहास तथा तर्कशास्त्र प्रभृति विषयों में एफ० ए० किया। इसमें हिन्दी में मौलिक समीक्षात्मक निबन्ध-लेखन में 'विशेष योग्यता' और अंग्रेजी-गद्य के पर्चे में कलकत्ता-कॉलेज के छात्रों में द्वितीय स्थान पाया।

सन् १९०२ ई० कर्नल सर स्विण्टन और कैप्टन ए० एफ० गैरेट को महाराजा सवाई जयसिंह (द्वितीय) द्वारा स्थापित जयपुर वेधशाला (ज्योतिष यंत्रालय) के जीर्णोद्धार और शोधकार्य के लिए संस्कृत तथा ज्योतिष के ऐसे विद्वान् की आवश्यकता हुई जिसका अंग्रेजी तथा विदेशी भाषाओं पर भी अधिकार हो। इसके लिए श्रीचंद्रधर शर्मा का चयन हुआ और उनके सहयोग से इस विद्वानों ने 'द जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' नामक ग्रंथ लिखा जिस पर गुलेरी जी का नाम सहलेखक के रूप में छपा। इसके छिए उन्हें जयपुर-राज्य की ओर से स्वर्णपदक तथा तीन सौ रुपये की पुस्तकें प्रदान की गईं। जयपुर वेधशाला के यंत्रों पर लगे जीर्णोद्धार तथा शोधकार्य विषयक शिलालेखों पर भी 'चंद्रधर गुलेरी' नाम खुदा है। उन्होंने अगस्त १९०३ ई० में **समालोचक** का सम्पादन-कार्य संभाला और प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० (प्रथम श्रेणी में प्रथम) किया। और, 'वैश्योपकारक' (वर्ष १, सं० ६, पृष्ठ २०३) में छपा—"**समालोचक** के सुयोग्य सम्पादक श्रीयुत पण्डित चंद्रधर शर्मा जी, बी० ए० की परीक्षा में सबसे पहले रहे। खबर मिली है कि जयपुर-नरेश ने इसलिए उक्त पण्डितजी को स्वर्ण-पदक और बहुमूल्य पुस्तकों का पुरस्कार दिया है।"

गुलेरी जी अस्वस्थ हो जाने से एम० ए० (दर्शनशास्त्र) की परीक्षा नहीं दे पाए। वह १९०४ ई० में खेतड़ी-नरेश जयसिंह के शिक्षक एवं अभिभावक नियुक्त होकर मेयो कॉलेज, अजमेर में प्राध्यापक; १९०७ ई० में जयपुर भवन के मोतमिद (रियासत के सामन्तों और प्रशिक्षणार्थियों के अभिभावक); १९१६ ई० में पं० शिवनारायण के स्थान पर मेयो कॉलेज में संस्कृत-विभागाध्यक्ष तथा १९२० ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक-मण्डल के सदस्य बने। १९२० ई० में उन्हें जगद्गुरु शंकराचार्य (शारदापीठ के अधीश्वर) ने 'इतिहास-दिवाकर' की उपाधि से सम्मानित किया। और, पं० मदनमोहन मालवीय के आग्रह पर ११ फरवरी, १९२२ ई० को हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के प्राच्य-विभाग के प्राचार्य एवं मनीन्द्रचंद्र नंदी चेयर के प्रोफेसर बने।

गुलेरी जी 'काश्यां मरणान् मुक्तिः' का मर्म जानते थे। उन्होंने अपने

७-६-१९१८ ई० के पत्र में राय कृष्णदास को लिखा था—"काशी को मैं नहीं भूला, न भूल सकता हूं, न आपको भूला। सदा काशी का स्मरण रहता है पर 'या भूखे पापी पेट को नाथ कहां कैसे भरें—

काशीमेव गमिष्यामि मरिष्यामि तत्र वै।
सदैव चिन्तयन्नेवं काशीवास फलं लभेत् ॥'[1]

और, मंगलवार, १२ सितम्बर, १९२२ ई० की ब्रह्मवेला में सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा असाधारण पाण्डित्य के धनी मनीषी साहित्यकार ने सन्निपात के बहाने पुण्यतीर्थ काशी में अपनी इहलीला समेट ली।

बहुमुखी प्रतिभा

गुलेरी जी भाषाविद् थे। उनकी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रजभाषा, अवधी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, बंगला, अंग्रेजी, लेटिन तथा फ्रेंच आदि भाषाओं में अवाध गति थी। वह भाषाविज्ञान, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला, संगीत, काव्यशास्त्र, वैदिक-पौराणिक साहित्य एवं धर्म आदि विषयों के भी पण्डित थे। उन्होंने कहानी, निबन्ध, संस्मरण, इंटरव्यू, समीक्षा, जीवनचरित तथा काव्य प्रभृति विधाओं में मौलिक साहित्य-सृजन किया है। अपने कृतित्व की गरिष्ठता के कारण वह द्विवेदी युग के आधार स्तम्भ सिद्ध होते हैं। कहानी, निबन्ध तथा शोध के क्षेत्र में उनकी गणना अपने समय के अग्रणी विद्वान साहित्यकारों की प्रथम पंक्ति में होती है। उन्होंने 'संगीत की धुन' रचना के रूप में १९०५ ई० में गांधर्व महाविद्यालय, लाहौर के संस्थापक तथा अध्यक्ष पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का इंटरव्यू करके हिन्दी-साहित्य में 'इंटरव्यू' विधा का सूत्रपात भी किया था।

गुलेरी जी की सृजनशीलता के मुख्य पड़ाव चार हैं—

१. **समालोचक** (१९०३-०६); २. **मर्यादा** (दिसम्बर-जनवरी, (१९११-१२); ३. **प्रतिभा** (१९१८-२०) तथा ४. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** (१९२०-२२)। इन पत्रिकाओं में उन्होंने दर्जनों रचनाएं एक साथ लिखकर अपने गंभीर अध्ययन, चिन्तन तथा पाण्डित्य का परिचय दिया। साथ ही 'सरस्वती', 'भारतमित्र', 'इंदु', 'पाटिलपुत्र', 'श्री राघवेन्द्र', 'विद्यार्थी', 'वैश्योपकारक' तथा 'श्रीवेंकटेश्वर' आदि में भी लिखते रहे। **हिन्दी-हिन्द-हित साधन** उनके जीवन का लक्ष्य था। वह भारत को स्वाधीन तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते थे।

१. मैं काशी जाऊंगा और वहीं जाकर मरूंगा।—सदा इस तरह सोचनेवाले को काशीवास का फल प्राप्त होता है।

'पुरानी हिन्दी' तथा 'उसने कहा था' की तरह 'बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण,' 'विक्रमोर्वशीय की मूलकथा', 'काशी', 'वेद में पृथिवी की गति,' 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस', 'देवकुल', 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहिं कुठाऊं', 'देवकुल', 'संगीत', 'संस्कृत की टिपरारी', 'शैशुनाक की मूर्तियां', 'काशी की नींद और काशी के नूपुर', 'वर्ण विषयक कतिपय विचार' तथा 'धर्म और समाज' आदि गुलेरी जी की कालजयी कृतियां हैं। इनमें उन्होंने अपने युग की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करके भविष्य के द्वार का सांकल खटखटाया है। रूढ़ियों का विरोध उनकी रचनाओं में मुखर है। वह स्त्री-शिक्षा के पक्षधर थे। उन्होंने चातुर्वर्ण्य को 'कर्मणा' स्वीकारा है। वह जागरूक लेखक, आलोचक तथा सम्पादक थे। उनकी कलम व्यंग्य की धनी थी। पाण्डित्यपूर्ण हास की उनकी रचनाओं में प्रचुरता है। छुआछूत, बाल-विवाह, जन्मना जाति, विदेश-यात्रा आदि संदर्भों में वह अपने समसामयिकों से बहुत आगे चलते हैं। वह समाज को रूढ़ियों के पाश से मुक्त करने में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। उनकी रचनाओं में विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर भी फूटता जाता है। वे परम्परा से पण्डित अवश्य थे, पर पुरातन पंथी नहीं।

वह प्रगतिशील विचारक थे—"···जो धर्म बलात्कार से कराया जाय वह धर्म नहीं है, अधर्म है।···आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान—जो सबको एक भाव से चलावै, और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करै।" राष्ट्रीय एकता का यही स्वर उनकी 'भारत की जय' आदि कविताओं में भी मुखर है।

कहानियां

गुलेरी जी तीन मौलिक कहानियों—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कांटा' तथा 'उसने कहा था' के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी चौथी मौलिक कहानी 'हीरे का हीरा' (अपूर्ण) है। इसे गुलेरी जी के भाई पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी के यहां सुरक्षित गुलेरी जी के कागज-पत्रों में से डॉ० छोटाराम कुम्हार ने खोज निकाला था। यह पहली बार 'जनसत्ता' (६ सितम्बर, १९८७ ई०) में छपी थी। यह गुलेरी जी के हस्तलेख में बड़े आकार के दो पृष्ठों में है। प्रथम पृष्ठ पर ३५ और द्वितीय पर ३६ पंक्तियां तथा प्रति पंक्ति लगभग १९ शब्द हैं। प्रथम पृष्ठ पर लिखित अंश १२×७, १/२" तथा द्वितीय पर १२×८" है। ये दो खण्डों में विभाजित हैं। यह 'उसने कहा था' का उत्तर अंश प्रतीत होती है।

'उसने कहा था' के अन्त में आता है—

"**कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम-६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।**" पर
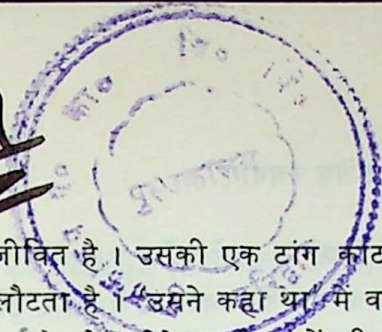
'हीरे का हीरा' में वह जीवित है। उसकी एक टांग काट दी गई है, वह लकड़ी की टांग के सहारे घर लौटता है। "उसने कहा था" में वह फ्रांस और वेलजियम की धरती पर घायल होता है और 'हीरे का हीरा' में चीन की लड़ाई में। उसकी टांग काट दिए जाने के समाचार से वृद्धा मां तथा पत्नी बहुत दुखी होती हैं। 'हीरा' उसका सात साल का वेटा है। इस कहानी में कांगड़ा की लोक-संस्कृति का चित्रण है। 'बुद्धू का कांटा' तथा 'उसने कहा था' में उभरती आंचलिकता इस कहानी में अधिक मुखर है। इसमें भारतीय नारी के मां तथा पत्नी रूपों का वात्सल्य तथा शृंगार के परिप्रेक्ष्य में मर्मस्पर्शी चित्रण है।

कथाकार राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका (पृ० ३५) में प्रश्न उठाया था—"मान लीजिए, 'उसने कहा था' का लहनासिंह न मरता तो? मान लीजिए वह घायल होकर या बिना घायल हुए रिटायर होकर 'मेजर चौधरी' (अज्ञेय) की तरह वापस लौट आता?"—आदि।

अब लहनासिंह की यह वापसी भला क्या अर्थ देती है?

गुलेरी जी ने कुछ मौलिक कहानियां और भी लिखी हैं, जिनकी खोज अभी नहीं हुई। डॉ० पीयूष गुलेरी द्वारा प्रस्तुत 'भारतमित्र' से सम्बद्ध पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के १९१२ ई० के पत्र में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएं हैं। यह पत्र यों है—

"प्रिय गुलेरी जी, नमस्कार। कहानी तथा पत्र आया। कहानी आप जरूर गढ़ डालते हैं पर चटपट नहीं। अगर चटपट गढ़ सकते हों तो एक और गढ़ डालिए। बारह महीने में एक गढ़ ली तो क्या हुआ! सचमुच आप बड़े ढीले हैं। जो हो आपकी कहानी बड़ी मजेदार और सुन्दर हुई है। बड़ा आनन्द आता है। इसी से से कहता हूं कि और। होली की टिप्पणियां भी खासी थीं। क्यों न हों, आप आप ही हैं।"[1]

उक्त पत्र से ये संकेत मिलते हैं—

१. 'बारह महीने में एक गढ़ ली' से लगाता है, सन् १९११ ई० में 'सुखमय-जीवन' छपने के बाद लिखी यह कोई अन्य कहानी है। लगता है 'सुखमय जीवन' मार्च-अप्रैल, १९११ ई० के आसपास छपी होगी।

२. 'जो हो आपकी कहानी बड़ी मजेदार और सुन्दर हुई है'—से लगता है, यह नयी कहानी मनोरंजकता की धनी रही होगी।

३. 'होली की टिप्पणियां भी खासी थीं'—से लगता है, यह पत्र मार्च-अप्रैल, १९१२ ई० या इसके बाद का है।

१. श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्तित्व और कृतित्व : पृ० ३६५

स्पष्ट है कि 'भारतमित्र' के मार्च-अप्रैल १९१२ ई० के बाद के किसी अंक में गुलेरी जी की कोई अन्य कहानी अवश्य छपी थी। गुलेरी जी के 'कहानीकार' की निर्मिति में 'घण्टाघर' रचना भी उल्लेख्य है। इसके पूर्वार्द्ध में कहानी का-सा प्रवाह, औत्सुक्य तथा वर्णन-कौशल और उत्तरार्द्ध में विचारतत्व की प्रधानता है। यह रचना कहानीकार गुलेरी के उदय की सूचक है।

कालक्रम की दृष्टि से गुलेरी जी की पहली महत्वपूर्ण कहानी 'धर्मपरायण-रींछ' है, भले ही मौलिक नहीं। इसके अन्त में आता है—"**भारतवासियो ! यह तुम्हारे ही 'महाभारत' की कथा है।**" अर्थात् इसका स्रोत 'महाभारत' है। गुलेरी जी ने इसमें भाषानुवाद न करके प्रतीक कथा के रूप में बुनकर गोरी सरकार पर तीखा कटाक्ष किया है। डॉ० पीयूष गुलेरी के अनुसार यह रचना कथा/कहानी न होकर विचारात्मक, भावात्मक निबंध है। यथा—

(क) "'धर्मपरायण रींछ' इनका पौराणिक विषय पर लिखित निबंध है। इसमें एक पौराणिक कथा के वर्णनात्मक शैली में विवेचन द्वारा भारत की अतिथि-सेवा के आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है।"

(ख) "...तो किसी निबंध में भारतवासियों को भारत के प्राचीन गौरव के प्रति सचेत किया गया है।

(ग) "पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के समस्त लेखों और निबन्धों की सूची : (क) मौलिक निबंध।"[1]

'धर्मपरायण रींछ' कहानी है या नहीं, गुलेरी जी के कहानीकार व्यक्तित्व की निर्मिति में इसका क्या योगदान है, इस सम्बन्ध में कुछ सम्मतियां यों हैं—

१. "यह रचना कहानी तो मानी जा सकती है परन्तु आधुनिक कहानी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। विषय का प्रतिपादन कुछ कथावाचक की शैली में है। अगर इसके अन्त में थोड़ा परिवर्तन कर दिया जाये तो यह एक अच्छी कहानी बन सकती है पर इसे मौलिक कहानी नहीं कह सकते। एक प्राचीन आख्यान को उन्होंने आधुनिक शैली में लिखने का प्रयतन किया है। यदि वे इस प्रतीक कथा को आज के यथार्थ के साथ जोड़ पाते तो सम्भवतः यह और भी अच्छी कहानी बन जाती। इसकी गणना उनकी कहानियों में निश्चय ही की जा सकती है।

—**विष्णु प्रभाकर** : पत्र, २१-७-१९८८

२. "'धर्मपरायण रींछ' में मनुष्य की निर्ममता का उद्घाटन है। किन्तु यह कहानी, कहानी के रूप में सामान्य और इकहरी ही है। आखिर में भी रींछ

१. श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० १७१, १८०, १८४

के आग्रह पर नराधम को वैकुंठधाम दिलवाकर कहानीकार ने अधर्म का भव्य परिणाम दिखा दिया है। क्यों?"

—**डॉ० रामदरश मिश्र** : पत्र, १-८-१९८८

३. " 'धर्मपरायण रींछ' कहानी है, हम चाहे उसे आधुनिक कहानी न मानें। यह अपनी पौराणिकता और उपदेशात्मकता के बावजूद आधुनिक हिन्दी कहानी के आरम्भिक चरण और गुलेरी जी के कहानीकार व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण भूमिका है। विद्वता का कुशल उपयोग, वर्णन-कौशल, भावगत और शैलीगत चपलता, भाषागत जीवन्तता और प्रांजलता आदि इसकी विशेषताएं हैं जिनका अत्यधिक विकसित रूप 'उसने कहा था' में मिलता है।

—**डॉ० हरदयाल** : पत्र, २८-१०-८८

४. "यह कहानी मौलिक नहीं कही जा सकती। उपसंहार में लेखक स्वयं इसे 'महाभारत' की कहानी बताता है। गुलेरी जी ने रींछ के स्वदेशी कोट की बात कहकर कहानी को अपने ढंग से कहने की चेष्टा की है।"

—**डॉ० पुष्पपाल सिंह** : पत्र, २०-७-८८

५. " 'धर्मपरायण रींछ' कहानी प्रतीत होती है इसमें कथा, कुछ घटनाएं एवं प्रसंग हैं। यह एक प्रतीक कथा लगती है। धर्मपरायण रींछ भारत की जनता है, शेर अंग्रेज है। व्याध उन भारतीयों का प्रतीक है जो अंग्रेजों के साथ मिलकर धर्मपरायण भारतीय जनता का खून चूसते हैं। रींछ में भारतीय धर्म, मर्यादा, नीति तथा परम्परागत मूल्य साकार हैं।

—**डॉ० कमलकिशोर गोयनका** : पत्र, २४-७-८८

६. "मैं इसे मौलिक कहानी नहीं कह सकता। मूल कथा, घटनाएं और उपसंहृति महाभारतकार की हैं। गुलेरी जी ने कोई नवीन उद्भावना नहीं की है। उनका समय हिन्दी-साहित्य का संक्रमण/संक्रान्ति काल था। भारतवासियों को पुरानी कथाओं के माध्यम से उद्बोधित करना, साहित्यकार धर्म समझते थे।"

—**डॉ० ओम्प्रकाश सारस्वत** : पत्र, २६-७-८८

७. " 'धर्मपरायण रींछ' कहानी प्रतीकात्मक ढंग से भारतीय संस्कृति के मूल्य—अतिथि-सत्कार को पूरी ताकत से सामने रखती है। यह 'उसने कहा था' को समझने के लिए एक भूमिका तैयार करती है। इन दोनों में एक जबर्दस्त समानता है—कहानी कहने का ढंग। इसके मूल स्वरूप को गुलेरी जी ने अगर कहीं भी समसामयिक परिस्थितियों से जोड़ दिया है, और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सहारा लिया है, तो मूलरूप में 'महाभारत' की कथा ही सही, उनकी पहली कहानी मानने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए।"

—**डॉ० प्रताप सहगल** : पत्र, २०-७-८८

स्पष्ट है कि 'धर्मपरायण रींछ कहानी ही है, निबन्ध नहीं। और, कालक्रम की दृष्टि से गुलेरी जी की पहली कहानी होने से इसका ऐतिहासिक महत्व भी है।

समालोचक

गुलेरी जी अपने समय के प्रखर समालोचक तथा जागरूक सम्पादक थे। उन्होंने अपने मित्र मि० जैन वैद्य की सहायता से जयपुर में 'नागरी भवन' संस्था की स्थापना करके 'हिन्दी-हिन्द-हित-साधन' का वातावरण तैयार किया। इस सदी के आरंभ में **सरस्वती** (बाबू चिन्तामणि घोष का इण्डियन प्रैस, प्रयाग) और **सुदर्शन** (बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री का लहरी प्रैस, काशी) पत्र निकले। 'सरस्वती' के सम्पादक-मण्डल में सर्वश्री कार्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राधाकृष्ण दास तथा श्यामसुन्दर दास थे और 'सुदर्शन' के एकछत्र सम्पादक थे—पं० माधव प्रसाद मिश्र। 'सरस्वती' पहले वर्ष सम्पादक-मण्डल की देखरेख में निकली, दूसरे और तीसरे वर्ष सम्पादक हुए—श्याम-सुन्दरदास और फिर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी। 'सुदर्शन' तीसरे वर्ष में प्रवेश करके बंद हो गया।

'सरस्वती' तथा 'सुदर्शन' से प्रेरित होकर मि० जैन वैद्य के मन में एक ऐसा मासिक पत्र निकालने का विचार आया जो साहित्य तथा समाज के बारे में निर्भीकतापूर्वक स्वतन्त्र तथा दो टूक बात कह सके। और, तब गुलेरी जी के सत्परामर्श से **समालोचक** (अगस्त, १९०२ ई०) निकलना शुरू हुआ। इसके सम्पादक बाबू गोपालराम गहमरी नियुक्त हुए। 'प्रवेशांक' में पत्र के उद्देश्य को लक्षित करने वाली 'आगमन' शीर्षक गुलेरी जी की यह टिप्पणी छपी—

"अभ्यागत का परिचय पहले ही देना चाहिए लेकिन पहले आगमन में जो परिचय होगा उसकी बिसात ही क्या ? उतना परिचय तो नाम से ही पढ़ने वालों को हो सकता है, अधिक परिचय होते-होते होगा। किन्तु इतना कह देना उचित है कि साधारणतः सबके मुख्य और गौण दो उद्देश्य होते हैं। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य 'समालोचना' होगा, उसके साथ साहित्य की आलोचना भी इसमें रहा करेगी। अपने उद्देश्य-साधन में 'समालोचक' साध्यानुसार त्रुटि नहीं करेगा, लेकिन बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य जो बनाना चाहता वा बनाता है, प्रतिकूल स्रोत उसे तोड़ बहाता है। उस सर्वसिद्धिदाता मंगलमय भगवान् से आरम्भ में यही चाहना है कि हजार प्रतिकूल स्रोत और विघ्न व्याघात में भी हम लोगों का संकल्पित उद्देश्य स्थिर रहे।"

'समालोचक' का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी-समालोचना के आदर्श मानदण्डों की निबन्धना करना था। इसलिए हर अंक में पत्र की 'नियमावली' छापी जाने लगी। यथा—

नियमावली

"१—"समालोचक" हर अङ्गरेजी महीने के अन्तिम सप्ताह में निकला करेगा।

२—दाम इसका सालाना १।।) है, साल भर से कम का कोई ग्राहक न हो सकेगा न =)का टिकट भेजे बिना नमूना पा सकेगा।

३—"समालोचक" में जो विज्ञापन छपेंगे उनमें भी कुछ भी झूठा व अतिरिञ्जत होगा तो उसकी समालोचना करके सर्व साधारण को धोखे से बचाने की चेष्ठा की जायगी; कोई विज्ञापन बिना पूरी जाँच किये नहीं छापा जायगा।

४—आयी हुई वस्तुओं की बारी-२ से समालोचना होगी। किसी की व्यक्तिगत विरोध से भरी वा असभ्य शब्द पूरित समालोचना नहीं छापी जायगी। जिस वस्तु की समालोचना छापी जायगी उसकी न्याय और युक्तिपूर्ण पक्षपात शून्य समालोचना छापी जायगी।

५—जो पुस्तक व पोथी जघन्य अथवा महानिन्दित और सर्व साधारण के लिये अहितकर होगी उसका प्रचार और प्रकाश बन्द करने के लिये उचित उद्योग किया जायगा। जो उत्तम, उपकारी और सर्व साधारण में प्रचार होगी उसके प्रचार का उचित उद्योग किया जायगा, इन पुस्तकों के सुलेखकों को प्रशंसा-पत्र व पुरस्कार प्रदानादि से भी उत्साहित किया जायगा।।

६—जो समालोचना समालोचक समिति के विद्वान और सभ्यों की लिखी वादाविवाद से उत्तम और युक्तिपूर्ण होगी वही छापी जायगी। समालोचक की छपी समालोचना किसी व्यक्ति विशेष की लिखी नहीं समझना चाहिये।।

७—समालोचक के लिये लेख, समाचार पत्र, पुस्तक आदि समालोचक सम्पादक के नाम गहमर (गाज़ीपुर) को भेजना चाहिये और मूल्यादि ग्राहक होने की चिट्ठी, पता बदलने के पत्र विज्ञापन के मामिले की चिट्ठी पत्री सब समालोचक के मैनेजर मिस्टर जैन वैद्य जौहरी बाजार जैपुर के पते पर भेजना चाहिये।"

'समालोचक' के प्रथम अंक में सम्पादक ने 'समालोचना', 'साहित्य समालोचना', 'तार्किक' (प्राप्ति), 'हिन्दी की चिन्दी', 'पद्य की भाषा' शीर्षक लेख दिए जो हिन्दी में 'आदर्श-समालोचना' की स्वस्थ परम्परा के सूत्रपात कहे जाते हैं। प्रथम वर्ष के अंकों में तत्कालीन साहित्य की समालोचना तथा मूल्यांकन करने का विशेष दायित्व पं० सकल नारायण पाण्डेय ने निभाया। गुलेरी जी ने गुमनाम रहकर जून-जुलाई, १९०३ ई० के अंक में पं० विष्णुशास्त्री चिपलूणकर की 'निबन्धमालादर्श' पुस्तक की विस्तृत समालोचना लिखी। उनके अनन्य मित्र पं० झाबरमल्ल शर्मा लिखते हैं—"पत्र के नियमानुसार समालोचक-विद्वान के नाम का उल्लेख नहीं है परन्तु यह समालोचना गुलेरी जी की ही है।

इसी में 'भामिनी विलास' के उस श्लोक को उद्धृत किया गया है जो आगे चलकर 'समालोचक' के आदर्श वाक्य के रूप में प्रत्येक[1] सांचिका के मुखपृष्ठ पर छपने लगा।"[2]

अगस्त, १९०३ ई० से 'समालोचक' का सम्पादन-कार्य गुलेरी जी ने संभाला। उनके पिता राज्याश्रय में थे इसलिए वह सम्पादक के रूप में अपना नाम नहीं दे सकते थे। उनका नाम उनकी कविताओं तथा शोध-लेखों पर जाता था परन्तु 'अत्र तत्र सर्वत्र' की टिप्पणियां उन्हीं की होती थीं।[3] उन्होंने अपने सम्पादकत्व में निकलने वाली संख्या में पृष्ठ १४ पर यह घोषणा की—

"कई मित्रों की राय है कि 'समालोचक' में समालोचना ही न निकला करे किन्तु साहित्य के भिन्न-भिन्न लेख भी छपा करें। गए ४/५ महीनों से 'समालोचक' तो वैसा ही निकलता है और यह संख्या भी वैसी ही प्रकाशित की जाती है। इस विषय में हम सहयोगियों, पाठकों तथा हिन्दी के प्रेमियों की सम्मति चाहते हैं, यदि वह चाहें तौ समालोचना ही समालोचना लिखी जाय; यदि वे चाहें तो साधारण उच्च कोटि के मासिक पत्र का क्रम लिया जाय। अवश्य ही समालोचना की प्रधानता (अति भी) रहा करेगी।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'समालोचक' के माध्यम से गुलेरी जी के हिन्दी-जगत् में प्रवेश को रेखांकित करते हुए लिखा—"गुलेरी जी ने 'सरस्वती' के कुछ ही महीने पीछे अपनी थोड़ी अवस्था में जयपुर से 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र अपने सम्पादकत्व में निकलवाया था। उस पत्र द्वारा गुलेरी जी एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी।"[4]

सम्पादक गुलेरी जी ने 'समालोचक' को जो नया रूप प्रदान किया उसकी शीघ्र ही एक पहचान बन गई।[5]

१. (क) मात्र अगस्त; सितम्बर तथा अक्तूबर-नवम्बर, १९९३ ई० के अंकों पर। —सम्पा०
(ख) नीरक्षीर विवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वहिमन्नधुनाऽन्य: कुलव्रतं पालयिष्यति क:।। समालोचक : अगस्त १९०३ ई०

२. गुलेरी गरिमा ग्रंथ : झाबरमल्ल शर्मा; पृ० ११२; ना० प्र० स०, काशी, स० २०४१ वि०

३. वही : पृ० ११३

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल; पृ० ४९६; ना० प्र० स० काशी; २०१८ वि०

५. देखें : परिशिष्ट १

गुलेरी जी सम्पादकीय टिप्पणियों (अत्र तत्र सर्वत्र : दिसम्बर, १९०३ ई० के अंक से आरंभ) में तलस्पर्शी तथा पाण्डित्यपूर्ण हास की अनूठी शैली की छाप पाठकों पर छोड़ रहे थे। उनकी गुमनामी रचनाओं को लेकर जब 'यह लेखक हैं कौन ?'—ऐसे प्रश्न बराबर उठने लगे तो उन्होंने '**प्रश्न पूछने वालो !!!**' शीर्षक यह टिप्पणी (समालोचक : अगस्त, १९०४ ई०) प्रकाशित की—

"**समालोचक** में अनेक लेख गुप्त नाम से प्रकाशित होते हैं। इसलिए हम किसी को उन 'गुप्त' महोदयों का नाम नहीं बता सकते और न हम, वर्तमान सम्पादकों का नाम, बतला सकते हैं। प्रश्नकर्त्ता ! क्षमा करें।"

और, विष्णुदत्त शर्मा ने 'श्री राघवेन्द्र' (वर्ष २, संख्या ११, पृ० ४२२; आषाढ़-श्रावण, १९६३ वि०; सन् १९०६ ई०) में 'दीवे तले अन्धेरा' शीर्षक के अन्तर्गत 'समालोचक' (जनवरी-मार्च १९०६ ई०) के संदर्भ में छद्मनामी लेखक गुलेरी की पहचान करते हुए लिखा—"इसके सम्पादक पं० चन्द्रधर गुलेरी बी० ए० ही दीखते हैं क्योंकि टाइटिल पेज की विषय-सूची से मालूम होता है कि जिन विषयों के साथ लेखक का नाम नहीं है, वे सम्पादक के हैं। और इन्हीं लेखक के नाम रहित विषयों में 'रवि' एक पद्यमय लेख है जिसके लेखक उक्त महाशय ही हैं क्योंकि अन्त में लिखा है—"या लहि है सायुज्य चन्द्रधर पद कमलन को।" यद्यपि यहां 'चन्द्रधर' का अर्थ 'शिव' लिया है पर उक्त नामधारी के सिवाय यह बात किसको फुर सकती है कि नाम अपना रहै और अर्थ दूसरा ही होवे तथा प्रकट होकर भी गुप्त रहैं। इस लेख का सबसे पहिले स्थान पाना भी इस विश्वास की पुष्टि करता है।"

तात्पर्य यह है कि 'समालोचक' में भी गुलेरी जी ने बिना नाम और छद्म नामों से पर्याप्त लिखा है। इसकी प्रामाणिकता की जांच के लिए पं० झाबरमल्ल शर्मा तथा डॉ० पीयूष गुलेरी की कृतियां सहायक सिद्ध हुई हैं।

गुलेरी जी ने 'सरस्वती', 'प्रतिभा', 'भारत मित्र' तथा 'वैश्योपकारक' आदि में भी छद्मनामों से लिखा है। सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, राय कृष्णदास, झाबरमल्ल शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, विष्णुदत्त शर्मा तथा पीयूष गुलेरी आदि ने उनके 'कण्ठा', 'शब्द कौस्तुम्भ का कण्ठा', 'बी०ए०', 'एक ब्राह्मण', 'एक बी० ए० ब्राह्मण', 'स्पष्टवक्ता', 'जिमक्कड़', 'प्रतिनिधि', 'समालोचक', 'सम्पादक', 'भ्रमर', 'भारतवर्ष', 'एक कायस्थ', 'एक जैन', 'चिट्ठीवाला', 'एक चिट्ठीवाला', 'वही चिट्ठीवाला', 'सनातनी' तथा 'घरघूमनदादा' प्रभृति छद्म नामों की पुष्टि की है।

गुलेरी जी छद्मनामों से लिखी रचनाओं में अपनी अनूठी शैली से भी बखूबी

पहचाने जाते हैं। उनकी कृतियों की मोटी पहचान यह है कि उनकी भाषा-शैली में 'संस्कृत काव्योक्तियां', 'पाण्डित्यपूर्ण हास', 'प्रसंगगर्भत्व' तथा 'हिमाचली पहाड़ी' (कांगड़ी) के शब्द निहित रहते हैं। छद्मनामी जिन कृतियों में ये प्रवृत्तियां मिलें, उन्हें गुलेरी जी के कृतित्व में सम्मिलित किया जा सकता है।

'समालोचक' में भाषाविज्ञान, व्याकरण, समालोचना, शोध, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन, धर्म, राष्ट्रीयता, राजनीति, काव्यशास्त्र, नाटक, उपन्यास, काव्य तथा पत्रकारिता आदि विविध विषयों पर बहुमूल्य तथा दुर्लभ सामग्री है। इसमें खड़ीबोली-आन्दोलन, लिपि-प्रणाली, हिन्दी-नाटक, महाकाव्य, हिन्दी-उपन्यास, बंकिम बाबू का कथा-साहित्य, विद्यापति विल्हण, महाकवि भूषण, प्रताप साहि, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, बंगमहिला, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि के विषय में अच्छी जानकारी उपलब्ध है।

'समालोचक' वर्तमान सदी के प्रथम दशक में बन रहे हिन्दी-साहित्य के स्वरूप का दर्पण है। इसमें गोपालराम गहमरी तथा गुलेरी के अतिरिक्त अयोध्याप्रसाद खत्री, सकलनारायण पाण्डेय, बिहारीलाल बिदासरिया, एन० एन० घोष, शिवचन्द्र बलदेव भरतिया, जैनेन्द्र किशोर, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र, सर डबल्यू० वैडरबर्न, बंग महिला, राधाकृष्ण दास, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, राधाकृष्ण मिश्र, कमलाकर द्विवेदी, काशीप्रसाद, ठाकुरप्रसाद, मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ, गंगा-प्रसाद अग्निहोत्री, कन्हैयालाल पोद्दार, महेन्दुलाल गर्ग, सुभद्रा देवी, राधाचरण गोस्वामी, हरसुप्रसाद सिंह, माणिक्यचन्द्र जैन, बाबू श्यामसुन्दर दास, नरनाथ झा, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, रामचन्द्र शुक्ल, पुरोहित लक्ष्मीनारायण, पुरोहित गोपीनाथ, गंगासहाय शर्मा, बालकृष्ण भट्ट तथा पुरुषोत्तमदास आदि की गद्य-पद्यमयी रचनाएं हैं।

खोई हुई दुनिया

गुलेरी जी का पर्याप्त साहित्य अभी भी अज्ञात तथा अनुपलब्ध है। उनके समकालीन विद्वानों, उनकी रचनाओं तथा पत्रों से ऐसे संकेत मिलते हैं। पं० गोपीनाथ कविराज के शब्दों में—"पं० चन्द्रधर जी तो बंगला भाषा भी जानते थे बंगला भाषा की प्रसिद्ध पुस्तक चन्द्रनाथ बसु द्वारा रचित 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थ अनुवाद चन्द्रधर जी ने किया था। इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ या नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं है।"[1] और डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह का कथन है—"वे

१. गुलेरी गरिमा ग्रन्थ : सम्पादक : पं० झाबरमल्ल शर्मा; पृ० ६७; ना० प्र० स०, काशी, सं० २०४१ वि०

(गुलेरी जी) बंगला भी जानते थे, चन्द्रनाथ बसु के 'हिन्दुत्व' तथा 'शकुन्तला-तत्व' नामक ग्रन्थों का उन्होंने हिन्दी रूपान्तर किया था।[1]

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने गुलेरी जी द्वारा विशाखदत्त प्रणीत एक खण्डित नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' पर शोध कार्य करके, इतिहासकारों को यह मनवा लेने का उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व उसका भाई रामगुप्त कुछ काल के लिए राजगद्दी पर बैठा था जिसने खाखेल-आक्रमण के समय रानी ध्रुवदेवी को शत्रु को सौंपने का प्रस्ताव मान लिया था और चन्द्रगुप्त ने देवी का रूप धारण करके, अन्त में वास्तव रूप में प्रकट होकर शत्रु का अंत किया था। बाद में जयशंकर प्रसाद ने इसी को आधार बनाकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक लिखा।[2]

गुलेरी जी के उक्त तीनों कार्य अभी अनुपलब्ध हैं। इनकी उपलब्धि से गुलेरी जी के रचना-संसार के नये पक्ष सामने आएंगे।

गुलेरी जी ने 'आँख' निबन्ध के अन्त में—"क्या हिन्दी-रसिक और इन्द्रियों का भी ऐसा वर्णन पसंद करेंगे?"[3], 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' लेख में—"इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व मैं किसी और लेख में विस्तार से दिखाऊंगा।"[4]; 'पुरानी हिन्दी' में—"हेमचन्द्र के व्याकरण के प्रसंग में जो शब्द उदाहरणवत् दिए हैं, उनका यहां उल्लेख निष्प्रयोजन है। जो वाक्य खण्ड आए हैं उनमें से कुछ के विचार के लिए पृथक् लेख का उपयोग किया जायगा।"[5] तथा 'सुदर्शन की सुदृष्टि' (प्रस्तुत ग्रंथ पृ० ४६१) में "पाश्चात्य देशों में उपन्यास की उत्पत्ति और उन्नति को हम एक स्वतंत्र लेख में दिखाएंगे।" आदि लिखकर पाठकों की जिज्ञासा को खूब बढ़ाया है।

ऐसे संकेत गुलेरी जी के पत्रों में भी हैं। पं० झाबरमल्ल शर्मा को लिखे ५-१-१९१८ के पत्र में 'कांगड़ा-कलम' विषयक लेख लिखने तथा भास के नाटकों के अनुवादों का उल्लेख है, जो अभी अनुपलब्ध हैं—

"कांगड़ा शैली के कुछ चित्र मध्यम ने बेचने के लिए दिए थे। उनके सम्बन्ध में एक लेख मुझे लिखना है। उनमें से एक की पृष्ठ पर कुछ हिसाब है,

१. मनीषी की लोकयात्रा : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह; पृ० १४, विश्वविद्यालय प्रकाशन, के-४०।६, भैरवनाथ, वाराणसी-१, सं० १९६८ ई०
२. गुलेरी साहित्यालोक : सम्पादक : डॉ० मनोहरलाल, पृष्ठ ३९-४०, किताबघर, गांधी नगर, दिल्ली-३१, सं० १९८३ ई०
३. गुलेरी साहित्यालोक : सम्पा० : डॉ० मनोहरलाल : पृ० ३०६
४. गुलेरी रचनावली : सम्पा० : डॉ० मनोहरलाल : पृ० २०६
५. प्रस्तुत ग्रंथ : पृ० २०१

जो लेख में काम आवेगा। अतएव मुझे आप उन चित्रों को लौटा दें, लेख में भी एक आध चित्र छपना है, फिर बाकी यदि हुआ तो आपको लौटा दूंगा।

"भास के नाटकों का अनुवाद आप छापने को कहते थे न? उस विचार पर दृढ़ हैं न? मैंने आरम्भ कर दिया है। एक-एक नाटक लेंगे या सब साथ। कैसे छापेंगे? क्या आपकी समिति रंग लाई कि नहीं, इस विषय में 'आकार-प्रकार' की स्कीम बनाई? कापीराइट का क्या करेंगे? यह सब निर्णय कर लीजिए।"[१]

गुलेरी जी को पं० झाबरमल्ल शर्मा कृत 'मालविका' उपन्यास तथा पं० गोपीनाथ खण्डेलवाल की जीवनी की भूमिकाएं लिखनी थीं।[२] वह 'स्त्री-दर्पण' की सम्पादिका श्रीमती उमा नेहरू तथा राय कृष्णदास के आग्रह पर 'सरोज' के लिए भी कुछ भेजने वाले थे।[३] उनका 'अधिकार चर्चा' लेख 'भारतमित्र' में किसी कल्पित नाम से छपा था।[४] इस सामग्री का मिलना भी अभी शेष है।

'समालोचक' के मई, जून, जुलाई, १९०५ ई० के अंक भी अनुपलब्ध हैं। इनमें भी गुलेरी जी की रचनाएं अवश्य होंगी। 'समालोचक' की जनवरी-मार्च, १९०६ ई० की संख्या में (पृ० २६४) 'आगागी संख्या के उपक्रांत लेख' सूचना में १० रचनाओं का नामोल्लेख है, पर यह अंक भी उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः जनवरी-मार्च, १९०६ ई० के अंक के साथ ही 'समालोचक' निकलना बन्द हो गया था।

विश्वास है, गुलेरी जी की इस 'खोई हुई दुनिया' का संधान हो जाने पर गुलेरी जी की साहित्य साधना की नई दिशाएं सामने आएंगी।

ज्योतिपर्व, २०४५ वि० —**मनोहरलाल**

१. गलेरी गरिमा ग्रंथ : प० झाबरमल्ल शर्मा : पृ १९२-९३
२. वही : पृ० १९३; पं० झाबरमल्ल शर्मा के नाम ११-१-१९१८ का पत्र
३. वही : पृ० १८२; राय कृष्णदास के नाम २५-१०-१९२१ का पत्र
४. वही : पृ० ८५; जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का आषाढ़ कृष्ण ६, १९६८; १९११ ई० का पत्र

प्रथम खण्ड

पुरानी हिन्दी

पुरानी हिन्दी

(पहला भाग)

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे 'संस्कृत' कहते हैं, परन्तु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मंजी, छंटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने के बांध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारोंवाली, छोटी बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस 'संस्कृत' नहर को देखते-देखते हम 'असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल, और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा कहीं सीधा, कहीं गंदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति (हेमचन्द ने अपने प्राकृत-व्याकरण का आरम्भ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया, इसलिए 'प्राकृत' कहलाया) यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत

से नहीं । संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है । प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग क्रम यह है—

१-मूल भाषा २-छंदस् की भाषा, < ३-प्राकृत ५-अपभ्रंश / ४-संस्कृत

संस्कृत अजर-अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हां, उसकी सम्पत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश, और पीछे हिन्दी आदि भाषाएं पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की ।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बंध गया । इसके कई उदाहरण हैं—

१. वेद में 'देवाः' और 'देवासः' दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवाः' रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस् (दुहरे 'जस्') का वंश 'आओ' आदि में चला गया ।

२. 'देवैः' की जगह 'देवेभिः' (अधरेहिं) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली, संस्कृत को नहीं ।

३. संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बंध गया, किन्तु प्राकृत में 'म्मि', 'म्हि', होता हुआ हिन्दी में 'में' तक पहुंचा ।

४. वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किन्तु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चट्टानों पर चिपटी हुई काई की तरह, जहां की तहां रह गईं।

५. वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह' 'हँ' बहुत 'ही' से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई ।

६. संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिच गया। इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतन्त्रता से आगे बढ़ आए (देखो, आगे) ।

७. क्रियार्था क्रिया ((Infinitive of Purpose) के कई रूपों में से (जो धातुज शब्दों के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई ।

८. 'कृ' धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लम्बे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किन्तु अनुप्रयोग का सिद्धान्त अपभ्रंश और हिन्दी तक पहुंचा ।

यह विषय बहुत ही बढ़ाकर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है ।

अस्तु। अकृत्रिम भाषाप्रवाह में (१) छंदस् की भाषा, (२) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, (३) बौद्धग्रंथों की पाली, (४) जैनसूत्रों की मागधी, (५) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत, ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा 'मागधी' या 'अर्द्ध मागधी' कही गई है। उसे 'आर्ष प्राकृत' भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश भेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छांट की, किन्तु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे।[1] जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख कर चुके हैं वे देश भेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अन्तर्भूत नहीं हो सकते। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहां दो बातें और देख लेनी चाहिएं। एक, तो जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण के नियमों से, **त** की जगह **य** और **क्ष** की जगह **ख**, रखकर, सांचे पर जमा कर, गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरों का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है, प्राकृत भाषा नहीं। हां, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत रचना, देशभेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसैनी पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत साहित्य

१. हेमचंद्र ने 'जिणिंदाण वाणी' को देशीनाममाला के आरंभ में 'असेसम सपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शार्बरीम् ।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम् ॥

की प्राकृत एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। हाल (सात-वाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की 'सतसई' बनाई, प्रवरसेन ने सेतुबंध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुंचाई, वाक्पति ने उसी में गौड़वध किया किन्तु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्म-भाषा मानकर उसका स्वतन्त्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन-रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और छन्दों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छन्दों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लम्बे छंद प्राकृत में आए कि संस्कृत की परछाई स्पष्ट देख पड़ी। प्राकृत कविता का आसन ऊंचा हुआ। यह कहा गया है कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है[1] और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही स्वतन्त्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला।[2]

शौरसेनी और पैशाची (भूत भाषा)

इन प्राकृतों के भेदों[3] में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देशनिर्णय करना है। यद्यपि ये दोनों भाषाएं मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थीं और इनका विवेचन व्याकरणों में गौण या अपवाद रूप से ही किया गया है तथापि हिन्दी से इनका बड़ा सम्बन्ध है। शौरसेनी तो मथुरा व्रजमण्डल आदि की भाषा है। इसमें कोई बड़ा स्वतन्त्र-ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु इसका वही क्षेत्र है जो व्रजभाषा, खड़ीबोली और रेखते की प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम 'भूतभाषा' है। यह गुणाढ्य की अद्भुतार्था बृहत्कथा से अमर हो गई है। वह 'बड्डकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पंडितों (क्षेमेंद्र और सोमदेव) के किए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं (बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर) कश्मीर का

१. ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पा:यकव्वे को सक्वइ सक्वयं पढ़िउं।। (वज्जालग्ग, २६)
(ललित, मधुराक्षर, युवतीजनबल्लभ, सशृंगार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है ?)

२. परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुप महिलाण जेंत्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणं।। (कर्पूरमंजरी)
(संस्कृत की रचना पुरुष और प्राकृतरचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियों में अंतर होता है उतना दोनों में है।)

३. अगले लेखों में इस विषय पर कुछ और आता जायगा।

उत्तरी प्रांत पिशाच (पिश्--कच्चा मांस, अश्—खाना) या 'पिशाश देश' कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची वहां की भाषा मानी जाती थी। किन्तु वास्तव में पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्य भारत है। मार्कंडेय ने प्राकृत व्याकरण में बृहत्कथा को केकयपैशाची में गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है। संभव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल बृहत्कथा का कोई रूपांतर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों के संस्कृतानुवाद हुए हैं।[1] राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी 'काव्यमीमांसा' में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय के भाषानिवेश की चर्चा है—"गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टांक, दक्षिणपश्चिमी पंजाब) और भादानक[2] के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवंती (उज्जैन), पारियात्र (वेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश में (कन्नौज, अंतर्वेद पंचाल आदि) रहता है वह सर्व भाषाओं में स्थित है।"

राजशेखर को भूगोल-विद्या से बड़ी दिलचस्पी थी। 'काव्यमीमांसा' का एक अध्याय का अध्याय भूगोल वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो मेरा बनाया 'भुवनकोश' देखो। अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज) का उसे बड़ा प्रेम था। कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह पर बहुत बड़ाई की है। महोदय (कन्नौज) को मानो भूगोल का केन्द्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अंतर्वेदी से[3] नहीं। इस महोदय की केन्द्रता को ध्यान में रखकर उसका वताया हुआ राजा के कवि समाज का निवेश बड़ा चमत्कार दिखाता है। वह कहता है कि राजा कविसमाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि (कश्मीर पांचाल), पूर्व की प्राकृत (मागधी की भूमि मगध), पश्चिम को अपभ्रंश (दक्षिण पंजाब और मरुदेश) और दक्षिण को भूतभाषा (उज्जैन, मालवा, आदि) के कवि बैठे।[4] मानो राजा का कवि-समाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ। यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्रा और

१. लाकोटे, वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृ० ६५ आदि।
२. बीजोल्यां के लेख में भी भादानक का उल्लेख है, यह प्रांत राजपूताने में ही होना चाहिए।
३. विनशनप्रयागयोर्गंगायमुनयोश्चान्तरर्वेदी । तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः। तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरः। (काव्यमीमांसा, पृ० ६४)
४. काव्यमीमांसा; पृ० ५४-५५

दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे।

अपभ्रंश

बांध से बचे हुए पानी की धाराएं मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएं भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बांध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी मार्ग पर चला आया, बांधा न गया। **उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले** लिया जाता था। बांध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभाव-मधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है।[१] इन विशेषणों की साभिप्रायता विचारने योग्य है। वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा में कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो तीन में।[२] उसने काव्यपुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघनस्थल, पैशाच को पैर और मिश्र को 'उरु' कहा है। विक्रम की सातवीं शताब्दी के ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं, एक ही विभक्ति 'हँ' या 'आहँ' कई काम देने लगी हैं। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियां नहीं है। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हां, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिए, किन्तु धनवतीअ पुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिए[३] साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहां 'गत' भी 'गय' और 'गज' भी 'गय', काच, काक, काय=(शरीर) कार्य सबके लिये 'काय' इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे शौरसेनी अपभ्रंश,

१. बालरामायण

२. काव्यमीमांसा, पृ० ४८

३. तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषा में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है। हिंदी में अब कोई जस या गुनवंत नहीं लिखता यश और गुणवान् लिखते है। बोलें चाहे तरों, परसोतम् और हर्किसुन, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और हरकृष्ण।

पैशाची 'अपभ्रंश' महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। मार्कंडेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी (चतुर, शिक्षित, गँवई से विपरीत) लोगों की भाषा, या गुजरात के नागर ब्राह्मणों या नगर (वडनगर, वृद्ध नगर) के प्रांत की भाषा हो सकती है। गुजरात की अपभ्रंश-प्रधानता की चर्चा आगे है। किन्तु उसके उस नगर का वडनगर या नगर नाम प्राचीन नहीं है इसलिये 'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता में शंका होती है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कई श्लोक दिए हैं जिनमें वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते हैं। यहां इस पाठ-शैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए। यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशों में अब तक सत्य भी। उच्चारण का ढंग भी कोई चीज है। वह कहता है कि काशी से पूर्व की ओर जो मगध आदि देशों के वासी हैं वे संस्कृत ठीक पढ़ते हैं किन्तु प्राकृत भाषा में कुंठित हैं। बंगालियों की हंसी में उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज आई, मैं इस्तीफा पेश करती हूं, या तो गौड़ लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें, या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाय।[1]

गौड़ देश में ब्राह्मण न अतिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रूक्ष न अति कोमल, न मंद और न अतिसार स्वर से पढ़ते हैं। चाहे कोई रस हो, कोई रीति, हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमंड से अंत में टंकारा देकर पढ़ते हैं। गद्य पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो, द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुंदर पढ़ते हैं। सुराष्ट्र[2], त्रवण[3] आदि संस्कृत में अपभ्रंश के अंश मिलाकर एक ही तरह पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं किन्तु उनका पाठक्रम क्या है कान में मानो गिलोय की पिचकारी है। उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना (नाक में) पढ़ते हैं। पांचाल देश

१. ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौड़स्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥

२. सोरठ—गुजरात काठियावाड

३. पश्चिमी राजपूताना। जोधपुर के राजा वाडक के वि० सं० ८९४ के शिलालेख में उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है। वल्ल देश भाटियों का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण में होना चाहिए।

वालों का पाठ तो कानों में शहद बरसाता है, उसका कहना ही क्या।[१]

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिन्दी की भूमि है। अंतर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक प्राकृत थी। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहां समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहां आरम्भ होती है। उसका निर्णय करना कठिन, किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी। संस्कृत ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती-बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समजने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिन्दी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिन्दी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिये यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिन्दी का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिन्दी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिये चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिंव' था जो 'जिम' ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छंट-खिरकर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पजइ' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिन्दी? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त प्रकार के कारण 'उ' की मात्रा की गुरुता मानकर ऊपजै सही) जिसे हम हिन्दी पहचानते हैं। सम्भव है कि जैसे आजकल हिन्दी के विद्वानों में 'गये' 'गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिये छापाखाना न था।

१. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
संपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

इन पोथियों के लिखने वाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे । संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किन्तु इन कविताओं की लेखशैली पर ध्यान नहीं दिया । कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया । यह आगे के पाठांतरों से जान पड़ेगा ।

ऐसी कविता के लिये 'पुरानी हिन्दी' शब्द जान-बूझकर काम में लिया गया है । पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है । कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही-सी थी । जैसे, नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाखा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय में भी हिन्दी कवि संत लोग विनोद के लिये एकआध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियां 'भाखा' में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी । मीराबाई के पद 'पुरानी हिन्दी' कहे जायं या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिन्दी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी । जैसे अपभ्रंश में कहीं-कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदास जी 'रामायण' को पूरवी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते हैं ।[1] यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रांतिक उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका ।

आजकल लोग 'पृथ्वीराजरासो' की भाषा को हिन्दी का प्राचीनतम रूप मानते हैं, उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के विचार के पीछे करेंगे किन्तु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को 'पुरानी हिन्दी' नहीं कहा जाय तो 'रासो' की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी—गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिन्दी नहीं । ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदासजी की मधुर उक्तियां भी हिन्दी नहीं ।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है कोई मुक्तक श्रृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई

१. जैसे—कविहिं अगम जिमि ब्रह्मसुख अहममममलिनजनेषु ।
रन जीति रिपुदलमध्यगत पस्यामि राममनामयं ।। इत्यादि ।

लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथाप्रसंग में उद्धृत। मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें 'महाभारत' और 'रामायण' की पूरी, या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी-छोटी कथाएं थीं। ब्रह्म और मुंज नाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन धर्मग्रन्थों में हैं, वैसे पुरानी हिन्दी के नमूने भी या तो शृंगार वा वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकले हैं या जैन धार्मिक रचनाएं। हेमचंद्र की बड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद वा वाक्यों के टुकड़े ही दिए, पर ऐसी कविताओं के पूरे छन्द उद्धृत किए। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिये उसने व्याकरण बनाया वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता का राजा दोहा है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी हैं, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिन्दी और प्राकृत का भेदक है। 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'[1] बनाया है किन्तु शाब्दिक समानता को छोड़कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है। दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की—दो+पद, दो+पथ, या दो+गाथा। 'प्रबंधचिंतामणि' में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है। पूर्वार्ध सपादलक्ष (अजमेर-सांभर) के राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्द्ध की पूर्ति हेमचंद्र ने की थी।[2] यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरानाथ जी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये। 'प्रबंधचिंतामणि' में ही एक जगह दो चारणों को 'दोहाविद्यया स्पर्धमानौ' अर्थात् दोहाविद्या से होड़ाहोड़ी करते हुए कहा गया है। उनकी कविताओं में एक दोहा है, एक सोरठा, किन्तु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह बात ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार रेखता छंद से रेखते की बोली कहला गई थी (रेखते के उस्ताद तुमही नहीं हो गालिब !)।

'पुरानी हिन्दी' का गद्य बहुत कम लिखा हुआ मिलता है। पद्य दो तरह रक्षित हुआ है, मुख से और लेख से। दोनों तरह की रक्षा में लेखक के हस्तसुख

१. प्रबंधचिंतामणि, पृ० ५६, १५७
२. पइली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स।
श्रदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चंदस्स।। : प्र० चिं०, पृ० १५७

और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्तन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखनेवाला प्रचलित भाषा के ग्रन्थों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी के लिए मक्खी' नहीं लिखता। उसके बिना जाने ही कलम नए रूपों पर चल जाती है। गुसाईंजी के 'तइसइ' 'जुगुति' 'कालसुभाउ' 'अउरउ' अब क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' और 'औरो' हो गए हैं। जो कविता मुख से कान, मुख से कान, चलती है उसमें तो बहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं। हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' (आठवें अध्याय) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' के दोहे को लीजिए। अपभ्रंश और 'पुरानी हिन्दी' में सीमारेखा बहुत ही अस्पष्ट है और, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा, पुरानी हिन्दी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है। वह दोहा यह है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

[वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड़ जा। इतने में उसने अचानक पिया को देख लिया। कहां तो वह वियोग में ऐसी दुवली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियां जमीन पर गिर पड़ीं और कहाँ हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी चूड़ियां तड़-तड़ कर चटक गईं।]

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते-निकलते राजपूताने में इस दोहे का अब यह मंजा हुआ रूप प्रचलित है—

काग उड़ावण जाँवती, पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल, आधी टूट तडित्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियां जमीन पर न गिर कर कौए के गले में पहुंच गई और चूड़ी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए—

पुत्ते जाएं कवणु गुण, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धारती पर दूसरा अधिकार कर ले।]

इस दोहे का परिवर्तन होते-होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायां कवंण गुण, अवगुण कवण धियेण[1]।
जो ऊभां[2] धर[3] आपणी, गंजीजै[4] अवरेण[5]॥

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किन्तु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (—पुत्री, संस्कृत—दुहितृ, पंजाबी—धी) से क्या अवगुण' हो गया है। अस्तु। ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छन्द आदि के ग्रन्थों में, बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तव रूप दिखाता है।

इस तथा अग्रिम लेखों में 'दोहाविद्या' के उदाहरण संग्रह किए जायंगे। आवश्यक कथाप्रसंग तथा मूल का परिचय दिया जाएगा। पुराने शब्दों के वर्तमान रूप और कुछ तारतम्यात्मक विवेचन दिखाया जायगा। पाठांतरों में से उतने ही दिए हैं जिनमें विशेषता है। लेखकों ने ह्रस्व दीर्घ का व्यत्यय किया है वह ज्यों का त्यों रहने दिया है, छन्द के अनुसार पढ़ना चाहिए "जिन्भा जाणादि छन्दो"। पाठांतरों से जान पड़ेगा कि कोई लेखक पुरानी अक्षरयोजना को रखता है, कोई प्राकृत की चाल पर चलता है, कोई मंजी हुई देशभाषा की रीति पर आ उतरता है।

१. शार्ङ्गधर पद्धति से

शार्ङ्गधर नामक कवि ने एक सुभाषित संग्रह 'शार्ङ्गधर-पद्धति' नामक बनाया है। वृक्षायुर्वेद और वैदक के भी उसके ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। उसने अपना परिचय यों दिया है कि शाकंभरी देश के चाहुवाण राजा हंमीर के सभासदों में मुख्य राघव-देव थे। उनके गोपाल, दामोदर और देवदास नामक पुत्र हुए। दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण थे। यह हंमीर रणथंभोर का प्रसिद्ध हंमीर है जो अलाउद्दीन खिलजी से संवत् १३५७ से बड़ी वीरता में लड़कर परास्त हुआ।

१. धी से, पुत्री से।
२. खड़े-खड़े।
३. पृथ्वी, धरा।
४. गजन की जाय, जीती जाय।
५. मलसीसर के ठाकुर श्री भूरसिंहजी का विविध संग्रह, पृ० ४८। इस संग्रह में यह दोहा तथा 'एहि ति घोड़ा एहि थल०—' वाला दोहा ठाकुर साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है किंतु ये हेमचंद्र की रचना नहीं है, उससे पहले के हैं, उसने अपने व्याकरण में उदाहरण की तरह और बहुत-सी कविता के साथ दिए हैं। 'एहि ति घोड़ा०' की चर्चा यथास्थान होगी।

चौहानों की राजधानी पहले शांकभरी (सांभर) थी, जिससे अजमेर में आने पर भी वे 'शाकंभरीश्वर' ही कहलाते रहे। पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्द ने शहाबुद्दीन गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली जिससे उसके चचा हरिराज ने उसे निकाल दिया। वह रणथंभोर में जाकर राज्य जमा कर बैठा। उसी का अन्तिम सातवां वंशधर हंमीर था। उसके सभासद के पौत्र का उसे शांकभरीप्रदेश का स्वामी कहना ऐतिहासिक और उचित है। यों शार्ङ्गधर का समय विक्रमी संवत् की चौदहवीं शताब्दी का अन्त हुआ। शार्ङ्गधर पद्धति में कई जगह उस समय की बोलचाल की भाषा के मंत्र, शब्द और वाक्य दिए हैं जो उस समय की हिन्दी के नमूने हैं।

'शार्ङ्गधर पद्धति' में (१) एक विष हटाने का शाबर मंत्र दिया है। (पीटर्सन का संस्करण, नं० २८७०)। शाबर का अर्थ वहां यह दिया है कि जब शिव ने शबर (किरात) रूप से अर्जुन से युद्ध किया उस समय जो मंत्र उन्होंने कहे थे वे शाबर मंत्र हैं। वे वैसे ही मंत्र हैं जिनके लिए गुसांई तुलसीदासजी ने लिखा है कि 'अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाव महेश प्रतापू।' दहने हाथ में पानी का बरतन लेकर बाएं हाथ की अनामिका से सात बार मंत्र पढ़कर उसे हिलाकर जिसे वह जल पीने को दिया जाय वह तत्क्षण निर्विष हो जाता है। (नं० २८६८-९) मंत्र यह है—

ओं गुरु के पाय शरणम्। ओं चवि चवि चारि भार दिसुमाटी ॥

(=कह, कह, विष की मट्टी के चार भार, चव=कहना, यथा सुकवि चंद सच्चो चवै)

(२) नं० २९४२ में सांप के विष से बचने का यह मंत्र दिया है। इसे सात वार बढ़कर कपड़े में गांठ दे ले, जब तक वह गांठ वाला वस्त्र देह पर रहेगा तब तक सांप से भय न हो—

ओं दष्ट कर अष्ट कर कालिगनाग हरिनाग।
सर्प डुण्डी विसु दाढ बन्धन शिवगुरु प्रसाद ॥

(डुण्डी=डुण्डुभ, निर्विष, जल का सांप, विसु=विष, दाढ=दंष्ट्रा)

(३) नं० ३०१८ में टीडी, सारस, तोते, सुअर, हरिन, चूहे, खरहों को खेतों से हटाने का मंत्र दिया है—

ओं नमः सुरेभ्यो बल बल ज ज चिरि चिरि मिलि मिलि स्वाहा।

(ज=जा, जादूगर अब तक 'इरि मिरि चिरि' कहा करते हैं।)

(४) नं० ३०१९ में लिखा है कि मंत्र जाननेवाला धनुष की नोक से अपने साथ

(सार्थ, कारवां) के चारों ओर रेखा से कुंडल करे और इस शाबर मंत्र का जप करे तो सिंह से रक्षा हो—

नन्दायणु[१] पुत्त[२] सायरिउ[३] पहारु[४] मोरी[५] रक्षा कुक्कुर जिम पुंछी[६] दुल्लावइ[७] उरहइ[८] पुंछी परहई[९] मुहि[१०] जाह[११] रे जाह। आठ संकला[१२] करि उर[१३] बन्धउं[१४] बाघ बाघिणी कउ[१५] मुह बन्धउ कलियाखिणी[१६] की दुहाई महादेव की पूजा पाई टालहि जई[१७] आगिली विष देहि।

(५) नं० ३०२०—३०२२ में कहा है कि जोर से 'बोलला' कहने से जहां तक शब्द सुनाई पड़े वहां तक सिंह ठहरता नहीं। शबर की स्त्री इस मंत्र को पढ़े तो चुगुलखोर, सिंह, चोर, अपमृत्यु और बाण से रक्षा होती है, तर्जनी अंगुली से आठों दिशाओं में इस मंत्र से रक्षा करे या मंत्रित करके 'कर्कर' (कंकरियां या कौड़ियां) आठों दिशाओं की ओर फेंके—

ओं आडू चूडू बाढी कोडी चोरु चाटु कालु कांडु बाघ स्वाहा।

(६) भाषा चित्र में एक श्लोक (नं० ५४६) दिया है जिसमें कई हिन्दी शब्द आए हैं। श्लोक संस्कृत का है और संधि आदि से उसका ठीक संस्कृत अर्थ होता है। चमत्कार यह है कि पढ़ते समय धोखा होता है कि संस्कृत में अपभ्रंश कैसे आ गए। पुराने ग्रन्थों में ऐसे चमत्कार के लिए जो श्लोक दिए जाते थे उनमें संस्कृत में प्राकृत-बुद्धि हो जाती थी, अर्थात् संस्कृत और प्राकृत दोनों अर्थ निकलते थे, किन्तु इस श्लोक में प्राकृत का स्थान हिन्दी ने लिया है—

उत्सरंगकलितोरु **कटारीभाजिराउत** भयंकर **भालाः।**
संतु पायकगणा जयतैस्त्वं **गाम गोहर** **भिलापइलावी।।**

इसमें और हिन्दी शब्द तो देखने में ही हिन्दी हैं, जैसे उरुकट+अरि+इभ+आजि+राः, किन्तु पायक ठीक हिन्दी अर्थ (सेवक) में व्यवहृत हुआ है (सो किमि मनुज······जाके हनूमान से पायक—तुलसीदास)

(७) वहीं पर भाषाचित्र का एक नमूना और (नं० ५५०) दिया है जिसमें कुछ संस्कृत है, कुछ हिन्दी। इसका कर्ता श्रीकंठ पंडित है और इसमें श्रीमल्लदेव राजा की वीरता का वर्णन है कि उसकी सेना के जोधा मार काट चिल्ला रहे

१. नंद का? २. पुत्र। ३. सायरी का? ४. पहाड़। ५. मेरी। ६. पूंछ ७. डुलाता है, हिलाता है, संस्कृत दोलापयति (!)। ८. और रहता है? ९. छोड़ता है? १०. मुझे ११. जा। १२. सांकल। १३. छाती। १४. बाधूं। १५. को (=का)। १६. कलि यक्षिणी। १७. मुझे टाल कर जा।

हैं और वैरि-नारी अपने पति से कह रही है कि घमंड छोड़कर मल्लदेव की शरण जाओ ।

> **नूनं बादल छाइ खेह**[1] **पसरो** निःश्राणशब्दः खरः
> शत्रुं **पाडि लुटालि तोडि हनिसौं**[2] एवं भणंत्युद्भटाः ।
> **झूठे** गर्व **भरा मघालि** (?) **सहसा** रे कन्त मेरे कहे
> कंठे **पाग निवेश**[3] **जाह** शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम् ॥

इन अवतरणों से जान पड़ता है कि उस समय हिन्दी के दोनों रूप प्रचलित थे, खड़ा और पड़ा । 'बादल छाइ खेह पसरी' भी है और 'रे कंत मेरे कहे' भी है, 'कुक्कुर जिमि पुंछी दुल्लावइ' 'बाघणो कउ मुख' भी है और 'कालियाखिणी की दुहाई, और 'गुरु के पाय' भी है । अपभ्रंश का नपुंसक प्रथमा एकवचन का चिह्न 'उ' भी चलता था, वर्तमान में भी 'उ' था, आज्ञा में इ, उ, हु, हया, हि, हटकर कोरा धातु भी रह गया था ।

२. प्रबन्धचिन्तामणि से

'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक संस्कृत ग्रन्थ जैन आचार्य मेरुतुंग ने संवत् १३६१ में बढ़वान में बनाया । बम्बई के डाक्टर पीटर्सन के शास्त्री दीनानाथ रामचन्द्र ने बम्बई में सं० १९४४ में कई हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर इसका मूल छापा जो अब दुष्प्राप्य है । उन्होंने इसका बढ़ाया हुआ गुजराती भाषांतर भी छपवाया था जो मैंने देखा नहीं । सन् १९०१ में टानी ने और कई मूल प्रतियों की सहायता से इसका अंगरेजी अनुवाद छापा। दोनों के अनुवाद कैसे हैं यह यथास्थान प्रकट होगा । इस पुस्तक में कई ऐतिहासिक प्रबन्ध या किस्से हैं । कई बातों में यह 'भोजप्रबन्ध' के ढंग की है । जैन धार्मिक साहित्य में अपने मत की 'प्रभावना' बढ़ानेवाले किस्सों का स्थान बहुत ऊंचा है । जैन धर्मोपदेशक अपने साधु तथा श्रावक शिष्यों के मनोविनोद और उपदेश के लिए कई कथाएं कहा करते हैं जो पौराणिक, ऐतिहासिक, या अर्ध ऐतिहासिक होती हैं । इन कथाओं में कई संग्रह

१. धूल ।
२. फाड़, लूट और तोड़कर मारूंगा (हनिसौं, मिलाओ राजस्थानी करस्यूं. संस्कृत हनिष्ये) ।
३. पगड़ी उतारना और गले में कपड़ा आदि डालकर सामने आना अधीनता का चिन्ह है, जैसे वर्तमान बंगालियों का अभिवादन, दसन गहहु त्रिन कंठ कुठारी (तुलसीदास), अपनीत शिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः (रघुवंश) ४ । अल्पसैन्यो मल्लसूनूर्यवित्तस्माद शंकत । अपनीतशिरस्त्राणस्तावत्स तमवन्दत) राजतरंगिणी ७।१५४४) । कण्ठवद्धशिर.शाटः शीर्षेणोपानहं वहन् । मुक्त वेलोऽपि भूपालं कर्तुं नाशकद क्रुधम् । (राजतरंगिणी ८।२२७३)

ग्रन्थ हैं जिनमें पुराने कवियों की रचना, नये कवियों के नाम, पुराने राजाओं के कर्तव्य, नयों के नाम, विक्रमादित्य भी जैन, सालिवाहन भी जैन, बराहमिहिर भी जैन, ब्राह्मण विद्वानों और अन्य शाखा-सम्प्रदायों के जैन विद्वानों का अपने इष्ट सम्प्रदाय के आचार्यों से सदा पराजय, आदि बातें भी रहती हैं जो वर्तमान दृष्टि से ऐतिहासिक नहीं कहला सकतीं। किन्तु उस समय के हिन्दू ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। उनमें देखा जाय तो ऐतिहासिकता की उपेक्षा जैनों की अपेक्षा अधिक की गई है। इसलिए केवल जैनों को ही उपालम्भ दिया नहीं जा सकता। इतना होने पर भी जैन विद्वानों के इतिहास की ओर रुचि रखने और उसकी मूलभित्ति का सहारा न छोड़ने के प्रमाण मिलते हैं। यों तो सम्राट् अशोक की धर्मलिपि के शब्दों में "आत्मपापंडे पूजा परपाषंडे गर्हा" सभी दिखाते हैं। सं० १३६१ का समय पृथ्वीराज और रासे के कल्पित कर्ता चन्द के समय (१२५० सं०) से ११० (वर्ष) पीछे ही का है। उस समय की प्रचलित भाषा कविता अवश्य मनन करने योग्य है। सं० १३६१ मेरुतुंग के इस चिन्तामणि के संग्रह करने का समय है। कोई भी उद्धृत कविता उसने स्वयं नहीं रची है। कथाओं में प्रसंग-प्रसंग पर जो कविता उसने दी है वह अवश्य ही उससे पुरानी है। कितनी पुरानी है इसका ऊर्द्धतम समय तो स्थिर नहीं किया जा सकता, किन्तु 'प्रबन्धचिन्तामणि' की रचना का समय उसका निम्नतम उपलब्धि काल अवश्य है। उससे पचास-साठ वर्ष पहले यह कविता लोककथाओं में प्रचलित हो या ऐसे घिसे सिक्के यदि सौ दो सौ वर्ष पुराने भी हों तो आश्चर्य नहीं।

कुछ दोहे ऐसे हैं जो धार के प्रसिद्ध राजा भोज के चाचा मुंज के नाम पर हैं, उसके बनाए हुए कहे गए हैं। एक गोपाल नाम किसी व्यक्ति ने भोज से कहा था। दो चारणों ने हेमचन्द्र को सुनाए थे। कुछ नवघन राजा के मरसिये हैं। सं० १३६१ के लिखित ऐतिह्य के अनुसार वे उस समय के हैं। इन कविताओं को शास्त्री ने मागधी और टानी ने प्राकृत समझा है।

सेवेल ने गणित से सिद्ध किया[1] है कि गुजरात के चावड़े राजाओं के संवत् आदि मेरुतुंग ने अशुद्ध लिखे हैं और मिति, वार, नक्षत्र, लग्न सब गड़बड़ दिए हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं है। पुरानी घटनाओं के बारे में चाहे कितनी ऐतिहासिक गड़बड़ हो, अपने समीप के काल की घटनाएं तो मेरुतुंग ने जहां तक वे प्रबन्ध की पुष्टि कर सकती हैं, प्रामाणिक ही लिखी हैं। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, हेमचन्द्र, वस्तुपाल, तेजपाल का काल गुजरात में संस्कृत और प्राकृत की विद्या तथा जैनधर्म के प्रचार का स्वर्णयुग था। भोज के समय धारा में जो

१. राय० एशि० सोसा० जर्नल, जुलाई १९२०, पृ० ३३७ आदि।

विद्या और विद्वानों की ज्योति चमकी थी वह दो ढाई सौ-वर्ष पीछे पश्चिमी गुजरात में भी देदीप्यमान हुई। उस समय की बातें जैनों के गौरव की हैं और उनकी संरक्षा उन्होंने बहुत सावधानी से की है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' के एक ऐसे हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता है जिसमें ऐतिहासिक और शाब्दिक टिप्पणियां हों। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है किन्तु वह संस्कृत भी देशभाषाओं की उत्पत्ति और विकास के समझने में उपयोगी है। इस समय की 'जैन संस्कृत' में एक मनोहारिता यह है कि जैन लेखक गुजराती या देशभाषा में सोचते थे और लिखते थे संस्कृत में। परिशिष्ट पर्व १।७५ में हेमचन्द्र लिखते हैं कि 'स कालं यदि कुर्वीत को (कां) लभेत ततो गतिम्'। मरने के अर्थ में 'काल करना' संस्कृत का महाविरा तो है नहीं, देशभाषा का है। मंजे-छंटे संस्कृत के प्रेमी इसे बर्बर संस्कृत कहें किन्तु यह जीवित संस्कृत है, इसमें भाषापन है। रुचि की तो बात है, किसी को कश्मीर की कुराई के काम से सजा अखरोट की लकड़ी का सुढंग तख्ता अच्छा लगता है, किसी को हरी कोंपलों से लदी-फदी टेढ़ी टहनी। यहां कुछ शब्द और वाक्य इस संस्कृत के दिए जाते हैं; जिन पर* ऐसा चिह्न है वे अन्यत्र शिलालेखों, काव्यों आदि में भी देखने में आए हैं—

छुप्तवान् —छुआ।

***उच्छीर्षक**—तकिया, ओसीसा (राजस्थानी, बाण की कादम्बरी)

करवडी—दोनों हाथ मिलाकर पानी पीने के लिए पात्र-सा बनाना (करपुटी)[1]

धवलगृह—प्रधान महल (धवल = जो जिस जाति में उत्तम हो, देशी, हेम० देशी नाममाला ५।५७, तुलसीदासजी के 'धवल धाम' का यही अर्थ है, सफेद महल नहीं।

सर्वावसर—राजा का सबसे मिलना, दीवान-ए-आम।

राजपाटिका—राजमार्ग।

***धर्मवहिका**—(धर्म के लेखे की) बही।

छुट्टितः—छूटा।

झोलिका—झोली (यदि झोलिका संस्कृत में रूढ़ न हो तो यह भी देशी है, हेम० देशी० ३।१५६)।

धाटीप्रपात—धाड़ा डालना।

१. कांगड़ी में 'छाँब'—सम्पा०

***पञ्चकुल**—पंचोली राजकर्मचारी (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, सं० २, पृ० १३४)।

उद्ग्राहणक—उगाही, उद्ग्राह्य—उगाहकर, उद्ग्राहित—उगाहा हुआ।

निरुद्ध—(अमुक काल से) लेकर, लगाकर (यहां तक)।

वहमान—चलता हुआ (सिंहलग्ने वहमाने)।

न्युञ्छन—न्यौछावर।

नृपतेः कः समयः?—महाराज क्या काम कर रहे है? कैसा मौका है?

गुरुदर—तम्बू, खेमा।

***वसहिका**—मंदिर। (पत्रिका, भा० १, सं० ४, पृ० ४५०)।

चिंतापक—सम्हालनेवाला, रखवाला।

***दवरक**—कटीदवरक—डोरा (डोरः कटिसूत्रं, हर्षचरित की टीका)।

***रसवती**—रसोई।

यमलपत्र—(राजाओं के आपस के) पत्र मुरासिले।

भेटितः—मिला।

पादोऽवधार्यताम्—पधारो (पगु धारे—तुलसी०)।

***खत्तक**—द्वार प्रांत का ताक।

मदनपट्टिका—मोम की पट्टी, मैण (=मोम) का संस्कृतीकृत 'मदन'।

कच्चोलक—कटोरी, कचोला, कचोली (राजस्थानी)।

जीर्णमञ्चाधिरूढः—टूटी खाट पर पड़ा हुआ (क्रोध में)।

सवाहटिको घटः—प्याले सहित घड़ा (वाहटी=बाटी या बाट की=कटोरी)?

हक्कित—बुलाया गया, सम्बोधित।

दानी—दंड राजकर, दाणी, दाण (मारवाड़ी)।

गोण्डित—बीमार हुआ (पशु)।

कामुक—काम करने वाले नौकर, (पंजाबी) काम्मा, (मारवाणी), कामेती। कार्म (हर्षचरित) (भृतकाः) ठानी—Well-wishers! शुभचिंतक)।

छिम्पिका—छीपी (वस्त्र रंगनेवाली जाति)।

निजतनक गृह—अपना घर (तणा, या तणु, या तणी—मारवाड़ी गुजराती 'का')।

व्याघुटन्ती—लौटती हुई, (मारवाड़ी) बावड़ना, (पंजाबी) बौढ़ना। व्याघुटितुं—लौटने को।

वलितः—लौटा, मुड़ा।

वासण—भांडे, रुपयों की थैली (वासणी)।

विहंगिका—वहँगी, कावड।

***कार्मण**—जादू टोना, कामण (मारवाड़ी)।

उत्तेजितं निर्माप्य—उत्तेजित (शान चढ़ा हुआ) बनाकर, करवाकर।

संग्रहणी—वेश्या।

***पट्टकिल**—पटैल, पट्टक (जिले) का प्रबन्धक।

सेजवाली—पालकी।

स्थपनिका—गिरौ रखना।

समारोपयत्—सौंप दिया।

पादौ त्यजसि—पाँव छोड़ता है (डरकर भागता है)।

पोत—वस्त्र (मारवाड़ी पोतिया)।

आरात्रिकमुत्तार्य—आरती उतारकर।

तत्पट्टकं विपाट्य मुमोच—पट्टा फाड़कर (राजकर) छोड़ दिया।

***मारि**—मारना, अमारि—अभय।

युगलिका—डाक की चिट्ठी (हरकारे दो साथ दौड़ते हैं, टानी।

शकुनं भरितं विधेहि—शकुन भरो (=शकुन लो)।

पाषाणसत्कजातीय, सत्क=का।

***कारापक**—करानेवाला।

***तापिका**—तई (कड़ाही), तपेली (तापकोऽपूपादि करणस्थानं तापिका काकपालिका यत्र तैलादिना भक्ष्याः पच्यन्ते, हर्षचरित पर संकेत टीका)।

वप्ता—बाप (देखो आगे ११)।

चतुःसर—चौसर, एक तरह का फूलों का हार।

फुल्लापयिष्यसि—फुलावेगा, फूल उपजावेगा।

***कर्तुं लग्नः**—करने लगा।

धातुओं की अनंतता, आकृतिगण और उणादि की अक्षय निधि से सम्पन्न वे विद्वान जो मा धातु से डियां, डुलक, डौलाना प्रत्यय बनाकर मियां मुलक, मौलाना सिद्ध कर लेते हैं या हमारे आचार्यदेशीय सुग्रीहीतनामा सर्वतंत्रस्वतंत्र सतीर्थ्य जो 'जयौ जयशीलौ ऊरू यस्याः सा जयोरूः=जोरू (स्त्री) बनाते हैं, उन्हें इन उदाहरणों में कुछ चमत्कार न जान पड़े किन्तु ये देशभाषा से गढ़े हुए संस्कृत के उदाहरण हैं। कितना ही बांध दो, जल तो नीचे की ओर रिसता ही है। देशी शब्द और वाग्धारा संस्कृत के लिए अछूत न थी, संस्कृत में इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती।

'प्रबन्धचिन्तामणि' में एक जगह 'आशिष' शब्द अकारांत काम में लिया है (मातुराशिषशिखांकुरिताद्य—वस्तुपाल की रचना, पृ० २६६) 'श्वान' भी (सन्निहितश्वानेन शुण्डादण्डे निहत्य पृ० १८०,—कुक्कुरस्तु शुनिः श्वान इति

वाचस्पतिः, शास्त्री) । जयमंगल सूरि 'चातुर्यता' लिखकर हिन्दी के डबल भाव-वाचक का बीज बोते हैं (पौरवनिताचातुर्यतानिर्जिता, पृ० १५४) ।

कवि श्रीपाल ने सिद्धराज जयसिंह के 'सहस्रलिंग सरोवर' की प्रशस्ति बनाई । उसमें यह श्लोक भी था—

कोशेनापि युतं दलैरुपचितं नोच्छेत्तुमेतत्क्षमं •
स्वस्यापि स्फुटकण्टकव्यतिकरं पुंस्त्वं च धत्ते नहि ॥
एकोप्येष करोति कोशरहितो निष्कण्टकं भूतलं
मत्वैवं कमला विहाय कमलं यस्यासिमाशिश्रियत् ॥

[कमल में कोश—डोडी और खजाना है, दल-पत्ते और सेना—है, उखड़ नहीं सकता, आप ही इसमें कंटक-कांटे और शत्रु का उपद्रव है, कभी इसमें पुंस्त्व—पुंल्लिग और पुरुषत्व नहीं आता, और सिद्धराज जयसिंह का खड्ग अकेला, बिना कोश-मियान-के, भूमंडल को निष्कंटक कर देता है, इसलिए लक्ष्मी कमल को छोड़कर उसी में चली आई ।]

कहते हैं कि इसमें रामचंद्र पंडित ने दो दोष निकाले, एक तो 'दल' शब्द का अर्थ 'सेना' भाषा में होने पर भी संस्कृत में नहीं है, दूसरे 'कमल' शब्द पुंल्लिग और नपुंसकलिंग दोनों ही है । नित्य क्लीव नहीं । इस पर राजा ने सब पंडितों से आग्रह करके (उपरुध्य) 'दल' शब्द को राजसेना के अर्थ में प्रमाणित करवाया[1] किंतु लिंगानुशासन में कमल की नित्यनपुंसकता नहीं थी, उसे कौन निर्णय करे ? इसलिये 'पुंस्त्व च धत्ते न वा' (पुरुषत्व धारण करता है या नहीं) यह पाठ बदल दिया (प्रबंधचिंतामणि, पृ० १५५-६) । यों संस्कृत के क्षीरसिंधु में भी कोई कांजी का शीकर पहुँच जाता था ।[2]

विषयांतर होता है किंतु इस जैन संस्कृत की एक बात की चर्चा बिना किए आगे बढ़ा नहीं जाता । हिंदी में क्रियापदों में लिंग देखकर बहुत लोग चौंकते हैं, 'वह आता है, वह आती है' न संस्कृत में है, न लैटिन में, न अंग्रेजी फारसी

१. 'दल' का संस्कृत में 'सेना' अर्थ जयसिंह और श्रीपाल ने कराया यह कहना पूजार्थ ही है क्योंकि सं० १०८३ और ११०७ के बीच में उदयसुन्दरी कथा का कर्ता सोड्ढल कायस्थ लिखता है, ननु कथमसाध्योऽयमरातिरस्मद्दलानाम् । (गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज नं० ११, पृ० ४)

२. क्या अब यह बंद हो गया है ? आंदोलन, संपादक आदि संस्कृत में अब क्या अर्थ देने लग गए हैं ? कई लोग हिंदी की छाया पर 'आवश्यकतां' प्रगटीकर्तुं' लिखते है और संस्कृत साहित्य सम्मेलन के कर्णधारों के व्याकरण कषायितोदर मुख से बिना जाने ही कभी-कभी 'इयं महिमा' निकल जाता है ।

आदि में, इससे बहुत से अन्य भाषा-भाषी हिंदी सीखने से घबरा उठते हैं। क्रिया-पदों में लिंग के आने का बड़ा रोचक इतिहास है। धातु के शुद्ध क्रिया-वाचक रूप (संस्कृत तिङन्त) में तो लिंग नहीं होता, धातु से बनने वाले क्रियावाचक विशेषणों (वर्तमान या भूत कृदन्त) में उनके विशेषण होने के कारण लिंगभेद होता है। हिन्दी में केवल 'है' धातु का शुद्ध रूप है, उसमें लिंग नहीं है, और जो पद वर्तमान या भूतकाल बताते हैं वे धातुज वर्तमान या भूत विशेषण हैं [आता है=आता (हुआ) है, आती है=आती (हुई) है, करता है, करती है, आता था, आती थी, करता था, करती थी, सं० आयान् (आयान्त्) आयान्ती, कुर्वन् (कुर्वन्त्, करन्त्), कुर्वन्ती (करन्ती)] अवश्य ही आज्ञा, विधि क्रिया में लिंग नहीं है क्योंकि वे धातु के ही रूप हैं। इन धातुज वर्तमान और भूत धातुज विशेषणों का क्रिया के स्थान पर काम में आना भाषा के विकास में एक नया युग प्रकट करता है। वैदिक संस्कृत में भूतकाल की क्रिया के तिङन्त रूप ही आते हैं, स गतः, तेन कृतम्, अहं पृष्ठवान् आदि रूप अलभ्य नहीं तो अतिदुर्लभ हैं। पीछे संस्कृत में ये निष्ठा के रूप क्रिया का काम देने लगे, उनमें विशेषण होने के कारण लिंग-भेद भी था। भाषा में बड़ी सरलता आ गई, सः (सा) चकार, अकरोत्, आकार्षीत् की जगह स कृतवान्, सा कृतवती, तेन कृतम्, तया कृतम् से काम चलने लगा। यों भूतकालवाची धातुज कृदन्त को (Past Participle), चाहे वह कर्तरि प्रयोग हो चाहे कर्मणि या भावे, विशेषण की तरह रख कर आगे अस्ति (होना क्रिया का वर्तमान काल का रूप) का अध्याहार करके भूतकाल का काम चलाया जाने लगा। आर्ष प्राकृत में कुछ भूतकालिक क्रियापद हैं, पीछे प्राकृत में आसी (आसीत्-पंजाबी सी) को छोड़कर भूतकालिक क्रिया मानो रही ही नहीं, इन्हीं त-वाले विशेष्य-निघ्न शब्दों से काम चला। यह तो पहली सीढ़ी भाषा की सरलता में हुई। संस्कृत और प्राकृत, के रचनावैचित्र्य में इससे बहुत सहायता मिली कि वैदिक संस्कृत से प्राकृत और लौकिक संस्कृत में आते-आते भूतकालिक क्रिया का काम विशेषण देने लगे, वैयाकरणों की भाषा में 'कृदभिहित आख्यात' हो गया। इसी तरह वर्तमान काल की क्रिया भी केवल अस्ति (होना धातु की) रहकर वर्तमान धातुज विशेषणों का क्रियापद का काम देने लगना दूसरी सीढ़ी है जो प्राकृत से 'अपभ्रंश' या 'पुरानी हिन्दी' बनने के समय हुआ। उपजइ, उपजै, करइ, करै यह तो धातु के (तिङन्त) रूप हैं, इनमें लिंग-भेद नहीं है, इनका इ (या मुखसुख का ऐ) संस्कृत 'ति' और प्राकृत 'इ' है। किन्तु उपजता है (या उपजती है), करता है (या करती है) में 'है' (अहै-अहइ-अस्ति) धातु का रूप है और पहले पद वर्तमान धातुज विशेषण (Present Participle) है (उपद्यन्—उत्पद्यंत—उपजन्त; उत्पद्यन्ती—उपजंती—उपजती;

कुर्वन् —कुर्वत—करंत—करत, कुर्वती—करंती—करती) । इस विशेषण के वास्तव रूप के अन्त में ०अंत ०अंती ही है जो संस्कृत और पुरानी हिन्दी दोनों में स्पष्ट है । उसी का ०अत, ०अती हो जाता है । करतो, उपजतो में 'ओ' 'उ' की जगह है जो पुल्लिग के कर्ता के एकवचन के चिह्न (संस्कृत 'स' या ':') का अपभ्रंश है ।

अब इस विषय को अधिक न बढ़ाकर प्रसंग की बात पर आते हैं कि इस काल की जैन संस्कृत में भी वर्तमान धातुज विशेषण का क्रिया की तरह काम देना पाया जाता है—यथागतं व्रजामीत्यापृच्छन्नस्मि (प्र. चि. पृ० ११), नृपस्तस्य सौधमलंकुर्वन (पृ० ५५) वन्दिनः श्रीसिद्धराजस्य कीर्ति वितन्वंतः (पृ० १८२) इत्यादि । देश भाषा में सोचने वाले कवि ने उसकी छाया संस्कृत में पहुंचा दी और संस्कृत की स्थिर भाषा में भी समय की गति का प्रभाव पड़ा । वर्तमान धातुज विशेषण 'होना' क्रिया के वर्तमान के रूप के साथ वर्तमान क्रिया का काम देने लगा और भूतकालिक धातुज विशेषण (निष्ठा, था-थी, हतो-हती, भयो, भयी) के साथ भूतकाल का । 'था' और 'हता' अस् (अस्ति) के हैं, और भया, भू (भवति) का ।

अब 'प्रवन्धचिन्तामणि' का कुछ पानी[1] देखिए—

(१)

अम्मणिओ संदेसडओ तारय कन्ह कहिज्ज ।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउं बलिबंधणह मुहिज्ज ।।

पाठांतर—पुरानी जैन पोथियों में ओ औ को उ उँ लिखते थे । इसके धोखे में आकर छापने वाले कहीं ओ छाप देते हैं । शुद्ध पाठ छन्द की मात्राओं के अनुसार पढ़ना चाहिए । 'अउ' और 'अइ' पुरानी लिखावट है, उनकी जगह 'ओ' और 'ऐ' पिछली, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है । इसलिए यहाँ पर अम्मणिअउ, संदेसडउ, डुब्बिअउ, पाठ उचित हैं, पीछे से लेखकों की मुखसुखानुकारी लिखावट से वे अम्मणिओ, सन्देसडो डुब्बिओ हो गए होंगे जो कविता की हिन्दी से बहुत दूर नहीं हैं । ऐसे ही जैन पोथियों में 'स्थ' 'च्छ' 'ज्झ' 'ब्भ' 'त' 'भ' सदृश लिखे हुए मिलते हैं, अतएव ऐसे पाठांतर कोई पाठांतर नहीं हैं, पुरानी लिपि के ठीक-ठीक न पढ़ने से उपजे हुए भ्रम मात्र हैं । शास्त्री तथा टानी के

१. हिन्दी में पानी मोती की ओप के लिए ही आता है किंतु गणरत्नमहोदधि में वर्धमान ने एक उदाहरण 'भुजंगमस्येव मणिः सदंभाः' देकर मणि के लिये भी अंभः (पानी) का प्रयोग दिखाया है ।

संस्करणों में जो पाठान्तर दिए हैं उनमें से हमने यहां कुछ दे दिए हैं, नारायणह कहिज्ज, जगु, दुत्थिउ (दुच्छिउ)। परसवर्ण नियम वैकल्पिक होने से हमने कहीं-कहीं अनुस्वार का प्रयोग किया है और ह्रस्व दीर्घ को अधिक बदला नहीं।

अर्थ—एक समय विक्रमादित्य रात को नगर में घूम रहे थे कि एक तेली को उन्होंने यह आधा दोहा पढ़ते सुना कि 'हमारा सन्देशा तारने वाले (तारक) कान्ह (पाठान्तर में नारायण) को कहना'। राजा बहुत देर तक ठहरा रहा कि देखें आगे क्या कहे किन्तु उत्तरार्द्ध न सुनकर लौट आया। सवेरे दरबार में बुलाए जाने पर तेली ने दोहा यों पूरा किया—जग दारिद्र्य में डूब रहा है, बलिबन्धन को छोड़ दीजिए'। दैत्य बलि बड़े दानी थे जिन्हें नारायण ने बांधकर पाताल में भेज दिया था। यदि तेली की प्रार्थना पर तारक कान्ह उसके बन्धन छोड़ देते तो जग दारिद्र्य से उबर आता। बलि का अर्थ 'राजकर' भी होता है। राजा कदाचित यह समझ रहा हो कि तेली मेरी बड़ाई में कुछ कहेगा किंतु वह तो राजा को ताने से सुना रहा है कि हम तो दारिद्र्य में डूब रहे हैं और बलिबन्धन (करों का बोझ) छुड़ाने की प्रार्थना करते हैं। टानी ने पूर्वार्द्ध का अर्थ किया है—'हमारा राजा वास्तव में नारायण कहलाने योग्य है', और उत्तरार्द्ध के लिए शास्त्री तथा टानी दोनों कहते हैं कि 'बलिबन्धन नहीं छोड़ा गया।' सन्देसडउ का अर्थ टानी ने राजा कैसे किया, यह चिन्त्य है। 'बलिबन्धणह' को 'बलिबन्ध ण ह' पढ़ने से उत्तरार्द्ध का यह अर्थ हो सकता है कि 'बलिबन्ध न छोड़ा गया' किन्तु कहिज्ज (कहीजै, कहजै, कहिए) के साथ से मुहिज्ज का अर्थ छोड़िए ही ठीक है, छोड़ा गया (मोचित) नहीं।

विवेचन—अम्मणिअउ—अम्हणिअउ, सं० अस्मानं (!), अस्मनीय (!), आगे अम्हीणा = हमारा आवेगा। 'ण' (सं० नाम्) सम्बन्ध कारक का है (प्रा० अम्हाणं), गीतों की पंजाबी में ण का ड हो गया है मैंडा, तैंडा। संदेसडउ—जैसे संस्कृत में अल्प, अज्ञात, कुत्सित स्वार्थ में 'क' आता है वैसे पुरानी हिन्दी में 'ड' या डल' आता है जैसे, मोर-मोरडो, नींद नींदडली (मारवाड़ी), रत्ति (रात)-रत्तिड़ी, आदि। तारय-तारक (को)। कन्ह-कृष्ण, कन्ह, व्रजभाषा का कान्ह। कहिज्ज—विधि, प्रेरणार्थक, और कर्म वाच्य में जहां-जहां संस्कृत में 'य' आता है वहां 'ज' या 'ज्ज' आता है जैसे, मरीजै (मरा जाय), करीजै (किया जाय, महाराज कहँ तिलक करीजै,—तुलसीदास) कहज्ये (राजस्थानी)—तू कहना, लिखीज गयो (मारवाड़ी) लिखा गया; दीजिए (दिज्जिय, दीजै, दिज्जै) पहले कर्मवाच्य प्रयोग था, पीछे कर्तृवाच्य हो गया। दालिद्दि हि-मिलाओ ग्राम्य दलिद्दर, दलिद्दरी। डुब्बिअउ—संस्कृत धातु ब्रुड है जो देशी से बनाया जान पड़ता है, हिन्दी में डूबना, बूड़ना दोनों रूप हैं, व्यत्यय का उदाहरण है। **दुत्थिअउ**—दुःस्थित। **मुहिज्ज**—

छोड़िए, छोड़ा जाय, देखो ऊपर, कहिज्ज। शास्त्री इसका अर्थ 'मोचित' (छोड़ा गया) करते हैं।

(२)

कच्छ के राजा लषाक[1] को कपिलकोटि के किले में मूलराज ने घेर लिया। लाषाक (लाषा) बहुत से बोधवाक्य कहकर रणभूमि में उत्तर आया और वीरता दिखाकर काम आया। उन बोध-वाक्यों में से एक यह दिया है—

ऊग्या ताविउ जहिं न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट ।
गणिया लब्भइ दीहडा के दहक अहवा अट्ठ ॥

इस दोहे को यदि कुछ नई लिखावट में बदलकर लिख दें तो यह इतना बेगाना नहीं जान पड़ेगा—

ऊग्याँ तापित जेंहि न किय लक्खो भणै निघट्ट ।
गिण्या लब्भै दीहडा के दहक अहवा अट्ठ ॥

अर्थ—(जिस) उदय पाए हुए (पराक्रमी वीर) से (शत्रु) तापित न किए गए, न तपाए गए, तो कुशल लक्खा कहता है कि (उसे जीने के) गिने हुए दिन ही मिलते हैं, या दस या आठ। यदि वीरता न दिखाकर पड़ा रहे तो कितने एक दिन जी लेगा ? उम्र के थोड़े से दिन। एक न एक दिन तो मरना है ही। इससे अच्छा है कि शत्रुओं को लोहा चखाकर मर जाय।

ऊग्या—उगे हुए से, उदित से, या उदित होने पर। ताविउ—तापित। निघट्ट—कुशल (हेमचंद्र, देशी नाममाला, णिग्घट्ट ४।३४) शास्त्री कहते हैं निकृष्टः (!) दीहड़ा—दिन, देखो (१) की टिप्पणी में संदेसडो। पंजाबी ध्याडा

१. यह कच्छ का प्रसिद्ध राजा लाखा फूलाणी (फूल का पुत्र था) जिसका नाम धनाढ्यता तथा उदारता के लिए प्रसिद्ध है। यह जाडेचा जाति के चंद्रवंशी यादवों में से था। मूलराज के हाथ से इसकी मृत्यु का काल पुरानी गुजराती कविता के अनुसार कार्तिक शुक्ल ८ शुक्रवार शक सं० ६०१ (वि० सं० १०३६—ई० सं० ६८०) है। कन्नोज के राठौड राजा जयचंद के पोते या पड़पोते सियाजी का मूलराज की कन्या से विवाह होना तथा इसके प्रत्युपकार में सियाजी का लाखा फूलाणी को मारना आदि कथा अप्रामाणिक है क्योंकि सियाजी के दादा या पड़दादा जयचंद का समय वि० सं० १२५० (ई० सं० ११६३) है। इससे सियाजी का समय वि० सं० १३०० के पीछे आना चाहिए। उस समय लाखा तथा मूलराज को हुए तीन सौ वर्ष हो चुके थे। (देखो : पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख 'लाखा फूलाणी का मारा जाना', समालोचक (जयपुर) जनवरी-फरवरी, १६०४)। मूलराज का राज्याभिषेक वि० सं० १०१७ में होना प्रामाणिक है।

(दिहाड़ा)—दिन, धन्न धियाडो धिन घड़ी (ऊमा झीमा की कविता, मारवाड़ी)। के—या, कै तापस तिय कानन जोगू (तुलसीदास)। दह—दस, मिलाओ चौदह। **अहवा**—अथवा। शास्त्री और टानी दोनों के अनुवाद अशुद्ध हैं।

(३)

मालवा के राजा (परमार) मुंज का राजकार्य तो रुद्रादित्य नामक मंत्री देखता था। और मुंज किसी स्त्री पर आसक्त था। रात ही रात में चिरक्किल नाम के ऊँट पर चढ़कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता। कुछ दिन पीछे मुंज ने आना-जाना छोड़ दिया तो उस खंडिता ने मुंज को यह दोहा लिख भेजा—

मुंज षडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आसाढि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसेऽवारि॥

पाठांतर—जै गम्मारि।

अर्थ—मुंज, (प्रेम की) डोरी ढीली हो गई है, खसक गई है, गंवार। तू नहीं देखता कि आषाढ़ में घन (मेघ) गरजने पर अब (भूमि) फिसलनी हो जायगी।

शास्त्री ने अर्थ किया है कि 'आषाढ़' का (आषाढ़ीय) घन गरजता है, किंतु आषाढ़ि का 'इ' अधिकरण कारक है, और गज्जीइँ वर्तमान काल ही नहीं, किन्तु वर्तमान धातुज विशेषण (गरजता हुआ) की भावलक्षण सप्तमी भी जान पड़ती है। आगे शास्त्री कहते हैं कि 'तेरे विरह से उपजने वाले अश्रुओं की धाराओं से फिसलनी जमीन पर कैसे आओगे इति दिक्) किन्तु यह दिशा नहीं दिशाभूल है। सीधी बात यह है कि गर्मियों में डोरी सूख जाय या ढीली हो जाय तो बरसात में मुलायम होकर तनती है (आन गाँठ घुलि जात त्यों मान गाँठ छुटि जात—बिहारी) सो बरसात होने पर तो तुम्हें बिना आए सरेगा ही नहीं, नाक के बल आओगे, किन्तु फिसलनी जमीन में ऊँट कैसे चलेगा? इसलिए अभी से आते रहो। बरसात में ऊँटों को चलने में कष्ट होता है जैसा कि एक मारवाड़ी दोहा है—

ऊँटां टेघां टेरडां गुड गाडर गाडांह।
सारा दोहरा आवशी मैंडक बोल्यां नाडहां॥

ऊँट, बकरे, बैल, गुड़, भेड़ और गाड़े, ये सब कठिनाई से आवेंगे मैंडकों के नाडियों (तलैयाओं) में बोलने पर। आं, आंह—कर्ता का बहुवचन, दोहरा—(सं०) दुष्कर, बोल्यां नाडांह—भावलक्षण (सप्तमी) खडल्ला—(सं०) स्खलिता,

(?) सूखी खड़खड़ाती। दोरडी—डोरी, देशी से गढ़ा हुआ संस्कृत दवरकी, पद्धतियों में डोरक—संस्कृत ही बन गया है। बाण के 'हर्षचरित' में 'डोर' पद आया है जिसका अर्थ संकेत टीकाकार ने 'कटिसूत्र' किया है। (देखो, ऊपर पृ० २७) पेक्खिसि—(सं) प्रेक्षसे, पंजाबी में अब-ईक्ष अभी देखने के अर्थ में है, तू वेख, वह वेखदा है। गम्मारि—गँवार। आसाढि—छंद के लिये 'इ' को दीर्घ पढ़ो। गज्जीइँ—सं० गर्जति, या गर्जत्सु, ऊपर व्याख्या देखो। **चिक्खिल्लि**—कीचड़ली, फिसलनी, पंजाबी चिफली (संस्कृत पिच्छिल का व्यत्यय) हेम० देशी० ३।११ चिक्खल्ल। **होसे**—मिलाओ, गुजराती मारवाड़ी होशे। **अबारि**=राजस्थानी अबार (=अब)।

(४)

तैलिंग देश के राजा तैलप (कल्याण के सोलंकी तैलप दूसरे) की छेड़छाड़ पर मुंज ने उस पर चढ़ाई की। मंत्री रुद्रादित्य ने मुंज को रोका और समझाया कि गोदावरी के उस पार न जाना किंतु मुंज तैलप को पहले छै बार हरा चुका था, इसलिये उसने मंत्री की सलाह की उपेक्षा की। रुद्रादित्य ने राजा का भावी अनिष्ट समझ और अपने को असमर्थ जान चिता में जलकर प्राण दे दिए।[1] गोदावरी के पार मुंज की सेना छलबल से काटी गई और तैलप मुंज को मूँज की रस्सियों से बन्दी करके ले गया। वहाँ उसे लकड़ी के पिंजड़े में कैद रखा। तैलप की बहन मृणालवती से मुंज का प्रेम हो गया। एक दिन मुंज काच में मुँह देख रहा था कि मृणालवती पीछे से आ खड़ी हुई और मुंज के यौवन और अपनी अधेड़ उमर के विचार से उसके चेहरे पर म्लानता आ गई। यह देख मुंज ने यह दोहा कहा—

मुंज भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय, तो इस मीठी चूरि॥

अर्थ—मुंज कहता है, हे मृणालवती ! गए हुए यौवन को (का) सोच मतकर, यदि शक्कर के सौ टुकड़े हो जाएं तो वह चूरी (चूर्ण की हुई) भी मीठी होती है।

भणइ—भणै, कहै (सं० भणति)। **मुणालवइ**—स्वर ऋ कि 'उ' श्रुति देखो। **जुव्वण**—जोवन, यौवन। **गयुं**—गयो (कर्म कारक)। **झूरना**—पछताना, विलाप करना। **जइ** (सं० यदि, हि० जे) **सय**—शत। **थिय**—वर्तमान 'था' का स्त्री लिंग, सं० स्थित, थी; गुजराती—थई। इस—यह।

बीकानेर के राजा पृथ्वीराज की रानी चांपादे ने पति को अपने धौलों

१. देखो पत्रिका भाग १, पृष्ठ ३२५-३१

(श्वेत केशों) पर पछताया करते देख ऐसे ही दोहे कहे थे—**नरां नाहरां डिगमरां पाकां ही रस होय,**···**नरां तुरंगां वन फलां पक्कां पक्कां साव** (महिलामृदुवाणी)।

(५)

रुद्रादित्य तोमर गया था। वह उदयन—वत्सराज के मंत्री यौगंधरायण की तरह अपने स्वामी को बचाने के लिए पागल का वेश धर के नहीं पहुंचा किंतु मुंज के कुछ सहायक तैलप की राजधानी में पहुंच गए। उन्होंने बन्दीगृह तक सुरंग लगा ली। भागते समय मुंज ने मृणालवती से कहा कि मेरे साथ चलो और धारा में रानी बनकर रहो। उसने कहा कि गहनों का डिब्बा ले आती हूँ किन्तु, यह सोचकर कि यह मुझ अधेड़ को वहां जाकर छोड़ दे तो न घर की रही न घाट की, उसने सब कथा अपने भाई से कह दी। वत्सराज की तरह घोषवती वीणा और वासवदत्ता को लेकर निकल जाना तो दूर रहा, मुंज बड़ी निर्दयता से फिर बाँधा गया। उससे गली-गली भीख मंगाई गई। उसके विलाप की कविता में कई श्लोकों के साथ कुछ पुरानी हिंदी कविता भी है जिसकी यहां चर्चा की जाती है। टानी कहते हैं कि छपी पुस्तक में कई प्राकृत काव्य इस प्रसंग के नहीं दिए हैं जो एक प्रति में हैं। संभव है कि उनमें कुछ और हिन्दी कविता रही हो।

सउचित्तहरिसट्ठी मम्मणह, बत्तीस डीहियां।
हियम्मि ते नर दड्ढ सीझे जे वीससइ थियां॥

पाठांतर—चित्तहसट्ठी मणह, अस्सी ते नर, हरिसट्ठी मम्मणछत्ति, हिअम्मि, पंचासडीहिया, हियम्मी, सिय जे पत्तिज्जइ तांह, अम्मी सीजै, पंतिठवइ तियांह।

अर्थ—सब (के) चित्तों को हर्षित करने (या हरने) के अर्थ प्रेम की बातें बनाने में चतुर स्त्रियों में जो विश्वास करते हैं वे हृदय में बहुत दुःख पाते हैं। पाठान्तरों से इस दोहे के कई रूपान्तर हों, यह जान पड़ता है। 'जे पत्तिज्जइ तांह' (जो पतीजते हैं उन्हें या उनमें) से जान पड़ता है कि पूर्वार्द्ध का अंत और तरह भी रहा हो। 'मम्मणह बत्तीस' का अर्थ कामदेव की बातें किया जाता है, किन्तु पाठान्तरों में छत्ति (स), पञ्चास, मिलने से संभव है कि यह बत्तीस भी संख्या हो और इसमें स्त्रियों के पुरुषों को मोहन करने की कलाओं की परिसंख्या हो, जैसे नाई को 'छत्तीसा' या 'छप्पन्ना' कहते हैं। छप्पन्ना का अर्थ, ५६ कलायुक्त नहीं किन्तु छै बुद्धिवाला (सं० षटप्रज्ञ) है। षटप्रज्ञ बुद्ध की उपाधि भी है।

सउ—सब, राजस्थानी सै, सौ, मारवाडी सेंग (हैंङ)। हरिसट्टी—हर्ष+अर्थ, या हर(ण)+सार्थ, राजस्थानी साठे=हाठे=आठे या आटे=वास्ते, मराठी साठी=लिये। मम्मणह—मन्मथ=कामदेव, या मणमण करना, महीन-महीन बातें (चोचले)। ह=का। बत्तीस—बातों में। डीहियाँ—चतुरों (सं० दक्ष) में, गुजराती मारवाड़ी डाह्या, डीहि=दीर्घ, बढ़ीचढ़ी, मिलाओ सं० दीर्घिका (वावड़ी)=हिं० दिग्धी, डिग्गी, डीघी। हियम्मि—सं० स्मिन् और हिं० में के बीच में 'म्मि' है। दड्ढ—दृढ। सीझ—दुःख पाता है। राजस्थानी। सीझना=गलना या पकना (दाल का) सं० सिध्यति से है, सम्भव है कि यहां पाठ खीझे हो जो सं० 'खिद्यति' से है। बीससइ—विश्वास करते हैं। पत्तिज्जइ=पतीजते हैं, पतियाते हैं, प्रत्यय करते हैं, 'सहसा जनि पतियाहु' (तुलसीदास) पंजाबी में पतियाने का अर्थ मानना या रिझाना भी है। पंतिस्वइ—केवल पत्तिज्जइ का लेखप्रमाद है, अनुस्वार पर आगे टिप्पणी देखो। थियाँ, तियाँह—स्त्रियों में।

(६)

झाली तुट्टी किं न मुउ किं त हुयउ छारपुंज।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मंकड तिम मुंज॥

कुछ बदला हुआ रूप आधुनिक हिन्दी का सा—

जलि टूटि किमि न मुआ, किम न हुयो छरपुंज।
हिंडै डोरी बाँधियो, जिमि मंकड तिमि मुंज॥

पाठांतर—झोली तुट्टि वि किं न कउ मुयउ, छारहपुंज, घरि घरि तिम्म नचावइ जिम, तुटवि, झोली त्रुटी, हूयउ।

अर्थ—(आग में) जलकर या (फांसी की रस्सी) टूटकर (मैं) क्यों न मरा? राख का ढेर क्यों न हुआ? डोरी से बंधा हुआ जैसे बंदर घूमता फिरता है वैसे मुंज (फिरता है)। पाठांतरों में—झोली (फाँसी का फंदा) टूटकर भी कुछ न किया···घर-घर वैसे नचाया जाता है, जैसे···।

झाली—जलकर सं० ज्वल, राजस्थान में आग की लपट (ज्वाला) को 'झाल' या 'झल' कहते हैं। तुट्टी, तुटवि—तूट (टूट, सं० त्रुट) कर। मुअउ—मृत (हुआ), ऐसे ही हुयउ—हुआ। किं—क्यों। छार—मात्रा के लिए 'छर' पढ़ो, छार और राख दोनों भस्म के अर्थ में एक ही देशी पद के व्यत्यय हैं, सं० क्षार (खारा) से केवल सादृश्य है, राख से संस्कृत रक्षा बनाया गया है। हिंडइ=सं० हिंडति, घूमता है, पंजाबी हंडना=भटकना, जैसे—'गालियां दा हंडना छाड़ि

देइँ कान्हा, हुण होया तू घरबारी (गीत—कान्ह ! तुम गलियों का भटकना छोड़ दो, अब तुम गृहस्थी हो गए हो, हुण=सं० अधुना) दोरी—देखो ऊपर (३)। मंकड—सं० मर्कट । पुराने लेखक द्वित्व वाला अक्षर बताने के लिए दुबारा अक्षर (युक्त) लिखने के परिश्रम से बचने के लिए अक्षर पर अनुस्वार के सदृश बिंदी लगा दिया करते थे, वही कई शब्दों में लेखक भ्रम से 'न' श्रुति हो गई, जैसे, सं० मर्कट—प्रा० मक्कड (लिखा गया) मंकड—भ्रम से मङ्कड, सं० खड्ग-प्रा० खग्ग-खंग, हिन्दी—खङ्ग, ऊपर (५) में पतिज्जइ का पंतिज्जइ, सं० अत्यद्भुत-प्रा० अच्चब्भुअ-अच्चंभुअ-हिं० अचम्भा, इत्यादि ।

पूर्वकालिक क्रिया के रूपों पर टिप्पण—संस्कृत वैयाकरणों ने त्वा (गत्वा, कृत्वा) को पूर्वकालिक की प्रकृति और य (सत्कृत्य, संगत्य) को धातु के पहले उपसर्ग आने पर विकृति माना है किन्तु पुरानी संस्कृत में यह भेद नहीं है। 'अकृत्वा' और 'गृह्य' दोनों मिलते हैं । वेद में 'कृत्वाय' मिलता है और पाली में 'छित्वान' और 'कातून' । अतएव पांच तरह के रूप हुए—कृत्वा, कृत्वाय, कृत्वान्, कर्तून, कर्य (कृत्य) । सूक्ष्म विचार से ये अव्यय नहीं किन्तु 'तु' अन्तवाले धातुज शब्द के तृतीया और चतुर्थी के रूपों के से जान पड़ते हैं, कृत्वा=कृतु से, करने से=कर कर; इत्यादि । प्राकृत में 'त्वा' बिलकुल नहीं है, 'य' है या पाली वाला 'त्वान' 'तून' जो 'तूण' या 'ऊण' होता हुआ मराठी घेऊन, म्हणून तक पहुंच गया है और मारवाड़ी में करीनै, लखीनै में रहा है । पुरानी हिन्दी अर्थात् अपभ्रंश में 'पोक्खिवि' 'बोल्लिवि' आदि आते हैं । वहां भी य=इय=इ है । हिन्दी में 'य' 'इ' के रूप में आया है (आइ, सुनि=आय्य, सुन्य—* सं० आयाय्य श्रुण्य (!), अब 'इ' भी उड़ गया है, और कर धातु के पूर्वकालिक का अनुप्रयोग होता है जैसे खा कर=(पु० हिं०) खाई करि=पंजाबी, खाई करी=सं० *खाद्य कर्य (!) ।

(७)

गय गय रह गय तुरग, गय पायक्कडा निभिच्च ।
सग्गट्टिय करि मत्तण उम्मुहंहुं (ता ?) रुद्दाइच्च ।।

पाठांतर—पायकडा, ठकुर रुदाइच्च, उंमुऊ, मतणु महता ।

अर्थ—(जिसके) गज, रथ, घोड़े और पैदल चले गए हैं, जो बिना नौकर के है (ऐसे मुझ को) हे स्वर्गस्थित रुद्रादित्य ! बुला ले । मैं तुम्हारी ओर मुंह किए हुए हूं ।

गय—गत, 'गए' । गय—गज । रह—रथ । तुरय—तुरग । पायक्कडा—डा के लिए (१) में 'संदेसडो' की टिप्पणी देखो । पायक—पैदल, पदाति, पद्ग,

पाजी (पुराना अर्थ), 'जाके हनूमान से पायक' (तुलसीदास)। निभिच्च—निभृत्य। सग्गट्ठिय—स्वर्गस्थित। करि—करु (आज्ञा) मंतण—(आ) मंत्रण, बात करना, बुलाना। उम्मुह—उन्मुख। रुद्राइच्च—रुद्रादित्य।

(८)

मुंज गलियों में मांगता फिरता था। पहले कैदियों का यों अपमान किया जाता था। हाथ में उसके पडुआ (पत्तों का दौना) था। किसी स्त्री ने छाछ पिला दी और घमंड से सिर मटकाकर भीख न दी। मुंज बोला—

भोलि मुन्धि मा गव्वु करि, पिक्खिवि पडुगपांइ।
चउदसइ सइं छहुत्तरइं, मुञ्जइं गयइ गायइं॥

पाठांतर—धनवंती म गब्बु, पंडुरुआइ, पट्टकरुपाणि, पडुकयाणि, पडुकरुपाणि, चउदसइ, छउत्तर।

अर्थ—हे भोली, हे मुग्धे, (पाठांतर में—हे धनवन्ती) मत गर्व कर, मुझे हाथ में पडुग लिए देखकर, चौदह सौ छिहत्तर मुंज के हाथी (चले) गए।

मुंधि—सं० मुग्धा, मारवाड़ी में मोंधा 'मूर्ख' को कहते हैं। यह 'न' भी सं० मुग्ध, प्रा० मुघ्ध के द्वित्वसूचक चिह्न से बना है, देखो, (६) में मंकड की व्याख्या। पिक्खिवि—पेखकर। पडुगु—पडुआ, पत्तों का दोना, या भीख मांगने का पात्र। पांइ—पाणि, हाथ। सइँ-सै, सौ। चउदसइ, सइ, छहुत्तरइं, गयाइं-में इं कर्ताकारक का नपुंसक का बहुवचन (सं० नि) है और मुंजह, गयह—में ह सम्बन्ध कारक का है।

(९)

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

अर्थ—जो मति पीछे सँपजती (होती) है वह मति पहली होय तो मुंज कहता है कि हे मृणालवति! कोई विघ्न नहीं घेरे।

जा सा-जो सो (स्त्रीलिंग)। संपज्जइ सं० संपद्यते, सं+पद्=संपजना, उद्+पद्=उपजना, निस्+पद्=निपजना। वेढइ—घेरता है, पंजाबी बेढ़ा, घिरा हुआ मकान, जनाना; वेढ़ी पूरी—बीच में कचौरी की तरह भरी हुई। शास्त्री का अर्थ है—विघ्न को कोई नहीं बहता (उठाता), ठानी का 'कोई (मेरे मार्ग में) विघ्न नहीं डालता'।

(१०)

सायर पाई लंक गढ गढवइ दससिरि राउ ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ ।

अर्थ—सागर खाई, लंका गढ़ और दससिर राजा (रावण) गढ़पति—भाग्य का क्षय होने पर वही तहस-नहस हो गया, (तो) हे मुंज, विषाद मत कर।

गढवइ—गढपति, मिलाओ चक्रपति—चक्क वइ—चक्कवै । भज्जिगय-टूट गया, 'भाँज गढ़' वाला । √भंज धातु:, संस्कृत में भग्न का अर्थ टूटा या हारा होता है, उसी से हिन्दी √भागना बना, आगे देखो 'अह भग्गा अम्हत्तणा' आदि ।

राजा मुंज, पुरानी हिन्दी का कवि

धार के परमार राजा मुंज (वाक्पति राजा द्वितीय, उत्पलराज अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ अथवा श्रीवल्लभ) ने कल्याण के सोलंकी राजा तैलप दूसरे पर चढ़ाई की और तैलप ने उसे हराकर निर्दयता से मारा—यह तो ऐतिहासिक सत्य है क्योंकि चालुक्यों के दो लेखों में इस बात का साभिमान उल्लेख किया है। मुंज के मंत्री का नाम रुद्रादित्य था, यह उसी के वि० सं० १०३६ (सन् ९७९ ई०) के दानपत्र से प्रकट है। मुंज का प्रथम दानपत्र सं० १०३१ का है और उसकी मृत्यु उसके राजकाल में अमितगति से सुभाषितरत्नसंदोह के पूर्ण होने के संवत् १०५० और तैलप की मृत्यु के सं० १०५५ के बीच में होनी चाहिए। यों राजा मुंज विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में था। (मुंज तथा भोज के कालनिर्णय के लिए देखो ना० प्र० पत्रिका नवीन सं०, भाग १, अंक २, पृष्ठ १२१-५, और गौ० ही० ओझा, सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७६-८०)। 'प्रबंध चिंतामणि' में लिखा है कि मारे जाने के समय मुंज से कहा गया कि अपने इष्ट देवता का स्मरण करो तो उसने कहा 'लक्ष्मी गोबिन्द के पास चली जाएगी, वीरश्री वीरों के घर चली जायगी किन्तु यशःपुंज मुंज के मरने पर सरस्वती निरालम्ब हो जायगी।' चाहे यह मुंज की रचना न होकर उस समय के किसी कवि की हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह विद्या और विद्वानों का अवलम्ब था। उसके समय में जैसा ऊपर कहा जा चुका है अमितगति ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' बनाया। सिंधुराज के कीर्तिकाव्य 'नवसाहसांकचरित' का कर्ता पद्मगुप्त, धनपाल, 'दशरूप' का कर्त्ता धनंजय और उसका टीकाकार धनिक उसके आश्रित थे। 'पिंगलसूत्र' का टीकाकार हलायुध उसी के समय में था। प्रबंधों में और सुभाषितावलियों में मुंज के बनाए कई श्लोक दिए हैं

और क्षेमेन्द्र ने, जो मुंज के ५० वर्ष ही पीछे हुआ, उसका एक श्लोक उद्धृत किया है। अब यह प्रश्न उठता है कि जिन दोहों की व्याख्या हम कर चुके हैं वे क्या स्वयं मुंज के बनाए हैं? हमारे दसवें दोहे की व्याख्या में शास्त्री कहते हैं कि यह 'रिपुनारी वाक्य' है किन्तु इसमें मुंज ने अपने ही को सम्बोधन किया हो तो क्या आश्चर्य है? प्रबन्धचिन्तामणिकार के समय (सं० १३६१) तक तो यह ऐतिह्य था कि ये दोहे मुंज के हैं। जो श्लोक दूसरे कवियों के बनाए जाने गये हैं और इन प्रबन्धकारों ने दूसरे कवियों या राजाओं के सिर मढ़ दिए हैं उनके कारण ऐसे प्रसिद्ध दोहों पर संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे दोहे दन्त-कथाओं में रह जाते हैं और दन्तकथाओं को छोड़कर उनकी रचना के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। बीकानेर के पृथ्वीराज ने राणा प्रताप को सोरठे लिख भेजे, मानसिंह को अकबर ने 'सभी भूमि गोपाल की' वाला दोहा लिख भेजा, नरहरि कवि का 'अरिहु दन्त तृन गहहिं' वाला छप्पय अकबर के सामने पेश किया गया, 'ब्रह्म भनै सुन शाह अकब्बर' आदि दोहे बीरबल ही के हैं, हुलसीवाली उक्ति प्रत्युक्ति खानखाना और तुलसीदास के बीच में हुई थी, इत्यादि बातों का ऐतिह्य को छोड़कर और क्या प्रमाण है? वही प्रमाण यह मानने को है कि ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में, प्रसिद्ध विद्याप्रेमी भोज का चाचा, परमार राजा मुंज पुरानी हिन्दी का कवि भी था। एक प्रमाण और है—हेमचन्द्र के व्याकरण में जो अपभ्रं . के उदाहरण दिए हैं उनमें एक दोहा यह है—

बाह बिछोडवि जाहि तुहुं, हउं तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउं मुंज सरोसु॥

अर्थात् बाँह बिछुड़ा कर तू जाता है (या जाती है), मैं भी वैसे ही (जाता हूं या जाती हूं) (इसमें) क्या दोष है? हृदय (में) स्थित यदि (तू) निकले तो, मुंज (कहता है कि, मैं) जानूं (कि तू) सरोष है। चौथे चरण का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'तो मैं जानूं कि मुंज सरोष है'। दूसरा अर्थ सीधा जान पड़ता है किन्तु मुंज की कविताओं में नाम देने की चाल देखकर पहला अर्थ भी असम्भव नहीं है। यह दोहा हेमचन्द्र के पहले का है इससे दो ही परिणाम निकाल सकते हैं। एक तो यह कि सूरदास (?) के—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदे से जब जाहुगे तो मैं जानौं तोहि॥

इस दोहे के पितामह 'बाह बिछोडवि' आदि दोहे का कर्ता राजा मुंज था और यह मुंज के नाम से अंकित दोहा सं० ११९९ (कुमारपाल की गद्दीनशीनी

का समय जिसके पहले तो हेमचन्द्र का व्याकरण बन चुका था) से पहले प्रचलित था। दूसरा यह कि यदि दूसरा अर्थ मानें तो जिस नायिका ने फिसलनी भूमि वाला दोहा (ऊपर, संख्या ३) मुंज को लिखा था उसी की कृति यह भी हो। दोनों अवस्थाओं में या तो मुंज को कवि मानना पड़ेगा या इन दोहों को उसके समय का बना मानना पड़ेगा। कम-से-कम यह तो मानना होगा कि यह दोहा सं० ११९९ (रासो के कल्पित समय से ५० साल पहले) से किसी समय पहले की रचना है जिसे उस समय या तो स्वयं मुंज का रचित या किसी से मुंज को प्रेषित माना जाता था।]

(११)

भोज के यहां एक सरस्वतीकुटुंब आया जिसकी सूचना भोज के सेवक ने एक संस्कृत-देशी की खिचड़ी का श्लोक बनाकर दी—

बापो विद्वान् बापपुत्रोऽपि विद्वान्
आइ विउषी आईधुआपि विउषी।
काणी चेटी सापि विउषी वराकी
राजन् मन्ये विज्जपुञ्जं कुटुम्बम् ॥

बाप भी विद्वान् है, बाप का पुत्र भी विद्वान् है, मा पंडिता है, मा की बेटी भी विदुषी है, बेचारी कानी दासी है वह भी विदुषी है, राजन्। मानता हूं यह कुटुंब विज्ञों का पुंज है।

बाप—पिता, यह देशी है किन्तु हेमकोश के शेषकांड में संस्कृत माना गया है। 'प्रबंधचिन्तामणि' में इसका संस्कृतीकृत रूप बप्तृ (वप्ता-बीज बोनेवाला) भी आया है (पृ० ३०१) (देखो-पत्रिका, भाग १, अंक ३, पृ० २४९, टिप्पण १९)। आई-माता (मराठी)। धुआ-बेटी, सं० दुहितृ, पंजाबी-धी। विज्ज—विज्ञ।

पाठांतर—बप्पो, विद्गी, विध्री, विदुसी, विज्ञ, विद्र, केवल लेखप्रमाद हैं।

(१२)

राजा ने उनमें से ज्येष्ठ की पत्नी को समस्या दी—कवणु पियावउ खीरु? उसने यह पूर्ति की—

जइ यह रावणु जाईयउ, दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ, कवणु पियावउ खीरु॥

पाठांतर—जेइ।

अर्थ—जब यह रावण दस मुँह और एक शरीर वाला जनमा तो माता अचम्भे में आकर सोचती है कि कौन (से मुख) को दूध पिलाऊं ?

जाईयउ—जायो। वियम्भी—विस्मिता। चिंतवइ—चिंतवै। कवणु—कौन। पियावउ—पियाऊँ। खीर—सं० : क्षीर, दूध, सिन्धी : खीर अत्थि ? दूध है क्या ?

(१३)

दूसरी समस्या दी—कंठि विलुल्लइं काउ ? इसकी पूर्ति कानी चेटी ने यों की—

काण वि विरहकरालिइं, पइ उड्डावियउ वराउ।
सहि अच्चभूउ दिट्ठ मइं, कण्ठि विलुल्लइ काउ॥

पाठांतर—अच्चिभू। 'अच्चब्भुअ' ठीक होता।

अर्थ—किसी विरह से दुखिया स्त्री ने खिझकर विचारे पति को उड़ा दिया। हे सखि ! मैंने यह अति अचरज देखा कि अब किसके कंठ का सहारा लिया जाय ? कलहांतरिता पहले तो पति को भगा चुकी है, अब मान टूटने पर पछताती है कि हाय ! किसके गले से लिपटूं ?

काण—किसी से या कैसे। करालिइं—करालिता (कराल हुई) से। पइ—पति। उड्डावियउ—उडावियो (गुजराती)। वराउ—वराक। अच्चभूउ—अत्यद्भुत, देखो ऊपर (६)। दिट्ठ—दीठो। मइं—मैं, कर्मवाच्य में कर्ता कारक, 'ने' लगाने से (मैंने) दुहरा कारक चिह्न लगता है। कण्ठि—कंठ में। विलुल्लई लटका जाता है, विलमा जाता है। काउ—किसके।

ये दोनों दोहे 'कुमारपाल प्रतिबोध' में कुछ पाठान्तरों के साथ दूसरे प्रसंग में हैं। अगला लेख देखो। पिछला हेमचंद्र में भी है।

(१४)

एक समय भोज रात को नगर में घूम रहे थे कि एक दिगंबर को एक गाथा पढ़ते सुना। बेचारा दिगंबर तो हो गया था किंतु उसकी हविश पूरी नहीं हुई थी। दूसरे दिन भोज ने उसे बुलाया और उसके मनसूबे जानकर उसे अपना सेनापति बनाया। पीछे उसी कुलचंद्र ने अनहिलपट्टन जीतकर जयपत्र प्राप्त किया। वह गाथा या दोहा यह है—

एऊ जम्मु नग्गुहं गिउ, भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खां तुरियां न माणियां, गोरी गलि न लग्गु॥

अर्थ—यह जन्म अकारथ गया, सुभटों के सिर पर (मेरी) तलवार नहीं टूटी, तीखे (तेज़) घोड़ों का उपभोग नहीं किया, न गोरी (युवती) के गले लगा।

पाठांतर—आउ (=आयु), निग्गहं। नग्गहं।

शास्त्री ने 'भडसिरि खग्ग' को एक पद लेकर अर्थ किया है 'भट-श्रीखड्गः। तिक्खा का अर्थ 'तीक्ष्ण स्त्रीकटाक्ष' किया है और 'तुरिया' का अर्थ तूलिकादि शय्योपकरण' (रामायण की 'तुराई')। टानी 'तिक्खा तुरिया' का अर्थ कर्कश-स्वर-युक्त बाजे (सं० तूर्य) करते हैं।

एउ—यह, यो। नग्गुहं-निर्ग्रह (सं०) निष्फल, शास्त्री कहते हैं 'नग्नोऽहं' में नंगा या दिगंबर हूं या निर्गृहं! भड—मारवाड़ी में वीर को अब तक 'भड' कहते हैं, विशेषकर ताने में। माणियां-उपभोग किया, (सं०) मंडन किया, मिलाओ मारवाड़ी—सेजां माणीज्यो, गोरी ने माणज्यो ढोला (गीत)। गोरी-नायिका के लिए साधारण शब्द, अब भी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी गीतों में आता है। हेमचंद्र ने भी इस पद के इस अर्थ का उल्लेख किया है।

(१५)

'प्रबंधचिंतामणि' की एक प्रति में उसी हौसिलेवाले कुलचंद्र का (जो कवि भी था और जिसे सुन्दर कविता के लिए भोज ने एक सुन्दर दासी दी थी, एक दोहा और दिया है—

नव जल भरीया मग्गड़ा, गयणि घडक्कई मेहु।
इत्थन्तरि जरि आविसिइ, तउ जाणीसिइ नेहु॥

अर्थ—मार्ग नए (बरसाती) पानी से भरे हैं, गगन में मेघ धड़कता है, इस अंतर (अवसर) में जो (तू) आवेगा तो नेह जाना जायगा। मुंज की रसीली तो बरसात में आना असम्भव जानकर 'गँवार' नायक को पहले ही बुलाती थी, किंतु कुलचंद्र उस समय आने ही को नेह की परीक्षा मानता है।

भरिया—भरे हुए। मग्गडा—देखो संदेसडो (१)। जरिजब यदि, मारवाड़ी में जर, जरां अब भी समयवाचक जब के लिए आता है। जाणीसिइ—जाना जायगा, सं० 'स्य' को 'सि' में पहचानो।

(१६)

भोज ने सभा में बैठकर गुजरातियों के भोलेपन की हँसी की। वहीं पर उस देश के एक आदमी ने कहा कि हमारे गोआले भी आपके पंडितों से बढ़कर हैं। यह समाचार सुनकर गुजरात के राजा भीम (सोलंकी) ने एक गोपाल भोज के

पास भेजा। उसने राजा को एक दोहा सुनाया जिस पर राजा ने उसे 'सरस्वती-कंठाभरण गोप' की उपाधि दी।

भोय एहु गलि कण्ठुलउ, भण केहउ पडिहाइ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसितिहि, सीम निबद्धी काइ॥

पाठांतर—भोज एव हु कण्ठलउ, स्तंभल्लउ, कंचुल, लच्छिहिं, काइं, सीम विहली, कोइ; पाठान्तरों में अधिकरण कारकवाले पद बिना 'इ' के भी हैं।

अर्थ—भोज! कह तो सही, यह (तेरे) गले में कठला कैसा भाता है? उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती के बीच यह सीमा बांधी है क्या? विद्वान राजा के मुँह में सरस्वती और प्रभु के उर में लक्ष्मी—बीच में कठला क्या हुआ मानो उन दोनों के राज्य की मर्यादा जतला रहा है।

कंठुलउ—कंठलो, कठलो, गले का गहना। केहउ-केहो, कैसो। पडिहाइ—सं० प्रतिभाति। निबद्धी-नि+बांधी। कांइ—क्यों, किसलिए, क्या।

(१७)

एक समय भोज वीरचर्या से रात को नगर में घूम रहे थे कि उन्होंने किसी दरिद्र की स्त्री को यह दोहा पढ़ते सुना—

माणुसड़ा दसदस दसा, सुनियइ लोय पसिद्ध।
म्ह कन्तह इक्कज दसा, अवरि ते चोरिहिं लिद्ध॥

पाठांतर—माणसडी, दस-दस हवइ, माणसडा (दस-दस) दसइं देवेहि निम्मवियाइं, मुज्झ, नवोरहिं हरियाइं, ते वोरहिं हरियाइं, नवोरहिं लिद्ध। पाठान्तरों से जान पड़ता है कि इस दोहे के दो पाठ हैं, एक में तो सिद्ध लिद्ध की तुक है, दूसरे में निम्मवियाइं हरियाइं की तुक है।

अर्थ—मनुष्य की दस-दस दशाएँ लोकप्रसिद्ध सुनी जाती हैं, या दस-दस दशा देवताओं ने बनाई हैं। अर्थात् जन्म भर में दश दशा बदलती हैं, किंतु मेरे कंत की एक ही दशा (दारिद्र्य) है और (जो थीं) उसे चोरों ने हर लीं (या और नौ औरों ने ले लीं)।

'मिलाओ, हस्तिनां दशवर्षप्रमाणा दश दशाः किल भवंति' (हर्षचरित की संकेत टीका)।

मानुसडा—संवंध कारक के 'णा' और 'डा' के लिये देखो (१) डी—दसा एकवचन के लिए स्त्रीलिंग है, डा-बहुवचन। हवइ होती हैं, हवैं, ह्वै। सुनियइ—कर्मवाच्य। निम्मवियाइं—निर्मित की गईं [सं० * निर्मापितानि] प्रेरणार्थक

में प (व) के लिए देखो—ना० प्र० पत्रिका, भाग १, अंक ४, पृ० ५०७, टिप्पणी ११। मुज्झ—मेरे, संस्कृत में तुभ्यं, मह्यं चतुर्थी है, चतुर्थी और षष्ठी का प्रयोग वैदिक भाषा में बिना भेद के होता था, वैदिक भाषा में तुभ्यं षष्ठी के अर्थ में भी आया है—मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यताम्। मह, कंतह—ह संबंधकारक का चिह्न है। इक्कज में ज 'ही' या 'केवल' के अर्थ में है, मारवाड़ी में अब तक आता है, जैसे, आप रोज काम, एकज झूंपो (झोंपड़ा)। अवरि-दूसरी, अपरी (सं० *) टानी के अनुसार उपरि (ऊपर, अधिक) नहीं। नवोर्रहिं-नव + ओर्रहिं, हिंदी 'और' अपर (=अवर) से बना है, सं० १९२२ तक पुराने पंडित अवर लिखा करते थे—'अवर जब अइसा होय।' तब (एक पत्र से) लिद्ध-लब्ध, मारवाड़ी, गुजराती लीधो। हरियाइं-हरी गईं।

(१८)

मरते समय भोज ने कहा था कि श्मशान यात्रा के समय मेरे हाथ अरथी के बाहर रक्खे जायं। भोज का यह वचन लोगों से एक वैश्या ने कहा—

कसु करु रे पुत्र कलत्र धी, कसु करु रे करसण वाडी।
एकला आइवो एकला जाइवो, हाथपग वे झाडी॥

अर्थ—अरे, पुत्र, स्त्री, कन्या किसके हैं ? खेतीवाड़ी किसके (या सारा बाग किसका ?) अकेला आना है और दोनों हाथ-पांव झटकार कर अकेला जाना है।

'कसु करु' का अर्थ टानी ने 'किसका हाथ' किया है और शास्त्री ने 'क्या करूं, पुत्र कलत्र' को दोनों ने संबोधन माना है, धी को दोनों भूल गए। कसु करु—किसका (सं० कस्य केरकः)। **धी-बेटी**, देखो ऊपर (११) करसण—खेती, या कृत्स्न (शास्त्री)। आइबो, जाइबो—आता हूं, जाता हूं (टानी)। वे-दो।

(१९)

सिद्धराज जयसिंह समुद्र के किनारे टहल रहे थे। एक चारण ने उनकी स्तुति में कविता कही जिसमें से एक सोरठा (?) दिया है—

को जाणइ तुह नाह चित्त, तु हालेइ चक्कवइ लउ।
लंकहले वाहमग्गु, निहालई करणउत्तु॥

पाठांतर—कौ, हालंतु, लंककाले, चक्कवइ लहु।

अर्थ—सिद्धराज को समुद्र की ओर निहारते देखकर चारण कहता है कि नाथ ! तुम्हारे चित्त (की बात) को कौन जानता है ? तू चक्रवर्ती (पद) पाने

की चेष्टा कर रहा है, कर्ण का पुत्र (सिद्धराज) लंका फल के (लेने के लिए) वाह का मार्ग देख रहा है।

हालेइ—चलता है (सं० जंघालयति, शास्त्री) लउ—पाने को (सं० लब्धुं, शास्त्री)। लंकहले—लंकाफल का। वाह—जहाजों का चलना। निहालइ—देखता है। (सं० निभालयति) पंजाबी में 'निहालना'—प्रतीक्षा करना। करणउत्त—कर्ण+पुत्र, राजस्थानी करणोत। पिता के नाम के गौरव से पुत्र को संबोधन करना चारण कवित्ता (डिंगल) का प्रसिद्ध लक्षण है।

(२०)

सिद्धराज जयसिंह वर्द्धमानपुर (वढवाण) के आभीर राणक (राना) नवघन[1] पर चढ़ाई की और किले की दीवाल तोड़कर उसे द्रव्य की वासणियों (थैलियों) की मार से मार डाला। नवघन की रानी के शोकवाक्य ये हैं—

सइरु नहीं स राणइ, कुला ईउ नकुलाइ इ।
सइ सउ षङ्गारिहिं प्राणकइ, वइसानरि होमीइ॥

पाठांतर—सयरू, नहिं, राण, न कुलाई न कुलाई, सई, पाण, किन वइसारि होमिया।

अर्थ—हे सखियो, वह राणा भी नहीं है, (हमारे) कुल भी अब नकुल (=नीच कुल) हैं, (मैं) सती खेंगार के साथ प्राणों को वैश्वानर (अग्नि) में होमती हूँ।

सईरु—सखियो, रु बहुवचन। सइ-सती। प्राणकइ-प्राण कै=को। वइसानरि—वैश्वानर में, राजस्थानी—वैंसादर। होमीइ—होमती हूं। होमिया—होमे।

(२१)

राणा सव्वे वाणिया, जेसलु बड्डउ सेठि।
काहूं वणिजडु माण्डीयउ, अम्मीणा गढ हेठि॥

अर्थ—सब राणा तो (छोटे) बनिये हैं, जैसल (सिद्धराज जयसिंह) बड़ा भारी सेठ है, क्या बणिज (व्यापार) मांडा (फैलाया) है (उसने) हमारे गढ़ के नीचे। (बड़े व्यापारी के सामने छोटे का दीवाला निकल जाता है।)

१. गिरनार के चूडासमा यादवों की राजावली में कई नवघण नामक राजाओं का उल्लेख है, संभव है यह चौथा नवघन हो और खेंगार उसका उपनाम हो। फार्वस ने रासमाला में खेंगार को नवघन का पुत्र कहा है, खेंगार और नवघन नाम इन राजाओं में कई बार आए हैं।

[टानी का उतरार्द्ध का अर्थ —बनिए के पेशे की कैसी शोभा हुई ? हमारा गढ़ नीचे पड़ गया ।]

सव्वे—सं० सर्वे । वड्डउ-बड़ो । बणिजडु-देखो संदेसडउ (१) । मांडीयउ—देखो माणिया । (१४) अम्मीणा—हमारा, देखो (१) । हेठि—नीचे, पंजाबी-हेठ, और जेठ सब हेठ (रामकहानी) ।

(२२)

तइं गड़ूआ गिरनार, काहूँ, मणिमत्सरु धरिउ ।
मारीतां षङ्गार, एक्क सिहरु न ढालिउं ॥

अर्थ—हे गुरु (भारी) गिरनार (पर्वत) ! तैंने मन में कैसा कुछ मत्सर धारण किया कि खंगार के मारे जाते समय (अपना) एक शिखर भी न गिराया । (जिससे शत्रु कुचले जाते या अपने स्वामी के दुःख में तेरी सहानुभूति जानी जाती, जैसे कि शोक में भूषण उतार दिये जाते हैं ।)

तइं-तैं,तैंने । गडुआ—(सं० गुरुक), भारी । मारीतां—मारे जाते हुए (भाव लक्षण) सिहर—शिखर । ढालिउं—ढाल्यौ, ढलकाया ।

(२३)

जैसल मोडि मवाह, वलि वलि विरूप भावीयइ ।
नइ जिम नवा प्रवाह, नवघण विणु आवइ नहि ॥

पाठांतर—वरुण भावीयइ, नवयण विन आवै नहि ।

अर्थ—जैसल (जयसिंह) का मर्दन किया हुआ मेरा वास फिर विरूप जान पड़ता है, जैसे नदी में नया प्रवाह बिना नवघन (नए मेघ, पक्ष में राणा नवघन) के नहीं आता ।

'जैसल मोडि मवाह' का अर्थ टानी ने किया है—'जैसल, आँसू मत बहाओ ।' शास्त्री का अर्थ भी संतोषदायक नहीं । यह अर्थ भी हो सकता है कि जैसल का मोडा हुआ (हमारी राज्य रूपी नदी का) प्रवाह बुरा लगता है, क्योंकि कहां नवघन से होनेवाला नदी की बाढ़ का सुन्दर प्रवाह और कहां दूसरे के पराक्रम से मोड़ा हुआ प्रवाह ? नवघन का अर्थ दोनों ओर लगता है ।

मोडि—मोड़कर, मींड < मर्द् । मवाह—मद्+वास, मेरा घर (शास्त्री), मेरे मत में यों पढ़ना चाहिए जैसलमोडिम-वाह, जैसल का मोडा हुआ वास या प्रवाह । वलि वलि-मुड़—मुड़कर, फिर-फिर । नइ-नदी, सुरवरनई (तुलसीदास) ।

(२४)

वाढी तो वढवाण, वीसारतां न वीसरइ।
सोना समा पराण, भोगावह पइँ भोगवीइ॥

पाठांतर—वाटी, तवउं वढमाण, सूना, तइं, भोगिव्या।

अर्थ—हे वढमाण (वर्धमान) शहर! तू (शत्रुओं से) काटा गया है तो भी भुलाने से भी नहीं भूला जाता, (मैं अपने) सोने के सदृश प्राणों को भोगावह (नदी) को भोग कराऊंगी। (या हे भोगावह! मैं तुम्हें उन्हें भुक्त कराऊंगी)।

पूर्वार्द्ध का टानी का अनुवाद—उस (नवघन) का बढ़ाया हुआ बढवान (उसे) भुलाने से भी नहीं भूलेगा।

वाढी—सं० <वृध् के दोनों अर्थ हैं, बढना और काटना। वीसारतां—विसरना, सं० वि+<स्मर्। समा—बरावर। भोगावह भोगावर्त नामक नदी (शास्त्री)। पइं—पै (को) या मैं।

इन सोरठों में कहीं-कहीं नवघन तथा खेंगार दोनों को एक ही मान लिया जान पड़ता है।

(२५)

हेमचंद्र की माता के उत्तरकर्म के समय कुछ द्वेषियों ने विमान भंग का अपमान किया। इससे क्रुद्ध होकर हेमचंद्र मालवे में डेरा डाले हुए राजा कुमारपाल के पास आए और उदयन मंत्री ने राजा से उनका परिचय कराया। हेमचंद्र ने सोचा कि—

आपण पइ प्रभु होइअं, कइ प्रभु कीजई हाथि।
कज्ज करिवा माणुसह, बीजउ मागु न आथि॥

पाठांतर—काजकरेवा माणुसह।

अर्थ या तो आप समर्थ हो या (किसी) समर्थ को हाथ में कीजिये। मनुष्यों का कार्य (सिद्ध) करने के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।

आपण—अपने। पइ—पैं, या। होइअ-होवे। कइ-कै=या। बीजउ-बीजो, दूसरा। मागु-मग्गु, मार्ग। आथि-अत्थि (सं० अस्ति) है, राजस्थानी क्यूं आथ न साथ (=कुछ है ही नहीं)।

(२६)

एक दिन हेमचंद्र कुमारपाल बिहार-मंदिर में कपर्दी नामक पंडित के हाथ

का सहारा लिए जा रहे थे। वहां पर नाचने-वाली के कंचुक की डोर पीछे से खैंचकर कसी जा रही थी। इस पर कपर्दी ने एक दोहे का पूर्वार्द्ध कहा और उसके ठहरते ही हेमचन्द्र ने उसकी पूर्ति कर दी—

सोहग्गीउ सहि कञ्चुयउ, जुत्त उत्तागु करेइ।
पुट्ठिहिं पच्छइ तरुणियणु, जसु गुण गहण करेइ॥

अर्थ—सुहागन को (या सुहाग को) भी सखियां कंचुक के युक्त (साथ) उत्तान (ऊँचा) करती हैं; जिसका तरुणि-जन पीठ से पीछे से गुणग्रहण करती है। जिसके गुणों का पीछे से ग्रहण (वर्णन) किया जाय वह अवश्य ऊँचा (बड़ा) होता है।

गुण—डोरी और सद्गुण दोनों। सोहग्गीउ-सौभाग्यवती भी (हिं० : सुहागिन)। पुट्ठिहिं—पीठ से, पुट्ठे (पूठ) से, (सं० : पृष्ठ) ऋ की उ-श्रुति पर ध्यान दो, पीठ पीछे (हिं०) पूठ पीछे (रा०) महाविरा है। पच्छइ—पाछे (मारवाड़ी), करेइ—करै।

(२७)

सोरठ के दो चारण 'दुहाविद्या' में स्पर्धा करते हुए अणहिलपुर पाटन में आए। शर्त यह थी कि जिसकी रचना की हेमचन्द्र व्याख्या करें वह दूसरे को हरजाना देवे। एक ने हेमचन्द्र से मिलने पर यह सोरठा पढ़ा—

लच्छिवाणिमुहकाणि एयइ भागी मुह भरउं।
हेमसूरि अच्छीणि जे ईसरते दे पण्डिया॥

अर्थ—इस भागी (भाग्यवान् हेमचन्द्र) के मुख में भरे (स्थित हेमचन्द्र के नेत्र) लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के मुखवाले (=युक्त) हैं, जिस पर वे कुछ भी प्रसन्न हो जाते हैं, वे पंडित हो जाते हैं।

यह अर्थ कुछ खैंचकर किया गया है क्योंकि सोरठा स्पष्ट नहीं है। शास्त्री ने एक पाठांतर का दूसरा अर्थ दिया है जो बिलकुल ऊटपटांग है। "लक्ष्मी कहती है कि ये यति (ए यइ) वाणी को मुख में रखने वाले हैं इसलिए (सौत की ईर्ष्या से) मैं मरती हूं। तो हेमसूरि से छिपे-छिपे (हेमसूरि आ छाणि) वे भाग गए, इसलिये जो ईश्वर (समर्थ) हैं वे पंडित हैं, पंडित लक्ष्मीवान् नहीं।"

पाठांतर—पयइ, मरउ, सूरिआ छाणि।

लच्छिवाणिमुहकाणि—मुखक (सं०)=प्रभृति, आदि। एयइ—यह, ऐसा।

भरउं—भयों। ईसरते—ईषद्रते ? (सं०) कुछ भी प्रेम करते हुए। छाणि (सं०* छन्य छाद्य ?) छिपकर, राजस्थानी—छाने।

(२८)

वह चारण तो बैठ गया। इतने में कुमारपाल विहार में आरती के समय महाराज कुमारपाल आए और उनके प्रणाम करने पर हेमचन्द्र ने उनकी पीठ पर हाथ रखा। इतने में दूसरे चारण ने कहा—

हेम तुहाला कर भरउं, जांह अच्चंपभू रिद्दि।
जेवं पह हिठा मुहा तांह ऊपहरी सिद्धि॥

पाठांतर—जिह अच्चुपुयरिद्धि, जे चंपह हिठा मुहा तीह उबहरी सिद्धी।

अर्थ—हे हेम, तुम्हारा हाथ जिन पर भरा (रक्खा) है उनके तो अचंभे की-सी रिद्धि होती है और जिनका मुंह नीचा होता है (या जो नीचे मुख से [आपके पाँव] दबाते हैं) उन्हें आपने सिद्धि उपहार में दी। यह अर्थ शास्त्री और टानी दोनों के अर्थ से भिन्न है, वे दोनों संतोषदायक नहीं हैं। चारण कुमारपाल की अचंभे की-सी संपत्ति को हेमचन्द्र के पीठ पर हाथ रखने और सिद्धि के उपहार को नीचे मुँह से पैरों में प्रणाम करने के कारण मानता है। यह विरोधाभास भी हो सकता है कि मुँह नीचा और सिद्धि उँची (उपहरी)। कवि की इस अछूती उक्ति पर राजा प्रसन्न हुआ और उससे दोहा बार-बार पढ़वाया। तीन बार पढ़कर चारण ने, शिवाजी के सामने भूषण की तरह बे-सबरी से कहा कि क्या प्रति पाठ पर लाख दोगे ? राजा ने तीन लाख दिए। कहानी अधूरी है, हेमचंद्र ने किसी को न सराहा। न मालूम उनकी होड़ाहोड़ी का क्या हुआ।

तुहाला—तुम्हारा, तुहाडा (पंजाबी) देखो (१)। जांह— जिसमें, जहां। [अच्चंप्भू-अत्यद्भुत, देखो (६), (१३)। जे चंपह—जो दबाते हैं (चारणों को), पगचंपी (राजस्थानी) पैर दबाना। जेंव—जिनका। पह—पैरों पै। हिट्टा—हेठा, देखो (२१)। ऊपहरी—उपहार दी गई। (सं० उपहता) या ऊपर की, ऊँची।

(२९)

जब कुमारपाल शत्रुंजय तीर्थ में गए तो वहां एक चारण को प्रतिमा के सामने यह सोरठा नौ बार पढ़ते देखकर उन्होंने नौ सहस्र दिए—

इक्कइ फुल्लह माटि देअइ, सामी सिद्धि सुहु।
तिणि सिउं केही साटी, भोलिम जिणवरह॥

पाठांतर—देवइ सिद्धि सुठु···केहि साटि कटि (रि ?), रे भोति (लि ?) म, तिणिसउं ।

अर्थ—एक फूल के लिए, एक फूल की खातिर, स्वामी सिद्धिसुख (या सौ सिद्धि) देते हैं, इसी तरह हे जिनवर आप किसलिए (इतने) भोले हैं ? या जिनवर का इतना भोलापन क्यों है ? टानी ने तिणिसउं का अर्थ किया है 'यह निश्चित है (तन्निश्चितं !) । इसलिए जिनवर को कभी न भूलो' (भोलि म) ।

माटि—लिए, खातिर । तिणि सिउं—उससे (इस कारण से), (सं० तन्निश्रया शास्त्री) उसी प्रकार से । केही साटी—किसलिए, देखो (५) किस बदले में । भोलिम—भोलापन ।

(३०)

कुमारपाल का उत्तराधिकारी और भतीजा अजयपाल बड़ा निर्दयी था । उसने जैनों पर उतने ही अत्याचार किए जितनी उसके पूर्वज ने भलाइयां की थीं । उसने गिन-गिनकर विद्वानों और प्रधानों को मारा । पंडित रामचंद्र ने सौ ग्रन्थ बनाए थे, उसे तत्ते तांबे पर चढ़ा दिया । बेचारा यह दोहा पढ़कर दाँतों से अपनी जीभ काटकर वेदना से मर गया ।

महिवीढह सचराचरह, जिण सिरि दिह्णा पाय ।
तसु अत्थमणु दिणे सरह, होउत होइ चिराय ॥

पाठांतर—जिणि सिरि दिन्ना दिणसरसु, होइतु होहु, विराय ।

अर्थ—पृथ्वी के पीठ पर जिसने सचराचर सब (भूमंडल) के सिर पर पाँव दिया उसी दिनेश्वर (सूर्य) का अस्त होता है, सच है, जो होना होता है वह देर से कभी-न-कभी भी होकर रहता है ।

महिवीढह—महीपीठ (में या का), पीठा (सं०)—हिं० पीढा । सचराचरह (में या का । जिण सिरि दिह्णा पाय—का शास्त्री ने अर्थ किया है जिसने श्री दी प्रायः(!) । तसु-तासु । अत्थमणु—सं० अस्तमन, अँथवणो आथणो (=अस्त), आथण (=सायंकाल) आँथूणी (=पश्चिम दिशा), राजस्थानी । होउत—भवितव्य ।

चौथे चरण का टानी का अनुवाद—'होना पड़ता है और बहुत काल के लिए होगा ।'

(३१)

सिद्धसेन दिवाकर को केतलासर ग्राम को जाते हुए एक वृद्धवादी मिला उसने रोककर कहा, विवाद करो। सिद्धसेन ने कहा, नगर में चलो, वहाँ पुरवासी मध्यस्थ होंगे। वृद्धवादी ने कहा, ये गोआले ही सभ्य हैं, ये ही निर्णय कर देंगे। सिद्धसेन ने संस्कृत में बहुत कुछ कहा—फिर वृद्धवादी ने एक गाथा पढ़ी जिसे सुनकर ग्वालों ने कहा—तुम ही जीत गए, दूसरा कुछ नहीं जानता। वह गाथा यह है—

नवि मारीयए नवि चोरीयए, परदारगमण निवारीयए।
थोवा विहु थोवं दाइयए, इम सग्गि टगमगु जाईयए॥

अर्थ—न मारिए, न चोरिए, परदारगमन को छोड़िए, थोड़े से भी थोड़ा दान दीजिए, यों चटपट स्वर्ग जाइए।

नवि—न+अपि। थोवा-थोड़ा (सं० स्तोक, हिंदी शब्द में वही 'ड' आया है, स्तोकक)। दाइयए—दीजिए। सग्गि—स्वर्ग में। टगमगु-झटपट, हड़बड़ाते हुए।

(३१ क)

'प्रवंध चिंतामणि' में जितनी पुरानी हिंदी की कविता थी उसका व्याख्यान हो चुका। दो प्रसंगों पर उसमें कुछ गद्य भी आया है और वहां की कथा रोचक है इसलिए उनका भी उल्लेख यहां किया जायगा। कुमारपाल के मंत्री साह आंवड ने कुंकुण के राजा मल्लिकार्जुन को जीतकर उसके सिर के साथ और जो भेंट राजा के सामने रखी उसकी सूची में संस्कृत के साथ कुछ देशभाषा दी है। वह यह है—**श्रृंगार कोडा साडी** (श्रृंगारकोटि साड़ी), **माणिकउ पखेवडउ** (माणिक नाम पखेवड़ा=पक्षपट, दुपट्टा या ओढ़ना, राजस्थानी पछेवड़ा), पापखउ हारु (पापक्षय हार),···मौक्तिकानां सेडउ (सेडो ?=सेटक, सेर या

लड़ी ?) ।[1]

दूसरा प्रसंग यह है कि एक समय हेमचन्द्र ने कपर्दि मंत्री से पूछा कि तेरे हाथ में क्या है ? उसने उत्तर दिया कि 'हरडइ' (=हरडै, हर्र)। इस पर हेमचन्द्र ने पूछा कि 'क्या अब भी ? कपर्दी ने उनका आशय समझकर कहा कि नहीं अब क्यों ? अन्त से आदि हो गया और मात्रा (धन) में अधिक हो गया। हेमचन्द्र उसकी चातुरी पर बहुत प्रसन्न हुए। पीछे समझाया कि मैंने 'हरडइ' का अर्थ 'ह रडइ' [ह(कार) रडइ, रटति, रोता है] लेकर पूछा था कि क्या 'हकार' अब भी रोता है ? कपर्दी ने उत्तर दिया कि पहले वह वर्णमाला में अन्तिम था, अब आप के नाम में प्रथम वर्ण हो गया और कोरा 'ह' न रहकर ए कार की मात्रा से बढ़ गया, अब क्यों रोने लगा ?

समय-सूचक सारिणी

इस लेख में जिन ऐतिहासिक बातों का उल्लेख हुआ है उनका आगा-पीछा

१. 'प्रबन्धचिंतामणि' की इबारत यह है—शृंगारकोडी साडी १ मणिकउ पछेवडउ २ पापखउ होरु ३ संयोगसिद्धि सिप्रा ४ तथा (मूडा ?=तथा?) (हेमकुंभा ३२ स्तथा मौक्तिकानां सेडउ ६ चतुर्दंत हस्ति १ पात्राणि १२० कोडी सार्द्ध १४ द्रव्यस्य दंड: (पृ० २०३) इसी प्रसंग के वर्णन में जिनमंडन के 'कुमारपाल प्रबध' (सं० १४९२) में तीन श्लोक दिए हैं जिनसे अर्थ स्पष्ट होता है—

शाटीं शृंगारकोट्यांख्यां पटं माणिक्यनामकम् ।
पापक्षयङ्करं हारं मुक्ताशुक्तिं(—सेडउ ?) विषापहाम् ।।

हैमान् द्वात्रिंशतं कुम्भान् १४ मनुभारप्रमाणतः ।
षण् मूटकां (=सेडउ ?) स्तु मुक्तानां स्वर्ण कोटीश्चतुर्दश ।।

विंशं शतं च पात्राणां चतुर्दन्तं च दन्तिनम् ।
श्वेतं सेदुकनामानं दत्वा नव्यं नवग्रहम् ।।

(आत्मानंद सभा, भावनगर का संस्करण पत्र ३६, पृ० २)।

पापक्षय किसी विशेष प्रकार के हार की संज्ञा थी क्योंकि सिद्धराज जयसिंह का पिता कर्ण (भोगी कर्ण) जब सोमनाथ के दर्शन करने गया तो उसने प्रतिज्ञा की थी कि पापक्षय हार, चंद्र, आदित्य नाम के कुंडल और श्रीतिलक नाम अंगद (बाजूबंद) पहनकर दर्शन करूं (वही प० ४ पृ० २)। 'सेडउ' के अर्थ में संदेह रह जाता है किंतु कुमारपाल के राजतिलक के वर्णन में वहीं (पत्र ३४, पृ० १) में एक अस्पष्ट पंक्ति और है—'मुक्तानां सेतिका क्षिप्ता तस्य शीर्षे सफलिका (?) सजाता राज्ञः समग्रैश्चर्यंवृद्धि सूचियति स्म' यहां सेतिका का अभिप्राय लड़ी से ही हो सकता है। संभव है कि यही अर्थ 'सेडउ' का भी हो।

कुंकण की लड़ाई के लिए देखो—ना० प्र० पत्रिका, भाग १ पृ० : ३९९-४०१

समझाने के लिए उनके संवत् एक जगह लिख दिए जाते हैं—

विक्रम संवत्	घटना
९५० से १०००	राजशेखर का लिखा अपभ्रंश, भूतभाषा और शौरसेनी का देश-विन्यास।
१०२९ से १०५० तक किसी समय	परमार राजा मुंज का राज्याभिषेक।
१०५० से १०५४ तक किसी समय	मुंज की मृत्यु।
,, ,,	भोज का राज्याभिषेक।
१०३६	मूलराज सोलंकी के हाथ कच्छ के राजा लाखा फूलानी का मारा जाना।
११५०	सिद्धराज जयसिंह का गद्दी बैठना।
११६२ (?) ११५० से ११९९ तक किसी समय	आभीर राणा नवघन की मृत्यु।
११९९	सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु।
११९९	कुमारपाल का राज्याभिषेक।
१२३०	कुमारपाल की मृत्यु।
११९९ से १२३० तक किसी समय	हेमचन्द्र के व्याकरण की रचना।
१२४९	पृथ्वीराज की मृत्यु।
१३६१	'प्रबंधचिंतामणि' की रचना।

सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपालप्रतिबोध' से

मेरुतुंगाचार्य ने 'प्रबंधचिंतामणि' ग्रंथ सं० १३६१ में बनाया। उसमें कोई कविता उसकी अपनी नहीं है। पुरानी कविता जो उसने उद्धृत की है उसका निम्नतम समय तो उसका समय है, उर्ध्वतम समय का पता नहीं। वह कविता पहले लेख में उद्धृत और व्याख्यात की जा चुकी है। अब और पीछे चलिए। सं० १२४१ की आषाढ़ शुक्ल अष्टमी रविवार को अनहिलपट्टन में सोमप्रभसूरि ने जिनधर्मप्रतिबोध अर्थात् कुमारपालप्रतिबोध की रचना समाप्त की।[1] उसमें

१. शशिजलधिसूर्यवर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम्।
जिनधर्म प्रतिबोधः क्लृतोऽम् गूर्जरेंद्रपुरे॥ (पृ० ४७८)

जो पुरानी हिंदी-कविता है वह इस लेख का विषय है।

सोमप्रभसूरि का 'कुमारपालप्रतिबोध' गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज की चौदहवीं संख्या में छपा है। इसके पाँच प्रस्ताव हैं जिनमें लगभग आठ हजार आठ सौ श्लोक हैं।[1] ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश गद्य तथा पद्य में है, किन्तु ३२ अक्षर का एक अनुष्टुप् श्लोक मानकर श्लोकों में गणना करने की पुरानी चाल है। इसकी एक प्रति सं० १४५८ की ताड़पत्र पर लिखी हुई सम्पूर्ण तथा एक उससे पुरानी बिना मिति की खंडित मिली थी। उन्हीं पर से मुनि जिनविजय जी ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का सम्पादन[2] किया है और भूमिका में कई बहुत उपयोगी बातें बताई हैं जिनमें से कुछ का यहाँ आधार लिया जाता है।

सोमप्रभ आचार्य वृद्धगच्छ की पट्टावलियों में महावीर स्वामी से तियालीसवें गिने जाते हैं।[3] इनके शिष्य जगच्चन्द्र सूरि ने तपागच्छ की स्थापना की। सोमप्रभाचार्य का बनाया हुआ एक 'सुमतिनाथ चरित्र' प्राकृत में है जिसमें पाँचवें जैन तीर्थंकर की कथा और प्रसंग से जैनधर्म का उपदेश है। इसकी संख्या साढ़े नौ हजार ग्रंथ (श्लोक) है। दूसरा ग्रंथ 'सूक्तिमुक्तावली' है जो प्रथम श्लोक के आरम्भ के शब्दों में 'सिंदूरप्रकर' या कवि के नाम से 'सोमशतक' भी कहलाता है। इसमें भी सदाचार और जैनधर्म का उपदेश है। ग्रंथ बहुत ही अद्भुत है—वह केवल एक श्लोक[4] है। किन्तु कवि ने इस एक श्लोक के सौ अर्थ किए हैं जिनसे कवि का नाम ही 'शतार्थी' हो गया है। यह एक ही श्लोक व्याख्या के प्रभाव से चौबीसों तीर्थंकर, कई जैन आचार्य, शिव, विष्णु आदि अजैन देवों से लेकर स्वर्ण, समुद्र, सिंह, हाथी, घोड़े आदि का वर्णन करता है और जैन आचार्य वादिदेवसूरि, प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र, गुजरात के चार क्रमागत सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज), कुमारपाल, अजयदेव, मूलराज, कवि सिद्धपाल, सोमप्रभ के गुरु अजितदेव और विजयसिंह तथा स्वयं कवि सोमप्रभ का वर्णन करके अपने १०० अर्थ पूरे करता है। पदच्छेदों से, समासों से, अनेकार्थों से इसे एक श्लोक के भागवत के पहले श्लोक 'जन्माद्यस्य यतः'

१. प्रस्तावपंचकेऽप्यत्राष्टौ सहस्राण्यनुष्टुभाम् ।
एकैकाक्षरसंख्यातान्यधिकान्यष्टभिः शतैः ॥ (पृ० ४७८)

२. इतनी अपूर्ण सामग्री पर भी संपादन बड़ी योग्यता से किया गया है। इतना कह-कर यह लिखना कि पृ० ९० में पांच गाथाएं भी गद्य में घिलमिल छप गई है, दोषदर्षिता नहीं कहलाना चाहिए।

३. क्लांट, इं. एं. जिल्द ११, पृ० २५४

४. कल्याणसारसवितानहरेक्षमोह
कांतारवारणसमानजयाद्य देव ।
धर्मार्थकामदमहोदयधीरवीर
सोमप्रभावपरमागमसिद्धसूरे ॥

की तरह सौ अर्थ करना बड़े पांडित्य की बात है। चौथा ग्रंथ यह हमारा 'कुमारपालप्रतिबोध' है। शतार्थ काव्य में कुमारपाल विषयक व्याख्या में दो श्लोक "यदवोचाम = जैसा हमने (अन्यत्र) कहा है" कहकर लिखे हैं जो इनके बाकी काव्यों में नहीं है, इससे सम्भव है कि सोमप्रभ ने और भी रचना की हो। इसी शतार्थ काव्य की प्रशस्ति से जाना जाता है कि सोमप्रभ दीक्षा लेने से पूर्व पोरवाड़ जाति के वैश्य थे, पिता का नाम सर्वदेव और दादा का नाम जिनदेव था। दादा किसी राजा का मंत्री था।

'सुमतिनाथचरित' की रचना कुमारपाल के राज्यकाल में हुई। उस समय कवि अणहिलपाटन में सिद्धराज जयसिंह के धर्म-भाई पोरवाड़ वैश्य सुकवि श्रीपाल के पुत्र, कुमारपाल के प्रीतिपात्र कवि सिद्धपाल की पौषधशाला में रहता था। श्रीपाल का उल्लेख 'प्रबन्ध-चिंतामणि' वाले लेख में आ गया है। यह श्रीपाल सोमप्रभ की आचार्य-परम्परा में गुरु देवसूरि का शिष्य था और सोमप्रभ के सतीर्थ्य हेमचन्द्र (प्रसिद्ध वैयाकरण से भिन्न) के बनाए 'नाभेयनेमि' काव्य को उसने संशोधित किया था, उस काव्य की प्रशस्ति में श्रीपाल को 'एक दिन में महाप्रबन्ध बनाने वाला' कहा है।[1] कुमारपाल की मृत्यु सं० १२३० में हुई। उसके पीछे अजयदेव राजा हुआ जिसने सं० १२३४ तक राज्य किया। उसके पीछे मूलराज ने दो ही वर्ष राज्य किया। शतार्थी काव्य में उस तक का उल्लेख है, इसलिए उस श्लोक और उसकी सौ व्याख्याओं की रचना सं० १२३६ तक हुई। 'कुमारपालप्रतिबोध' सं० १२४१ में, अर्थात् कुमारपाल की मृत्यु के ग्यारह वर्ष पीछे सम्पूर्ण हुआ। उस समय भी कवि उसी कवि सिद्धपाल की वसति में रहता था। वहां रहने का कारण नेमिनाग के पुत्र श्रेष्ठि अभयकुमार के पुत्र हरिश्चन्द्र आदि और कन्या श्रीदेवी आदि की प्रीति थी। संभवतः हरिश्चन्द्र ने इस ग्रन्थ की कई प्रतियां लिखाईं, किन्तु प्रशस्ति का वह श्लोक, जिसके आधार पर हम यह कह रहे हैं, त्रुटित है। सेठ अभयकुमार कुमारपाल के राज्य में धर्मस्थानों का सर्वेश्वर अर्थात् अधिकारी था। 'कुमारपालप्रतिबोध' की प्रशस्ति में सोमप्रभ ने अपने वृहद्गच्छ (वृद्धगच्छ, बड्डगच्छ) के इन आचार्यों का यथाक्रम उल्लेख किया है—मुनिचन्द्रसूरि और मानदेव (साथ-साथ)' अजितदेवसूरि (साथ ही देवसूरि आदि). विजयसिंह सूरि, फिर स्वयं सोमप्रभ। रचना के पीछे हेमचन्द्र

१ मिलाओ — वि० सं० १२०८ की आनंदपुर के वप्र की प्रशस्ति (काव्यमाला, प्राचीन लेख-माला, नं० ४५) का अंतिम श्लोक—

एकाहनिष्पन्नमहाप्रबंधः श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः।
श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत् प्रशस्ताम्॥

के शिष्य महेन्द्र मुनिराज ने वर्धमान गणि[1] और गुणचन्द्र गणि के साथ यह ग्रन्थ सुना। इन सब बातों को लिखकर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सोमप्रभ सूरि ने सिद्धराज जयसिंह का, कुमारपाल का और हेमचन्द्र का समय देखा था।

'कुमारपालप्रतिबोध' में ऐतिहासिक विषय इतना ही है कि अणहिल्लपुर में सोलंकी राजा मूलराज के पीछे क्रम से चामुंडराज, वल्लभराज (जगझंपण), दुर्लभ-राज, भीमराज, कर्णदेव और (सिद्धराज) जयसिंह हुए। उसके संतानरहित मरने पर मंत्रियों ने कुमारपाल को, जो भीमराज के पुत्र क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र, यों जयसिंह का भतीजा था, गद्दी पर बिठाया। उसे धर्मजिज्ञासा हुई तो ब्राह्मणों के पशुबधमय यज्ञों के वर्णन से वह शांत न हुई। तब बाहड़ मन्त्री ने हेमचन्द्र का परिचय कराया कि गुरु दत्तसूरि ने रायण-पुर (बागड़) के राजा यशोभद्र को उपदेश दिया, राजा गृहस्थाश्रम छोड़कर यशोभद्रसूरि बन गया, उसके पीछे प्रद्युम्नसूरि और देवचन्द्रसूरि क्रम से हुए। देवचन्द्रसूरि को मोढ जाति के वैश्य चाच और चाहिनी का पुत्र चंगदेव शिष्य मिला जो माता-पिता की अनिच्छा पर भी अपने मामा स्तंभतीर्थ (खंभात) के नेमि के समझाने पर दीक्षित हुआ और 'सोमचन्द' कहलाया। यही सोमचन्द विद्वान होकर आचार्य हेमचन्द्र बना, सिद्धराज जयसिंह के यहां मान्य हुआ। उसी के कहने से सिद्धराज ने पाटन में 'रायविहार' और सिद्धपुर में 'सिद्धविहार' मन्दिर बनवाए और उसी ने 'निःशेषशब्दलक्षणनिधान' सिद्धहैमव्याकरण जयसिंह देव के वचन से बनाया। (पृ० २२) उसके अमृतोपमेय वाणी-विलास को सुनने से जयसिंह को क्षणभर भी तृप्ति नहीं होती थी। यदि आप भी यथास्थित धर्म-स्वरूप जानना चाहें तो उसी मुनिवर से पूछें। बस। हेमचन्द्र आए और राजा ने उपदेश सुना। यहां बाहड़ मन्त्री द्वारा हेमचन्द्र का परिचय कराये जाने का उल्लेख केवल 'पूजार्थ' ही है क्योंकि राजा होने के पहले ही दुर्गत अवस्था में ही कुमारपाल हेमचन्द्र का कृपापात्र था, हेमचन्द्र ने उसके प्राण बचाए, राजा होने की भविष्यवाणी कही इत्यादि, बातें कई प्रबन्धों से प्रकट हैं। अस्तु। हेमचन्द्र ने एक एक धर्म की बात ली, उस पर कोई इतिहास या कथा कही, राजा ने कहा

१. यह वर्धमान गणरत्न महोदधि का कर्ता वर्धमान नहीं हो सकता क्योंकि गणरत्नमहोदधि की रचना सं० ११९७ (ई० ११४०) में हो चुकी थी—

सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥

वह भी सिद्धराज जयसिंह के यहाँ, सम्भवतः हेमचंद्र के पहले, था और इसने 'सिद्ध-राजवर्णन' नामक काव्य भी बनाया था। चालीस वर्ष से कम अवस्था में गणरत्न महोदधि के-से ग्रंथ की कोई क्या रचना करेगा और सं० १२४१ में वह ८४ वर्ष का होना चाहिए।

कि मैं यह करूंगा और यह छोड़ूंगा। फिर राजा ने उस विषय में क्या-क्या किया यह भी इस ग्रन्थ में वर्णित है। गुरुशिष्य संवाद रूप से कथा के द्वारा धर्म कहना सनातन रीति है। पुराणों में 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्'—हन्त ते कथयिष्यामि' की धारा बहती जाती है। जैन सूत्रों में, बौद्ध ग्रन्थों में सब जगह है। उपदेश की कथाएं भी सर्वसाधारण हैं। मद्यपान निन्दा में द्वारका-दाह और यादवों के नाश की कथा, द्यूत के विषय में नल की कथा, (सुवर्ण) चोरी में वरुण की कथा, तपस्या में रुक्मिणी की कथा आदि वे ही हैं जो हिन्दू पुराणों में हैं। विशेष जैन धर्मों पर प्रसिद्ध जैन आख्यानों की कथाएं हैं। कुछ स्थूलिभद्र की-सी अर्ध ऐतिहासिक कथाएं भी हैं। 'पंचतंत्र' की-सी सिंह-व्याघ्र की कथा भी है। कुल ५७ कथाएं हैं जिनमें एक 'जीव, मन और इन्द्रियों की बातचीत' पूर्वलिखित कवि सिद्धपाल की बनाई है। इन सबमें सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक,कथानक, आलंकारिक आदि कई चमत्कार हैं।

जिन कथाओं को 'हिन्दू कथाएं' कहा करते हैं उनके कुछ भेद हैं। कृष्ण को अरिष्टनेमि ने उपदेश और यदुवंश के नाश की चितावनी दी थी। दमयंती की रक्षा किसी जैन साधु के आशीर्वाद से हुई। रुक्मिणी का सौभाग्य किसी जिन प्रतिमा के अर्चन से हुआ इत्यादि। जैनों के यहां 'रामायण', 'महाभारत' पुराण पृथक् हैं जिनमें कथाएं भिन्न हैं। जैनों ने हमारी कथाओं को बदलकर अपने धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिए रूपान्तर दे दिया यह कहना कुछ साहस की बात है। नदी का जल लाल भूमि पर बहता है तो लाल हो जाता है, काली पर काला। कथाएं पुरानी आर्य-कथाएं हैं, जैन, बौद्ध, वैदिक सब की समान संपत्ति हैं। पुराणों में ही कथाओं में भेद पाया जाता है। एक ही निर्दिष्ट राजा की पुत्रप्राप्ति एक जगह एकादशी व्रत से कही गई है, दूसरी जगह किसी और व्रत से। हिमवत् की बेटी उमा ने शिव का-सा पति, कोई कहता है कि घोर योग और तपस्या से पाया, कोई कहता है कि **पिता से असहयोग करके**, अर्थात् हरितालिका व्रत से पाया। यदि बौद्धों के 'दसरथजातक' में सीता, राम की बहन है तो यजुर्वेद में अंबिका रुद्र स्वसा है।[1] यों ही इन कथाओं के पाठांतरों

१. कुछ बंगला-रामायणों तथा काश्मीर की कथाओं में 'अद्भुत रामायण' के आधार पर यह कथा है कि सीता रावण की स्त्री मंदोदरी की पुत्री थी। नारद ने लक्ष्मी को शाप दिया था कि तू राक्षसी के गर्भ से जन्म ले। इधर गृत्समद ऋषि की स्त्री ने कामना की कि मेरे गर्भ में लक्ष्मी कन्या रूप से उत्पन्न हो। ऋषि ने एक मंत्रित कुशा इसीलिए घड़े में रक्खी। रावण ने जब ऋषियों को सताकर उनका रुधिर कर की तरह लिया तो इसी घड़े में भरा और मंदोदरी को यह कहकर सुरक्षित रखने को दिया कि यह विष से भी भयंकर है। रावण के देवकन्याओं आदि से विलास करने से जलकर मंदोदरी ने आत्म-

को समझना चाहिए । हेमचन्द्र बड़े दूरदर्शी और सर्वमित्र थे । जिनमंडन रचित 'कुमारपालप्रबन्ध' (सं० १४९२) से दो कथाएं उद्धृत कर दिखाया जाता है कि इन कथाओं पर उनका क्या मत था । सिद्धराज जयसिंह से मिलते ही उन्होंने 'पुराणोक्त' सर्वदर्शनाविसंवादिनी यह कथा कही—शंख नामक सेठ की स्त्री ने सौतिन के दुःख से किसी बंगाली जादूगर की औषध खिलाकर पति को बैल बना दिया । पीछे बहुत रोई-पीटी और बैल (पति) को जंगल में चराने ले जाती । शिव-पार्वती घूमते हुए आ गए, पार्वती ने कथा सुनी और उसके अत्याग्रह से शिव ने बताया कि इसी वृक्ष की छाया में पशुओं को पुरुष बनाने की ओषधि है। स्त्री ने यह सुनकर सारी छाया रेखांकित करके उसके नीचे का सब घासपात बैल को खिलाया, वह पुरुष हो गया । यों ही सब धर्मों की सेवा करने से सत्य धर्म मिल जाता है, दया, सत्य आदि को मानकर सभी धर्मों का पालन करना चाहिए, घास में जड़ी भी मिल जाती है । दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों ने हेमचन्द्र पर यह आक्षेप किया कि पांडव आदि हमारे थे, जैन झूठे ही कहते हैं कि वे मुक्ति के लिए हिमालय नहीं गए इत्यादि । हेमचन्द्र ने कहा—"हमारे पूर्वसूरियों के वर्णनानुसार उनकी हिमालय में मुक्ति नहीं हुई, किन्तु यह पता नहीं है कि हमारे शास्त्रों में जो पांडव वर्णित हैं वे वे ही हैं जिनका व्यास ने वर्णन किया है, या दूसरे । क्योंकि 'महाभारत' में भीष्म ने पांडवों से कहा था कि मेरा संस्कार वहां करना जहां कोई पहले न जलाया गया हो । वे उसका देह पहाड़ की चोटी पर ले गए और उस स्थान को अछूता समझकर दाह करने वाले ही थे कि आकाशवाणी हुई—'यहाँ सौ भीष्म जल चुके हैं, तीन सौ पांडव, हजार दुर्योधन, और कर्णों की तो गिनती ही नहीं ।'[1] इस 'भारत' की उक्ति से ही हम कहते हैं कि कोई पांडव जैन भी रहे होंगे ।" बस ऐसे मौकों पर हमारे यहां जो गड़बड़ मिटानेवाला महास्त्र है, चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें भोंदापन और

घात करना चाहा और उसी 'विष से भी भयंकर' घट के रुधिर का पान किया । उसके गर्भ रह गया और रावण की अनुपस्थिति में ऐसा होने की लज्जा से बचने के लिए वह सरस्वती तीर पर गर्भ को गिरा आई । वहीं पर हल चलाते हुए जनक ने वह गर्भ कन्या-रूप में पाया और उसका नाम सीता रक्खा । (ग्रियर्सन ज० रा० ए० सो०, जुलाई १९२१, पृ० ४२२-४)

१. अत्र भीष्मशतं दग्धं पाण्डवानां शतत्रयम् । दुर्योधन सहस्रं तु कर्णसंख्या न विद्यते ।

जंग हो, वही यहां काम देगा कि—

कल्प[1] भेदेन व्लाख्येयम् ।

सोमप्रभ की रचना मुख्यतः प्राकृत में है, अन्त में एक-दो कथाएं बिल्कुल संस्कृत में और एक-आध अधिकतर अपभ्रंश में है । यों प्रसंग-प्रसंग पर, बीच-बीच में संस्कृत-श्लोक और पुरानी हिन्दी के दोहे भी आ गए हैं, किन्तु ग्रन्थ प्राकृत का ही है । प्राकृत बहुत सरस, स्फीत और शुद्ध हैं, कहीं-कहीं श्लेष बहुत अच्छी तरह लाए गए हैं । एक जगह प्राकृत लिखते-लिखते कवि गद्य में ही उस समय की हिन्दी पर उतर गया है, पर झटपट संभल गया है --

'भो आयन्नह मह वयणु, तणु लक्खणिंहि मुणामि ।
इहु बालक एयह घरह कमिण भविस्सइ सामी ।।'[2]

इसे ऐतिहासिक विकास को न माननेवाले भले ही महाराष्ट्री प्राकृत कहें किन्तु है यह देशभाषा ।

'कुमारपालप्रतिबोध' में पुरानी हिन्दी-कविता दो तरह की है,—एक तो वह जो स्वयं सोमप्रभ की और कवि सिद्धिपाल की रचित है । वह डिंगल कविता से बहुत मिलती है और हमने उसके अवतरण अधिक नहीं दिए हैं । जब पुस्तक छप गई है तब उनका फिर प्रकाशित करना अनावश्यक है । इस लेख के दूसरे भाग में इन दोनों की अपनी रचनाओं की कविताओं की संख्या और पृष्ठांक दे दिये हैं और कुछ चुने हुए नमूने । प्रथम भाग में वह पुरानी कविता संगृहीत है जो सोमप्रभ से पुरानी है और उसने स्थान-स्थान पर उद्धृत की है । प्राकृत रचना में कहीं-कहीं ऐसा एक-आध दोहा आ गया है । सोमप्रभ ने ग्रामोफोन की तरह हेमचन्द्र की उक्ति नहीं लिखी है । उसने किसी विशेष धर्म के उपदेश में कोई पुरानी विशेष कथा जो लोक में प्रचलित थी हेमचन्द्र के मुंह से अपने शब्दों में कहलवा दी है । कथाएं उसने गढ़ी नहीं हैं, प्रचलित तथा पुरानी ली हैं जो उस समय देश भाषा, गद्य, पद्य में प्रचलित होंगी । फिर क्या कारण है कि सारी कथा प्राकृत में कहकर वह कोई बीजश्लोक, या कथा का संग्रह श्लोक, या नल ने जो दमयंती से कहा, या नल को खोजनेवाले ब्राह्मण का 'क्व नु त्वं कितव छित्वा' के ढंग का दोहा, प्राकत में ही न कहकर अपभ्रंश में कह रहा है ? जहां उसने इतिहास या

१. अर्थात् भिन्न-भिन्न कल्पों में भिन्न-भिन्न घटनाएं हुईं, यह मानकर व्याख्या करो । कल्प का अर्थ कल्पना भी होता है ।

२. भो सुनो मेरे वचन को तनुलक्षणों से जानता हूँ । यह बालक इस घर का क्रम से होगा स्वामी । आयन्नह मह वयणु=अकनो मो वैन, गुसांई जी के 'अवनिप अकनि राम पगु धारे' में अकन्=आकर्ण्, सुनना।

कुमारपाल का धर्मपालन स्वयं लिखा है वहां तो वह, ग्रंथ की समाप्ति के पास बारह भावनाओं के वर्णन को छोड़कर, अपभ्रंश काम में नहीं लाता। वह कथाओं को रोचक बनाने के लिए, उन्हें सामयिक और स्थानिक रंग देने के लिए, अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों के दोहे बीच-बीच में रख रहा है जो सर्वसाधारण में प्रचलित थे। इन दोहों में कई हेमचन्द्र के व्याकरण के उदाहरणों में हैं, कई 'प्रबन्धचिंतामणि' में हैं, कई जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबन्ध' तक चले आए हैं। जो दोहे सं० ११९९ (सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हैमव्याकरण की रचना का संभावित अन्तिम समय) में मिलते हैं, जो सं० १२४१ (सोमप्रभ की रचनाकाल) तक मिलते हैं, जो सं० १३६१ में (प्रबन्धचिंतामणि) उपलब्ध होते हैं, जो सं० १४९२ (जिनमंडल का 'कुमारपाल प्रवन्ध') तक कथाओं में परम्परा से चले आते हैं, यों जिनकी आयु इधर तीन सौ वर्ष है, क्या वे उधर सौ सवा सौ वर्ष के न होंगे ? इनमें कथाओं के बीजश्लोक हैं, प्रचलित उक्तियां हैं, नायिकाओं के चोचले हैं, वियोगियों और वियोगिनों के विलाप हैं, कहावतें हैं, ऋतुवर्णन हैं, समस्या-पूर्तियां हैं जिन्हें कोई किसी की राजसभा में रखता है, कोई किसी की में—अर्थात् वह सामग्री है जो अलिखित दंथकथाओं में सुरक्षित रहती है और सदा और सर्वत्र कथा कहने वाले के दिल को प्यारी है। आज भी राजपूताने में कहानी कहनेवाला, जहां सुन्दरी का वर्णन आता है, वहीं बीच में यह दोहा जोड़ देता है—

कद तैं नाग विसासिया, नैण दिया मृग झल्ल।
गोरी सरवर कद गई, हंसाँ सीखड़ हल्ल॥[1]

जहां मित्रता का वर्णन आता है, वहाँ यह दोहा घुसेड़ता है—

मो मन लग्गा तो मना, तो मन मो मन लग्ग।
दूध विलग्गा पाणियां, (जिमि) पाणिय दूध विलग्ग॥[2]

जहां किसी वीर नारी का प्रसंग आया तो चट ये दोहे आ जायेंगे।

ढोल सुणंतां मंगलौ, मूछां भौंह चढंत।
चँवरी ही पहिचाणियो, कँवरी मरणो कंत॥

१. कब तैंने नागों को विश्वासयुक्त किया (कि वे तेरे केशों के रूप में आ गए) ? मृगों ने तुझे नयन कब सौंप दिए ? गोरी ! हंसों से चाल सीखने तू सरोबर कब गई थी ?

२. मेरा मन तेरे मन से लगा और तेरा मन मेरे मन से लगा, जैसे दूध पानी से लगा और पानी दूध से।

ढोल बजंता हे सखी, पति आयो मोहि लैण।
बागां ढोलां मैं चली, पति को बदलो लैण॥
मैं परणंती परखियो, तोरण री तणियांह।
मो चूडल्लो उतरसी, जद उतरसी धणियांह॥[1]

अवश्य ही ये दोहे कहानी कहनेवाले के नहीं हैं, प्राचीन हैं।

वस्तुतः इन गाथाओं का 'कुमारपालप्रतिबोध' में वही पद है जो विशेष राजाओं के यज्ञ और दान की प्रशंसा की अभियज्ञगाथाओं का ब्राह्मणों में। 'ऐतरेय' और 'शतपथ ब्राह्मण' में ऐंद्रमहाभिषेक और अश्वमेध आदि के प्रसंग पर ऐसी नाराशंसी गाथाएं दी गई हैं जो अवश्य ही ब्राह्मणों की रचना के समय लोक में प्रचलित थीं, और जिन्हें 'तदेषा अभियज्ञगाथा गीयते' कहकर ब्राह्मणों में इसी तरह उद्धृत किया है।[2] वे या वैसी ही कई गाथाएं 'महाभारत' आदि पुराणों में उद्धृत की हैं।[3] ये पुराणों और ब्राह्मणों के पहले की गाथाएं पुराणों

१. विवाह के समय में मंगल के ढोल सुनते ही नायक की मूछें भौंह तक चढ़ जाती थीं तो नायिका ने चँवरी (विवाह मंडप) में ही पति का (युद्ध मे) मरना पहचान लिया।

हे सखि! पति मुझे लेने को ढोल बजाकर आया था, मैं भी युद्ध के बागे (वस्त्र) पहनकर और ढोल बजाकर पति का बदला लेने चली हूं।

मैंने तोरण के पास विवाह के समय पहचान लिया (नायक की वीरता को देखकर) कि जब मेरा चूड़ा उतरेगा (मैं विधवा होऊंगी) तब बहुतों को उतरेगा। (वह बहुतों को मारकर मरेगा)।

२. ऐसी कुछ ऐतिहासिक गाथाओं का अनुवाद मैंने 'मर्यादा' के 'राज्याभिषेक अंक' में कर दिया था (मर्यादा, दिसंबर १९११-जनवरी १९१२) ऐसी गाथाओं का एक नमूना यह है—

मरुतः परिवेष्टारो मरुतस्यावसन् गृहे।
आविक्षितस्याग्निः क्षता विश्वेदेवाः सभासदः॥ शतपथ १३।५।४।६॥

३. जैसे महाभारत में शकुन्तला की दुष्यंत से बातचीत—

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यस्माज्जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दौष्यन्ति सत्यमाह शकुंतला॥
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नृदेव महतः क्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुंतला॥

या 'कर्णपर्व' में शल्य और कर्ण की बातचीत में कई विनोदात्मक गाथाएं तथा कई जो 'गाथामप्यत्र गायंति ये पुराणविदो जनाः' कहकर उद्धृत की गई हैं। यथा 'विष्णुपुराण' में—

अनैर्यात्यबला रम्या हेमंति चंद्रभूषिता।
अलंकृता त्रिभिर्भावैस्त्रिशंकुग्रहमंडिता॥

ऐसी गाथाओं का पूरा तथा तुलनात्मक संग्रह बहुत उपादेय होगा।

की बीजस्वरूप हैं और वैसे ही मौकों पर उद्धृत की गई हैं जैसे सोमप्रभ की रचना में अपभ्रंश कविता। भाषा-विचार से देखा जाय तो जैसे ब्राह्मणों की रचना से ये गाथाएं सरल मालूम देती हैं, जैसे भारत आदि की रचना से इन उद्धृत गाथाओं में अधिक सरलता है, वैसे ही सोमप्रभ की कृत्रिम प्राकृत के नए टकसाली सिक्कों से ये घिसे हुए लोक प्रचलित सिक्के अधिक परिचित और प्रिय मालूम देते हैं।

कृत्रिम प्राकृत की चर्चा आने से कुछ उसकी बात भी कर लेनी चाहिए। यह कोई न समझे कि जैसी प्राकृत पोथियों में मिलती है वह कभी या कहीं की देशभाषा थी। महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी नामों से उन्हें वहां की देशभाषा नहीं मानना चाहिए। संस्कृत के नए-पुराने नाटकों में भिन्न-भिन्न पात्रों के मुँह से जो भिन्न-भिन्न प्राकृत कहलवाने की चाल है, उससे भी यह न जानना चाहिए कि उस समय वह जाति या वर्ग वैसी भाषा बोलता था। यह केवल साहित्य का संप्रदाय है कि अमुक-से-अमुक भाषा या विभाषा कहलानी चाहिए। प्राकृत भी एक तरह की संस्कृत की-सी रूढ़ किताबी भाषा हो गई थी। पुराने-से-पुराने पत्थर और धातु पर के लेख संस्कृत के नहीं मिलते, वे प्राकृत या गड़बड़ संस्कृत के मिलते हैं। उस प्राकृत को किसी देशभेद में आप बाँध नहीं सकते। मागधी का मुख्य लक्षण 'र' की जगह 'ल' और अकारांत शब्दों के कर्ताकारक के एकवचन में संस्कृत स् (:) या शौरसेनी 'ओ' की जगह 'ए' का आना गिरनार आदि पश्चिमी लेखों में मिलता है और महाराष्ट्री के कई चिह्न पूर्वतट के लेखों में मिलते हैं। शौरसेनी के कई माने हुए लक्षण दक्षिण की कन्हेरी आदि गुफाओं के अभिलेखों में मिलते हैं। साहित्र की भाषा तो व्याकरण की जानकारी, महाविरों की बदल और कवि-संप्रदाय के प्रभाव से बदल जाती है, पोथियों में प्राचीन भाषा की शैली समयानुसार बदलती रहती है, किन्तु पत्थर की लीक पत्थर की लीक ही है। पुराने-से-पुराने लेख इस अनिर्वचनीय प्राकृत में मिलते हैं। फिर कुछ काल तक प्राकृत, संस्कृत और मिश्रित संस्कृत साथ-ही-साथ सर्वत्र मिलती है। फिर प्रौढ़ संस्कृत आती है जिसके आते ही लेखों से प्राकृत गायब हो जाती है। इधर साहित्यिक प्राकृत के उदय से तांबे-पत्थर की प्राकृत गायब हो जाती है। साहित्य की प्राकृत लेखों में कभी नहीं मिलती और लेखों की प्राकृत साहित्य में कभी नहीं पाई जाती। साहित्य की प्राकृत जो खुदी मिलती है वह भोज के 'कूर्मशतक' के-से काव्य हैं। जो लिखित प्राकृत साहित्य के जमे हुए नियम हैं—कहाँ 'न' और कहाँ 'ण', कहाँ 'ख' का 'क्ख' और कहाँ 'घ', कहाँ 'त, ग' की जगह 'य' और कहाँ 'अ'—सबका भंग, सबका विकल्प, खुदाई की प्राकृत में मिलता है। जब प्राकृतों के मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश नाम रक्खे

गए तब उनमें कुछ तो उस देश की प्राकृत भाषा का सहारा लिया गया, कुछ विशेष लक्षण वहाँ की चलित बोली के लिए गए, किन्तु ढचर संस्कृत का ही गढ़ा गया। यह मान सकते हैं कि मगध, उड़ीसा, मद्रास आदि के पूर्वी लेखों की विशेषताएं मागधी में, गुजरात, काठियावाड़, कन्हेरी गुफा आदि के पश्चिमी दक्षिणी लेखों की रीतियाँ महाराष्ट्री में और मध्यदेश अर्थात् मथुरा, कुशनों तथा क्षत्रपों के संस्कृत और मिश्र लेखों की बातें संस्कृतप्राय शौरसेनी में मिल जाती हैं, किन्तु यह कहना कि सातवाहन (हाल) की 'सप्तशती' और वाक्पति के गौडवहो की महाराष्ट्री महाराष्ट्र की देशभाषा थी, ठीक नहीं। वस्तुतः शब्दों के बोधगम्य रूप अपभ्रंश और पैशाची आदि 'घटिया प्राकृतों' में अधिक रह गए हैं। ऊँची प्राकृतों में 'र' उड़कर मूर्ख का भी 'मुक्ख' और मोक्ष का भी 'मुक्ख', उष्ट्र का भी 'उठ्ठ', हो जाता है किन्तु अपभ्रंश और पैशाची में मूरुख, और उष्ट या उष्ट्र भी बच गया है। प्राकृत-कविता व्याकरण के सहारे समझने लायक हो चली, या यों कहो कि जैसे पहले गंगाप्रवाह में से संस्कृत का नरौने का बाँध बाँधकर नपे-कटे किनारों की नहर बना ली गई थी वैसे फिर मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की नहरें छाँट ली गईं, जिसके किनारे भी संस्कृत की प्रकृति की तरह काटे-तराशे गए, किन्तु भाषा-प्रवाह—सच्ची गंगा—अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के रूप में बहता गया। अपभ्रंश कई नहीं थे, अपभ्रंश एक देश की भाषा नहीं थी, कहीं-कहीं नहरों का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों किन्तु वह देश भर की भाषा थी जो नहरों के समानांतर बहती चली जाती थी। वैदिक भाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, हिन्दी —देश की एक ही भाषा रही है; पंडितों की संस्कृत, वैयाकरणों या नाटकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नाम के अपभ्रंश, पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजराती, या बंगला, गुजराती आदि सब इसकी Side-shows हैं, नट की न्यारी-न्यारी भूमिकाएँ हैं।

हेमचंद्र कहते हैं—'प्रकृतिः संस्कृतं, **तत्र भवं, तत आगतं वा** प्राकृतम्।' यह **भव या आगत** कहना ठीक नहीं। वररुचि संस्कृत को शौरसेनी की प्रकृत और शौरसेनी को महाराष्ट्री और पैशाची की प्रकृति कहते हैं। 'षटभाषा' यह नाम हमारे यहाँ पुराना चला आया है। एक प्राकृत व्याकरण 'षटभाषा-चंद्रिका' कहलाता है। लोष्टदेव कवि की प्रशंसा में मंख कहता है कि छै भाषाएं उसके मुँह मे सदा विराजती हैं।[1] जयानक सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज की बड़ाई करता

१. ···मुखे यस्य भाषाः षडविशेरते।···लोष्टदेवस्य···(श्रीकंठचरित, अंतिम सर्ग)

है कि छै भाषाओं में उसकी शक्ति थी।[1] पृथ्वीराजरासे का कर्ता हिन्दी के इतिहास लेखकों को यह कहकर चक्कर में डाल गया है कि—

षट भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।[2]

और वे इसमें पंजाबी, बैसवाड़ी, राजस्थानी खोजते फिरते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बूँदी के कवि, वंशभास्कर के कर्ता, भीषण चारण सूरजमल भी षट् भाषाओं की मुहारनी पढ़ गए हैं। यह षट् भाषाओं की खटपट क्या है?—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥[3]

संस्कृत **उससे** प्राकृत, **उससे उत्पन्न** शौरसेनी, **उससे** मागधी, पहले की तरह **पैशाची**, और देशजा ये **छै** हुईं।

मालूम होता है कि प्रकृति शब्द के अर्थ में भ्रम होने से **तत आगतं, तदुद्भवा** और ततः आदि की कल्पना हुई। प्रकृति का अर्थ यहाँ उपादान कारण नहीं है। जैसे—भाष्यकार ने बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है कि सोने से रुचक बनता है, रुचक की आकृति को मोड़-तोड़कर कटक बनते हैं, कटकों से फिर खैर की लकड़ी के अंगारे के-से कुंडल बनाए जाते हैं, सोने का सोना रह जाता है, वैसे भाषा से भाषा कभी नहीं गढ़ी गई। यहाँ प्रकृति शब्द मीमांसा के रूढ़ अर्थ में लिया जाना चाहिए। वहाँ पर **प्रकृति** और **विकृति** शब्द विशेष अर्थों में लिए गए हैं। साधारण, नियम नमूना, माडल उत्सर्ग इस अर्थ में प्रकृति आता है, विशेष, अलौकिक, भिन्न, अंतरित अपवाद के अर्थ में विकृति आता है। अग्निष्टोम यज्ञ प्रकृति है, दूसरे सोमयाग उसकी विकृति हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि और सोमयाग अग्निष्टोम से निकले हैं या उससे आए हैं। अग्निष्टोम की जो रीति है उससे दूसरे सोमयागों की रीति बहुत कुछ मिलती और कुछ-कुछ भिन्न है, साधारण रीति प्रकृति में दिखाकर भेदों को विकृति में गिन दिया है। पाणिनि ने भाषा (व्यवहार) की संस्कृत को प्रकृति मानकर वैदिक संस्कृत को उसकी विकृति माना है, साधारण या उत्सर्ग नियम संस्कृत के मानकर वैदिक भाषा को अपवाद बना दिया है वहां प्रकृति का उपादान कारण अर्थ मानकर क्या वैदिक भाषा को 'तत आगत' या

१. बाल्येऽपि लीलाजिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि।
जयति सोमेश्वरनंदनस्य पण्यां गिरां शक्तिमतो यशांसि॥
(पृथ्वीराजविजय, प्रथम सर्ग)

२. देखो : प्रतिभा, जिल्द ३, पृ० २६४-७ में मेरा लेख।

३. मंख के 'श्रीकंठचरित' की टीका से उद्धृत।

'तदुद्भव' कह सकते हैं, उल्टी गंगा बहा सकते हैं ? शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत और महाराष्ट्री की प्रकृति शौरसेनी कहने का यही आशय है कि साधारण नियम उनके संस्कृत या शौरसेनी के-से और विशेष नियम अपने-अपने भिन्न हैं। प्रकृति से जहाँ समानता है, उसका विचार व्याकरणों में नहीं है, जहाँ भेद है वहीं दरसाया गया है। हेमचंद्र ने पहले (महाराष्ट्री) प्राकृत का व्याकरण लिखा। आगे शौरसेनी के विशेष नियम लिखकर कहा, शेषं प्राकृतवत् (८।४।२८६), फिर मागधी के विशेष नियम लिखकर कहा—'शेषं शौरसेनीवत्' (८।४।३०२), अर्द्ध-मागधी को आर्ष मानकर उसका विवेचन नहीं किया। फिर पैशाची का विवेचन करके कहा—'शेषं शौरसेनीवत्' (८।४।३२३)। यों ही चूलिका पैशाची के नियम विशेष बतलाकर कहा—'शेषं प्राग्वत् अर्थात् पैशाचीवत् (८।४।३२८)। अपभ्रंश के विशेष नियम लिखकर लिखा—'शौरसेनीवत्' (८।४।४४६) और उपसंहार में सभी प्राकृतों को लक्ष्य करके लिखा—'शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्' (८।४।४४८) तो क्या उसका अर्थ यह किया जाए कि यह इन भाषाओं का कुर्सी-नामा हुआ ? क्या पहली-पहली भाषा जनक हुई और अगली-अगली उससे आगत या उससे उद्भूत ? नहीं, साधारण नियम 'प्रकृति' में समझाए गए, विशेष नियम 'विकृति' में। यही प्रकृति और विकृति का प्रकृत अर्थ है।

मार्कंडेय के व्याकरण में प्राकृत के इतने भेद दिए हैं—

१. भाषा—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवंती, मागधी, अर्द्धमागधी।

२. विभाषा—शाकारी, चांडाली, शावरी, अभीरी, टाक्की, औड्री, द्राविडी।

३. अपभ्रंश।

४. पैशाची।

यह विभाग परिसंख्या मात्र है, तर्कानुसार विभाग नहीं है। कुछ नाम देशों से बने और कुछ जातियों से बने हैं। प्राच्या पूर्वी बोली है, जो शूरसेन और अवंती की प्राकृतों से बनी कही जाती है। अवंती की भाषा में कहते हैं कि 'र' का लोप नहीं होता और लोकोक्ति और देशभाषा के प्रयोग अधिक होते हैं। तो वह अपभ्रंश की बहनेली हुई। उसे महाराष्ट्री और शौरसेनी का संकर भी कहा है। अवंती (मालवा) महाराष्ट्र और शूरसेन देशों के बीच में है ही। अर्द्धमागधी तो यहां गिन ली, पर चूलिका पैशाची (छोटी पैशाची) नहीं गिनी। शकार की कोई अलग भाषा नहीं है; जैसे किसी नाटक का कोई पात्र 'है सो ने' या 'जो है शो' अधिक बोलता हो तो उसकी बोली में वही तकिया-कलाम अधिक आवेगा, वैसी गढ़ी हुई बोली शकारी है। चांडाल, शबर जातियाँ हैं। अभीर जाति भी, देश

भी । टक्क पंजाब का दक्षिण पश्चिमी भाग है जिसकी चर्चा पहले लेख में हो चुकी है और जहां की लिपि 'टाकरी' कहलाई । उड्र उड़ीसा या उत्कल है, द्राविड़ी द्रविड़ की अनार्य भाषा तामिल नहीं, किन्तु एक गढ़ी हुई अपभ्रंश है राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में कविता में महाराष्ट्री और गद्य के शौरसेनी काम में ली है । नाटकों में पात्रानुसार भाषा विशेष का प्रयोग न दैशिक तत्त्व पर है, न जातिक पर; केवल रूढ़ संप्रदाय है । वररुचि की महाराष्ट्री और हेमचन्द्र की जैन महाराष्ट्री में भी दो मुख्य अन्तर हैं—वररुचि कहता है कि वर्ण लोप होने पर दो स्वरों के बीच में 'य' श्रुति नहीं होती; जैन 'य' श्रुति मानते हैं, जैसे कविता की महाराष्ट्री में सरित् का 'सरिआ', जैन महाराष्ट्री में ईषत्स्पृष्टतर 'य' श्रुति से 'सरिया' । यह हमारे चिरपरिचित 'गये, गए' झगड़े का पुराना रूप है । दूसरा यह है कि कविता की महाराष्ट्री में संस्कृत 'ण' का सदा 'न' होता है, जैन दोनों काम में लाते हैं, पदादि में 'ण' कभी नहीं लाते । साहित्य की प्राकृत को जब आवश्यकता पड़ी तब उसने देशी शब्द लिए और संस्कृत भी जब चाहती है तब उन्हें सुधार-संवारकर ले लिया करती है । साहित्य की प्राकृत में यह बात भी है कि प्रत्येक संस्कृत शब्द को वह अपने ही नियमों से तत्सम या तद्भव रूप बनाकर काम नहीं ले सकती, जो शब्द आ गए हैं, उन्हीं का विवेचन उसके नियम करते हैं, उन्हीं नियमों से नए शब्द बनाए नहीं जा सकते । हेमचन्द्र कह गए हैं (८।२।१७४) "इसीलिए कृष्ट, घृष्ट, वाक्य, विद्वस्, वाचस्पति, विष्टरश्रवस्, प्रचेतस्, प्रोक्त, प्रोत, आदि शब्दों का, या जिनके अन्त में क्विप् आदि प्रत्यय हों उन अग्निचित् सोमसुत् सुग्ल, सुम्ल आदि शब्दों का, जिन्हें पहले कवियों ने प्रयोग नहीं किया, प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से प्रतीति में विषमता आती है, दूसरे शब्दों से ही उनका अर्थ कहा जाय जैसे कृष्ट के लिए 'कुशल', वाचस्पति, के लिए 'गुरु', विष्टरश्रवा के लिए 'हरि' इत्यादि ।"

आगे इस लेख के उदाहरणांश के दो भाग हैं —पहले में सोमप्रभ की उद्धृत कविता है, दूसरे में उसकी तथा सिद्धपाल की रचना के नमूने । विस्तारभय से अर्थ देने की यह रीति रक्खी है कि प्रत्येक पद का मिलता हुआ हिंदी अर्थ क्रम से रख दिया है फिर स्वतंत्र अनुवाद नहीं किया, उसीको मिलाकर पढ़ने और पढ़ती बार मन में अन्वय कर लेने से अर्थ प्रतीत हो जाएगा ।

पहला भाग

प्राचीन

(१)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जनकरपल्लविंहि दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥

मान, प्रनष्ट हो, यदि, न, शरीर, वह, कुदेश, तजिए, मत दुर्जन-कर-पल्लवों से, दिखाए जाते हुए, घूमिए । मान प्रनष्ट हो (तो शरीर छोड़ना चाहिए), यदि शरीर न (छोड़ा जाय) तो देश को (तो अवश्य) तज दीजिए। पूर्वार्द्ध का यह अर्थ और भी अच्छा है । जइ न तणु—देह न जावे तो भी मान जावे तो। देसडा—देखो प्रवंध०--(१) में 'संदेसडो' की टिप्पणी । **चइज्ज, भमिज्ज**-तजीजै, भ्रमीजै । **दंस**—दिखाने के अर्थ का प्राकृत धातु [दृश के]। पंजाबी-दस्स, देखो --(४६) । यह दोहा हेमचन्द्र में भी है ।

(२)

एक मनुष्य यज्ञ के लिए बकरे को ले जा रहा था और बकरा मिमियाता था। एक साधु ने उसे यह दोहा कहा तो बकरा चुप हुआ । साधु ने समझाया कि यह इसी पुरुष का बाप रुद्रशर्मा है, इसने यह तालाब खुदवाया, पाल पर पेड़ लगाए, प्रतिवर्ष यहाँ बकरे मारने का यज्ञ चलाया । वही रुद्रशर्मा पांच बार बकरे की योनि में जन्म लेकर अपने पुत्र से मारा जा चुका है । यह छठा भव है। बकरा अपनी भाषा में कह रहा है कि बेटा, मत मार, मैं तेरा बाप हूं, यदि

विश्वास न हो तो यह सहिदानी बनाता हूं कि घर के अन्दर तुझसे छिपाकर निधान गाड़ रक्खा है, दिखा दूं। मुनि के कहने पर बकरे ने घर में निधान दिखा दिया और फिर बकरे और उसके मनुष्य पुत्र को स्वर्ग मिल गया।

खड्ड खडाविय सइं छगल सइं आरोविय रुक्ख।
पइं जि पवत्तिय जन्न सइं किं बुब्बुयहि सुरुक्ख॥

खड्ड (=ताल), खनाया, स्वयं, हे छागल !, स्वयं आरोपित किए, रूख, पै (या तैंने), जो, प्रवर्तित किया, यज्ञ, स्वयं, क्यों बुबुआता है ? मूर्ख ! **खणाविय**—खणाव्युं, आरोविय—आरोप्यो, पइं-तैं के लिए देखो हेमचन्द्र ८।४ ३७०। बुब्बुयहि—अनुकरण, बलबलाना।

(३)

एक नगर में अशुभ की शांति पशुवध से की जानेवाली थी, तब देवता ने कहा—

वसइ कमलि कलहंसि जिंम्बँ जीवदया जसु चित्ति।
तसु पय पक्खालण-जलिण होसइ असिव निवित्ति॥

बसती है, कमल में, कलहंसी, जिमि, जीवदया, जिसके चित्त में, उसके पद (पैर) पखालने (धोने) के जल से, होगी, अशिव (की) निवृत्ति। होसइ—होसै। देखो (२३)।

(४)

एक विवाह के बधावे (वर्धापन-वद्धावण-बधाई) का वर्णन—

आभरण-किरण-दिप्पंत-देह अहरीकिय-सुरवहू-रूपरेह।
घण-कुंकुम-कद्दम घर दुवारि खुप्पंत-चलण नच्चंति नारि॥

स्पष्ट है। दिप्पंत-दीप्यमान, अहरीकिय-अधरीकृत, नीची दिखाई, रेह—रेखा, घणकुंकुम-कद्दम—विशेषण के आगे विभक्ति नहीं है, घरदुवारि-घर द्वार में या पर, खुप्पंत-चलण—पैर फिसलते हैं (कर्दम में) जिनके ऐसी नारियां।

(५)

तीयह तिन्न पियाराइं कलि कज्जल सिंदूरु।
अन्नइ तिन्नि पियाराइं दुद्धुँ जम्वाइ उ तूरु॥

स्त्रियों के (या को), तीन, प्यारे (हैं), झगड़ा, कज्जल (और) सिंदूर, अन्य (भी) तीन प्यारे हैं दूध, जँवाई और बाजा। तूर—तूर्य।

(६)

एक राजा अपनी रानी से अपनी गद्दी का भविष्य कह रहा है—

नरवइ आण जु लंघिहइ वसि करिहइ जु करिंदु।
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु॥

नरपति (की) आन जो उलांघेगा बस में करेगा जो करींद्र को, हरेगा जो कुमारी कनकवती (को) होगा यहाँ वह नरेंद्र। अभयसिंह कुमार ने तीनों बातें पूरी की हैं। यहाँ 'आण' को संस्कृत 'आसा' से मिलाते हैं किन्तु इसका अर्थ 'शपथ' या 'दुहाई' है। जैसे—राजपूताने में 'दरबार की आन' (मोहि राम रावरि आन [=रावली आन] दसरथ सपथ—('तुलसी-रामायण' में निषाद का वाक्य)। आगे कथा में स्पष्ट होता है कि 'आन' का अर्थ यहाँ कोई आज्ञा नहीं है। आधी रात को अभयसिंह चला जा रहा था कि नगर-रक्षक ने टोका और न ठहरने पर राजा की 'आन' दी। 'अपने बाप को राजा की आन दे' यों कहकर अभयसिंह चल दिया।[1] इसी कथा में आगे चलकर एक अद्भुत महाविरा है। राजकुमारी कनकवती पर हाथी ने मोहरा कर दिया है। उसका परिजन पुकारता है—"है कोई 'चउद्दसीजाओ' जो हमारी स्वामिनी को इस कृतांत के-से हाथी से बचावे?" यहाँ चउद्दसीजाओ=चौदस का जाया=चतुर्दशी के दिन जनमा हुआ, बड़े भाग्यवान् या पराक्रमी के अर्थ में आया है, जैसे जिसकी छाती पर बाल हों वह यह काम करे, जिसने माँ का दूध पिया है, कोई चाँदनी (शवलपक्ष की) चौदस का जाया जो···इत्यादि।

(७)

बसंत वर्णन :

अह कोइल-कुल-रव-मुहुलु भुवणि वसन्तु पयट्ठु।
भट्टु व मयण-महा-निवह पयडिअ- विजय-मरट्ठ॥
अथ कोयल-कुल-रव-मुखर भुवन (में) वसंत पैठा।
भट इव मदन महा नृप का प्रकटित-विजय-पुरुषार्थ॥

मरट्ठ=वीरता, मराठापन ?

1. नयरारक्खेण दिन्ना रन्नो आणा। देमु निअपिउणो रन्नो आणंति भणंतो अभयसीहो वच्चइ। (पृ० ३८)

सूर पलोइवि कंत-करु उत्तर-दिसि-आसत्तु ।
नीसासु व दाहिण-दिसय मलय समीर पवत्तु ॥

सूर्य (को, के ?) देखकर कंत (के) कर उत्तर-दिशा-आसक्त ।
निःश्वास इव दक्षिण दिशा के मलय समीर प्रवृत्त (हुए) ।

'कुमारसंभव' के "कुवेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलंघ्य । दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज" का भाव है । कर—में श्लेष है । पलोइवि—प्रलोक्य, देखकर । विभक्तियों की बेकदरी होने से यह बीच में आ गया है और सूर और कंत दूर पड़ गए हैं ।

(९)

काणण-सिरि सोहइ अरुण-नव-पल्लव परिणद्ध ।
नं रत्तंसुय-पावरिय महु-पिययम संबद्ध ॥

कानन (की) श्री सोहै अरुण नव पल्लवों से ढकी । मानो रक्तांशुक (लाल कपड़े) से लिपटी मधु (चैत्र, वसंत) (रूपी) प्रियतम से संबद्ध ॥

विवाह में 'सूहा सालू' पहनते ही हैं । पावरिय=प्रवृत, ढकी हुई ।

(१०)

सहयारिहि मंजरि सहहि भ्रमर-समूह-सणाह ।
जालाउ व मयणानलह पसरिय-धूम-पवाह ॥

सहकार (आम) की मंजरी सोहती हैं भ्रमर-समूह (से) सनाथ ।
ज्वालाएँ इस मदनानल की प्रसरित-धूम-प्रवाह ॥

यहाँ 'सहहि' का अर्थ 'सहती हैं' नहीं हो सकता, 'सोहहिं' का अर्थ बैठता है । सो के ओ की एक मात्रा मानने से काम चलाया है । देखो (२२), (४१)

(११)

दमयंती के वस्त्र पर नल उसे छोड़ते समय अपने रुधिर से लिख गया था—

वड-रुक्खइ दक्षिण-दिसिहिं जाइ विदब्भहि मग्गु ।
वाम-दिसहिं पुण कोसलिहि जाह रुच्चइ नहिं लग्गु ॥

वड (के) रूख की, दक्षिण दिशा में, जाय, विदर्भ, को मार्ग ।

वाम दिशा में, पुनः, कोसल को, जहाँ, रुचै, तहाँ, लग (जिधर चाहे उधर जा) ।। जहिं तहिं=जिसमें तिसमें ।

(१२)

कुसल नामक एक विप्र ('महाभारत' के नलोपाख्यान का पर्णाद) खुद्दक को (क्षुद्रक, 'महाभारत' का बाहुक—नल, विकृत रूप में) देखकर यह दोहा (दुहयं) गाता है—

निट्ठुर निक्किवु काउरिसु एकुजि नलु न हु भंति ।
मुक्कि महासइ जेण विणि निसि सुत्ती दमयंति ।।

निष्ठुर; निष्कृप (कृपारहित)। कापुरुष, एक, जी, नल (है) नहीं ही, भ्रांति (इस बात में) छोड़ी, महासती, जिसने, वन में, निशा में, सूती दमयंती ।

मुक्कि—मुक्ता, महासइ—देखो ना० प्र० पत्रिका (भाग १) पृष्ठ १०४

(१३)

परदारगमन के विषय में उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कथा लिखी है, उसी में प्रसंग से उदयन वत्सराज, वासवदता, यौगंधरायण आदि की कथाएं भी आ गई हैं जो बौद्ध जातकों में, 'वृहत्कथा' (कथासरित्सागर) और भास के नाटक में है । इस कथा में भास के नाटक 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' की कथा से कुछ भेद है किन्तु दो श्लोक उसी नाटक के उद्धृत किए हैं । अस्तु । राजगृह के राजा श्रेणिक के पुत्र अभय को प्रद्योत ने छल से बाँधकर अपने यहाँ रख छोड़ा था । उसने कई मार्के के काम किए, प्रद्योत ने उससे वर माँगने के लिए कहा तो उसने यह ऊटपटांग वर मांगा जिसका अभिप्राय यह था कि मुझे अपने यहां से विदा कर दो—

नलगिरि हत्थिहिंमि ठितइं सिवदे विहि उच्छंगि ।
अग्निभीरु रह दारुइहि अग्नि देहि मह अंगि ।।

प्रद्योत के यहाँ नलागिरि प्रसिद्ध हाथी था, शिवा देवी थी और अग्निभीरु रथ था जो आग में नहीं जलता था । अभय कहता है कि नलागिरि हाथी में (पर) बैठे हुए, शिवदेवी की गोद में, अग्निभीरु रथ की लकड़ियों से, आग, दे, मेरे, अंग में । उच्छंग—तुलसीदासजी का 'उछंग', सं० 'उत्संग' । हत्थि-हिंमि—दोहरी विभक्ति ।

(१४)

जाते समय अभय बदला लेने की यह प्रतिज्ञा कर गया और पीछे आकर परदार-गमन-रसिक प्रद्योत को दो स्त्रियों से विलमा कर बांध ले गया।

करिवि पईबु सहस्सकरु नगरी मज्झिण सामि।
जइ न रडंतु तइं हरउं [तइ] अग्गिहिं पविसामि॥

करके, प्रदीप, सहस्रकर (=सूर्य) को, अर्थात् दिन दहाड़े, नगरी के मध्य से, हे स्वामी यदि न चिल्लाते हुए को, तुझे, हरूं, तो, अग्नि में, प्रवेश करूं। रडंतु—पंजाबी—रडचांदा, हिं०—रटता।

(१५)

वेस विसिट्ठह वारियइ जइ वि मणोहर-गत्त।
गंगाजलपक्खालिय वि सुणिहि किं होइ पवित्त॥

वेश-विशिष्टों को, वारिये (=उनसे बचिए), यदि, भी, मनोहर-गात्र (वे हों), गंगाजल प्रक्षालित, भी, कुत्तियाँ, क्या, होयं, पवित्र ? वेस विसिट्ठह—वेश-विशिष्टा, अच्छे-अच्छे वेशवाली, वेश्या, वेश का अर्थ 'वेश्याओं का वाडा' भी होता है उस अर्थ में 'वेश्याओं के बाड़े में घुसी हुई' देखो (१६)। सुडि—सं० शुनी।

(१६)

नयणिहि रोयइ मणि हसइ जणु जाणइ सउ तत्तु।
वेस विसिट्ठह तं करइ जं कठ्ठह करवत्तु॥

नयनों से, रोवै, मन में, हँसै, जानो, जानै, सब (या सौ), तत्त्व वेशविशिष्टा, वह (वैसे), करै, जो (जैसे) काठ का (=को), करौती। इन दोनों दोहों में 'वेस विसिट्ठह' अलग-अलग पद मानें तो पहले में अर्थ होगा 'वेश्या विशिष्टों (अच्छे लोगों) से वारित की जाती है', और दूसरे में 'वेश्या विशिष्टों का (=को) वह करै' इत्यादि। करवत्तु=सं० करपत्र, हिं० करौती।

(१७)

पिय हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोवल्लि करंत॥

पिया !, मैं, रही, सकल, दिन, तेरी, विरहाग्नि में, उबलती, थोड़े, जल में, ज्यों, मछली, तड़फड़ाहट, करती (हुई)। थक्किय—थकना=रहना (बंगला—थाक्) तल्लोविल्लि—तले ऊपरी, छटपटाना।

(१८)

मइं जाणियउं पिय विरहियह क वि धर होय वियालि।
नवरि मयंकु वि तह तवइ जह दिणयरु खयकालि॥

मैं, जान्यो, पिय-विरहित का, (को), कोई, भी, सहारा, होवे, रात में, नहीं पर (=यह पता नहीं कि यह तो दूर रहा, उलटा), मयंक, भी, वैसे, तपै, जैसे, दिनकर (=सूर्य), लयकाल में। धर-धरनेवाली बात, आधार, सहारा। वियालि=विकाल में, वि=द्वि, दूसरी वेला अर्थात् रात। मयंक=मृगांक, चन्द्र। खयकाल-प्रलय। नवरि—इस देशी का ठीक भाव प्राकृत की संस्कृत छाया बनाने वाले नहीं ला सकते। ऊपर अर्थ दिया है। यह दोहा हेमचन्द्र के व्याकरण में भी है।

(१९)

अज्जु विहाणउं अज्जु दिणु अज्जु सुवाउ पवत्तु।
अज्जु गलत्थिउ सयलु दुहु जं तुहुं मह घरि पत्तु॥

आज, विहान (हुआ), आज, दिन आज, सुवायु, प्रवृत्त (हुआ), आज, गलहत्था दिया (निकाल दिया), सकल दुःख, जो, तू, मेरे, घर में प्राप्त (हुआ)। विहाणउं—नामधातु विहान्यो, हिन्दी-विहान, सं-विभात, विभान। गलत्थिउ—सं० गलहस्तित, गले में हाथ देकर निकाल दिया (अर्द्धचन्द्र दिया, गलहस्तेन माधवः)।

(२०)

पडिवज्जिवि दय देव गुरु देवि सुपत्तिहि दाणु।
विरइवि दीणजणुद्धरणु 'करि सफलउं अप्पाणु'॥

चौथे चरण की समस्यापूर्ति। दया, देव और गुरु को प्राप्त होकर (स्वीकार करके), देकर, सुपात्र को दान, रच करके, दीनजनोद्धरण, कर, सफल, अपने को। पडिवजिवि—प्रतिपद्य, अंगीकार करके। विरइवि-विरचय्य, विरच कर। अप्पाण—आत्मानं, तुलसीदास जी का 'अपान'। पडिवज्जिवि देवि, विरइवि पूर्वकालिक क्रियाएं।

(२१)

पुत्तु जु रंजइ जणयमणु थी आराहइ कंतु।
भिच्चु पसन्नु करइ पहु 'इहु भल्लिम पज्जंतु'॥

समस्यापूर्ति—पूत, जो, रंजावे, जनक (का) मन, स्त्री, आराधै, कंत (को), भृत्य, प्रसन्न, करै, प्रभु (को), ये (या यहाँ) भलेपन को, पाते, हैं। रंजइ, रंजयति, रंजै, प्रसन्न करै। आराहइ—आराधना करे। इहु—ये अथवा यहां। भल्लिम—भलाई (संस्कृत का इमनिच्)। पज्जंतु—पाईजते हैं, पाते हैं, या इह भल्लिमपज्जंन्तु='यह भलाई की पर्यंत (=सीमा) हैं' यह भी अर्थ हो सकता है।

(२२)

मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपयपह देह। (समस्या)
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह॥ (पूर्ति)

मरकत वर्ण के (साँवरे), पिया के, उर पर, प्रिया, चंपक (की-सी) प्रभा (वाले) देह की, कसौटी पर, दीनी, सोहती है, नाईं, सुवर्ण की, रेखा। हेमचन्द्र के व्याकरण में इससे बहुत मिलती हुई एक दूसरी कविता है उसका व्याख्यान आगे देखो। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि यह किस अवस्था का वर्णन है? सहइ, देखो ऊपर (१०) (४१)।

(२३)

चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु। (समस्या)
सासानलिण झलक्कियउ वाहसलिलसंसित्तु॥ (पूर्ति)

चूड़ा, चूर्ण (चूरा-चूरा), हो जायगा, हे मुग्धे! कपोल पर, रक्खा हुआ, श्वास (की) अनल (अग्नि) से, झलकाया, बाष्प सलिल से सींचा (हुआ)। पहले तो जलते साँस चूड़े को तपा देंगे फिर उस पर आँसू पड़ेंगे, क्या वह चूरा-चूरा न हो जायगा? मुद्धि कवोलि—को समास भी मान सकते हैं, मुग्धा के कपोल पर। चूड़उ—चूडो, संभवतः दाँत का। चुन्नी होइसइ—अभूततद्भाव का इ पहचान लो। मुद्धि—देखो प्रबन्ध० 'मुंधि' (दू० ८)। झलक्कियउ—झल= ज्वाला, देखो प्रबन्ध० (दू० ६) 'झाली'। यह हेमचन्द्र में भी है।

(२४)

हउं तुह तुट्ठउ निच्छइण मग्गि मणिच्छिउ अज्जु ।
तो गोवालिण वज्जरिउ पहु मह वियरहि रज्जु ॥

मैं, तेरे (या तुझपर), तूठा हूं, निश्चय से, मांग, मन इच्छित, आज (देवता के ऐसा कहने पर) तब, गोपाल ने, कहा, प्रभु ! मुझे, दे, राज । वज्जरिउ— देसी, उचरा, कहा । वियरहि—वितर [+ हिं] सं० संभव है यह सोमप्रभ की ही रचना हो, किन्तु अधिक संभव है कि यह कहानी का संग्रहश्लोक हो ।

(२५)

एक कोहल नामक कबाड़ी था जो काठ की कावड़ कंधे पर लिए-लिए फिरता था । उसकी सिंहला नामक स्त्री थी । उसने पति से कहा कि देवाधिदेव युगादिदेव की पूजा करो जिससे जन्मांतर में द्रारिद्र्य दुःख न पावें । पति ने कहा— "तू धर्म-गहली (पागल) हुई है, पर-सेवक मैं क्या कर सकता हूं ?" तब स्त्री ने नदी जल और फूल से पूजा की । उसी दिन वह विषूचिका से मर गई और जन्मांतर में राजकन्या और राजपत्नी हुई । अपने नए पति के साथ कभी उसी दिन मन्दिर में आई तो उसी पूर्व पति दरिद्र कबाड़िये को वहां देखकर मूर्छित हो गई । उसी समय जातिस्मर होकर उसने यह दोहा पढ़ा । कबाड़ी ने स्वीकार करके जन्मांतर कथा की पुष्टि की—

अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न वूहा हत्थ ।
अव्वो तह कव्वाडियह अज्ज विसज्जिय वत्थ ॥

अटवी (जंगल) की, पत्ती, नदी का, जल (सुलभ था) तो, भी, (तैंने) न हिलाए, हाय, हाय ! उसके, कबाड़िये के, आज, विसर्जित हैं, वस्त्र (तन पर कपड़ा भी नहीं, और मैं रानी हो गई) । वूहा—व्यूहित किए । अव्वो—आश्चर्य और खेद में ।

(२६)

जे परदार-परम्मुहा ते वुच्चहिं नरसीह ।
जे परिरंभहिं पररमणि ताहं फुसिज्जइ लीह ॥

जो, परदारा (से) पराङ्मुख (हैं,), वे, कहे जाते हैं, नरसिंह, जो, आलिंगन करते हैं, पररमणी (को), उनकी, पुंछ जाती है, रेखा (सज्जनों की पंक्ति से) ।

वुच्चहि—सं० उच्यंते। फुसिज्जइ—पोंछ दी जाती है, मिटाई जाती है, संस्कृत में पोंछने के लिए उत्+पुंस् धातु कश्मीरी कवियों ने प्रयोग किया है। लीह-रेह, लीक।

(२७)

एक बहू पशुपक्षियों की भाषा जानती थी। आधी रात को शृगाल को यह कहता सुनकर कि नदी का मुर्दा मुझे दे दे और उसके गहने ले ले, नदी पर वैसा करने गई। लौटती बार श्वसुर ने देख लिया। जाना कि यह अ-सती है। पीहर पहुंचाने ले चला। मार्ग में करीर के पेड़ के पास से कौआ कहने लगा कि इस पेड़ के नीचे दस लाख की निधि है, निकाल ले और मुझे दही-सत्तू खिला। अपनी विद्या से दुःख पाई हुई कहती है—

एक्के दुन्नय जे कया तेंहि नीहरिय घरस्स।
बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउ पियरस्स॥

एक, दुर्नय, जो, किया, उससे, निसरी (निकली) घर, से, दूसरा, दुर्नय, यदि, करूं, तो, न, मिलूं (कभी भी), पियारे से। घरस्स, पियरस्स—संस्कृत-षष्ठी 'स्स' से हिन्दी-पंचमी और तृतीया दोनों का काम सरा है। पियरस्स, प्रिय से तो हिन्दी पिय या पिया बना है—और प्रियकर, पियर, से पियारा, प्यारा।

(२८)

रुक्मिणी-हरण के समय कण्ह (कान्ह, कृष्ण) रुक्मिणी से कहता है—

अम्हे थोडा रिउ बहुय इउ कायर चिंतंति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति॥

हेमचन्द्र में भी है। हम, थोड़े (हैं), रिपु, बहुत (हैं), यों, कायर चींतते हैं, भोली !, देख, गगन तल में, कै (कितने), उदोत (प्रकाश), करते हैं ? बहुत से तारे या एक चन्द्र ? अम्हे—राजस्थानी—म्हे। मुद्धि—मुग्धे ? (देखो २३)। निहालहि—आज्ञा, उपनिषदों का निभालयति। उज्जोउ—उद्योत।

(२९)

सो जि वियक्खणु अक्खियइ छज्जइ सोज्जि छइल्लु।
उप्पह पट्ठिओ पहि ठवइ चितु जु नेह-गहिल्लु॥

वह, जी, विचक्षण, कहा जाता है, छाजता है (शोभित होता है), वही जी, छैल, उत्पथ-प्रस्थित (कुमार्ग पर चले हुए) को, पथ पर, टिकाता, है, चित्त को, जो नेह-गहले (प्रेम से मतवाले) को। आक्खियइ—आखा जाय, आखना = आ + ख्या, पंजाबी-आखना = कहना। छज्जइ—छाजै। सोज्जि—सोउ + जि, वही, जी (पादपूरण)। छइल्लु—संस्कृत छेक = विदग्ध, चतुर, प्राकृत कविता में छइल्ल का अर्थ चतुर है, पंजाबी-छैल = अच्छा। इस छइल तथा बनावट के प्रेमी छैला (छविल, छवीला) का भेद तुलसीदास ने दिखाया है, 'छरे छवीले छैल सब'। ठवइ-थापै, स्थापयति (सं०)। गहिल्लु (सं०) गहिल, आग्रही, इससे गहला या घेला = हठी या पागल।

(३०)

रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि सम्माणु।
सउणिहि मुच्चहि फलरहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥

रिद्धिविहीन (का), मनुष्य (का), न, करता है, कोई भी, संमान, पक्षियों से, छोड़ा जाता है, फल रहित, तरुवर यहां, प्रमाण (यह है) ॥ रिद्धि = ऋद्धि (सं०)। विहूण—विहीन, डिंगल कविता में आता है, निष्ठा के रूप में ई और उ की बदल के लिए मिलाओ जीर्ण = जूर्ण = जूना। सउणि = शकुनि (सं०)। इत्थु—प्राकृत एत्थ, सं० अत्र, पंजाबी-इत्थुं ॥

(३१)

जइवि हु सूरु सुरूवु विअक्खणु।
तहयि न सेवइ लच्छि पइक्खणु ॥
पुरिस-गुणागुण-मुणण-परम्मुह।
महिलह बुद्धि पयंपहिं जं वुह ॥

यद्यपि, हो, शूर, सुरूप, विचक्षण, तथापि, नहीं, सेती है, लक्ष्मी (उस मनुष्य को) प्रति। क्षण (क्योंकि) पुरुषों (के) गुण अगुण (के) विचार (से) पराङ्मुख, महिलाओं की, बुद्धि (होती है), कहते हैं, जो, बुध ॥ मुणण—विचारना। पयंपहिं—सं० प्र + जल्प। जं—जिसे, वा ज्यों (यथा)।

(३२)

जेण कुलक्कमु लंघियइ अवजसु पसरइ लोइ।
तं गुरु-रिद्धि-निबंधणु वि न कुणइ पंडिओ कोइ ॥

जिससे, कुलक्रम, उलांघा जाता है (और) अपजस, पसरता है, लोक में, उस (को), बहुत संपत्ति उपजानेवाले (काम) को, भी, न, करता है, पंडित कोई। गुरु-रिद्धि-निबंधणु = गुरु + ऋद्धि + निबंधन (ला बांधनेवाला)

(३३)

जं मगु मूढह माणुसह वंछइ दुल्लह वत्थु।
तं ससि-मंडल-गहण किंहि गयणि पसारइ हत्थु॥

जो, मन, मूढ़ (का), मनुष्य का, वांछा करता है, दुर्लभ, वस्तु को, तो शशि-मंडल-ग्रहण (के लिये) क्या, गगन में, पसारता है, हाथ।

(३४)

रावण जायउ जंहि दियहिं दह मुह एक्क सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउं खीरु॥

शंखपुर के राजा पुरंदर के यहां एक सरस्वती कुटुंब आया, राजा ने इस दोहे का चौथा चरण 'पुत्र माता' से समस्या की तरह पूछा, उसने पूर्ति की। 'प्रबन्धचिंतामणि' में सरस्वती कुटुंब भोज के यहां आया है वहां भी यह समस्या गृहपत्नी ने यों ही पूर्ण की है। इसका अर्थ यही है कि दोहा पुराना है, कथालेखक इसकी रचना किसी भी राजा की सभा पर चिपका देते हैं। 'प्रबन्धचिंतामणि' वाले लेख में इसका और अगले दोहे का अर्थ और पाठांतर देखो (पत्रिका, भाग २ : पृ० ४५, सं० १२)।

रावण जाया (जन्मा), जिस (में), दिन में, दस-मुख, एक-शरीर। चिंतित। किया, तभी, जननी (को), किस (को) पियाऊं, क्षीर (=दूध)? चिंताविय चिंतापिता (!) सं० 'प' 'व' के लिये देखो—ना० प्र० पत्रिका : भाग १, पृ० ५०७।

(३५)

पुत्र की घरवाली ने यह समस्यापूर्ति की—

इउ अच्चब्भुउ दिट्ठु मइं 'कंठि व लुल्लइं काउ'।
कीइवि विरह-करालियहे उड्डावियउ वराउ॥

यह दोहा हेमचन्द्र में भी है। यह, अत्यद्भुत, दीठा (देखा) मैं (ने), कंठ में, लगा जाय, किसके, किसी भी, विरहकरालिता ने, उडा दिया, वराक (बेचारा) (पति)॥ इउ = यो।

(३६)

सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कु वि जिणिहइ सत्तु ।
कुमरि पियंकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु ॥

गजपुर के राजा खेमंकर के सुतारा देवी से एक कन्या उत्पन्न हुई । राजा रानी के मरने पर मंत्रियों ने उसे पियंकर नाम देकर पुरुष कहकर गद्दी पर बैठाया । फिर कुलदेवी अच्युता की पूजा करके पूछा कि इसका पति किसे करें । देवी ने उत्तर दिया—सिंह को, दमन करके, जो, वाहैगा (सवारी करेगा), एक (अकेला), भी, जीतेगा, शत्रुओं को, कुमारी, प्रियंकरी देकर, उसे, अर्पण करो, राज, समस्त । ऐसा ही एक मिल गया और कहानी कहानियों की तरह चली ।

—: ० :—

दूसरा भाग

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

(१) 'कुमारपालप्रतिबोध', गायकवाड़ संस्कृत सिरीज पृ० ७७, एक छंद ॥

(३७)

कुलु कलंकिउ मलिउ माहप्पु
मलिणीकय सयणमुह
दिन्नु हत्थु नियगुण कडप्पह
जगु ज्झंपियो अवजसिण
वसण विहिय सन्निहिय अप्पह ।
दूरह वारिउ भद्दु तिणि ढक्किउ सुगइदुवारु ।
उभयभवुब्भडदुक्खकरु कामिउ जिण परदारु ॥

यह सप्तपद छंद उस समय की रचना में बहुत मिलता है । अंत के दो चरण छप्पय के हैं । परदार गमन की निन्दा में कवि कहता है—कुल, कलंकित (किया), मल दिया, माहात्म्य, मलिन किया, सज्जनों का मुँह, दीना, हाथ, निज गुण समूह को, (=धक्का देकर निकाल दिया), जग, झंप (गल+) हत्था (ढक दिया), अपजस से, व्यसन, विहित (किए) सन्निहित, अपने, दूर से, निवारण किया, भद्र, उसने, ढँक दिया, सुगति का द्वार, दोनों भव (यह लोक और परलोक) में उद्भट दुःखों की करने वाली, कामित की (=चाही), जिसने, परदारा । सयण—सजन, मित्र हिं०—साजन । दिन्नु हत्थु—हाथ दिया, गलहस्त दिया, अर्धचंद्र दिया, निकाल बाहर किया । देखो—ऊपर (१६) । कडप्प=? समूह, झंप=घूमना,

ढकना, या जीतना। इसी से मिलता हुआ एक श्लोक सोमप्रभ की 'सूक्तिमुक्तावली' (सिंदूरप्रकरस्तोत्र) में हैं—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चकं
चारित्र्यस्य जलांजलिर्गुणगणारामस्य दावानलः॥
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिंतामणि॥[१]

(२) पृष्ठ ३११, १४ छंद, बारह भावनाएँ, नमूने (३८-४०,)।

पिइ[१] माय भाय सुकलत्तु[२] पुत्तु
पहु[३] परियणु[४] मित्तु सणेहजुत्तु[५]
पहवंतु[६] न रक्खइ[७] कोवि मरणु
विणु धम्महं[८] अन्नु[९] नअत्थि[१०] सरणु॥
राया[११] विरंकु सयणो[१२] वि सत्तु[१३]।
जणओ[१४] वि तणउ[१५] जणणि वि कलत्तु।
इह होइ नड[१६] व्व कुकम्मवंतु
संसाररंगि[१७] बहुरुवु[१८] जंतु॥
एक्कल्लउ[१९] पावइ जीवु जम्मु
एक्कल्लउ मरइ विढत[२०] कम्म।
एक्कल्लउ परभवि[२१] सहइ दुक्खु
एक्कल्लउ धम्मिण[२२] लहइ मुक्खु[२३]॥[२]

(३) पृ० ३५०-५१, वसंतवर्णन, छंद ५—नमूना—

(४१)

जहिं रत्त सहहिं कुसुमिय पलास नं फुट्टए पहियगण हिययमास।
सहयारिहि रेहहि मंजरीओ नं मयण जलण जालावलीओ॥

१. काव्यमाला गुच्छक ७, पृ० ३७

२. स्पष्ट है। कठिन शब्दों पर टिप्पणी दी है—

१. पिता। २. सुकलत्र (स्त्री) ३. प्रभु ४. परिजन ५. स्नेहयुक्त ६. समर्थ होता हुआ (प्रभवन्) ७. रक्षा करता है बचाता है, ८. धर्म के ९. अन्य १०. है। ११. राजा १२. साजन १३. शत्रु १४. जनक (पिता), १५. तनय (पुत्र), १६. नट; इव, १७. रंग पर, नाटक भूमि पर १८. बहुरूप, १९. अकेला २०. अर्जित, २१. परलोक में २२. धर्म से, २३. मोक्ष।

जहाँ, रक्त, सोहते हैं, कुसुमित, पलाश, मानो, फूटे हैं, पथिक गण (के) हृदय के मांस, सहकारों (आमों) में, विराजती हैं, मंजरियां, मानो, मदन (रूपी) ज्वलन (अग्नि) की ज्वालावलियां ।। सहहिं-देखो (१०) (२२) ।

(४) पृ० १७८, ग्रीष्मवर्णन, चार छंद, नमूना—

(४२)

जहिं दुट्ठ नरिंदु व सयलु भुवणु परिपीडइ तिव्वकरेहिं तवणु ।
जहिं दूहव महिलय जण समग्ग संतावइ सूय सरीर लग्गु ।।

जहां, दुष्ट, नरेंद्र, इव, सकल, भुवन को, परिपीडित करता है, तीव्र करों से, तपन (=सूर्य्य), जहां, दुर्भगा (वियोगिनी) महिला, जन, समग्र (को), सतावै, सूर्य (?), शरीर में, लगा । कर—किरण, राज देय ।

(५) पृष्ठ ४२३ से ४३७, जीवमनः करण संलाप, छंद १-२, ४-२७, २९-३०, ४७, ५१-५२, ५४-५६, ६१, ६४-६५, ६७-१०४ 'बाकी प्राकृत हैं' । कवि सिद्धपाल ने जीव, मन और इंद्रियों की बातचीत राजा कुमारपाल को सुनाई है । देहनामक पट्टण (नगर) में आत्मा राजा, बुद्धि महादेवी, मन, महामंत्री और फरिसण (स्पर्श), रसण (रस), घाण (घ्राण) लोयण (लोचन) सवण (श्रवण) ये पाँच प्रधान—यों कथा चलती है । नमूने—

(४३)

जं तिलुत्तम-रूव-बक्खित्तु
खण बंभु चउमुहु हुउ
धरइ गोरि अद्धंगि संकरु
कंदप्पपरवसु चलण
ज पियाइ पणमइ पुरंदरु
जं केसवु नच्चावियउ गोठंगणि गोवीहिं ।
इंदियवग्गह विप्फुरिओ तं वन्नियह कईहिं ।।६१।।

जो, तिलोत्तमारूप (से) व्याक्षिप्त (व्याकुल), क्षण में, ब्रह्मा, चतुर्मुख, हुआ, धरै, गोरी को, अर्द्धाङ्ग में, शंकर; कंदर्प (के) परवश, चरण, जो, प्रिया के, प्रणाम करता है, पुरंदर; जो, केशव, नचाया गया, गोष्ठ आँगन में, गोपियों से, इंद्रिय-वर्ग का, विस्फुरित, का वर्णन किया जाता है, कवियों से ।

(४४)

बालत्तणु असुइ-विलित्ति-देहु
दुहकर दंसणुग्गम कन्नवेहु।
चिंतंतह सव्वविवेय रहिउ
महु हियउं होइ उक्कंपसहिउ ॥८५॥

बालकपन, अशुचि (पदार्थों से) विलिप्त देह, दुःखकारक, दशनों (दाँतों) का उद्गम (निकलना), कर्णवेध, (इनको) सोचते हुए का, सर्वविवेक-रहित, मेरा, हृदय, होता है उत्कंपसहित।

(४५)

ईसा-विसाय-भय-मोह-माय।
भय-कोह-लोह-वम्मह-पमाय॥
महु सग्गगयस्स वि पिट्ठि लग्ग।
ववहरय जेव रिणिअह समग्ग ॥९७॥

ईर्षा, विषाद्, भय, मोह, माया, मद, क्रोध, लोभ, मन्मथ, प्रमाद (ये सब) मेरे स्वर्गगत के, भी, पीठ पर, लगे, वौहरे (लेनदार) जैसे ऋणी (कर्जदार) के, सब।

(६) पृ० ४४३-४६१ स्थूलिभद्र कथ छंद १-४, १-१४, २३-२५, ३१-३२, ३४-३८, ४०-४५, ४६-६२, ६४-६६, ६८-८२, ८४, ९४, ९७-९८, १००, १०१-१०५ (बाकी प्राकृत हैं) पाडलिपुत्त के राजा नवम् नंद के मंत्री सगडाल (शकटार) ने किस प्रकार अपनी श्रुतधर कन्याओं की सहायता से वररुचि की नई कविताएं सुनाकर नंद से धन पाना बंद किया, वररुचि का गंगा से दीनार पाने का चेटक, नंद का सगडाल पर क्रोध, सगडाल के पुत्र सिरिय का पिता को मारना, सिरिय के बड़े भाई स्थूलिभद्र का कोसा नामक वेश्या से प्रेम, कोसा के उपदेश से श्रमण का वहां भी संयम से रहना, आदि वर्णन बहुत ही अच्छा है। नमूने—

(४६)

जसु वयण विणिज्जिउ न ससंकु अप्पाण निसिहि दंसइ ससंकु।
जसु नयणकंति जियलज्जभरिण वणवासु पवन्नय नाइ हरिण ॥८॥

जिसके बदन से विनिर्जित, मानो, शशांक, अपने को, निशा में, दिखाता है, सशंक, जिसकी नयन कांति (से) जित, लज्जाभर से, वनवास (को) प्रपन्न हुए, मानो, हरिण । दंसइ—देखो (१)

(४७)

नंदु जंपइ परकव्व
कह एस वररुइ सुकइ
कहइ मंति मह धूय सत्त वि
एयाइं कव्वाइं
पहु पढइं बालाउ हुंत वि
तत्थ तुम्ह नरनाइ जइ मणि वट्टइ संदेहु ।
ताउ पढंतिय कोउगेण ता तुम्हें निसुणेहु ।।३२।।

नंद, कहता है, "पढ़ै, परकाव्य, कैसे, यह वररुचि, सुकवि ?" कहै, मंत्री, "मेरी, बेटियाँ, सातों, ही, इन्हीं (को), काव्यों को, प्रभु ! पढ़ै, वाला होती हुई भी; वहाँ तुम्हें, नरनाथ, यदि, मन में, वर्तता है (है) संदेह, वे, पढ़ती हुई, कौतुक से, उन्हें, तुम, सुनो । कन्याओं में पहली एक बार सुनकर, दूसरी दो बार, यों सातवीं सात बार सुनकर श्लोक कंठस्थ कर लेती थीं । वररुचि ने नया श्लोक पढ़ा कि पहली ने पढ़ दिया । यों दो बार सुनकर दूसरी ने इत्यादि । फिर नंद ने कुपित होकर वररुचि को निकाल दिया ।

(४८)

खिविवि संझिहिं सलिल दीणार
गोसग्गि सुरसरि थुणइ
हणइ जंतसंचारु पाइण
उच्छिलिवि ते वि वररुइहिं
चडहिं हत्थि तेण घाइण
लोउ पइंपइ बररुइह गंग पसन्निय देइ ।
सुणिवि नंदु वुत्तंतु इहु सयडालस्स कहेइ ।।३५।।

फेंककर संध्या को, जल में, दीनार, सवेरे, (वररुचि) गंगा को (=की) स्तुति करता है (और) हनता है (दबाता है) यंत्र संचार को, पांव से; उछलकर, वे, भी, वररुचि के, चढ़ते हैं, हाथ में, उससे, घात से; लोग, कहते हैं (कि) वररुचि को, गंगा प्रसन्न होकर, देती है; जानकर, नंद, वृतांत, यह, शकटाल को, कहता है । खिविवि—सं० क्षिप् । खिविवि, उच्छिलिवि, सुणिवि पूर्वकालिक । गोसग्ग

—सं० गोसर्ग सवेरा, **थुणइ-स्तु** (स्तुति करना) हु (होम करना) धातु 'नु' वाले अर्थात् पांचवें गण के भी माने जाने चाहिएं प्राकृत **थुणइ** = स्तुति करता है, पुराणों तथा पद्धतियों में हुनेत् और हुनुयात् आता है ('रामचरितमानस' में, हुने अनल मँह वार बहु), कृ का 'कृणोति' वेद में तथा 'कुणइं' प्राकृत में। **पइंपइ**—प्रजल्प (सं०), **पसन्निय**—प्रसन्निता (!) सं०। फिर शकटार ने सिखाए आदमी भेजकर वररुचि को सायं-काल नदी में दीनार रखते पा लिया; स्वयं निकलवा लिए, सवेरे नंद के सामने वररुचि ने बहुत स्तुति की और यंत्र चलाया, पर कुछ न मिला।

(४९)

कोसा ने सोचा कि श्रमण मेरे अनुराग में इतना पगा है इसे सुमार्ग में लगाऊँ। कहा कि मुझे '**धम्मलाभु**' से क्या, '**दम्मु लाभु**' (दाम-लाभ) चाहिए। उसने पूछा 'कितना ?' कोसा ने लाख मांगा।

तीइ वुत्तइ सो सनिव्वेउ
मा खिज्जसि किंचि तुहं
झत्ति वच्च नेवाल मंडलु
तहं देइ सावउ निवइ
लक्खु मुल्लु साहुस्स कंबलु

सो तहिं पत्तउ दिट्ठु निवु दिन्नइ कंबल तेण।
तं गोविव दंडय तलइ तो वाहुडिउ जवेण ॥८९॥

उस (कोसा) से कहा गया, वह सनिर्वेद, मत, दुखी हो, कुछ, तू, झट, जा, नेपालमंडल, वहाँ, देवे, श्रावक, नृपति, लाख (के) मोल का, साधु को, कंबल, वह, वहाँ, प्राप्त हुआ, देखा, नृप; दीनो, कंबल, उसने; उसे गुप्त करके, दंड के तले में, वह, लौटा, वेग से। वुत्त-सं० उक्त, वच्च—सं० व्रज **वाहुडिउ**-सं० व्याघुटित (पत्रिका, भाग २, पृ० २७)। मार्ग में चोर मिले जिन्हें लाख दीनारों के मिलने के शकुन हुए थे। श्रमण जान उन्होंने छोड़ दिया, किन्तु फिर सगुन हुए तो अभय देकर पूछा कि कहीं तैंने लाख दीनार छिपा रक्खे हैं ? श्रमण ने कंबल दिखाया जो संभवतः पोली लकड़ी में समेटकर छिपाया था। दुशाले की इतनी बारीकी से ही लाख का मोल होगा।

(५०)

तो मुक्कउ गउ दित्तु तिण कंवलु कोसहि हत्थ ।
सी पेच्छंतह तीइ तसु खित्तु खालि अपसत्थि ।।६१।।

तब, मुक्त किया (चोरों ने), (वह) गया; दिया, उसने, कंबल, कोसा के, हाथ; वह देखते, हुए, उसने, उसके, फेंका, खाला में, अप्रशस्त में । **तिण**-पंजाबी-तिन्नी, **पेच्छत**-सं० प्रेक्षत्, डिं० पेखन्त, **खाला**=खेली, गंदे पानी की मोरी ।

(५१)

समणु दुम्मणु भराइ तो एउ
बहुमुल्लु कंबलरयणु
कीस कोसि पइं क्खालि खित्तउ
देसंतरि परिभमिवि
मइं महंत दुक्खेख पत्तउं
कोस भणइ महापुरिस तुहुं कंबलु सोएसि ।
जं दुल्लहु संजम-खणु हारिस तं न मुणेसि ।।६२।।

श्रमण, दुर्मना (होकर), कहता है, तब, "यह, बहुमूल्य, कंवल रत्न, कैसे, कोसा ! तैंने, खाली में, फेंका, देशांतर में, परिभ्रमण कर, मैं (ने) बहुत दुःख से, प्राप्त किया" कोसा, कहती है, "महापुरुष ! तू, कंबल को, सोचता है, जो दुर्लभ, संयम (का) क्षण, हारा (खोया) है, उसे नहीं जानता ।।" **खित्तउ, पत्तउ**=खित्तो, पत्तो; क्षिप्त, प्राप्त । **मुण**=जानना, देखो (३५) ।

(७) पृ० ४७१—७२, आठ छप्पय, मागधों के गाए, जिन्हें सुनकर प्रातः-काल कुमारपाल जागता था । इनमें से एक नमूने की तरह यहाँ देकर उसका वर्तमान हिन्दी के अनुसार अक्षरांतर कर दिया जाता है । यह पहले कहा जा चुका है कि पुरानी कविता से सोमप्रभ की अपनी कविता क्लिष्ट है तथा नमूनों से पाठकों ने भी यह जान लिया होगा । यह कविता डिंगल कविता के ढंग की है और पृथ्वीराजरायसे के कल्पित समय से कुछ वर्ष पहले की है । इसका वर्तमान हिन्दी में परिवर्तन चाहे कुछ कठिन दीखे पर खड़ीबोली के प्रसिद्ध वर्तमान कवियों की रचना से, जिसमें कभी-कभी 'था', 'है' के सिवाय कोई पद हिन्दी का नहीं मिलता, सभी संस्कृत के तत्सम होते हैं, अधिक कठिन नहीं है—

(५२)

गयणमग्गसंलग्गलोलकल्लोलपरंपरु
निवकरुणुक्कडनक्कवंकमणदुहंकरु
उच्छलंत गुरुपुच्छमच्छरिंछोलिनिरंतरु
विलसमाणजालाजडालवडवानलदुत्तरु ॥
आवत्तसयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्व ते नित्थरहि ।
नीसेसवसनगणनिठ्ठवगु पासनाहु जे संभरहि ॥

अक्षरांतर—

गमन-मार्ग संलग्न लोल कल्लोल-परंपर ।
निठकरुणोत्कट-नक्र-चक्र-चंक्रमण-दुःखं (!) कर ॥
उछलत गुरु पुच्छ-मत्स्य रिंछोलि-निरंतर ।
विलसमान-ज्वाला जटाल-वडबादल दुस्तर ।
आवर्त-शताकुल जलधि लघु गोपद जिमि ते निस्तरैं ।
निःशेष-व्यसन-गण-निःस्थापन पार्श्वनाथ जो संभरैं ॥

रिंछोलि—पंक्ति (देशी) । **निट्ठवन**—बितानेवाला; समाप्त करने वाला, **नीठ जाना**—बीतना (मारवाड़ी) । **संभरहिं**—संभरना, सांभरना, संभारना, संभालना (मराठी), **सुम्भालना** (पंजाबी)—याद करना, संस्मरण करना ।

—: ० :—

(१) माइल्ल धवल के पहले का दोहा ग्रंथ ।

दिगंबर जैनों के यहाँ एक ग्रन्थ 'बृहत् नयचक्र' के नाम से प्रसिद्ध है । उसके कर्ता श्रीदेवसेन मुनि कहे जाते हैं, किन्तु जैन इतिहास और साहित्य के विद्वान् शोधक नाथूराम जी प्रेमी ने सिद्ध किया है[1] कि इसका नाम 'दव्वसहावपयास' अर्थात् 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' है और इसका वास्तव कर्ता माइल्ल धवल है । माइल्ल धवल भी इसका कर्ता नहीं है, गाथा कर्ता है । वह स्वयं लिखता है कि पहले 'दव्वसहावपयास' दोहाबंध में देखा जाता है । उसे सुनकर किसी शुभंकर महाशय ने हँसकर कहा कि यहां अर्थ सोहता नहीं, इसे गाथाबंध से कह दो तब माइल्ल धवल ने उसे गाथाबंध से रच दिया ।

१. जैनहितैषी, भाग १४, अंक १०-११, जुलाई-अगस्त १९२०, पृ० ३०५-३१० ।

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेन आलि जं दिट्ठं।
तं गाहाबंधेण च रइयं माइल्लधवलेण॥
सुणिऊण दोहरत्थंसिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेन तं भणह॥

यह 'दव्वसहावपयास' गाथा में अर्थात् प्राकृत में है। इसमें दो गाथाओं में णयचक्क अर्थात् 'नयचक्र' नामक ग्रंथ को और तीसरी में नयचक्र के कर्ता देवसेनदेव गुरु को नमस्कार लिखा है। देवसेन के लिए कवि ने यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया है और एक दूसरी गाथा में लिखा है कि देवसेनयोगी के चरणों के प्रसाद से यह (मुझे) प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि नयचक्र (जो लघुनयचक्र कहलाता है) के कर्ता देवसेनसूरि से माइल्ल धवल का निकटस्थ गुरु-शिष्य संबंध था, परंपरागत नहीं। देवसेनसूरि ने 'भावसंग्रह' ग्रंथ में अपने को श्रीविमलसेन गणधर का शिष्य कहा है और 'दर्शनसार' के अन्त में लिखा है कि धारानगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मंदिर में सं० ९९० में माघ शुदि दशमी को यह ग्रंथ रचा। यह संवत् विक्रम संवत् ही है क्योंकि धारा "(मालवा प्रांत) में यही प्रचलित था और दर्शनसार की अन्य गाथाओं में जहां-जहां संवत् का उल्लेख दिया है वहां-वहां विक्कमराअस्स मरणपत्तस्स" पद देकर विक्रम संवत् ही प्रकट किया गया है।[1] यही और इससे २०।३० वर्ष आगे तक ही माइल्ल धवल का काल है।

माइल्ल धवल के इस कथन पर ध्यान दीजिए कि (१) दव्वसहावपयास 'दोहयवंध' में 'दिट्ठ' था, (२) 'दोहरत्थ' को सुनकर हँसकर शुभंकर ने कहा कि इसमें अर्थ नहीं सोहता, इसे गाहाबंध में कहो (३) माइल्ल धवल ने इसे गाहाबंध में रच दिया। 'प्रबंधचिंतामणि' वाले लेख के उपक्रम में दिखाया गया है कि 'गाथा' प्राकृत का उपलक्षण है और दोहा अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का, पुरानी हिंदी 'दोहाविद्या' कहलाती थी, और छंद चाहे दोहा हो चाहे सोरठा, 'दोहाविद्या' में आ जाता था, इसलिये दोहयबंध = पुरानी हिंदी और गाहाबंध = प्राकृत। यदि दोहयबंध में भी वही प्राकृत भाषा होती, केवल छंद का भेद होता तो शुभंकर को हंसने, नाक चढ़ाने और यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि यहाँ अर्थ नहीं सोहता, गाथाबंध में भण दो। **दोहरत्थ** को सुनकर उसने **शीघ्र** यह कहा। इसका आशय यह है कि शुभंकर को यह बात खटकी कि धर्म-विषयक ग्रंथ इस गंवारी बोली में क्यों है, क्यों नहीं यह अपने और धर्मग्रंथों की पवित्र

1. नाथूराम प्रेमी, वही, पृ० ३०९।

भाषा प्राकृत में हो । इसलिए शुभंकर के कहने से माइल्ल धवल ने पुरानी हिंदी के काव्य का प्राकृतानुवाद कर दिया । **विक्रम की दशम शताब्दी के अंत में दोहाबद्ध पुरानी हिंदी के काव्य के होने का यह प्रमाण है ।** माइल्ल धवल ने अपने मूलग्रंथ का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख तो किया, उन पंडितों की तरह नहीं जिन्हें तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' के-से 'भाषानिबंधमतिमंजुल' का सहन न हुआ कि 'भाखा' में अलौकिक चमत्कारपूर्ण ग्रंथ कहां से हो जाय, जिन्होंने कल्पित 'शंभु' कवि का कल्पित संस्कृत 'रामचरितमानस' बनाकर भद्दा जाल रचा और यह कहने का साहस किया कि तुलसीदास जी ने इसकी 'भाखा' की है ।[1]

(२) खड़ी बोली : म्लेच्छभाषा

एक समय मैंने हिंदी के एक वैयाकरण मित्र से कहा था कि खड़ी बोली उर्दू पर से बनाई गई है, अर्थात् हिंदी मुसलमानी भाषा है । यह हँसी में कहा था किंतु मेरे मित्र को बुरा लगा । मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी वैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है, अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की वोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है । इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने-अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रंगे थे, उसकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी । विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया, किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था । उनकी भाषा सर्वसाधारण या राष्ट्रभाषा हो चली, हिंदू अपने-अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके । अब तक यही बात है । हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखापढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो, मुसलमानों में बहुतों की घर की वोली खड़ी बोली है । वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की 'विभाषा' है, किंतु 'हिंदुई' भाषा बनाने का काम

१ कहते हैं कि यह काव्य, जो वास्तव में 'रामचरितमानस' से अनुवाद किया गया है, इटावे में मिला । पं० बलभद्रप्रसाद ने इसे छपवाया भी था । देखो : ग्रियर्सन, ज० रा० ए० सो०, जनवरी, १९१३; सीताराम, वहीं, अप्रैल, १९१४

मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई, फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी-गद्य की भाषा लल्लूलाल के समय से आरंभ होती है, उर्दू-गद्य उससे पुराना है, खड़ी बोली कविता हिंदी में नई है। अभी-अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था, उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य —खड़े रूप में—मुसलमानी हैं हिंदू कवियों का यह सम्प्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलवाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।

(१) ना० प्र० पत्रिका भाग १, पृष्ठ १७८-९ में राव अमरसिंह के सलावत खाँ के मारने के दो कवित उद्धृत हैं। वहां इस विषय की टिप्पणी भी दी है। वहां शाहजहां की उक्ति का कवित तो इस प्रकार की भाषा में है कि—

> वजन मांह भारी थी कि रेख में सुधारी थी
> हाथ से उतारी थी कि सांचे हू में ढारी थी।
> सेख जी के दई मांहि गई-सी जमाई मर्द
> पूरे हाथ साँधी थी कि जोधपुर सँवारी थी॥
> हाथ में हटक गई गुट्टी-सी गटक गई
> फेंफड़ा फटक गई आंकी बांकी तारी थी।
> 'शाहजहाँ' कहे यार सभा मांहि बार-बार
> अमर की कमर में कहां को कटारी थी॥

कवि की अपनी उक्ति ऐसी है—

> साही को सलाम करि मार्यो थो सलावत खाँ
> दिखा गयो मरोर सूर वीर धीर आगरो।
> भीर उमरावन की कचेड़ी धुजाय सारी
> खेलत शिकार जैसे मृगन में बागरो॥
> कहे 'रामदीन' गजसिंह के अमरसिंह
> राखी रजपूती मजबूती नव नागरो।
> पाव सेर लोह से हलाई सारी पातसाही
> होती समशेर तो छिनाय लेतो आगरो॥

(२) भूषण की भाषा से सब परिचित हैं। वह हिंदू कविता की टकसाली भाषा, पड़ी भाषा, ब्रजभाषा का प्रयोग करता है। किंतु 'शिवाबावनी' में जहां 'मुगलानियाँ मुखन की लालियाँ' के मलिन होने और बेगमों की विपद का वर्णन

है उन छंदों में कुछ छींटा मुसलमानी अर्थात् खड़ी बोली का स्वाभाविक रंग लाने के लिये दिया है। मिलाओ[1]—

(क) वाजि गजराज शिवराज सैन साजत ही०
(ख) कत्ता की कराकन चकत्ता को कटक काटि०
(ग) ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहन वारी०
(घ) उतरि पलंग ते जिन दियो ना धरा में पग०
(ङ) अंदर ते निकसी न मंदर को देख्यो द्वार०
(च) अतर गुलाब रस चोआ घनसार सब०
(छ) सोंधे के अधार किसमिस जिनको अहार०

इन छंदों में कई शब्द, विशेषतः क्रियापद, ध्यान देने योग्य है। विस्तार-भय से पूरे छंद नहीं दिए जाते क्योंकि वे प्रसिद्ध हैं। अंतिम छंद का अंतिम चरण है—

'तोरि-तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख कहें सब (यहाँ तक कवि की भाषा) कहाँ पानी मुकतो में पाती हैं' (यह पात्र की भाषा)।

एक यह कवित्त भी देखिए जिनमें 'भूषण' की उक्ति और परोक्ति का मिश्रण है—

'अफजल खां को जिन्होंने मयदान मारा
मारा बीजापुर गोलकुंडा मारा जिन आज है।
'भूषन' भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि
हबसी तुरक डारे उलटि जहाज है॥
देखत में खान रुस्तम **जिन खाक किया**
सालति सुरति आजु **सुनी जो अवाज है।**
चौंकि चौंकि चकत्ता कहत चहुघाँ ते **यारो**
लेत रहो खबर कहाँ लौं शिवराज है॥

(३) भानुचंद्र नामक जैन विद्वान अकबर के यहां थे। उन्होंने कादंबरी की टीका लिखी है। (ना० प्र० पत्रिका, भाग-१, पृ० २३६)। स्वरचित 'विवेक-विलास' तथा 'भक्तामर स्तोत्र' की टीका में उन्होंने अपना एक विशेषण 'सूर्य-सहस्रनामाध्यापकः' अर्थात् सूर्यसहस्रनाम का पढ़ाने वाला भी दिया है। यह प्रसिद्ध है कि बादशाह अकबर सूर्य की ओर मुँह करके सूर्य के एक हजार एक

१. हिंदी-साहित्य, सम्मेलन का संस्करण, पृ० १५२-१५५

नाम पढ़ा करता था।[1] यह 'सहस्रनामस्तोत्र' भानुचंद्र ने संग्रह किया और अकबर को पढ़ाया था। ऋषभदास कवि (सं० १६८५) अपने 'हीरविजयसूरि-रास' (गुजराती) में लिखता है कि—

पातशाह काशमीरें जाय भाणचंद पूंठे पणि थाय।
पूछइ पातशा ऋषि ने जोइ खुदा निजीक कोने वाली होइ।
भाणचंद बोल्या ततखेव नजीक तरणी जागतो देव।
ते समर्प्यो करि बहु सार तस नामि ऋद्धि अपार।
हुओ हुकम ते तेणीवार संभलावे नाम हजार।
आदित्य ने अरक अनेक आदिदेव माँ घणो विवेक।

जैनाचार्य प्रसिद्ध शोधक विजयधर्मसूरिजी महाराज के संग्रह में इस 'सूर्य-सहस्रनाम' की एक प्रति है जिसके अंत में लिखा है कि अकबर इसे रोज सुनते थे।[2] अस्तु। यह भानुचंद्र फिर जहाँगीर के राज्य में उसके पास आया। जहाँगीर ने उसे कहा कि जैसे बाल्यावस्था में तुम मुझे धर्मोपदेश किया करते थे[3] वैसे अब मेरे पुत्र को पढ़ाओ। इसका वर्णन कवि लिख तो पुरानी गुजराती (पड़ी) में रहा है, किंतु जहाँगीर की उक्ति उसने खड़ी बोली में दी है—

मिल्या भूपनइं भूप आनंद पाया
भलइं तुमे भलइं अहीं भाणचंद आया।
तुम पसिथिइं मोहिं सुख बहुत होवइ
सहरिआर भणवा तुम बाट जोवइ॥

पढ़ाओ अम्ह पूत कूं धर्मवात
जिउं अवल सुणता तुम्ह पासि तात।
भाणचंद कदीम तुम हो हमारे
सब ही थकी तुम्ह हो हम्महि पियारे॥[4]

(४) पूर्वोक्त कवि ऋषभदास ने 'श्रीहीरविजयसूरिरास' में श्रीहीरविजय-

१. अलबदाउनी, लो का अनुवाद, जिल्द २, पृ० ३३२।

२. अमुं श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रं प्रत्यहं प्रणमत्पृथ्वीपतिकोटीरकोटिसंघट्टित पदकमलत्रिखंडाधिपतिदिल्लीपतिपातिसाहि श्री अकब्बरसाहिजलालदीनः प्रत्यहं शृणोति सोऽपि प्रतापवान् (मुनिराज विद्याविजय रचित सूरीश्वर अने सम्राट्, पृ० १४६)।

३. भानुचंद्र को उपाध्याय पदवी बादशाह के सामने लाहौर में दी गई थी। उसने जहाँगीर और दानियाल को जैन शास्त्रों का अभ्यास कराया था (वही, पृ० १५३)।

४. ऐतिहासिक राससंग्रह, भाग ४, पृ० १०६

सुरिजी तथा अकबर की मुलाकात का वर्णन किया है जो गुजराती में है। अकबर कह रहा है कि आगरे से अजमेर तक मैंने खंभे बनवाए हैं।[1] आपने देखे होंगे, प्रत्येक पर पाँच-पाँच सौ हरिणों के सींग मैंने लगवाए हैं। इस प्रसंग को कवि यों लिखता है—

देखे हजूरे हमारे तुम्ह एक सो चउद (ह) कीए वे हम्म।
अकेके सिंह पंच से पंच पातिग करता नहिं बलबंच ॥

(५) सं० १६०२ की कार्तिक शुक्ल एकादशी को भट्ट नारायण ने पव्येक पंडित के पुत्र केदार के बनाए 'वृत्तरत्नाकर' पर टीका लिखी। उसने अपने पूर्व-पुरुषों का यह पता दिया है—भट्ट नागनाथ, (पुत्र) चांगदेव भट्ट, (पुत्र) भट्ट गोविंद रामभक्त, (पुत्र) भट्ट रामेश्वर, विश्वामित्र वंश (गोत्र) रूपी समुद्र का चंद्र, (पुत्र) ग्रंथकर्ता नारायण, काशी में। वह लिखता है कि जाति, वृत्त दोनों प्रकार का छंद केवल संस्कृत में ही नहीं, कवि की इच्छा से प्राकृत, देशभाषाओं में भी होता है। प्राकृत के कुछ उदाहरण देकर उसने भाषा के कुछ उदाहरण दिए हैं।

(क) महाराष्ट्र भाषा में उपजाति छंद का उदाहरण—

अगा मुरारी भवःदुख भारी कामादि वैरी मन हें थरारी।
मी मूढ़ देवा न करींच सेवा माझा कुठावां परितां करावा ॥

(हे मुरारी, भव दुःख भारी हैं, काम आदि बैरी हैं, इनसे मन काँपता है, हे देव, मुझ मूढ़ ने आपकी सेवा न की, मेरी दुरवस्था को दूर कर)।

(ख) गुर्जर भाषा में स्रग्विणी छंद का उदाहरण—

वित्ततें संचवूं युक्ततें भोगवूं अग्नितें होमवूं विप्रतें आपवूं।
पापतें खंडवूं कामतें दंडवूं पुण्यतें संचवूं रामतें सेववूं ॥

(वित्त का संचय करो, उसे जुगत से भोगो, अग्नि में होमो, ब्राह्मण को दो, पाप का खंडन करो, काम को दंडित करो, पुण्य संचय करो, राम को सेओ।

१. अकबर प्रतिवर्ष अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की जियारत को आता था। मार्ग में जहाँ पड़ाव थे वहाँ महल और कोस-कोस पर खंभा और कुआँ बनवाया था। (अलबदाऊनी, लो का अनुवाद, जिल्द २, पृ० १७६)। अब भी स्थान-स्थान पर कई खंभे या उनके भग्नावशेष दिखाई देते हैं। एक जयपुर से आमेर जाती सड़क पर है, पर दूसरा जयपुर से कुछ ही दूर पूर्व को रेल के किनारे दिखाई देता है। इन पर सींग लगाने की बात जैन ग्रंथों में ही है। ये लश्कर के रास्ता न भूलने के लिए मार्गचिह्न और कूच का नगारा बजाने के लिए थे।

यदि 'तें' विभक्ति न मानी जाय और मध्यमपुरुष का सर्वनाम माना जाय तो 'तुझ से वित्त का संचय किया जाय' इत्यादि अर्थ होगा)।

(ग) 'कान्यकुब्जभाषा' में वसंततिलका का उदाहरण--

कन्दर्परूपजयनेँ तुललीन कृष्ण
से कोप काम हमही बहु पीर छोड़ी।
तो भेटिके विरह पीर नसाउ मारी
यैं भाँति दूति पठई कठिलात गोपी॥

(बहुत अस्पष्ट है। काशी के संस्कृतज्ञ पंडित ने इसे 'कान्यकुब्जभाषा' 'कहा है, वस्तुतः यह व्रजभाषा और पूर्वी का मिश्रण अर्थात् प्रचलित 'पड़ी बोली' है। आशय यह जान पड़ता है कि काम के रूप को जीतनेवाले कृष्ण! अपने में लीन गोपी को वहुत पीड़ा देकर कोप करके तैंने क्यों छोड़ा? मिल के मेरी विरह पीड़ा नष्ट कर—यों दूतिका भेजी।)

(घ) म्लेच्छ और संस्कृत के संकर में मालिनी, किसी कवि का—

हरनयनसमुत्थज्वालवह्निज्जलाया
रतिनयनजलौघैः खाक बाकी बहाया।
तदपि दहति चेतो मामकं क्या करोंगी
मदनशिरसि भूयः क्या बला आगि लागी॥

(कामदेव की बात देखिए—पहले उसे शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि-ज्वाला ने जला दिया, बाकी खाक रही थी, वह रति के आँसुओं से बह गई, तो भी वह मेरे चित्त को जलाता है? क्या करूंगी! न मालूम कामदेव के सिर पर फिर यह क्या बला की आग लगी, जल बहकर भी जी उठा!!)

कवि ने इसे म्लेच्छभाषा केवल खाक, बाकी और बला शब्दों पर से ही नहीं कहा है, इसकी खड़ी रचना पर से ऐसा लिखा है। संस्कृत के पंडित की दृष्टि में यह पक्की बोली म्लेच्छों की भाषा थी!! □

हेमचंद्र के व्याकरण और कुमारपालचरित में से

पाणिनि

"शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः"[1]

संस्कृत व्याकरण में जो यश पाणिनि को मिला वह किसी के भाग्य में नहीं था। ऐसा सर्वांगसुन्दर पूर्ण व्याकरण किसी काल में किसी भाषा में न बना।

१. पतंजलि, २।३।६६।

यों तो महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कहते हैं[1] कि मैकडानल (मुग्धानलाचार्य) ने अब पाणिनि का-सा ही वैज्ञानिक व्याकरण स्वतंत्र रीति पर बना दिया है किंतु उस व्याकरण की रचना पाणिनि के व्याकरण के होने से ही संभव हुई। विभु आकाश, समुद्र या विष्णु की तरह पाणिनि के व्याकरण की नाप न ईदृक्ता से हो सकती है, न इयत्ता से। वह वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह ऐसा है या इतना है। जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणों का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सब वैयाकरणों का उद्गम है। अपने से पहले जिन वैयाकरणों का नाम उसने, मतभेद दिखाने के लिए या पूजार्थ[2] ले दिया उनका नाम तो रह गया, बाकी के नाम तक का पता नहीं। पूर्वाचार्यों की जो संज्ञाएँ उसने प्रचलित समझकर ले लीं वे रह गईं[3], बाकी पुराने सिक्के पाणिनि की नई टकसाल की मोहरों के आगे न मालूम कहां चले गए। पहले के व्याकरणों का एकदम अभाव देखकर कोई यह कल्पना करते हैं कि पाणिनि शास्त्रार्थ में जिन वैयाकरणों को हराता गया उनके ग्रंथों को जलाता गया। कोई कहता है कि शिवजी के हुंकार-वज्र से, जो, जैसा कि आगे कहा गया है, पाणिनि के दुर्बल पक्ष की हिमायत पर चलाया गया था, सब नष्ट हो गए। कोई कहता है कि सब वैयाकरण विश्वामित्र का नाम विश्व + अमित्र बनाकर उसके शापभाजन हुए, पाणिनि ने 'मित्रे चर्षौ' सूत्र (६।३।१३०) बनाकर उसकी खुशामद की तथा वर

१. The Professor's Vedic Grammar is a unique work in so far as he has done it without Paninis Vaidika Prakriya. He has evolved the grammar from the language itself and is as scientific as his great predecessor, Panini—एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के वार्षिकोत्सव पर सभापति का व्याख्यान, पृष्ठ ६।

२. आपिशलि ६।१।९२, काश्यप १।२।२५, गार्ग्य ८।३।२०, गालव ७।१।७४, चाक्रवर्मण ६।१।१३०, भारद्वाज ७।२।६७, शाकटायन ३।४।१११, शाकल्य १।१।१६, सेनक, ५।४।११२, स्फोटायन ६।१।१२३, उत्तरी (उदीचाम्) ४।१।१५३, कोई (एकेषां) ८।३।१०४, पूर्वी (प्राचाम) या पुराने ४।१।१७

३. वर्णं बाहुः पूर्वसूत्रे (भाष्य, द्वितीय आह्निक), व्याकरणांतरे वर्णा अक्षराणीति वचनात् (कैयट), आङो नाऽस्त्रियाम् (१।३।१२०) आङिति टासंज्ञा प्राचाम् (कौमुदी)। प्रथमा आदि विभक्तियों के नाम, समासों के नाम, कृत तद्धित आदि नाम, पुराने हैं। अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्। पूर्वसूत्रेषु येऽनुबंधा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते (पतंजलि, औङआपः ७।१।१८ पर) पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङिती पठिते न चेह क्वचिदप्यौङ् प्रप्ययोस्ति। सामान्यग्रहणार्थं च पूर्वसूत्रनिर्देशस्तेन पूर्वसूत्रे य औङ तस्य ग्रहणं भवति (वही कैयट) तटशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (पाणिनि १।२।५३) के भाष्य तथा कैयट से जाना जाता है कि टि, घु, भ आदि संज्ञाएं भी पुरानी हैं।

पाया ।[१] पाणिनि को जलाने, शिवकोप व विश्वामित्रानुग्रह की आवश्यकता न थी, स्वयं ही उसके तेज के आगे और व्याकरण न ठहर सके । पाणिनि के व्याकरण में विशेषता क्या है ? नई उपज का भाव दिखाने के लिए 'उपज्ञ' और 'उपक्रम' पद आया करते हैं[२], जैसे दूरी और तोल के नाप पहले पहल नंद (राजा) ने चलाए । यों ही पाणिनि के लिए कहा जाता है कि अकालक व्याकरण पाणिनि ने पहले-पहले चलाया[३] अर्थात् पहले क्रियापद (आख्यात) के रूपों के लिए कालवाचक नाम थे,[४] पाणिनि ने उन्हें हटाकर लट्, लिट् आदि नाम चलाए । उसने कई संज्ञाएं नई चलाईं ।[५] संक्षेप के लिए कई बीजगणित के से अनर्थक संकेत चालए ।[६] वर्णमाला को नए ढंग से जमाकर अच् कहने से स्वर मात्र, हल् कहने से व्यंजन मात्र आदि को समेटकर बतलाने (प्रत्याहार) की चाल चलाई । वारंवार एक बात न कहने के लिए हुकूमत और सिलसिले (अधिकार और अनुवृत्ति) का क्रम रक्खा । प्रकृति, प्रत्ययों आदि में ऐसे बंध (अनुबंध) बैठाए कि क्या वैदिक साहित्य, क्या लौकिक कुछ भी न बचा । अपने समय के मुहाविरों की जानकारी इतनी कि विपाशा के उत्तर तीर के वाहीक ग्रामों के कूप;[७] पार्श्व, यौधेय आदि आयुधजीवी गण[८]

१. यहाँ पाणिनि ने उस प्राकृतिक मौखिक दीर्घ का उल्लेख किया है जो 'शव' के साथ दूसरा पद मिलाने से हो जाता है । उसने विश्वावसु, विश्वाराट्, बिश्वानर और विश्वामित्र का उल्लेख किया है, गँवारी बोली में, काँसी विश्वानाथ, अब तक होता है ।

२. उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् । (२।४।२१) नन्दोपक्रमाणि मानानि ।

३. पाणिन्युपज्ञमकालकं (आकालापकं अशुद्ध पाठ है) व्याकरणम् । (काशिका) ।

४. तेन तत् प्रथमतः प्रणीतं । स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकारं न कृतबान् (जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास) भवन्ती (पाणिनि का लट्) परोक्षा (लिट्) अनद्यतनी भूता या ह्यस्तनी (लङ्) अद्यतनी (लुङ्) भविष्यन्ती (लृट्) अनद्यतनी, भाविनी, श्वस्तनी (लुट्) अतिसर्गी (लोट्) विधायिका (लिङ्), आशीः (आशीलिङ्) अतिपातिका (लृङ्) । लोट् तथा लिङ् को पंचमी या सप्तमी भी कहते थे जिससे सुबन्त विभक्तियों से गोलमाल हो जाता होगा। पाणिनि ने इनके लिए वे नाम धरे जो कोष्ठक में हैं और वैदिक Subjunctive को लेट् कहा । यह क्रम 'ल' कार की 'ह्रस्व' बाराखड़ी और उसके आगे ट् या ङ् का संकेत लगाकर क्रम से रखना मात्र है । पाणिनि की बुआ के बेटे संग्रहकार व्याडि (दाक्षायण) ने इन्हीं दस लकीरों में 'ट्, ङ्' की जगह 'हुष्' लगाकर नए नाम बनाए इसलिए व्याड्युपज्ञं हुष्करणम् । (दुष्करणं नहीं ।)

५. जैसे नदी, अंग आदि ।

६. जैसे—टु, श्लु, फक् आदि ।

७. ४।२।७४

८. ५।३।११४, ११७, ४।३।६१

(प्रजातंत्र जो किसी राजा की प्रजा न थे और जहाँ दाम मिलता उसी ओर हथियार चलाते); ऋषियों और राजाओं के पितृक्रमागत नाम;[१] नए और पुराने ब्राह्मण और कल्पसूत्र,[२] उत्तरी और पूर्वी वाग्धारा के भेद[३], देखे हुए, बनाए हुए और कहे हुए वेद[४] तथा ग्रंथ, यवनों की लिपि[५], सौवीर, साल्व और पूर्व की नगरियाँ तथा संकल का बनाया नगर[६], पशुओं के कानों पर पहचान के लिए बनाए गए चिह्न[७], द्युत के खेल[८]—कोई उसकी दृष्टि से न बचा। सीमाप्रांत के शलातुर[९] में जन्म लेकर भी उसने पाटलिपुत्र में ख्याति पाई।[१०] वैदिक साहित्य के प्रयोगों को उसने अपवाद या विकल्प के विषय रखकर अपने समय की 'भाषा' का व्याकरण बनाया। स्वर के विवेचन को पाणिनि ने इतना स्थान दिया है तथा आवाज कुदाने (प्लुत) के नियमों की ऐसी जाँच की है कि मानना पड़ता है कि आपामर भारतवासी मात्र की नहीं, तो एक बहुत बड़े समुदाय की साधारण भाषा संस्कृत अवश्य थी। ज्यों-ज्यों तारतम्यात्मक भाषाविज्ञान का महत्त्व बढ़ा है पाणिनि का यश और भी चमकता गया है। सारे संस्कृत साहित्य पर पाणिनि की छाप लग गई। जिन्होंने खान से निकला सोना नहीं देखा, टकसाल की मुहरवाले सिक्के ही देखे हैं, उनकी बोलचाल में अपाणिनीय का अर्थ अशुद्ध हो गया। पूर्व में सूर्य उगता है यह लोग भूल चले, सूर्य जिधर उगता है वही पूर्व है यह माना जाने लगा। व्याकरण और पाणिनि का अभेद संबंध हो गया, व्याकरण का या भाषा का अध्ययन न होकर पाणिनि का अध्ययन होने लगा। शब्द इस-लिए साधु नहीं है कि वह प्रयुक्त है, इसलिए साधु है कि पाणिनि ने वैसा बनाना

१. ४।१।१०४
२. ४।३।१०५
३. ३।४।१९ आदि, १।१।७५ आदि
४. २।३।४७, ४।३।११६, ४।३।१०१]
५. ४।१।४९
६. ४.२।७५-७६
७. ६।२।११२, ६।३।११५
८. २'१।१०, ५।२।९
९. शालातुरीय पाणिनि ('गणरत्नमहोदधि' का मंगलाचरण) शलातुर युसुफजई प्रान्त का लाहौर है।
१०. यह राजशेखर ने काव्यमीमांसा में (संभवत: वृहत्कथा के आधार पर) कहा है किन्तु पाटलिपुत्र की स्थापना मगध के बार्हद्रथ राजा अजातशत्रु ने अपने राज्य के चौथे वर्ष में की थी (ना० प्र० पत्रिका भाग २ पृ० १६१। पाणिनि उससे बहुत पुराना होना चाहिए)।

बताया है। लक्ष्यैकचक्षुष्क लोग घट गए, लक्षणैकचक्षुष्क[1] बढ़ गए। पाणिनि के आगम और आदेश वास्तव में आगम और आदेश बन गए। अन्य शास्त्रों में भी पाणिनि की परिभाषाओं का डंका बजा। 'लकार', 'लिङ् मां प्रेरयति', 'ङे' और 'णिच्' के अर्थों में पाणिनि के कागज के नोट देशांतरों में भी चलने लगे। पाणिनि के पहले भी वेद था, वेदांग थे, व्याकरण वेदांगों में मुख था, किंतु पाणिनि की अष्टाध्यायी वेदांग हो गई। उसके अविकल पारायण का पुण्य हुआ। पाणिनि का मान ऋषिवत् हुआ। वह था ही ऐसा, 'जो कछु कहिय थोर सब तासू'।

कहते हैं कि पीर स्वयं नहीं उड़ते, मुरीद उनके पर लगा देते हैं। पाणिनि ने कहीं स्वयं दावा नहीं किया है कि जिन चौदह सूत्रों में वर्णमाला का क्रम बदलकर मैंने इतना संक्षेप और क्रमसौकर्य पाया है उनका मुझे इलहाम हुआ है, किंतु बात चल गई कि महेश्वर के डमरू के चौदह बार बजने से पाणिनि ने उन्हें पाया[2] करामातों पर लोगों का विश्वास हो जाता है, पुरुषपरिश्रम पर नहीं। कन-कन जोड़ने से लखपती होते हैं यह कोई नहीं मानता, किन्तु बाबाजी मंत्र के बल से हँडिया में भरे गहनों को दूना कर देते हैं या एक नोट के दो कर देते हैं यह मानने को गाँव का गाँव तैयार हो जाता है। पुराने महलों या किलों को भूतों ने रात-ही-रात में बना दिया यह विश्वास होता है, यद्यपि बड़े-बड़े पुल ईंट-ईंट जोड़कर बनते हुए सामने दिखाई दे रहे हैं। बाजीगर के आम की तरह कोई परम इष्ट वस्तु वर्ष में, छै महीने में, दो महीने में, किसी निर्दिष्ट तिथि तक, मिल जायगी—इस आशा पर जो उछल-कूद होती है उसका शतांश भी न दिखाई दे, यदि यह कहा जाय कि दस-पंद्रह वर्ष चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर वह मिलेगी। पाणिनि के अलौकिक शब्दज्ञान और अपूर्व व्याकरण

१. वे उदकस्योदः संज्ञायां ६।३।५७ से ६।३।६० तक के भरोसे 'उदक' को प्रकृति और 'उद' को आदेश मानते हैं, 'उद' प्रकृति से 'क' करने से भी 'उदक' बन सकता है यह नहीं मानते और वाल्मीकि रामायण में 'उदाहारोऽहमागमम्' देखकर चौंकते हैं।

२. वार्तिककार तथा भाष्यकार कहीं नहीं जतलाते कि ये १४ सूत्र पाणिनि के नहीं हैं। भाष्य के द्वितीय आह्निक की व्याख्या में तीन जगह कैयट उनके कर्ता को आचार्य या सूत्रकार कह देता है (जो पाणिनि के लिए ही आता है) किंतु तीनों जगह नागोजीभट्ट मानो कैयट की आस्तीन खैंचता है कि हैं! सूत्रकार यहां महेश्वर या वेदपुरुष है, क्या कह रहे हो? कैयट तक को प्रत्याहारसूत्र आचार्य या सूत्रकार के ही माने जाते थे। नंदिकेश्वर कृत कारिका बहुत पीछे का ग्रंथ है तथा उसमें जो इन सूत्रों का आध्यात्मिक अर्थ किया है वह बड़ी खैंच-तान का, बौद्ध तंत्रों में मातृका के महत्त्व के बढ़ने के पीछे का जान पड़ता है। उसमें अनुबंधों का कोई अर्थ ही नहीं किया जो पाणिनि के सुभीते की नींव हैं।

पर 'वड्ड कथा' में यह कथा है कि पाटलिपुत्र में आचार्य वर्ष यहां एक 'जड़बुद्धितर' पाणिनि नामक विद्यार्थी था, गुरुपत्नी उससे बहुत कसकर काम लेती, पानी के घड़े भरवाया करती, इसका परिणाम वही हुआ जो होता है—लड़का जान बचाकर भागा, तपस्या करने जा बैठा। शिवजी ने प्रसन्न होकर व्याकरण दिया। उसे लेकर शास्त्रार्थ करने आया। ऐंद्र व्याकरण का प्रतिनिधि वररुचि इस नए वैयाकरण को हरानेवाला ही था कि शिवजी ने अपने चेले की हिमायत पर, उसका पक्ष गिरता देख, हुँकार वज्र चला दिया; बस ऐंद्र व्याकरण नष्ट हो गया—'जिताः पाणिनिना सर्वे मूर्खीभूता वयं पुनः !!' इस कहानी में, 'बड्डकथा' के आधार से 'कथासरित्सागर' में भी है, सार इतना ही है कि 'जिताः पाणिनिना सर्वे !!!'

इस कथा में वररुचि को पाणिनि का समकालिक, नहीं उससे कुछ पुराना, कहा गया है। वस्तुतः वह पाणिनि से कई सौ वर्ष पीछे हुआ। उसके पहले पाणिनि पर कई व्याख्यान के वार्तिक बन चुके थे। वेद के समय से प्रसिद्धि चली आती है कि वाणी का पहला व्याकरण इन्द्र ने बनाया।[1] वररुचि (कात्यायन) भी ऐंद्र सम्प्रदाय का था। किन्तु उसने पाणिनि को उस्ताद मान लिया। सच्चे वीर की तरह अपने से प्रबल वीर के झंडे के नीचे आ खड़ा हुआ। कुफ्र छोड़कर काबे में आ गया। उसने पाणिनि की रचना पर वार्तिक लिखे, किन्तु अधीनता के साथ, लोहा मानकर, यही कहा कि इतना और कह दो,[2] इतना और गिनना चाहिए।[3] पाणिनि की परिभाषाएं उसने मान लीं; पुरानी आदत से संध्यक्षर, संक्रम, समान परोक्षा, भवंती या अद्यतनी भी उसके मुँह से निकलता रहा।[4] पाणिनि के समय से उसके समय तक जो नए शब्द चल गये थे या अर्थों में परिवर्तन हो गए थे वे भी उसने गिन दिए। पीछे कई सौ वर्ष बीतने पर, जिनमें कई गद्य और पद्य वार्तिक बने, पतंजलि ने बड़ी व्याख्या या महाभाष्य बनाया। अनद्यतनी ह्यस्तनी या लङ् क्रिया के रूप का प्रयोग उस भूतकाल के अर्थ में होता है कि जो बीता हो किन्तु जिसे कहने वाले ने देखा हो, या जिसे वह कम-से-कम देख सकता था, परोक्षा या लिट् का प्रयोग बिलकुल आँख से ओझल बात के लिए आता है। इस पर पतंजलि ने दो उदाहरण

१. तैत्तिरीय संहिता ६।४।७, शतपथ ब्राह्मण ४। १।३।१२, १५, १६।

२. इति वक्तव्यम्।

३. उपसंख्यानम्।

४. पीछे के वैयाकरण, अपने को पुरानी शैली पर चलने वाला तथा पाणिनि को सुधारक बताने के लिए, ऐसे पदों को उसी चाव से कहते रहे हैं जिससे कुछ लोग हिंदी की जगह 'आर्यभाषा' और नमस्कार की जगह 'नमस्ते' कहते हैं।

दिये हैं जो उसके समय को स्पष्ट बतलाते हैं—यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने मध्यमिका को घेरा ।[१] पतंजलि के समय में संस्कृत उस अर्थ में भाषा न रही थी जिस अर्थ में पाणिनि ने उसे 'भाषा' कहा है । वह एक गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंशों का उल्लेख करता है,[२] देवदिण्ण को देवदत्त से पृथक् करता है,[३] आण्णवयति, वट्टति, बड्ढति, को धातुपाठ से अलग करता है,[४] दृशि के लिए दसि और कृषि के लिए कसि का प्रयोग होना बतलाता है ।[५] साधु शब्दों के प्रयोग में आर्यावर्तवासी 'शिष्टों' की दुहाई देता है जो कुम्भीधान्य, अलोलुप आदि हों ।[६] सो पाणिनि की भाषा, अब 'शिष्टों की भाषा' रह गई थी जिसके जानने में 'धर्म' होता था ।[७] पहले बहता पानी था, अब कुआँ खोदने वाले की तरह पहले अपशब्दों की धूल से ढके जाकर फिर शिष्ट प्रयोग के जल से शुद्धि मिलती थी ।[८] पतंजलि ने कात्यायन के आक्षेपों का समाधान किया है । 'मांगलिक आचार्य (पाणिनि) ने शुद्ध स्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर हाथ को कुशा से पवित्र करके सूत्र बनाए हैं उनमें एक अक्षर भी अनर्थक नहीं हो सकता'[९], 'सामर्थ्ययोग से देखता हूं कि इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं है'[१०], 'आचार्य की इतनी सी बात सह लो'[११], 'कहते तो तुम ठीक हो, किन्तु अपाणिनीय होता है इसलिए जैसा रक्खा है वैसा (यथान्यास) रहने दो', इत्यादि उसके वाक्यों से पाणिनि पूजा कितनी बद्धमूल हो गई थी यह जान पड़ता है । पाणिनि के सारे सूत्रपाठ को एक

१. अनद्यतने लङ् (पाणिनि ३।२।१११) लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये (कात्यायन) अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् । यह यवन मिनेंडर (मिलिंद) था। इसी तरह पिछले वैयाकरणों ने उदाहरणों से अपना-अपना समय बता दिया है । अजयद् गुप्तो हुणान् (चंद्रव्या०-वृत्ति) अदहदमोघवर्षोरातीन् (जैनशाकटायन) अदहदरातीन् कुमारपालः (हेमचंद्र के व्याकरण की टीका मलयगिरि कृत) । कई लोग बिना समझे इन्हीं उदाहरणों को दोहरा गए हैं । जैसे, काव्यानुशासनवृत्ति में हेमचंद्र 'अजयद् गुप्तो हूणान्' ।

२. प्रथम आह्निक ।

३. देवदिण्ण (जैसे रामदहिन, रामदीन),—द्वितीय आह्निक ।

४. पाणिनि १।३।१ 'भूवादयो धातवः' पर ।

५. वही ।

६. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । ६।३।१०९ का भाष्य ।

७. प्रथम आह्निक ।

८. 'कूपखानकवत्'—प्रथम आह्निक ।

९. पाणिनि १।१।१ पर ।

१०. ६।१।३ का भाष्य ।

११. प्रथम सूत्र ।

जुड़ा हुआ (संहिता) पाठ मानकर, कहीं उनमें चिपका अक्षर (प्रश्लेष) देखकर और कहीं प्रचलित सूत्र के दो भाग करके काम निकालना भी कहा है। कात्यायन और पतंजलि ने इतने भारी वैयाकरण होकर भी नया राज नहीं जमाया, पाणिनि के साम्राज्य के भीतर ही कर दिया और स्वराज्य पाया। यह व्याकरण के 'त्रिमुनि' हुए, इनका एक ही सम्प्रदाय रहा, इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक विवेक की वह बात उदारता से चली जो और किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं चली अर्थात् यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। पाणिनि से कात्यायन और कात्यायन से पतंजलि अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उलटा है।

अस्तु। इन तीनों ने व्याकरण खेती को लुन लिया। पीछे व्याकरण का अध्ययन नहीं रहा, पाणिनि का अध्ययन रह गया। इस सूर्यत्रयी के आगे क्या कोई उजियारा करता? टीका व्याख्यान, खंडन मंडन, इसी बात पर होते रहे कि पाणिनि ने यह क्यों कहा, यह पद क्यों रक्खा। आस्तिकों के लिए संहितापाठ में छेड़छाड़ करना असम्भव था। कुछ बौद्ध टीकाकारों ने सूत्रों में कुछ बढ़ाना चाहा तो आस्तिकों से उन्हें डांट मिली कि हमारे पारायण की चीज में क्षेपक मिलाते हो।[1]

इनके पीछे कुछ अहिन्दू (बौद्ध और जैन) सीला बीनने वाले हुए। कोई-कोई सीला जो उन तीनों लुनने वालों से रह गया था, या उनके पीछे प्रयोग में आया, इन्होंने चुना।[2] किन्तु और बातों में बिना समझे लीक पीटते गए, अपना नया संप्रदाय चलाना चाहते रहे। जैसे हिन्दुस्तान में कई राजाओं ने अपना नया

१. चांद्र व्याकरण के लगभग ३५ सूत्र काशिकाकारों ने सूत्रपाठ में मिलाना चाहे। कैयट ने जगह-जगह पर लिखा है कि उनका 'अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठः' पा० ४।१।१५ में ख्युन् जोड़ना अनार्ष हुआ।

२. जैसे विश्रम के अर्थ में 'विश्राम' (चांद्र, मेघदूत श्लोक २५ की मल्लिनाथ कृत टीका)। जैसे बार्हस्पत्य संवत्सर अर्थात् जिस नक्षत्र में बृहस्पति का उदय सूर्य से युति होकर फिर अस्त से निकलने पर वर्ष के आरम्भ में हो उस पर से वर्ष का नाम पौषसंवत्सर, माघसंवत्सर आदि रखने से गणना करना। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि के समय में यह बार्हस्पत्य गणना नहीं थी, उन्होंने सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायां (४।२।२१) नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३) से पौष, माघ आदि महीनों के नाम ही बनाए। बार्हस्पत्य गणना पुराने कदंबों और गुप्तों के शिलालेखों में मिलती है। (पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८७) चांद्र व्याकरण में इसके लिए सूत्र है—गुरूदयाद्भाद् युक्तेऽब्दे, शाकटायन—उदितगुरो-र्भाद्युक्तेऽब्दे। काशिकाकार ने 'पौषः मासः' की तरह ही पौष संवत्सरः (मासार्धमास-संवत्सराणामेषा संज्ञा) बनाना चाहा, किन्तु यों प्रत्येक संवत्सर ही पौष, माघ आदि हो जाता है, विशेष संज्ञा नहीं होती, हर एक में पुष्य, मघा आदि आते हैं, बिना गुरूदय का उल्लेख किए काम नहीं चलता।

संवत् चलाया जो कुछ ही वर्ष पीछे उनके वंश का राज्य नष्ट होने पर आगे न चला वैसे ही इन्होंने नई परिभाषाएं चलाईं । पाणिनि ने बहुत संक्षेप किया था। चाहे उस समय लेखन-सामग्री की कमी से संक्षिप्त लिखने की चाल रही हो, चाहे कंठस्थ करने के सुभीते के लिए, सूत्र ऐसे रचे गए हों, चाहे वैदिक साहित्य और स्वर-विचार की अधिकता से संक्षेप करना पड़ा हो । अब कागज की कमी न थी, रटने की चाल भी कम हो गई थी, न इनकी रचना में ऐसी पवित्रता थी कि वह पारायण में आती, और वैदिक भाग और स्वर को इन्होंने छोड़ ही दिया था । तो भी पाणिनि से बढ़कर संक्षेप करने की धुन इन पर सवार थी, पाणिनिवालों ने आधी मात्रा के लाघव को पुत्रोत्सव समझा, तो इन्होंने पौत्रोत्सव समझा । पाणिनि से अपना बिलगाव दिखाने के लिये कुछ पुरानी संज्ञाएं काम में लीं, कुछ नई गढ़ीं, उसकी 'संज्ञा' को 'नाम' कहा,[1] 'सु' को 'सि'[2] कहा—'हल्' को 'हस्' किया । समेटकर कहने का ढंग (प्रत्याहार) तो उसी से लिया किन्तु कुछ अक्षर इधर-उधर किए । कहीं संक्षेप के लिए पाणिनि के सूत्र के पद उलटे-पुलटे किये, कहीं कात्यायन के वार्तिक की नई बात सूत्र में घुसेड़ी, कहीं एक सूत्र को तोड़कर दो और कहीं दो को चिपकाकर एक कर दिया । उदाहरण देना केवल विस्तार करना है । इनका प्रचार तब तक और तैसा ही हुआ जब तक और जैसा स्वामी दयानन्द की 'नमस्ते' की रूढ़ि के जमने के पहले 'सलाम-वालेकम्', 'वालेकमस्सलाम' की देखादेखी राजा जयकृष्णदास आदि के चलाए 'परमात्मा जयति', 'जयति परमात्मा' का रहा था । अपनी साख जमाने के लिये अपने सम्प्रदाय को पुराना बताने के लिये कई यत्न किये । पाणिनि के वैसा न कहने पर भी यह प्रसिद्धि चल गई थी कि उसके प्रत्याहारसूत्र और उसका व्याकरण महेश्वर से आया है । एक कहता है कि जब महावीर जिन कुमार थे, उस समय इन्द्र ने उससे प्रश्न करके जो व्याकरण सीखा वही प्रश्नोत्तर हमारा जैनेन्द्र व्याकरण है ।[3] 'मत पानी से सींच', और 'लड्डुओं से सींच' का भेद न जानने वाले राजा के लिए जो व्याकरण बनाया गया वह महेश्वर का नहीं, तो महेश्वर

१. चांद्र व्याकरण, 'असंज्ञकम्'
२. 'सु' 'सि' में एक रहस्य है । सिद्ध पद के अन्त में स् (:) आता है, या संधि में 'ओ' या 'र' । 'सु' 'सि' में 'उ' 'इ' दोनों वैयाकरणों के संकेत हैं । शौरसेनी में पुरुसो होता है, मागधी में 'पुलिसे' । संस्कृत में तो 'स्' ही काफी था । क्या यह मानें कि शौरसेनी 'प्राकृत' को 'संस्कृत' करने वालों ने 'पुरुसो' देखकर 'सु' माना, और मागधी के आधार पर संस्कृत करने वालों ने 'पुलिसे' पर निगाह जमाकर 'सि' माना ? यह उल्टी गंगा नहीं है, संस्कृत के वास्तव रूप की मूलभित्ति की कल्पना है ।
३. यदिन्द्राय जिन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम् । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ।

के पुत्र कुमार का कहा गया।[१] एक व्याकरण साक्षात् सरस्वती का सिखाया कहलाया।[२] एक ने पाणिनि के उल्लिखित पूर्वज शाकटायन के नाम पर अपनी कृति बनाई[३] और उसकी विशेष बातों को अपने व्याकरण में मिलाकर शाकटायनी रंग देना चाहा, किन्तु पूरी तरह बात छिपाई न जा सकी।[४] पाणिनि ने तो मत-भेद या आदरार्थ पुराने वैयाकरणों के नाम दिए, इन्होंने भी वैसे ही सूत्र ढंग पर कई नाम दिए जिनमें कई कल्पित हैं।[५] ये व्याकरण दो तरह के बने। एक तो हिन्दुओं के वेदांग पाणिनि व्याकरण से ही हमारा काम क्यों चले इसलिए बौद्ध, दिगंबर जैन, और श्वेताम्बर जैन व्याकरण बनाए गए। उनका पठन-पाठन भी हुआ, टीकाएं भी बनीं, किन्तु अपने गुट के बाहर प्रचार न हो सका। यह वैसा ही आन्दोलन था जैसा मुसलमान जज, अब्राह्मण प्रतिनिधि और नैषध की जगह धर्म-शर्माभ्युदय पढ़ाने के लिए होता है। दूसरे वे जो पाणिनि की सांकेतिक कठिनता से बचाकर आलसियों, राजाओं, बनियों और साधारण जनों को[६] दस दिन में[७] व्याकरण सिखाने के लिए बनाये गये। दोनों से अधिक काम न सरा क्योंकि सारे संस्कृत वाङ्मय में पाणिनि की परिभाषाओं के चलने से पहले पक्ष को अधिक पढ़ने पर अपनी सीखी नौगढ़ंत परिभाषाएं भूलनी पढ़तीं और दूसरे पक्ष में मुग्धबोध[८] और खोटे (छोटे) तन्त्रों[९] से नाम के अनुसार ही ज्ञान होता। दूसरे ढंग के

१. शर्ववर्मन् का कौमार या कालाप व्याकरण—'मोदकैः सिञ्च मां राजन्'।
२. अनुभूतिस्वरूपाचार्य का सारस्वत।
३. जैन या अभिनवशाकटायन दक्षिण के राठौड राजा अमोघवर्ष के यहां था। ईसवी नवीं शताब्दी का अन्त उसका काल है।
४. जैसे पाणिनि कहता है कि मेरे मत में, 'अयान्' होता है, शाकटायन के मत में 'अयुः'। (या धातु का अनद्यतनभूत प्रथम पुरुष बहुवचन ३।४।१११, ११२) जैन शाकटायन को केवल, 'अयुः' ही मानना चाहिए था किंतु वह भी 'वा' लिख गया।
५. एक जैन पोथी में ही जैनेन्द्र-व्याकरण के 'रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य' के प्रभाचंद्र को कल्पित बताया है तथा हेमचंद्र के द्व्याश्रय काव्य के टीकाकार ने सिद्धसेन को। (वेलवलकर, पृ० ६६)।
६. छान्दसाः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तररताश्च ये।
ईश्वरा व्याधिनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये॥
वणिक् सस्यादिसंसक्ता लोकयात्रादिषु स्थिताः।
तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थम् (कातन्त्र की टीका व्याख्यानप्रक्रिया)
७. नरहरि कृत बालावबोध—दशाभिर्दिवसैर्वैयाकरणो भवति। इन टिप्पणियों में कई जगह डाक्टर वेलवलकर के उत्तम निबंध 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' की सहायता ली गई है।
८. वोपदेव का।
९. का-तंत्र।

व्याकरणों का प्रचार बहुत कुछ रहा और है, क्योंकि पहले केवल 'पार्षदकृति' थे और जो कुछ उनमें तत्त्व था वह पाणिनि के टीकाकारों ने या तो उदारता से ले लिया या कुछ खैंच-खाँचकर अपने यहाँ ही बता दिया।[1]

हेमचन्द्र

इस लेख का उद्देश्य संस्कृत-व्याकरण का इतिहास लिखना नहीं है। ऊपर का कुछ विस्तृत, किन्तु अपनी समझ से रोचक वर्णन, हेमचन्द्र के व्याकरण की पूर्व पीठिका समझाने के लिए दिया गया है। हेमचन्द्र का व्याकरण 'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन' या 'सिद्धहैम' कहलाता है, सिद्धराज जयसिंह के लिए बनाया इसलिए सिद्ध और हेमचन्द्र का होने से हैम। इसमें भी चार-चार पादों के आठ अध्याय हैं जिनमें लगभग ४५०० सूत्र हैं। ढंग कौमुदियों का-सा है, अर्थात् विषय विभाग से सूत्रों का क्रम है। साथ में अपनी बनाई टीका 'वृहद्वृत्ति' भी है। हेमचन्द्र का उद्देश्य सरल रीति पर अपने सम्प्रदाय, अपने आश्रयदायक राजा तथा अपने गौरव के लिए ऐसा व्याकरण बनाने का था जिसमें कोई बात न बच जाए। वह जैन शाकटायन के पीछे लीक-लीक चला है। किन्तु और सीला बीनने वालों की तरह वह सीला बीनने वाला न था। उसने संस्कृत-व्याकरण सात अध्यायों में लिखकर आठवां केवल प्राकृत के पूर्ण विवेचन को दिया है। पाणिनि ने अपने पीछे देखकर वैदिक साहित्य को मिलाकर 'अपने समय तक की भाषा' का व्याकरण बनाया। पीछे वेद छूट गया, स्वर छूट गया। हेमचन्द्र ने पीछे न देखा तो आगे देखा उधर का छूटा तो इधर बढ़ा लिया 'अपने समय तक की भाषा' का विवेचन कर डाला। यही हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक-उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया। उसके प्राकृत-व्याकरण अर्थात् आठवें अध्याय का क्रम क्या है, यह हम पहले बता चुके हैं।[2] संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में तो उसने अपनी वृत्ति में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद ही दिये हैं, किन्तु अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएं, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिए हैं। यह हेमचन्द्र का दूसरा महत्त्व है। यों उसने एक बड़े भारी

१. देखो—ऊपर पृ० ३८०, टि० १, २
२. पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३६

साहित्य के नमूने जीवित रक्खे जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते। इसका कारण क्या है ? जैसे पहले कहा गया है[1] जिन श्वेतांबर जैन साधुओं के लिए, या सर्वसाधारण के लिये, उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों को संगति को पदों या वाक्यखण्डों में समझ लेते। उसके दिए उदाहरणों से न समझते तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नए उदाहरण ढूंढ़ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम यों समझ में न आते। मध्यम पुरुष के लिए 'पंइ', शपथ में 'थ' की जगह 'ध' होने से सवध, और मक्कड़धुग्धि का अनुकरण-प्रयोग बिना पूरा उदाहरण दिए समझ में नहीं आता (देखो—आगे ५६, ८८, १४४)। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता, तो पढ़नेवाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर-ग्रन्थों, तक तो पहुंच थी किन्तु जो 'भाषा' साहित्य से स्वभावतः नाक चढ़ाते थे, उसके नियमों को न समझते।

इन सब उदाहरणों का संग्रह और व्याख्यान इस लेख के उदाहरणांश के द्वितीय भाग में किया जाता है। ये उदाहरण अपभ्रंश कहे जाएं किन्तु उस समय की पुरानी हिन्दी ही हैं, वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परम्परागत सम्बन्ध वाक्य और अर्थ से स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा, स्मरण रहे कि ये उदाहरण हेमचन्द्र के अपने बनाए हुए नहीं हैं, कुछ वाक्यों को छोड़कर सब उससे प्राचीन साहित्य के हैं। इनसे उस समय के पुराने हिन्दी साहित्य के विस्तार का पता लगता है। यदि संस्कृत-साहित्य बिलकुल न रहता तो पतंजलि के महाभाष्य में जो वेद और श्लोकों के खण्ड उद्धृत हैं उन्हीं से संस्कृत-साहित्य का अनुमान करना पड़ता। वही काम इन दोहों से होता है। हेमचन्द्र ने बड़ी उदारता की कि ये पूरे अवतरण दे दिए। इनमें श्रृंगार, वीरता, किसी रामायण का अंश [जेवड्डु अंतरु० (१०१), दहमुहु भुवण० (५)], कृष्णकथा [हरि नच्चाविउ पंगणहि (१२२), एकमेक्कउँ जइवि जोएदि० (१२९)], किसी और महाभारत का अंश [इत्तिउँ ब्रोप्पिणु सउणि० (७८)], वामनावतार कथा [मइं भणिअउ बलिराय (९६)], हिन्दू धर्म [गंग गमेप्पिणु० (१६६, १६७), व्रास महारिसि० (९१)], जैनधर्म [जेप्पि चएप्पिणु० (१६५), पेक्खेविणु मुहू जिनवरहो० (१७०)] और हास्य [सोएवा पर वारिआ (१५९)] सभी के नमूने मिलते हैं। मुंज (१६२) और ब्रह्म (१०३) कवियों के नाम पाए जाते हैं। कैसा सुन्दर साहित्य यह संगृहीत है ! कविता की दृष्टि से, इतने विशाल संस्कृत और प्राकृत-साहित्य में भी, क्या 'भल्ला हुआ जु मारिआ' (३१); 'सइ ससणेही तो मुइअ' (५२); 'लोणु विलिज्जइ पाणिएण' (११५); अज्जवि नाहु महुज्जि घरि' (१४४); आदि के जोड़ की कविता मिल सकती है ?

१. पत्रिका, भाग २, पृ० १७

तीसरा महत्त्व हेमचन्द्र का यह है कि वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजिदीक्षित होने के साथ-साथ उसका भट्टि भी है। उसने अपने संस्कृत-प्राकृत द्व्याश्रय काव्य में अपने व्याकरण के उदाहरण भी दिए हैं तथा सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का इतिहास भी लिखा है। भट्टि और भट्ट भौमक की तरह वह अपने सूत्रों के क्रम से चला है। संस्कृत द्व्याश्रय काव्य के बीस सर्ग हैं। इसमें सिद्धराज जयसिंह तक गुजरात के सोलंकी राजाओं के वंश-वैभव आदि का वर्णन और साथ ही साथ हेमचन्द्र के (संस्कृत) 'शब्दानुशासन' के सात अध्यायों के उदाहरण हैं। आठवें अध्याय (प्राकृत-व्याकरण) के उदाहरणों के लिये प्राकृत द्व्याश्रय काव्य (कुमारपालचरित) की रचना हुई है जिसमें आठ सर्ग हैं। संस्कृत द्व्याश्रय की टीका अभयतिलकगणि ने तथा प्राकृत द्व्याश्रय की टीका पूर्णकलश गणि ने लिखी है, जो संवत् १३०७ फाल्गुन कृष्ण ११ पुष्य, रविवार को पूर्ण हुई। 'कुमारपालचरित' या 'प्राकृत द्व्याश्रय काव्य' के आरम्भ में अणहिलपुर-पाटन का वर्णन है। राजा कुमारपाल है। महाराष्ट्र देशीय बन्दी उसकी कीर्ति बखानता है। राजा की दिनचर्या, दरबार, मल्लश्रम, कुंजरयात्रा, जिनमन्दिर-यात्रा, जिनपूजा आदि के वर्णन में दो सर्ग पूरे हुए। तीसरे में उपवन का वर्णन है। वसंत की शोभा है। चौथे में ग्रीष्म और पांचवें में अन्य ऋतुओं के विहार आदि का सालंकार वर्णन है। राजा और प्रजा की समृद्धि तथा विलासों का चित्र कवियों की रीति पर दिया गया है। छठे में चन्द्रोदय का वर्णन है। राजा दरबार में बैठा है। सांधिविग्रहिक ने विज्ञप्ति की जिसमें कुंकुण के राजा मल्लिकार्जुन की सेना से कुमारपाल की सेना के युद्ध और विजय का तथा मल्लिकार्जुन के मारे जाने का वर्णन है। आगे कहा है कि यों कुमारपाल दक्षिण का स्वामी हो गया पश्चिम का स्वामी सिंधुपति, जवनदेश, उव्व [? उच्च] काशी मगध, गौड़, कान्यकुब्ज, दशार्ण, चेदि, रेवातट, मथुरा, जंगल देश के राजाओं की अधीनता का भी वर्णन है। कुमारपाल सो जाता है। सातवें सर्ग के आरम्भ में राजा उठकर परमार्थ चिन्ता करता है। उसमें काम, स्त्री आदि की निंदा, जैन आचार्यों की स्तुति, नमस्कार आदि के पीछे श्रुतदेवी की स्तुति है। श्रुतदेवी कुमारपाल के सामने प्रकट हुई और राजा के साथ उसका धर्म विषयक संभाषण चला। आठवें सर्ग भर में श्रुतदेवी का उपदेश है।

हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' (सिद्धहैम शब्दानुशासन के आठवें अध्याय) और 'कुमारपालचरित' का सम्बन्ध नीचे एक तालिका से बताया जाता है--

लक्ष्य	लक्षण	उदाहरण
	अष्टमाध्याय	
प्राकृत भाषा	पाद १ सू० १-२७१	कुमारपालचरित
	पाद २ सू० १-२१८	सर्ग १,२,३,४,५,६
	पाद ३ सू० १-१८२	७, गाथा—१,९३
	पाद ४ सू० १-२५९	
	अष्टमाध्याय	कुमारपालचरित
शौरसेनी	पाद ४ सू० २६०-२८६	सर्ग ७ गाथा ९४-१०२
मागधी	,, २८७-३०२	सर्ग ८ गाथा १-७
पैशाची	,, ३०३-३२४	,, ८-११
चूलिका पैशाची	,, ३२५-३२८	,, १२-३३
अपभ्रंश	,, ३२९-४४८	,, १४-८२

इससे स्पष्ट होगा कि जिस भाषा का व्याकरण कहा है उसी में 'कुमारपाल-चरित' के उस अंश की रचना की गई है। पुरानी हिन्दी के व्याकरण के विशेष नियमों के १२० सूत्र हैं, उदाहरणों में जो प्राचीन कविता से दिए गए हैं १७५ अवतरण हैं, पदों, वाक्यों और दोहराए अवतरणों की गणना नहीं (कई दोहों के खण्ड बार-बार उदाहरणों की तरह कई सूत्रों पर दिये गए हैं) किन्तु, स्वरचित उदाहरणों में वह सब विषय ६९ छन्दों में आ गया है। इसका कारण है कि एक-एक छन्द में कई उदाहरण आ गए हैं।

देशी नाममाला

हेमचन्द्र को ऐसी रचना प्रिय थी। उसने 'देशी नाममाला' नामक एक कोश भी बनाया है जिसमें प्राकृत रचना में आने वाले देशी शब्दों की गणना है। संस्कृत के और कोशों में विषय-विभाग से (स्वर्ग, देव, मनुष्य आदि) शब्दों का संग्रह होता है, या अन्त के वर्णों (जैले कांत, खांत आदि) के वर्गों से। किन्तु यह 'देशी नाममाला' वर्तमान कोशों की तरह अकारादि क्रम से बनी है इसका भी कारण वही है जो व्याकरण में अपभ्रंश की कविता पूरी उद्धृत करने का है। संस्कृत-प्राकृत कोशों की तरह देशी कोश को कोई रटता नहीं। जहां प्राकृत कविता में देशी पद आ गया वहां देखने के लिए इस कोश का उपयोग है। वहां

अकारादि क्रम से ही काम चल सकता है ।[1] उस क्रम के भीतर भी एकाक्षर, द्वयक्षर आदि का क्रम है । जिस अक्षर से आरम्भ होने वाले शब्द जहां गिने हैं वहीं वैसे नानार्थ शब्द भी गिन दिए हैं । वहीं पर जितने शब्दों का उदाहरण एक गाथा में आ सका उतनों का ठूंसा गया है । कण्णोड्ढिआ (=नारंगी, घूंघट, चादर, कान+ओढ़ी), कंठमल्ल (मुर्दे की बैकुंठी), कप्परिअ कडंतरिअ (=फाड़ा गया), कडंभुअ (=गड़ुआ) इन शब्दों को साथ गूंथ कर एक गाथा बनाने में, जिसमें कुछ अर्थ भी हो, काव्य में सुन्दरता आना कठिन है । हेमचन्द्र ने इस पर एक मानिनी खंडिता की उक्ति बनाई है कि हे दाँतों से फाड़े गए अधर वाले, नखों से कटे अंगवाले, मेरी चादर छोड़, उसी गड़ुए के-से स्तनों वाली के पास जा जो बैकुंठी के भी योग्य नहीं है (देशी नाममाला, २०) । इस उदाहरण बनाने की कठिनता से उसने नानार्थों की उदाहरणगाथाएं नहीं बनाईं । यों ही 'कुमारपाल-चरित' में कई उदाहरण एक-एक दोहे में लाए गए हैं किन्तु वहां श्रुतदेवी का राजा को धर्मविषयक उपदेश एक ही विषय है इसलिए कवि को बहुत कुछ स्वतन्त्रता मिल गई है । इन ६९ छन्दों में—

बदनक १४-२७,७७,८०
दोहा २८-७४,८१
मात्रा ७५,७८
वस्तु, बदनक, कर्पूर (=उल्लाला ?) का योग ७६
सुमनोरमा ८२

ये छन्द आए हैं । इनमें से नमूने की तरह कुछ इस लेख के उदाहरण भाग के पूर्वार्द्ध में दिए गए हैं । पुराने अपभ्रंश के उदाहरणों से ये कुछ क्लिष्ट हैं जिसका कारण ऊपर तथा पहले बताया जा चुका है[2] और स्पष्ट है ।

यह तो हेमचन्द्र की रचित पुरानी हिन्दी है । 'कुमारपालचरित' कुमारपाल के राज्य में बना । कुमारपाल की राजगद्दी सं० ११९९ और मृत्यु सं० १२३० में हुई । हेमचन्द्र की मृत्यु सं० १२२९ में हुई । शिलारा मल्लिकार्जुन से युद्ध सं०

१. पादलिप्ताचार्य आदि विरचित देशी शास्त्रों के रहते भी इस (देशी नाममाला) के आरम्भ का प्रयोजन…'वर्ण क्रम सुखद, या 'वर्णक्रम सुभग'…वर्ण क्रम से निर्दिष्ट शब्द अर्थ विशेष में संशय होने पर सुख से स्मरण और ध्यान किए जा सकते हैं । वर्णक्रम को उलांघ कर कहने से सुख से अवधारणा नहीं किए जा सकते,' इसलिए वर्णक्रमनिर्देश अर्थवान् है । (हेमचंद्र, देशी नाममाला, दूसरी गाथा की टीका) ।

२. पत्रिका : भाग-२, पृ० १३२

१२१७-१८ में हुआ मानना चाहिए ।[१] अतएव कुमारपालचरित (द्वयाश्रय काव्य) और उसके अन्तर्गत इस अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) कविता का रचनाकाल वि० सं० १२१८ से वि० सं १२२९ तक किसी समय है । हेमचन्द्र का व्याकरण सिद्धराज जयसिंह की आज्ञा से उसी के राजत्वकाल में अर्थात् सं० ११९९ से पूर्व बना । व्याकरण की वृहद्वृत्ति और उसका उदाहरण संग्रह सूत्रों के साथ ही बने होंगे । इसलिए द्वितीय भाग में उद्धृत कविता के प्रचलित होने का समय सं० ११९९ से पूर्व है । यह बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उसकी उपलब्धि का निम्नतम समय है, ऊर्द्धतम समय मुंज के नामांकित दोहे से लेना चाहिए । अर्थात् यह कविता सं० १०२९ से ११९९ तक लगभग दो शताब्दियों की है ।[२]

जब हेमचन्द्र के उदाहरणों की व्याख्या लगभग लिखी जा चुकी थी तब 'दोधकवृत्ति' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ । इसे सन् १९१६ ई० में अहमदाबाद में श्रावक भगवानदास हर्षचन्द ने छपवाया था । इसमें रचयिता का नाम नहीं दिया किन्तु अन्त में यह लेख मिलता है—

"इति श्री हैमव्याकरण प्राकृतवृत्तिगत दोधकार्थः समाप्तः लिखितो महोपाध्याय...य सं० १६७२ वर्षे शके १५३८ प्र० [वर्तमाने] बैशाख वदि १४ शनौ ।"

इसमें इन सब उदाहरणों की संस्कृत व्याख्या है । अन्त में एक मागधी गद्य-खण्ड और एक महाराष्ट्री प्राकृत गाथा की भी लगे हाथों 'दोधक' मानकर व्याख्या कर दी है । जहां-जहां इस व्याख्या का उपयोग किया जा सका, किया है । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के पठन-पाठन का प्रचार जैन साधुओं में रहा इसलिए इन कविताओं का परम्परागत या साम्प्रदायिक अर्थ जानने में दोधकवृत्ति ने कहीं-कहीं बहुत सहायता दी है । जहां मतभेद है वहां दिखा दिया है । 'दोधकवृत्ति' की रचना जैन संस्कृत में हुई है, उसमें जो भाषानुग संस्कृत पद आए हैं, उनकी तालिका यहां दी जाती है—

चटितः—चढ़ा (हुआ), चटति—चढ़ता है, चटामः—हम चढ़ें, (चडिअउ, चडिओ।)

लगित्वा—लगाकर (लाइ), लगकर (लग्गि) ।

१. सिद्धराज जयसिंह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का नाना था तथा सोमेश्वर की पालना कुमारपाल ने की थी । मल्लिकार्जुन की लड़ाई पृ० ४००, १ । अब मिलाओ भाग २, ५८-५९ पृ० ६१ की सारिणी ।

२. ना० प्र० पत्रिका : भाग १, पृ० ४००, ४०१

बलि क्रिये—जल जाती हूं (बलि किज्जउँ)।

अर्गलं—आगे बढ़कर (एत्तिउ अग्गलउँ)।

स्फेटयति—(फेडइ) घेरै, नष्ट करे।

किं न सृतम्—क्या नहीं सरा? सब कुछ सिद्ध हुआ।

मुत्कलेन—दान, उदारता से (मोक्कलडेन)।

उद्धरित—(छपा है, उद्धरित) उबरा, बचा (उव्वरिअ)।

उद्वर्त्यते—उबरै त्यज्यते (उव्वारिज्जइ)।

चूटकः—चूड़ा (चूडुल्लउ)।

छन्नं—गुप्त [मारवाड़ी छानैं; देखो—पत्रिका: भाग २, पृ० ५४ में (२७)]

विध्यापयति—बुझाता है।

आवर्तते—शोषयति! (आवट्टइ=औटता है, औटाता है)।

जगटकानि—झगड़े।

धाटी—धाड़ा।

द्रहे—दह में (ह्रद का व्यत्यय)।

कलहापितः=कलहितः (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ५०७)।

तीमोद्वानं=आर्द्रशुष्कं—गीला सूखा (तितुव्वाण)।

बिछोटय—बिछोड़कर (देखो—पत्रिका: भाग २ पृ० २६)।

स्ताघ—थाह

मोटयन्ति—मोड़ते हैं (मोडंति)।

उदाहरणांश में अक्षरनिवेश वही रक्खा गया है जो श्रीशंकर पांडुरंग पण्डित ने अपने 'कुमारपालचरित' के संस्करण में कई प्रतियों की सहायता से रक्खा है। पाठांतर बहुत कम दिए गए हैं—उनके कारण मुखानुसारी लेखन, असावधानता, उ ओ, ऊ औ, स्थ, स्छ आदि के लेख की समानता, परसवर्ण की अनित्यता अइ, ए, अउ, ओ का विकल्प अनुनासिक की असावधानता और अन्त के उ की उपेक्षा आदि हैं।[1] ए ओ के अर्द्ध उच्चारण को ध्यान में रखने तथा अ से 'इ उ' को मिला कर ए, ओ पढ़ने से छन्द ठीक पड़े जा सकते हैं तथा हिन्दी कविता से बेगाने नहीं जान पड़ते।

१. पत्रिका: भाग २, पृ० ३२-३३

हेमचन्द्र का जीवनचरित तथा काम

हेमचन्द्र के जीवनचरित का कुछ आभास पत्रिका भाग २, पृ० १२५ में दिया जा चुका है। उसका जन्म सं० ११४५ में, दीक्षा सं० ११५४ में सूरिपद सं० ११६६ में, और मृत्यु सं० १२२९ में हुए। उसका जन्मनाम चंगदेव था, दीक्षा पर सोमचन्द्र और सूरि होने पर हेमचन्द्र हुआ। सिद्धराज जयसिंह के यहां उसने बहुत प्रतिष्ठा पाई। सिद्धराज स्वयं शैव था किन्तु सब धर्मों का आदर करता था। सिद्धराज के लिए ही हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण बनाया जिसकी चर्चा की जा रही है। हेमचन्द्र के प्रभाव से सिद्धराज का मन जैनधर्म की ओर झुका हो किन्तु उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने पर तो हेमचन्द्र ही हेमचन्द्र हो गए। हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञ हुए और कुमारपाल परमार्हत। कुमारपाल के राज्य के प्रथम पन्द्रह वर्ष युद्ध-विजय आदि में बीते। हेमचन्द्र ने पहले ही कुमारपाल के राजा होने की भविष्यवाणी कर दी थी और सिद्धराज के द्वेष की संकटावस्था में उसकी सहायता भी की थी। अब उसे जिनधर्मोपदेश करके उससे खूब धर्मप्रचार कराया। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के मन्त्री यशःपाल ने मोहपराजय नामक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय के ढंग का लिखा है। उसमें वर्णन है कि धर्म और विरति की पुत्री कृपा से कुमारपाल का विवाह सं० १२१६ की मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया को हेमचन्द्र ने कराया जिससे मोह को हराकर धर्म को अपना राज्य फिर दिलाया गया। रूपक को निकाल दें तो यह तिथि कुमारपाल के जैनधर्म स्वीकार करने की है। हेमचन्द्र के उपदेश से सदाचारप्रचार, दुराचारत्याग, मन्दिररचना पूजाविस्तार, जीर्णोद्धार, अमारिघोषण, तीर्थयात्रा आदि बहुत धूमधाम से कुमारपाल ने किए और कराए। जैन साहित्य में इन गुरुशिष्यों का बहुत प्रशंसापूर्ण उल्लेख है। राजा ने २१ ज्ञानकोश (पुस्तक भण्डार) कराए। छत्तीस हजार श्लोकों का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' हेमचन्द्र से बनवाकर सोने-रूपे से लिखाकर सुना। एकादश अंग, द्वादश उपांग सोने में लिखवाकर सुने। योगशास्त्र आदि लिखवाए। गुरु के ग्रन्थों को लिखने वाले ७०० लेखक थे। एक दिन लेखकशाला में जाकर राजा ने लेखकों को 'कागदों' पर लिखते देखा। गुरु ने कहा—श्रीताल पत्रों का टोटा आ गया। राजा को लज्जा आई। उपवास किया। खर ताड़ों (भद्दे ताड़ जिनके पत्ते लिखने के काम के नहीं) की पूजा करके प्रार्थना की, तो वे सवेरे श्रीताड़ हो गए। फिर ग्रन्थ लिखे जाने लगे।[1] हेमचन्द्र ने कई लक्ष श्लोकों के ग्रन्थ बनाए जिनमें प्रधान ये हैं—'अभिधानचिंतामणि' आदि कई कोश, 'काव्यानुशासन', 'छंदोनुशासन', 'देशीनाममाला', 'द्व्याश्रय काव्य' (संस्कृत तथा

१. जिनमंडन का कुमारपालप्रबन्ध : पृ० ९६-९७

प्राकृत), 'योगशास्त्र', 'धातुपारायण', 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित', 'परिशिष्ट-पर्व', 'शब्दानुशासन' (व्याकरण)। उसने अपने रचे ग्रन्थों की प्रायः वृत्तियाँ भी बनाई हैं। ८४ वर्ष की अवस्था में अनशन से हेमचन्द्र ने प्राणत्याग किया। कुमारपाल भी लगभग छः मास पीछे मर गया।

सिद्धहैमव्याकरण की रचना[1]

पहले कभी हेमचन्द्र 'परब्रह्ममय परमपुरुष प्रणीतमातृका अष्टादशलिपि-विन्यासप्रकटन प्रवीण' ब्राह्मी आदि मूर्तियों को देखने कश्मीर चले थे, तो भगवती ने उनका मार्गक्लेश बचाने के लिए मार्ग ही में आकर दर्शन तथा विद्यामंत्र दिए थे। सिद्धराज जयसिंह के यहां उनका पांडित्य देखकर कई असहिष्णु (ब्राह्मणों) ने कहा कि हमारे शास्त्र (पाणिनीय व्याकरण) के पढ़ने से इनकी यह विद्वत्ता है। सिद्ध-राज के पूछने पर हेमचन्द्र ने कहा कि महावीर जिन ने शिशु अवस्था में जो इन्द्र के सामने उपदेश दिया था वह जैनेंद्र व्याकरण ही हम पढ़ते हैं।[2] राजा ने कहा कि पुराने को छोड़कर किसी समीप के कर्ता का नाम लो। कहा कि सिद्धराज सहायक हो तो नया पंचांग व्याकरण बनावें। राजा के स्वीकार करने पर हेमचन्द्र ने कहा कि कश्मीर में प्रवरपुर[3] में भारतीकोश में पुरातन आठ व्याकरणों की प्रति है, मंगा दीजिए। प्रधानों ने जाकर भारती की स्तुति की तो भारती ने कहा हेमचन्द्र मेरी ही मूर्ति है, प्रतियां दे दो। प्रतियाँ आईं। बहुत देशों से अट्ठारह व्याकरण लाए गए। गुरु (हेमचन्द्र) ने वर्ष भर में सवा लाख ग्रन्थ का व्याकरण बनाकर राजा के हाथी पर धर, चंवर डुलाते हुए राजसभा में ला पधराया और सुनाया। अमर्षी ब्राह्मणों ने कहा कि बिना शुद्धाशुद्ध परीक्षा के राजा के सरस्वती कोश में रखने योग्य नहीं। कश्मीर में चन्द्रकांत मणि की बनी हुई ब्राह्मी की मूर्ति है, उसके समक्ष जलकुंड में पुस्तक फेंकी जाती है। यदि बिना भीगे निकल आवे, तो

१. जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबन्ध' से, पृ० १२ (२), १६ (२) प्रभृति।
२. देखो—ऊपर, पृ० १२५, टि० २।
३. विल्हण कवि की जन्मभूमि।

शुद्ध जानो, अन्यथा नहीं ।' राजा ने संशयाकुल होकर वहां भेज दी । पंडितों के सामने दो घड़ी तक व्याकरण कश्मीर के सरस्वती कुंड में पड़ा रहा । अक्लिन्न निकला । राजा को जब प्रधानों ने यह सुनाया तो ३०० लेखकों से तीन वर्ष तक प्रतियां[2] लिखवाकर अट्ठारह देशों में[3] पठन-पाठन के लिए भेजीं ।

हेमचन्द्र और देशी

युव (न्) (=जवान) के तारतम्य वाचक रूप यवीयस्, यविष्ठ और अल्प के अल्पीयस् और अल्पिष्ठ होते हैं । इन्हीं अर्थों में कनीयस् और कनिष्ठ भी होते हैं । पाणिनि का इस बात के कहने का ढंग यह है कि युव और अल्प की जगह विकल्प से कन् हो जाता है ।[4] इसका ऐतिहासिक अर्थ यह है कि पणिनि के समय में अकेला कन् छोटे के अर्थ में नहीं आता था, केवल इसके तारतम्यवाचक रूप आते थे । वैया-करणों की कहने की चाल है कि पाणिनि के सूत्र से अल्पीयस् और यवीयस् की

१. भास और व्यास के काव्यों की अग्नि-परीक्षा के बारे में देखो—ना० प्रा० पत्रिका, भा० १, पृ० १०० । राजशेखर ने 'सूक्तिमुक्तावली' में भास के 'स्वप्नवासवदत्त' के न जलने का उल्लेख किया है (दाहकोऽभून्न पावकः) और गौडवहो के कर्ता वाक्पतिराज ने शायद इसीलिए भास को जलणमित्त (ज्वलन-मित्र) कहा है ; राजशेखरसूरि (जैन) के 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' में कश्मीर में सरस्वती के हाथ में श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' के रक्खे जाने और सरस्वती के उस काव्य में अपने ऊपर किए व्यक्तिगत आक्रमण से चिढ़कर उसे फेंक देने का उल्लेख है । श्रीहर्ष चिढ़कर कहता है कि 'कुपितैः किं छुट्यते कलंकात ?' मेरे पास 'गन्धोत्तमानिर्णय' नामक एक खंडित पोथी है जिसमें शाक्त पूजा में मद्य के उपभोग के विधान का निर्णय है । उसमें लिखा है कि भागवत की कई टीकाएं पानी में डाल दी थीं किंतु श्रीधरस्वामी की टीका बिना गले निकली । यों ही माघ काव्य भी । गन्धोत्तमा-निर्णयकार तो इसलिए इन कथाओं को लाया है कि श्रीधर स्वामी की टीका में 'लोके-व्यवायामिषमद्य०—' श्लोक की व्याख्या तथा माघकाव्य में बलदेव के वर्णन में 'घूर्णयन् मदिरास्वाद०—' श्लोक उसके पक्ष में काम देता है । किंतु पानी में डालकर शास्त्रपरीक्षा के सम्प्रदाय की कथा होने से यहां लिख दी गई ।

२. कई संस्कृताभिमानी मातृका, कोष या प्रतिकृति की जगह प्रतिः लिखने के लिए म० म० सुधाकर द्विवेदी की हँसी किया करते हैं किंतु जैन या देशभाषानुगामी संस्कृत में यह शब्द सं० १४६२ से मिलता है । जिनमंडन ने प्रतयः, प्रतीः; कई बार लिखा है ।

३. अट्ठारह देश—कर्नाट, गुर्जर, लाट, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु, उच्च, भंभेरी, मरु, मालव, कोंकण, राष्ट्र, कीर, जालंधर, सपादलक्ष, मेवाड़, दीप, आभीर [जिनमंडन का कुमारपाल-प्रबन्ध, पत्र ८१ (१)]

४. ५।३।६४ ।

जगह कनीयस्, और अल्पिष्ठ और यविष्ठ की जगह कनिष्ठ हो जाता है। यह कुछ नहीं होता। व्याकरण के सूत्र कोई नई चीज नहीं बना सकते। वे जो हैं उसी को नियम से रख देते हैं। 'अमुक सूत्र से ऐसा हुआ' इसकी जगह वैज्ञानिक रीति से यही कहना चाहिए कि 'ऐसा भाषा में होता है, उसका उल्लेख अमुक सूत्र में कर दिया है, कन् का जिसका अर्थ छोटा है, अकेले विशेषण की तरह उस समय संस्कृत में व्यवहृत होना छूट गया हो। 'कन्या' में वह मौजूद है। कन्या का पुत्र 'कानीन' बनाने के लिए पाणिनि ने कन्या की जगह 'कनीन' मानकर प्रत्यय लगाया है[1] वह काम कन् से प्रत्यय लगाकर भी हो सकता था, यदि 'कन्' की सत्ता पाणिनि मानता। नेपाली कान्-छा (छोटा), हिंदी कन् + अँगुरिया, नारंगी की 'कन्नी' फांक आदि में वह कन् चलता आया है। यों ही जहां पाणिनि ने 'ब्रू' के कुछ रूपों की जगह 'आह' का होना, हन् का 'वध्' हो जाना और 'अस्' का 'भू' हो जाना कहा है उसका यही ऐतिहासिक अर्थ है कि 'आह', 'अस्' और 'वध्' धाधुओं के पहले पूरे रूप होते होंगे, उस समय ये धातु अधूरे रह गए थे, पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुओं के रूपों में मिला दिया। पाणिनि के वैदिक रूपों के विवेचन से यह पता लग जाता है कि किस समय तक कैसे प्रयोग होते थे, कब से क्या बदल हुई। प्राकृत व्याकरणों ने बद्धमूल संस्कृत को प्रकृति मानकर वे बद्धमूल प्राकृत का व्याकरण लिखा है। संस्कृत से क्या-क्या परिवर्तन होते हैं। उन्हीं को गिना है, प्राकृत को भाषा मानकर नहीं चले। चल भी नहीं सकते थे, उनकी लक्ष्य प्राकृत भी किताबी अर्थात् जड़ प्राकृत थी। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के लगभग दो पाद इसी में चले गए हैं कि किस संस्कृत शब्द में किस अक्षर की जगह क्या हो जाता है। यदि पाणिनि की तरह स्थान, प्रयत्न अन्तरतम आदि का विचार प्राकृत वाले करते तो संक्षेप भी होता और वैज्ञानिक नियम भी बन जाते। बिना उसके प्राकृत व्याकरण अनियम परिवर्तनों की परिसंख्या मात्र हो गया है। हेमचन्द्र कहता है कि ङसि (पंचमी एक वचन, अपादान) की जगह प्राकृत में त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो आते हैं, या कोरी संज्ञा बिना प्रत्यय के आती है। बहुवचन में इनके सिवाय सुन्तो भी आता है।[2] आगे चलकर उसने मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष के कई रूप गिनाए हैं।[3] यह जानना बहुत रोचक और ज्ञानदायक होता कि क्या ये सभी रूप प्राकृत में एक ही समय चल गए या समय-समय पर आए? इससे प्राकृत की तहें मालूम हो जातीं। सम्बन्ध के अर्थ में केरअ (सं० केरक, हिं० केरा) प्रत्यय आता है, हेम-

१. ४।१।११६
२. ८।३।८,६
३. ८।३।६०-११७

चन्द्र ने उसे अपभ्रंश में आदेश गिना[1] है प्राकृत में नहीं, किन्तु वह मृच्छकटिक और शाकुन्तल की प्राकृत में कई जगह मिलता है ।

प्राकृतों में जो संस्कृतसम या तत्सम शब्द हैं वे संस्कृत से जाने जाते हैं । जो संस्कृतभव या तद्भव हैं उन्हें लोग, आगम, वर्णविकार आदि से इन वैयाकरणों ने समझाया है । रहे देशी । ये अव्युत्पन्न प्रातिपादिक हैं जिन्हें नई-पुरानी प्राकृतों वाले व्यवहार करते आए हैं । इनका प्रकृति-प्रत्यय विचार कठिन है । सम्भव है कि अधिक खोज होने पर इनमें से कई दूसरी तीसरी पीढ़ी के तद्भव सिद्ध हो जायं । हेमचन्द्र ने देशों का वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया । अपनी 'देशी-नाममाला' में उसने क्या लिया है, क्या नहीं लिया, इसका उल्लेख वह यों करता है—(१) जो लक्षण ग्रन्थ (सिद्धहैमशब्दानुशासन) में प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग से सिद्ध नहीं किए गए वे यहां लिए गए हैं, (२) जो धातु, वैयाकरण तथा कोशकारों ने देशी में गिने हैं किन्तु जिन्हें हमने धातुओं के आदेश माना है वे नहीं लिए गए, (३) जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग से संस्कृत ही सिद्ध होते हैं किन्तु संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं वे यहां लिए गए हैं, जैसे अमृत-निर्गम=चंद्र, छिन्न-उद्भवा=दूब, महानट=शिव इत्यादि, (४) जो संस्कृत के कोशों में नहीं हैं, किन्तु गौण लक्षणा या शक्ति से जिनका अर्थ बैठ जाता है, जैसे बइल्ल (=बैल)=मूर्ख, वे नहीं लिए गए । फिर वह कहता है कि महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि देशों में जो शब्द प्रसिद्ध हैं (जैसे मगा=पीछे, हिंग=जार) उन्हें गिना जाय तो देशों के अनंत होने से पुरुषायुष से भी उनका संग्रह नहीं हो सकता इसलिए "अनादि प्रसिद्धप्राकृतभाषाविशेष" ही देशी कहा गया है । अपनी पुष्टि में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है कि दिव्ययुगसहस्र में वाचस्पति की बुद्धि भी इसमें समर्थ नहीं हो सकती कि देशों में प्रसिद्ध शब्दों को पूरी तरह चुन सके ।[2] इससे स्पष्ट है कि मनमानी की गई है,[3] संस्कृत प्रयोग को प्रमाण न मानकर कोशों

१. ८।४।४२२

२. देशी नाममाला, गाथा २-३, मिलाओ : पतंजलि—'बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्यवर्ष सहस्र शब्दपारायण कराया किंतु अंत न पाया । बृहस्पति सा कहने वाला, इन्द्र पढ़नेवाला, दिव्य वर्षसहस्र अध्ययन-काल, तो भी अन्त न पाया । आजकल जो बहुत जीवे वह सौ वर्ष जीवे इत्यादि (प्रथम आह्निक) ।

३. वैयाकरणों की मनमानी से पुरानी लिखने की रीति भी नष्ट हो गई । प्राकृत पोथियों के लिखने वाले 'शोध शोध' कर लिखने लगे इसी से दक्षिण की प्राकृत की पुस्तकों में पुराने पाठ मिलते हैं उत्तर की पुस्तकों में वे 'सुधार' दिए गए हैं (बार्नेट, ज० रा० ए० सो० अक्टोबर, १९२१) । इसी शोधने के प्रताप से 'भृगनेवासु रात्रिषु' का 'मृगनेत्रासु रात्रिषु' हो गया था (प्रतिभा, वर्ष ३) भागवत के दक्षिणी वैष्णव टीकाकारों ने भागवत में जो

को माना है। क्या हुआ जो अमृतनिर्गम और महानट चन्द्रमा और शिव के अर्थ में संस्कृत कोशों में नहीं दिए? प्रकृति प्रत्यय विभाग और शक्ति, रूढ़ि आदि से वे संस्कृत ही हैं। यों (३) और (४) में परस्पर विरोध आता है।

संस्कृत में 'अप्रयुक्त' का विचार करते हुए पतंजलि ने कहा है कि 'उपलब्धि में यत्न करो।' शब्द का प्रयोग-विषय बड़ा है। सात द्वीप की पृथ्वी, तीन लोक, चार वेद, अंग और रहस्य सहित' उनके बहुत से भेद, १०० शाखा अध्वर्युवेद की, सामवेद के १००० मार्ग, २१ तरह का वाह्‌वृच्य (ऋग्वेद), नौ तरह का अथर्वण वेद, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक, इतना शब्द का प्रयोग-विषय है। इतने शब्द के प्रयोग-विषय को बिना सुने-विचारे शब्द अप्रयुक्त हैं, यह कहना साहस मात्र है (पहला आह्निक)। ऐसे ही (१) (२) में विरोध आता है। धातुओं में हेमचन्द्र ने बड़ा अद्‌भुत काम किया है। एक धातु प्रधान मान लिया है। उसी अर्थ के और धातुओं को उसका आदेश मानकर झगड़ा तै किया है। जैसे, कहइ (कथयति) धातु माना। अब वज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणाइ, संघइ, बोल्लइ, चवइ, जंपइ, सीसइ, साहइ को विकल्प से, 'कहइ' का आदेश कह दिया है।[1] उब्बुक्कइ को इनमें नहीं गिना क्योंकि उसे उत् + बुक्क से निकला माना है। यों देखा जाय तो वज्जरइ उज्जरति से, पज्जरइ प्रोच्चरति से, पिसुणइ पिशुनयति से, संघइ संख्याति से, जंपइ जल्पति से निकल सकता है। फिर हेमचन्द्र लिखते हैं—"औरों ने इन्हें देशी शब्दों में पढ़ा है किन्तु हमने इन्हें धात्वादेश कर दिया कि विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित हो जायँ, ऐसा करने से वज्जरिओ = कथित, वज्जरिऊण = कथयित्वा आदि हजारों रूप सिद्ध हो जाते हैं।" यह तो मनमानी हुई। या तो इन्हें स्वतन्त्र धातु मानते, या इनमें तद्‌भव और देशी की छाँट करते। वैयाकरणों के स्वभाव से हेमचन्द्र कहते हैं कि हमने इन्हें आदेश इसलिए गिना है कि इनसे प्रत्यय हो सकें, ये विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित हो जायं। पतंजलि वैयाकरणों को सावधान कर गए हैं कि 'जैसे घड़े से काम होने पर लोग कुम्हार के यहां जाते हैं कि हमें घड़ा बना दे वैसे शब्द का काम पड़ने पर कोई वैयाकरण के यहां नहीं जाता कि भाई हमें काम है, शब्द गढ़ दे।'[2] किन्तु वैयाकरण समझते हैं कि बिना उनके प्रतिष्ठित किए लोग इन धातुओं से प्रत्यय ही न कर सकेंगे। मुर्गा सवेरा होने पर बोलता है किन्तु फ्रेंच भाषा के एक नाटक में एक मुर्गे को यह अभिमान

वैदिक प्रयोग (आर्ष) हैं उन्हें बदलकर वर्तमान संस्कृत कर दिया है, श्रीधरस्वामी ने नहीं, वह कुम्भकोणं संस्करण की टिप्पणियों से स्पष्ट है। उन्होंने भागवत को 'शुद्ध' किया किंतु क्या उसकी प्राचीनता का लोप अपने हाथों नहीं किया?

१. ८।४।२

२. पहला आह्निक।

होना बताया गया है कि मैं न बोलूंगा तो सवेरा ही न होगा। अस्तु। यों चौथे पाद में कई धातुओं के आदेश गिनाए हैं जिनमें कई तो तद्भव धातु हैं और कुछ देशी। जैसे—भ्रम (=घूमना) के अट्ठारह आदेशों में[1] चक्कम्मइ—चङ्क्रम से, भम्मडइ, भमडइ, भमाडइ—भ्रम से ही स्वार्थ में 'ड' लगाकर, तलअण्टइ—तल + अट से, भुमइ, फुमइ—भ्रम से, परीइ, परइ—परि + इ से, तद्भव माने जा सकते हैं। टिरिटिल्लइ, ढुण्ढुल्लइ, ढण्ढलइ, झण्टइ, झम्पइ, गुमइ, फुसइ, ढुमइ, ढुसइ रहे, इन्हें देशी धातु मानो या अनुकरण आदि से बना समझो। देशी के भंडार में से संस्कृत वाले 'संस्कृत' करके और प्राकृत वाले यों ही लेते रहे। पहलों ने यह नहीं कहा कि हमने लिया, वे यही कहते गए कि हमारा ही है। दूसरों ने देशी और तद्भवों की छांट न की, क्योंकि तद्भवों को अपने थोड़े से नियमों से ही बंधा माना, व्यत्यय का विचार न किया।

आगे हम पुरानी हिन्दी कविता को और भी पीछे ढूंढने का यत्न करेंगे। □

१. ८।४।१६१

उदाहरणांश

(प्रथम भाग)

हेमचन्द्र की रचना के नमूने

(१)

गिरिहेंवि आणिउ पाणिउ पिज्जइ,
तरुहेंवि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ।
गिरिहुँव तरुहुँव पडिअउ अच्छइ,
विसयहिं तहवि विराउ न गच्छइ ॥१६॥

[हिन्दी—सम = गिरहुँ भि आन्यो पानी पीजै,
तरुहुँ भि निपत्यो फल भक्खीजै।
गिरिहुँ भि तरुहुँ भि पडियो आछै,
विषयहँ तदपि विराग न गच्छै ॥]

गिरिहे—अपादान, तरुहे—सम्बन्ध, गिरिहुं, तरुहुं—अपादान, पडिअउ—निष्ठा, अच्छइ—आछै, छै, सं० आस्ते।

(२)

जो जहां होतउ सो तहां होतउ,
सत्तु वि मित्तु वि किहेंविहु आवहु।
जन्हिविहु तहिंविहु मग्गे लोणा,
एक्कएँ दिट्ठिहि दोन्निवि जोअहु ॥२६॥

[हिन्दी—सम=**जो जहँ होतो सो तहँ होतो,**
शत्रु भि मीत भि कोइहि आवो।
जहँ भी तहँ भी मारग-लीना,
एकहिं दीठिहिं दोनहिं जोहो ॥]

जहाँ होतउ—जहां होता हुआ (वर्तमान धातुज)=जहाँ से, लीण—लगे हुए लीन।

(३)

अम्हे निन्दहु कोवि जणु, अम्हइँ वण्णउ कोवि।
अम्हे निन्दहुँ कंवि नवि, नम्हइं वण्णहुं कंवि ॥३७॥

[हिन्दी—सम=**हमें निन्दो कोई जन, हमें वरनो कोइ।**
हम निन्दें कोई (को) भी नहीं, न हम वरनैं कोइ ॥]

अम्हे—अम्हइ—पहला कर्म, दूसरा कर्ता। क्रिया से कारक का पता चलता है, विभक्ति से नहीं।

(४)

रे मण करसि कि आलडी, बिसया अच्छहु दूरि।
करणइँ अच्छह रुन्धिअइँ, कड्ढउँ सिवफलु भूरि ॥४१॥

रे मन,(तू) करता है, क्यों (किमि), आलडी, हे विषयो ! रहो, दूर, हे कारणो (इन्द्रियाँ) ! रहो रुंधे हुए, (मैं) काढ़ूँ, शिवफल (मोक्ष), बहुत।

आलडी—आल, अनर्थ, ऊलजलूल, मिलाओ—म झंखहि आलु (आगे नं० ६३), **अच्छहु, अच्छह**—दे० ऊपर (१), **कड्ढउँ**—निकालकर अपने बस करूँ।

(५)

संजम—लीणहों मोक्खसुहु निच्छइं होसइ तासु।
पिय बलि कीसु भणन्तिअउ णाइं पहुच्चाहि जासु ॥४३॥

संयम—लीन का (को), मोक्षसुख निश्चय, होगा, उसका (उसको) 'हे पिया, बलि, की जाती हूँ' (ऐसा), कहती हुई, (स्त्रियाँ), नहीं प्रभुत्व (पाती) हैं, जिसका (जिसपर)।

होसइ—होसें (प्रबन्ध नं० ३), **बलि कीसु**—मैं बल जाती हूं, बलि की जाऊँ, **भणन्तिअउ**—भणन्तियाँ, **पहुच्चहिं**—प्रभवन्ति (सं०)।

(६)

कउ वढ भमिअइ भवगहणि मुक्ख कहन्तिहु होइ।
एँहु जाणोवउं जइ मणसि तो जिण आगम जोइ ॥६१॥

क्यों, वढ ! (मूर्ख), भ्रमा जाता है, भवगहन में, मोक्ष, कहाँ ते, होय, यह, जानने को, यदि, मन में (रखता) है, तो जिनागम, देख।

जाणेवउं—जाणेवो, जानवो, **मणसि**—मन्यसे (सं०)।

(७)

निअम-विहूणा रत्तिहिवि खाहिं जि कसरक्केंहिं।
हुहुरु पडन्ति ति पावँद्रहि भमडहिं भवलक्खेंहिं ॥६८॥

नियम विहीन, रात में भी, खांय जो कसरक्कों से, हुहुरु करके, पड़ते हैं, वे पापदह में, भ्रमते हैं, भव (जन्म)—लक्षों में।

कसरक्केंहिं—अनुकरण, कसर कसर करते हुए गड़प-गड़प करते, **हुहुरु**-पड़ने या पड़ने के समय चिल्लाने का अनुसरण, **ति**—ते, **द्रह**—दह, ह्रद।

(८)

सग्गहों केँहिँ करि जीवदय दमु करि मोक्खहोँ रेसि।
कहि कसु रेंसि तुहुँ अब कम्मारम्भ करेसि ॥७०॥

स्वर्ग के, लिए, कर, जीवदया, दम, कर, मोक्ष के, लिए, कह, किसके, लिए, तू, और कर्मारम्भ, करता है ?

केंहिं, रेसि, रेंसि, तेंहिं, तणेण, प्रत्यय तादर्थ्य में होते हैं (हेमचन्द्र : ८।४।-४२५)। इसका अर्थ वही है जो 'सेती' का, किसके सेती ?

(९)

कायकुडुल्ली निरु अथिर जीवियडउ चलु एहु।
ए जाणिवि भवदोसडा असुहउ भावुउ चएहु ॥७२॥

कायकुटी, निश्चय, अस्थिर (है), जीवित, चंचल, (है) यह, ये, जानकर, भव (संसार) दोष, अशुभ, भाव, त्यजो ।

कुडुल्ली, जीवियडउ, दोसडा में उल्ल, अड, ड स्वार्थिक हैं ।

(१०)

ते धन्ना कन्नुल्लडा हिअउल्ला ति कयत्थ ।
जो खणिखणिवि नवुल्लडअ घुण्टहिँ धरहिँ सअत्थ ॥७३॥

वे, धन्य (हैं), कान, हृदय, वे, कृतार्थ (हैं) जो, क्षण-क्षण में, नए, सुअर्थों (या श्रुतार्थों) को घूँटते (घूँटों से पीते) हैं, और धरते हैं ।

कन्नुल्लड, हिअउल्ल, नउल्लडअ—स्वार्थ में कान और हिय के लिए **घुटहिं** और **धरहिं** यथासंख्य लगाना ।

(११)

पइठी कन्नि जिणगमहोँ वत्तडिआबि हु जासु ।
अम्हारउँ तुम्हारउँ वि एहु ममत्तु न तासु ॥७४॥

[हिन्दी—सम—पैंठी कान जिनागम (की) बातडी भी जासु ।
हमारो तुम्हारो यह ममत्व न तासु ।]

वत्तडिआ—बात, देखो **रत्तडी** (आगे नं० २)

इन उदाहरणों में व्याख्यान या व्याकरण का विस्तार नहीं किया गया है । आगे दूसरे भाग में जहाँ इनसे मिलते हुए दोहे या पद आए हैं वहाँ देखना चाहिए । अपने व्याकरण के सूत्रों को पहले प्राचीन उदाहरणों से समझाकर हेमचन्द्र ने ये नये उदाहरणों के संग्रहश्लोक बनाए हैं जिनमें वे ही या उनसे मिलते हुए उदाहरण विषय के अनुसार यथास्थान जमाकर रक्खे हैं ।

द्वितीय भाग

(१)

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्ण रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥

ढोला तो साँवला है नायिका चंपक के वर्ण की है, मानो सुवर्ण की रेखा कसौटी पर दी हुई हो।

ढोल्ला—सं० दुर्लभ, नायक, मारवाड़ी गीतों में ढोला बड़ा प्रेम का शब्द है, 'गोरी छाई छै रूप ढोला धीराँ-धीराँ आव'। **धण**—गृह की स्वामिनी, बीकानेर की ओर अब भी स्त्री को 'धन' कहते हैं। थाँने आय पुजास्यां गणगोर सुन्दर धण! जावा द्यो जी' (मारवाड़ी गीत)। **णाइ**-नाईं, सं० ज्ञा धातु से, जाना जाता है। **रेह**-रेख। **कस**-वट्ट, सं० कषपट्ट, कसवटी, कसौटी। **दिण्णी**—दीनी।

इसी भाव का एक दोहा 'कुमारपाल प्रतिबोध' में से दिया जा चुका है (पत्रिका : भाग २, पृ० १४५)। 'दोधकवृत्ति' के कर्ता ने वृथा ही व्यंग्य को खोलकर इस चित्र का आनंद बिगाड़ दिया है कि "विपरीतरतौ एव एतत् उपमानं संभाव्यते!"

(२)

ढोल्ला मइं तुहुं वारिया (यो) मा कुरु दोहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु॥

ढोला! मैंने, तूँ, बारा (=निवारण किया) है, मत, कर, दीर्घ, मान, नींद से, जाएगी, रात, झटपट, होता है, विहान (=सवेरा) नायिका नायक को मनाती है।

यह दोहा वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' की प्रति में पहुंच गया है जिससे तथा प्राकृत व्याकरणकार वररुचि तथा वार्तिककार कात्यायन को एक समझने से एक विद्वान भ्रम से इस कविता को बहुत पुरानी मान बैठे हैं। पुरानी पोथियों से जिन्हें काम पड़ा है वे जानते हैं कि पढ़ते समय उदाहरण टिप्पणी आदि पत्रे की आयु पर लिख लिए जाते हैं और उस पोथी से प्रति-उतारनेवाला उन्हें मूल में घुसेड़ देता है। विद्वान् ने यह नहीं देखा कि यह दोहा और इसका सूत्र एक ही प्रति में हैं, उसने छपी पुस्तक को आदि से अन्त तक वररुचि की ज्यों-की-त्यों कृति मान लिया। व्याकरण के ग्रंथ विचार, समय, उदाहरण और टिप्पणियों से यों ही बढ़ जाते हैं। इस विषय को अधिक बढ़ाना व्यर्थ है। संस्कृत व्याकरण के वार्तिककार वररुचि-कात्यायन, पाली व्याकरण का कच्चाअन, और प्राकृत-प्रकाश का वररुचि तीनों एक कभी नहीं हैं।

(३)

विट्टीए मइ भणिय तुहुँ मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पविट्ठि॥

बिटिया ! मैंने, भणी (=कही गई) तू, मत, कर, बाँकी, दीठ, पुत्रि ! सकर्णी (=कानवाली, नुकीली) **भल्ली** (छोटा भाला) जिम, मारै, हिये में, पैठी (वह)। वृद्धा कुट्टिनी नायिका को समझाती है। **बिट्टीए**—संबोधन का ए, **पविट्ठि**—प्रविष्ठा, सं० प्रविष्ठी*, हिं-पैठी।

(४)

एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसम जाणीअइ जो नवि वालइ वग्ग॥

ये ही, वे, घोड़े (हैं), यही, स्थली (है), ये ही, वे, निशित (=पैने), खड्ग (हैं), यहां मनुष्यत्व, जाना जाता है, जो, नहीं भी, फिरावे (घोड़ों की) बाग। ये घोड़े हों, यही रणस्थल हो और ये ही धारदार तलवार हों, वहाँ जो घोड़े की बाग मोड़कर भाग न जाय, सामने डटै, तो यहाँ मनुष्यत्व (मरदानगी) जाना जाय। **मुणीसम**—संस्कृत में कुछ ही स्थलों में 'इम' लगकर पुल्लिग भाववाचक बनता है, प्राकृत में सब जगह। **नवि**-न+अपि। **बालइ**—वल् (घूमना) का प्रेरणार्थक। राजपूताने में यह दोहा प्रचलित है, ठाकुर भूरसिंह जी शेखावत के विविध संग्रह में उद्धृत है। देखो, ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृष्ठ १९, टि० ५।

(५)

दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडिअउ॥

यह किसी पुरानी रामायण से है। दशमुख (=रावण), भुवन-भयंकर, तोषितसंकर, निर्गत (=निकला), रथवर पर, चढ़ा हुआ, चौमुख (=ब्रह्मा) को, छैमुख (=कार्तिकेय) को, ध्यान करके, एक में, लाकर, मानो, दैव ने, घड़ा (था वह)। ब्रह्मा के चार और स्वामिकार्तिक के छै, यों दस मुँह मानो दैव ने, एक में मिलाकर उसे बनाया था। **णिग्गउ, चडियउ घडियउ**-निगयो, चढियो, घडियो। **झाइवि, लाइवि**-ध्या (न) कर, लाकर। **णावइ**, मानो, (सं० ज्ञायते) मिलाओ **नाइं, नाऊं**, मारवाड़ी **न्यूं**, उपमा में; **नावइ,, नावें** उत्प्रेक्षा में और वैदिक **न** उपमावाचक।

(६)

अगलिअ नेह-निवट्टाहं जोअण लक्खुवि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ॥

न गले हुए नेह से निबटे हुओं का (=को), योजन लाख भी जाकर, सौ वर्ष से, भी, जो, मिलता है, हे सही (सखी), सौख्य का, वह, ठाँव (है)। सच्चा प्रेम-देश और काल के बंधन नहीं मानता। जो अगलित स्नेह में पगे हैं उन्हें लाख योजन चलकर सौ वर्ष में भी जो (नायक या नायिका) मिले तो सौख्य का वही स्थान है। **जाउ**-पूर्वकालिक।

(७)

अंगहिं अंग न मिलिअउ हलि अहरें अहरु न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु॥

अंग से, अंग, न मिला, हाल, अधर ने, अधर, न प्राप्त (किया), पिया का, जोहती (हुई) का, मुख कमल, यों ही, सुरत, समाप्त (हुआ)। यहाँ पर "पिय जो अन्तिहे मुहकमलु" का अर्थ 'पिय का मुखकमल जोहती हुई का' किया गया है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पिय को देखती हुई का मुख-कमल यों ही सुरा (मद) से समत्त (मस्त) हो गया। पहले में '**पिअ**' का दूर के '**मुहकमलु**' से संबंध कारक मानकर 'मुहकमलु' को 'जोअन्तिहे' का कर्म माना है, दूसरे में 'पिअ' को 'जोहन्तिहे' का कर्म और मुहकमलु को कर्ता। 'दोधकवृत्ति' के कर्ता ने पहला अर्थ माना है किंतु इस विशुद्ध Platonic प्रेम के चित्र को कहकर वीभत्स कर दिया है कि 'अतिरसातिरेकात् संभोगात् पूर्वमेव द्राव इति भावः!' इसके बिना कौन सा अर्थ नहीं खिलता था? **एम्बइ**-पंजाबी एंवें, योंही।

(८)

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण॥

जो, मुझे, दीन्हें, दिवस, दयित ने, प्रवसते (प्रवास पर जाते हुए) ने, तिन्हें, गिनती (हुई) की, अंगुलियाँ जर्जरित (हो गईं), नख से। पति ने प्रवास पर जाते समय बता दिया था कि इतने दिनों में लौटूंगा। वह समय बीत जाने पर, यह देखने के लिए कि मेरे गिनने में कोई भूल तो नहीं हो गई, गिनते-गिनते उंगलियाँ

घिस चलीं। 'गिणतां गिणतां घस गई आँगलियाँ री रेख' (मारवाड़ी दोहा)। **महु**-मोहि, **दिअहडा**-धियाड़ा, देखो-पहले पत्रिका : भाग २, पृ० ३५। **दइएं**-दयितें (पंजाबी) कर्ता का एं,—राजें गद्दण व्याही, हिंदी मइं, मैं।

(६)

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चुवि परिहरइ सम्प्राणेइ खलाइं॥

सागर, ऊपर, तृण, धरै (है), तल में, घालता (=रखता या भेजता) है, रतनों को, (यों ही) स्वामी, सु-भृत्य को भी, परिहरै (=छोड़ता है) संमानित करता है, खलों को।

(१०)

गुर्णाहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति।
केसरि न लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेंहि घेप्पन्ति॥

गुणों से, न, संपत्ति, कीर्ति, भले ही (हो जाय), फल, लिखे हुए, भोगते हैं (लोग), केसरी, न, पाता है, कौड़ी भी, गज, लाखों से, लिये जाते हैं। सब अपना-अपना लिखा हुआ कर्मफल भोगते हैं। गुणों से सम्पत्ति नहीं मिलती, कीर्ति भले ही मिल जाय। सिंह को कोई कौड़ी को भी नहीं पूछता, हाथी लाखों रुपये देकर खरीदे जाते हैं। **घेप्पन्ति**-ग्रहण किए जाते हैं, मराठी **घ्या** (सं० ग्रह), **संपइ**—क्रियापद हो तो **संपै**-संपन्न होवे, कीर्ति उसका कर्म।

(११)

वच्छहे गृण्हइ फलइं जगु कडुपल्लव वज्जेइ।
तोवि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइं॥

वृक्ष से, ग्रहण करता है, फलों को, जन, कटु पल्लवों को, वरजता (छोड़ता) है, तो भी, महाद्रुम, सुजन, जिम, तिन्हें, उत्संग (गोद) में, धरता है। लोग कड़े पत्तों को छोड़ दें तो छोड़ दें, वृक्ष थोड़े ही उन्हें छोड़ देगा?

(१२)

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ।
जिह गिरि-सिंगहुँ पडिअ सिल अन्नुवि चूरु करेइ॥

दूर (की) उड़ान से (ऊँचे पद से), पड़ा हुआ, खल, अपने, जन (को), मारता है, ज्यों, गिरि शृंग से, पड़ी हुई, शिला, अन्य को, भी, चूर, करती है। **मारेइ** –मारे, करेइ करे। दुष्ट का बढ़ना अपने कुल के ही अहित के लिए होता है।

(१३)

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स।
तसु दउं कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु॥

जो, गुण, गुपाता (छिपाता) है, अपने, प्रकट, करता है। परके; तिसकी, मैं, कलियुग में, दुर्लभ की, बलि, किया जाऊं सुजन की। **गोवइ**-गोपै, छिपाता है, गुप्त करता है, मिलाओ गुइयाँ = अंतरंग (गुप्त) सखी। **हउं** = हों, मैं। **बलि किज्जउं**-बलिहारी जाऊँ, बल जाऊँ, बलैया लूं, देखो, पृष्ठ १७२ में (५)। दोधक-वृत्तिवाला कहता है कि बलिं पूजां क्रिये इति भावः !

(१४)

तणहं तइज्जी भंगि नवि तें अवडयडि वसन्ति।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति॥

तृणों की, तीजी, चाल, नहीं (है), तिससे, अवटतट में, बसते हैं, या, जन, (उनसे) लगकर (उनका सहारा पाकर), उतरता है, या, साथ, स्वयं डूबते हैं। अवट या विषम कूप या खड्डे के तट पर उगनेवाले तृणों के दो ही काम हैं,— या तो उनकी कृपा से डूबता आदमी बच जाय, या वे उसके साथ डूब जायँ; उनकी कोई तीसरी भंगि नहीं। अन्योक्ति में, या तो दूसरे को तार दे वा स्वयं मारा जाय।

तइज्जी-तीजी, तीसरी। नवि-न भी, नहीं। अह···अह, सं० (अथ) या···या। **सइं**-स्वयं, **सै** = सब।

(१५)

दइबु घडावइ वणि तरुहुँ, सउणिहं पक्क फलाइं।
सो वरि सुक्खु पइटठ् णवि कण्णहिं खलवयणाइं॥

दैव घटित करता (पहुँचाता, जुटाता) है, वन में, वृक्षों के; पक्षियों के (को),

पक्व फलों को, सो, बरन, सुख (है), प्रविष्ट, नहीं (सुखदायक हैं), कानों में, खल-वचन। वन में पक्षियों को दैव के जुटाए पक्के वृक्षों के फल भले किन्तु कानों में घुसे खलवचन भले नहीं। भर्तृहरि के एक प्रसिद्ध श्लोक का भाव है। **घडावइ**-सं० घटयति। **सउणि**-सं० शकुनि। **वरि**-वरु, वरन। **सुक्खु**-सौख्य। **पइट्ठ**= पैठा। **णवि**—न+अपि।

(१६)

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउं कि न जुत्तउं दुहुँ दिसिहिं खण्डइं दोण्णि करेवि॥

धवल, विसूरता है, स्वामि का, गुरु, भार, देखकर, मैं, क्यों, न, जोता (गया), दोनों, दिशाओं में, खंड, दो करके। धवल का अर्थ श्वेत है किन्तु रूढ़ि इसकी 'धोरी' या धुर खैंचने वाले प्रबल गाड़ी के बैल में है। हेमचन्द्र के 'देशी-नाममाला' में धवल का अर्थ किया है कि जो जिस जाति में उत्तम है वही धवल है। धवल की दृढ़ता और स्वामिभक्ति पर कई मुक्तककाव्य संस्कृत तथा प्राकृत सुभाषितों में मिलते हैं। यहां पर बोझ बहुत है, एक ओर धवल जुता है, दूसरी ओर कोई मरियल, अडियल बैल है। धवल स्वामी की भारी खेप देखकर विलाप कर रहा है कि दोनों ओर दो टुकड़े करके मुझे ही क्यों न जोत दिया? **पिक्खेवि, करेवि**—पूर्वकालिक। **जुत्त**—युक्त (सं०), जोता। **दोण्णि**—दो, मराठी—दोन।

(१७)

गिरिहे सिलायलु तरुहे फल घेप्पइ नीसावँन्नु।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तोवि न रुच्चइ रन्नु॥

गिरि से, शिलातल, तरु से, फल, ग्रहण किया जाता है, निःसामान्य (बिना भेद भाव), घर, छोड़कर, (मनुष्य से); मनुष्यों को, तो भी, न रुचता है, अरण्य। **मेल्लेप्पिणु**—छोड़कर, **रन्न**—अरण्य।

(१८)

तरुहुँ वि वक्कलु फल मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउँ आयरु भिच्चु गृहन्ति॥

तरुओं से, भी, वक्कल, फल मुनि भी; परिधान (वस्त्र), अशन (भोजन), पाते हैं, स्वामिओं से, इतना अगला (=अधिक) (है कि) आदर भृत्य लेते हैं (=पाते

हैं)। खाना पहनना तो जंगल में पेड़ों से भी मिल जाता है, स्वामी से आदर ही अधिक मिलता है। **लहन्ति**—सं० लभ्। **एत्तिउ**—एतो। **अग्गलउँ**—अग्गलो, आगलो सं० अग्रल, राजस्थानी में पाँच ऊपर सत्तर को 'पाँच आगला सित्तर' कहते हैं।

(१९)

अह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु।

अब, विरल प्रभाव (है), ही, कलि (युग) में धर्म। **अह**—अथ, **जि**—जो, पादपूरक।

(२०)

अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु बाएँ सी अलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ॥

आगी से, ऊन्हा (गरम), होता है, जग, वायु से, शीतल, त्यों ही, जो पुनि आगी से शीतल (होता है), तिसके, उष्णता, किससे (हो)? **उण्हउ**—सं० उष्ण। **वाएं**—वायु से, पंजाबी वाओ, **पुणु**—पुनि। **उण्हत्तणु**—तणु भाववाचक का है।

(२१)

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तोवि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो त अग्गि कज्जु॥

विप्रियकारक, यद्यपि, प्रिय (है), तो भी, उसे, ला, आज, आग से, दहा गया, यद्यपि, घर तो, उस (से), अग्नि से, काज (ही होता है)। **विप्रियकारक**—बुरा करनेवाला। **पिउ**—पीव, पिय। **दड्ढा**—जलाया, दाढा (रामायण) सं० दग्ध।

(२२)

जिवँ जिवँ बंकिम लोअणहँ णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ॥

ज्यों, ज्यों, बाँके, लोयनों से, निरु (? कटाक्ष), साँवली, सीखती है, त्यों,

त्यों, मन्मथ (कामदेव), निज (क), शरों को, खरे पत्थर पर, तीखा करता है। मैंने बंकिम को 'लोअण' का विशेषण माना है जिससे 'निरु' का अर्थ स्पष्ट नहीं जान पड़ता, दोधकवृत्ति ने निरु का अर्थ 'निश्चय' करके 'लोचनों से निश्चय बाँकापन सीखती है' अर्थ किया है। **वम्मह**=मन्मथ। **निअय**—निजक। **खर**-तीखा। **तिक्खेइ**—तीखा से नाम-धातु।

(२३)

संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु।
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गयकुम्भइं दारन्तु॥

सौ-सौ लड़ाइयों में, जो वरना (वर्णन किया) जाता है, देख, हमारा (वह) कंत, अतिमत्त, अंकुश छोड़नेवाले, गजों के कुंभों को (वि+) दारता हुआ। **संगरसय**-संगरशत। **चत्तंकुस**-त्यक्तांकुश।

(२४)

तरुणहो त णिहो मुणिउ मइं करहु म अप्पहो घाउ।

तरुणो !, तरुणियो !, जानकर, मुझे (=मेरी बात समझकर या मुझे यहाँ उपस्थित जानकर) करो, मत, अपना, घात। **मुणिउ मइं**-मैंने समझा, या मैंने समझाया, भी हो सकता है।

(२५)

भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिंवि पवट्टइ।

भागीरथी, जिमि, भारती, मार्गों से, तीन से ही, प्रवर्तती (चलती) है। जैसे—गंगा त्रिपथगा स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तीनों में चलती है वैसी भारती (सरस्वती) के मार्ग भी तीन हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली—तीन रीतियाँ।

(२६)

सुंदर सव्वंगाउ विलासिणीओ, पेच्छन्ताण।

सुंदर सर्वांग (वाली) विलासिनिओं को देखते हुए (पुरुषों) का—

(२७)

निअ मुह-करहिंवि मुद्ध कर अन्धारइ पेडिपेक्खइ ।
ससि मण्डल-चन्दिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खइ ॥

निज मुख करों (किरणों) से, भी, मुग्धा, कर, अँधियारे में, देखती है, शशि मंडल की चाँदनी से, फिर, क्यों, न, दूर पर, देखती है ? मुख को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है उसी के उजास से उसे हाथ अँधियारे में दिखाई देता है तो चाँदनी में क्यों न दीखे ? **मुद्ध**—मुद्धि, मुग्धा, **पडिपेक्खइ**–प्रतिपेक्षते (सं०), **चन्दिमा**—चाँदनी । **पुणु**-पुनि ।

(२८)

जहिं मरगय कंतिए संवलिअं ।

जैसे, मरकत-कांति से संवलित (मिला हुआ)—

(२९)

तुच्छ-मझ्झहे तुच्छजम्पिरहे ।
तुच्छच्छ रोमावलिहे, तुच्छराय तुच्छयर-हासहे,
पियवयणु अलहन्तिहे,
तुच्छ-काय-वम्मह-निवासहे,

अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे तं अक्खणह न जाइ ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि ण माइ ॥

दूती नायक से कह रही है—हे तुच्छ-राग ! शिथिल-प्रेमवाले ! जिसका मध्य भाग तुच्छ है, जो तुच्छ (मित) जल्पन (भाषण) करती है, जिसकी रोमावलि तुच्छ और अच्छी है, जिसका हास तुच्छतर है, जिसके तुच्छ काय में मन्मथ का निवास है, जो प्रिय के वचन नहीं लभती (पाती) है, ऐसी उस धन (नायिका) का जो (कुछ) अन्य तुच्छ है वह आखा (कहा) नहीं जाता (अर्थात् इतना तुच्छ है कि मानो है ही नहीं), वह यह कि उस मुग्धा का स्तनांतर इतना तुच्छ है कि बीच में मन भी नहीं मानता । आश्चर्य है ।

'दोधक वृत्तिकार' ने इसे युग्म लिखा है पर यह एक ही 'रड्डा' छंड है, ऐसे छंद

सोमप्रभसूरि की रचना में मिलते हैं (देखो-ना०प्र० पत्रिका, भाग २, पृ०१५१ और २२५-६)। इसमें नायिका के विशेषण प्रायः बहुव्रीहि समास हैं और हे (=उच्चारण में हँ) संबंध कारक के चिह्न हैं, तहे धणहे=तहँ धणहँ=उस (का) धन का। **जम्पिर**—बोलनेवाला, **राय**–राग, प्रेम। **तुच्छयर**=तुच्छतर। **अलहन्ती**—अलभन्ती (सं०)। **वम्महु**—देखो ऊपर (२२), मन्मथ, कामदेव। **अन्नु**—आन। **जु**—जो। **अक्खण**—आखना, कहना। **कटरि**—आश्चर्य-वाचक। **मुद्धडा**—मुग्धा, 'ड' अल्पवाचक। **जें**—जिससे। **विच्चि**—बीच, पंजाबी—विच्च। **माइ**—समाइ।

(३०)

फोडेन्ति जे हियडउं अप्पणउं ताहँ पराई कवण घण।
रक्खेजहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण।।

फोड़ते हैं, जो हियड़ा (को), अपना (को), उन्हें, पराई, कौन घृणा (दया) (हो सकता है)? रक्षा करो, हे लोगो! अपने को, (क्योंकि) बाला के, जाए (उपजे) हैं, विषम (ऊँचे) स्तन। यहां 'बालहे' का अर्थ 'बाला के' किया है किंतु हेमचन्द्र इसे पंचमी या अपादान (ङसि) कहते हैं याने बाला से उपजे हैं। **घण**—घृणा, दया। **थण**—अब भी पशुओं के लिए व्यवहृत है।

(३१)

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु।।

भला, हुआ, जो, मारा, (गया), बहन! मेरा, कंत, लजाती (मैं), तो, (एक)—वयस-वालियों (सखियों) से, यदि, भागा, घर, आता (वह)। प्रसिद्ध दोहा है। **भग्गा**—भग्न, हारा हुआ, भागा। **वयंसिअहु**—वयस्याओं से या का (सं०) **वयस्**=वैस=उम्र। **लज्जेज्जं**—लजीजती, लजाती।

(३२)

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसीत्त।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति।।

वायस (कौआ), उड़ाती (हुई) ने, पिय, दीठा (देखा), सहसा इति, आधे,

वलय (कड़े, चूड़ियां) मही पर, गए, आधे फूटे, तड् इति (इस आवाज से)। प्रसिद्ध दोहा है। इसकी व्याख्या और रूपांतर पृ० १५ में दिए गए हैं। **उड्डावन्ती**--उड़ा (व) ती। **दिट्ठउ**—दीठो। **अद्ध**—आधा, सं० अर्ध।

(३३)

कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि-गण्डाइं महन्ति।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणन्ति॥

कमलों को, छोड़कर, अलिकुल, करियों के गंड (स्थलों) को, चाहते हैं, असुलभ (की) चाह, जिनके, भली (होती है) वे, न भी, दूर, गिनते हैं। **मेल्लवि**—छोड़कर, **महन्ति**—चाहते हैं, **मेच्छण**—चाहने को, **भलि**—बढ़ी, पादपूरक भी हो सकता है।

(३४)

भग्गउं देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउं परस्सु।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु॥

भागा, देखकर, निज, बल (=सेना), को, बल, पसरा (=फैला) हुआ, पर (=पराए) का, उमिलती (—खिलती) है, शशिरेखा, जिमि, हाथ में, तलवार, पिया के। **भग्ग**—भागा और भाँगा, **निअय**—निजक, **पसरियउं**—पसरियो, **उम्मिल्लइ**—उन्मीलति (सं०)।

(३५)

जइ तहो तुट्टउ नेहडा मइं सहुं नवि तिल-तार।
तं किहे वङ्कींहं लोअणींहं जोइज्जउं सय-वार॥

यदि तेरा, टूटा (है), नेह, मुझसे, साथ (=मेरे से), न ही, तिल (सी आँख की) तारा-वाले !, तो क्यों (मैं) बाँके, लोचनों से, जोही जाती हूं, सौ बार ? 'न वि' केवल पादपूरक है। स्नेह टूटा है तो ताक-झांक क्यों करते हो ? तहो तुह, तुअ। **तुट्टउ**—मारवाड़ी 'तूटना' में सं० त्रुट् की श्रुति है। **तिलतार**—तिल जैसी काली या स्निग्ध तारा (आँख की पुतली) है जिसके। **जोइज्जउं**—जोही जाती हूँ।

(३६)

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहिं तेहइ भड-घड-निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ॥

जहाँ, कटता है, शर, से, शर छिदता है, खड्ग से, खड्ग, तहाँ, तैसे, भट-घटा-निवह (वीर-सेना-समूह) में, कंत, प्रकाशता है, मार्ग ।

जहि-तहि, ठीक अर्थ जिसमें, तिसमें । **कप्पिज्जइ**—कपीजता है, कटता है, मारवाड़ी में कापना=काटना, कापी-कटा टुकड़ा (शाक आदि का) **छिज्जइ**—छीजता है (सं०) छिद्यते । **भड**—देखो : 'प्रबन्ध चिंतामणि' के अवतरणों में नं० १४ (पृ० ४७) **पयासति**—प्रकाशित करता है, उजासता है, निकालता है ।

(३७)

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ ॥
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि-मग्गसिरु ।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु ॥

एक में, आँख में, सावन, आन (=दूसरी) में, भादों, माधव (=वसंत), मही-तल की साथरी में, गंडस्थल (कपोल) में, शरद, अंगों में ग्रीष्म, सुख-बैठक (रूप) तिलवन में, मँगसिर, उस (के), मुग्धा के, मुख-पंकज में, आवासित (है), शिशिर । वियोगिनी की अवस्था है, सावन-भादों आँखों में आँसू झरने से, साथरी में नए-नए पत्ते बिछाने से वसंत, कपोल में पांडुता (पीलापन) होने से शरद, अंग सूखने से ग्रीष्म, मँगसिर में तिलों के खेत कट जाते हैं इसलिए वे उजड़े से दीखते हैं, वैसे ही सुख की बैठक नहीं रही; शिशिर में कमल मुरझा जाते हैं । **सत्थर**—साथरा (तुलसीदास), **सुहच्छी**—सुखासिका (सं०) सुखस्थिति । यह भी 'युग्म' नहीं है, एक छंद है ।

(३८)

हियड़ा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउं हय-विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्खु सयाइं ॥

हे हिय !, (तू) फूट, तडत्-इति, करके, कालक्षेप से, क्या, देखूं, हत-विधि,

कहां, स्थापन करे, मुझ बिन, दुःख-शतों को ? मेरा हिया ही सैकड़ों दुःखों का आधार है, वह फट जाय तो देखें मुआ विधि मुझे छोड़कर उन्हें कहां धरता है ? **तडत्ति**—देखो ऊपर (३२), **कालक्खेव**—समय बिताना, **ठवइ**—(सं०) स्थापयति, **पइं**—मैं ।

(३९)

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु ।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउवि फेडइ तासु ।।

कंत, मेरा, हला ! सखी ! निश्चय से, रूसता है, जिसके (=जिस पर), अर्थों से, शस्त्रों से, हाथों से भी, ठाँव भी, फेटता है, उसका ।

महारउ—महारो, म्हारो, **हलि**—संबोधन, **रूसइ**—रोष करता है, **अत्थ**—धन, दोषक वृत्ति का कर्ता जैन पंडित कहता है अर्थ=शब्दार्थों से भी । **फेडइ**—फेटता है, फेंट में लेता है, घेरता है, ढहा देता है ।

(४०)

जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णिवि अवसर निवडि आइं तिण सम गणइ विसिट्ठु ।।

जीवित, किसका (=किसको) न, वल्लभ (=प्यारा) है, धन, पुनि, किसका (=किसे), न, इष्ट (है), दोनों ही, अवसर निबटने पर, तृणसम, गिनै, विशिष्ट (जन) ।

निवडिआइं—निबटने पर, आ पड़ने पर, इसे भावलक्षण सप्तमी मानकर यह अर्थ किया है, अवसर-निवडिआहं को एक पद और 'दोण्णि' का विशेषण मानो तो अवसर पर निबटे (काम में आए हुए, खर्च हुए) इन दोनों ही को विशिष्ट मनुष्य तृणसम गिनता है—यह अर्थ होगा ।

(४१)

प्रगंणि चिट्ठदि नाहु ध्रु, त्रं रणि करदि न भ्रन्त्रि ।

आँगन में, बैठता है, नाथ, जो, सो, रन में, करता है, न भ्रांति, या वह रन (में वीरता) करता है इसमें भ्रांति नहीं ।

यह मत समझो कि यह आँगन में बैठा लड़ता नहीं है । एक मारवाड़ी दोहे के अनुसार—

भोलो भोलो दीसतो सदा गरीबी सूत ।
काकी ! कुंजर काटताँ जाणवियो जेठूत ॥

(भोला-भोला दिखाई देता था सदा गरीबी से सीधा सादा, किंतु चची ! लड़ाई में हाथियों को काटते समय मेरा जेठ का बेटा जान पड़ा कि उसमें ये जौहर हैं)।

जो सो के लिए **ध्रु त्रं** आते हैं (हेमचन्द्र ८।४।३६०) **त्रं** में तो त (त्) है ही, **र** लगा है जैसे **भ्रंत्रि** में (दूसरा रूप **भंति** मिलेगा, दे० ४५)। **र** लगने के लिए आगे देखो **व्यास** का **व्रास** (६१)।

(४२)

तं वोल्लिअइ जु निब्बहइ ।

सो बोलिए जो निबहै। (सो बोला जाए, जो निबाहा जाय)।

(४३)

एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु ।
एहउं वढ चिन्तन्ताहं प्रच्छह होइ विहाणु ॥

यह, कुमारी, यह, नर, यह, मनोरथ-स्थान (है), यों, मूर्खों (का), जीतते हुओं (का), पीछे, होता है, विहान। विचार ही विचार में रात बीत जाती है। **वढ**—मूर्ख संबंध या संबोधन, **चिंतंत**—सोचते हुए।

(४४)

जइ पुच्छह घर बड्डाइं तो बड्डा घर ओइ ।
बिहलिय-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥

यदि, पूछते हो, घर, बड़े, तो बड़े, घर वे (हैं)—विकल जनों (के) अभ्युद्धरण (करने वाले), कंत को, कुटीर में, देख। बड़े घर महल नहीं होते, विह्वलित जनों के उद्धारक मेरे कंत को कुटी में बैठा देखो—वही बड़ा घर है जहां परोपकार होता है। **पुच्छह**—कर्ता तुम, **विहिलिय**—सं० विहलित **जोइ**—जोह।

(४५)

आयइं लोअहो लोअणइं जाईसरइं न भन्ति।
अप्पिए दिट्ठइ मउलइं पिए दिट्ठइ विहसन्ति ॥

ये, लोक के, लोचन, जातिस्मर (हैं), (इसमें) न, भ्रांति (है), अप्रिय (मनुष्य) के, देखे, (पर) मुकुलित होते हैं, प्रिय के, देखे (पर) हँसते हैं। **जाईसर**—जाति-स्मर, जिसे पूर्वजन्म के प्रियाप्रिय की याद हो, यदि **जाई सरइं** दो पद हों तो, जाति को—पूर्वजन्म को—स्मरण करते हैं। **अप्पिए दिट्ठइ-पिये दिट्ठइ**—भावलक्षण सप्तमी, अप्रिय या प्रिय (में) दीठे (देखे हुए) में।

(४६)

सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्स किं तेण।
जं जलाइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जंतं ॥

सूखो, न, सूखो, भी, उदधि, बड़वानल का, क्या, उससे, जो, जलता है, जल में ज्वलन (आग), इससे, ही, क्या, नहीं, पर्याप्त (हुआ)? कठिन या असंभव कार्य सिद्ध न हो तो उद्योग में ही सफलता है। **सोसइ**-सूसो; **च्चिअ**—निश्चय, **आएण**—इससे।

(४७)

आयहो दड्ढ कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छारु ॥

इस (का), दग्ध कलेवर का, जो, वाहित (हुआ=बीत गया, चल गया), वह सार(=अच्छा) है, जो तोपा (जाता है) (=ढका जाता; गाड़ा जाता है), तो कुथता (सड़ता) है, और दग्ध होता (जलाया जाता) है, तो छार (होता है) **दड्ढ**—दाढ़ा, दग्ध, **सार**—गुजराती सारुं, अच्छा, **उट्टब्भइ**—सं० उत्तभ्यते, **कुहहि**—सं० कुथ्यते, क्वथति, **डज्झइ**—दाझै, सं० दह्यति, **छार**—क्षार, राख, भस्म।

(४८)

साहु वि लोउ तडप्फडइ बड्डत्तणहो तणेण।
बड्डप्पणु परि पाविअइ हत्थि मोक्कलडेण ॥

सब, भी, लोक, तड़फड़ाता है, बड़प्पन के, लिए, बड़प्पन, पर, पाया जाता है; हाथ से, देने से, । **साहु**—सउ, सँ, **तडफ्फडइ**—उत्सुक होता है, **बड्डत्तण**—बड़ापन, **तणेण**—वास्ते से, **मोक्कलड, मोक्कलण**—देना (गुजराती) ।

(४६)

जइ सु न आवइ दुइ घरु काइं अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ।।

यदि, सो, न, आता, है, दूति ! घर, क्यों, अधो-मुख, तेरा (हुआ) ? वचन (और वदन), जो खंडित करता है, तेरा, सखि !, सो, पिय, होता है, न मेरा । 'कुमारपालचरित' के 'परिशिष्ट' में 'सहि एसो' छपा है । दूती को उपालंभ है । 'अधोमुख' खंडित वदन को छिपाने के लिए है, वचन का खंडन कहना न मानने से है, **वयणु**—वचन और वदन का श्लेष ।

(५०)

काइं न दूरे देक्खइ ।

क्यों, न, दूर, देखता है ?

(५१)

सुपुरिस कङ्गुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण ।
जिवँ जिवँ बड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ।।

सुपुरुष, कंगु की, अनुहार करते हैं, कह, काज, से कौन ? ज्यों-ज्यों बड़प्पन, पाते हैं, त्यों-त्यों, नँवते हैं, सिर से । **कंङ्गु**—एक धान, **अनुहरहिं**—नकल करते हैं, सदृश होते हैं, भणना—कहना, **कज्जें कवणेन**—किस कार्य से ? किस बात से ? **कवण**—कौन । **जिवँ-जिवँ, तिवँ-तिवँ**—जिमि-जिमि (भाजत शक्रसुत)··· तिमि-तिमि (धावत रामसर)···(रामचरितमानस) ।

(५२)

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ।
बिहिवि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ।।

यदि, सस्नेही, (है) तो, मुई, और (जो) जीती है, (तो) निर्नेह (है), दोनों ही, प्रकारों से, गई, नायिका, क्यों गाजता है ? खल मेघ ! यदि स्नेहवती हुई तो वियोग में मेघ-गर्जन सुनकर मर गई, यदि जीती है तो उसे नेह नहीं, प्रिया तो दोनों ही तरह से गई । बिंहि—दोनों, वे=द्वे (सं०), मुइ—अ गइअ-मुई, गई ।

(५३)

भमरु म रुणुझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ।।

भ्रमर !, मत, रुनझुन (शब्द) कर अरण्य में, वह, दिशा, जोहकर, मत, रो, वह, मालती, देशांतरित (है), जिसके, तू, मरता है, वियोग में । **रुणझुण**—अनुकरण शब्द का नामधातु । **रराणडइ**—देखो ऊपर (१७) '**रन्नु**' ।

(५४)

पइं मुक्काहंवि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तगं न पत्तागं ।
तुज्झ पुगु छाया जइ होज्ज कहविता तेहिं पत्तेंहिं ।।

तुम से, मुक्तों (छोड़े हुओं) का, भी, हे वरतरु ! फिटता है, (बिगड़ता है) पत्तापन, न, पत्तों का, तेरी, पुनि, छाया, यदि, होवे, किसी तरह भी, (तो) वह, उन्हीं पत्तों से (होगी) अन्योक्ति । **मुक्क**—मूका (गुजराती), **फिट्टइ**—हटता है, बिगड़ जाता है, मिलाओ दूध फिटना, फिटकार, मर **फिटमुँहे** ! **होज्ज**—होवे तो, होती तो । दोधक वृत्ति में 'विवरतरु' एक पद मानकर 'वि (पक्षी)+वर (अच्छे) का तरु' भी अर्थ किया है ।

(५५)

महु हियउं तइं ताए तुहुं सवि अन्नें विनडिज्जइ ।
पिअ काइं करउं हउं काइं तुहुं मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ।।

नायिका अन्यासक्त नायक को कहती है मेरा, हृदय, तैंने (लिया); उस (प्रतिनायिका) ने, तू (लिया), वह भी, अन्य से, नटाई (नचाई) जाती है, पिया ! क्या, करूँ, मैं, क्या, (करे) तू, मच्छ से, मच्छ निगला जाता है । भर्तृहरि के

'धिक्तां' वाले श्लोक का भाव है। मच्छ मच्छ को निगलता है यह 'मात्स्य न्याय' या 'मच्छ गलागल' प्रसिद्ध कहावत है। तइं—तैं, **विनडिज्जइ**—विनडीजै, **गिलिज्जइ**—गिलीजै।

(५६)

पइं मइं बेहिवि रणगयहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ॥

तुझमें, मुझमें, दोनों ही में, रणगतों में, कौन, जयश्री को, तकता है? केशों से लेकर, जम की घरवाली को, कह, सुख, कौन, रहै? (जब हम तुम लड़ने चलते हैं तो कौन जयश्री को चाह सकता है? कौन यमपत्नी के बाल खैंचकर सुख से रह सकता है? कोई भी नहीं।) **पइं मइं**-अधिकरण, **बे**—दो, **तक्केइ**—तकता है, **लेप्पिणु**—पूर्वकालिक, **थक्केइ**—थाके।

(५७)

पइं मेल्लन्तिहे महु मरणु मइं मेल्लन्तहो तुज्झु।
सारस जसु जो वेग्गला सोचि कृदन्तहो सज्झु॥

तुझे, छोड़ती का, मेरा, मरण (है), मुझे, छोड़ते हुए का, तेरा (मरण है), सारस! जिसका (=जिससे), जो दूर है, वह ही कृतांत का साध्य (=मारने योग्य) है। नायक को 'सारस' कहकर अन्योक्ति है। पइं, मइं—कर्म कारक, **मेल्लंती, मेल्लन्त**—वर्तमान, धातुज, हो—संबंध का 'हो' छंद के अनुरोध से लघु पढ़ा जाएगा, **बेग्गला**—दूरस्थ।

(५८)

तुम्हेहिं अम्मेहिं जे किअउं दिट्ठउं बहुअजणेण।
तं तेवड्डउं समर भर निज्जिउ एक्क-खणेण॥

तुमसे, हमसे, जो, किया (गया), (वह) दीठा, बहुत, जन (मनुष्यों) से, वह तितना, समर (का) भर, निर्जित (किया गया), एक क्षण से (=में)। **तेवडा**= तितना, **जेवडा**=जितना, तेवडो, जेवडो। (देखो, आगे १०१)।

(५६)

तव गुण-संपइ तुज्झ मदि तुध्र अगुत्तर खन्ति ।
जइ उप्पंत्ति अन्न जण महि-मंडलि सिक्खंति ।।

तेरी गुण-संपत्ति, तेरी मति, तेरी, अनुत्तर (=जिसके कोई बड़ी न हो) क्षांति, यदि, पास आकर, अन्य, जन, महीमंडल में, सीखें (तो ठीक है) । **तउ, तुज्झ, तुध्र**—तेरा । **उप्पत्ति**=उप्पंतिअ, =उपेत्य (सं०) ।

(६०)

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्ब भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइजण जोण्ह करन्ति ।।

हम, थोड़े, रिपु, वहुत कायर, यों, कहते हैं, मुग्धे ! देख, गगनतल (में); कै, जने, जुन्हाई, करते हैं (एक चन्द्रमा ही) । पाठांतर के लिए देखो, सोमप्रभ; नं० २८ (पत्रिका) भाग २, पृ० १४८) । **थोवा**—थोड़ा सं० स्तोक, **एम्ब**—एवं (सं०) पंजाबी ऐवें, **जोण्ह**—सं० ज्योत्स्ना, हिं० जुन्हाई, जोन्ह=चाँद ।

(६१)

अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया केवि ।
अवस न सुअंहि सुहच्छिअंहि जिवँ अम्हइ तिवँ तेवि ।।

अपनपा, लगाकर, जो, गए हैं, पथिक, पराए, कोई भी, अवश्य, नहीं, सोते हैं, सुखासिका से, जैसे, हम, वैसे, वे भी । **अम्बण**—अपनापन, ममता, स्नेह, **सुहच्छिअंहि**—सुखासिखा (सं०) सुख की बैठक, सुख की नींद, (ऊपर, ३७) **अम्हइ**—हम, म्हे (राजस्थानी) ।

(६२)

मइं जाणिउ पियविरहि अहं कवि धर होइ विआलि ।
णवर मिअङकुवि तिह तबइ जिह दिणयरु खयगालि ।।

मैं (ने), जाना, प्रियविरहितों को, कोई भी, सहारा, होता है, रात्रि को, नहीं पर, मयंक भी, जैसे, तपता है, जैसे दिनकर (=सूर्य) क्षय (प्रलय) काल में । देखो, सोमप्रभ सं० १८ (पत्रिका भाग २, पृ० १४४) ।

(६३)

महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु ।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तओ करवालु ।।

मेरे, कंत के, दो, दोष (हैं) हे आलि, मत, झंख, अलपल (=बक मत) देते के, मैं, पर, उबरी हूँ, जूझते को, तलवार (उबरी है)—**अल्लपल** तो बके मत, सखी ! मेरे पति के दो दोष हैं, देते देते तो **मैं** बची और लड़ते-लड़ते **तलवार**। **हो, ओ**-लघु पढ़ो, **दोसडा**, दोष (कुत्सा में ड), हेल्लि—हे आलि, **झंख** हिं० झंखना, झीखना, **आलु**—अंडबंड, **देन्त, जुज्झन्त** वर्तमान धातुज, **हउं**-हौं, **उव्वरिय**—सं० उर्वरित, हिं० उबरी ।

(६४)

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहंतणा तो तें मारि अडेण ।।

यदि, भागे, पराए, तो, सखि, मेरे पिया से, और (जो) भागे, हमारे, तो, उससे, मारे हुए से । यदि पराए पक्ष की सेना भागी हो तो मेरे पिया ने उसे भगाया होगा, यदि अपने भाग रहे हैं तो उसके मारे जाने पर ही ऐसा परिणाम हो सकता है । **भग्गा**-भग्नाः (सं०) भाँगे अर्थात् टूटे, हारे इसी से भागे, **पारक्कडा, अम्हहं तणा**-पराए और हमारे, **मारिअड**–मारितक (सं०) प्रसिद्ध दोहा है ।

(६५)

मुइ कवरिबन्ध तहे सोह धरहिं
न मल्ल जुज्झ ससिराहु करहिं ।
तहे सहहिं कुरल भमर-उल-तुलिअ ।
नं तिमिर डिम्भ खेलन्ति मिलिअ ।।

मुख और चोटी का बँधना, उसके, शोभा, धरते हैं, मानो, मल्लयुद्ध, शशी और राहु, करते हैं, उसके, सोहते हैं, केश, भ्रमर-कुल (से) तुलित (तुल्य), मानो तिमिर (अंधेरे) के बच्चे, खेलते हैं, मिले हुए (=मिलजुल कर) । नं=जैसे, नाई ।

(६६)

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुवि न पूरिअ आस ।।

पपीहा, पिउ, पिउ, कहकर, कितनी बार, रोता है, हे हताश, तेरी, जल में (=जल से) मेरी पुनि, वल्लभ में (=से) दोनों में ही, न, पूरी, आस ।

(६७)

बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वारइवार ।
सायरि भरिअइ विमल जलि लहहि न एक्कइ धार ।।

पपीहा क्या, बोलने से, हे निर्घृण ! बार-बार सागर में, भरे में, विमल जल से, पाता है, न, एक भी, धार ।

(६८)

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो अब्भिडहि हसन्तु ।।

इसमें, जन्म में, अन्य में, भी, हे गौरि, सो, दीजै, कन्त (मुझे) गजों, **मत्तों**, त्यक्ताङ्कुशों को (से), जो आ+भिडै, हँसता हुआ । **आय**-यह, **चत्त**-त्यक्त, **अब्भिडहि**-सामने आवे, आ भिड़े ।

(६९)

बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु बड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ।।

बलि (के या से,) अभ्यर्थन (माँगने) में, मधुमथन (मधु दैत्य को मारनेवाले विष्णु), लघु हुए, वह भी, यदि, चाहते हो, बड़ापन (तो) दो, मत मांगो, कोई । **लहुईहूआ**—लघुकीभूत, **बड्डत्तण**-बड़ापन ।

(७०)

विहि विनडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ ।
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुड्डु अग्घइ ववसाउ ।।

विधि, नट जाओ, पीडा दें, ग्रह, मत, हे धन (=प्रिये), करो, विषाद, संपत्ति को, काढता हूँ, वेश (की), तरह यदि, चलता है, व्यवसाय **विनडउ**—नटै, नाचे, या नाहीं करे, **धन**=प्रिया, देखो ऊपर (१), मिलाओ मिरजापुरी कजलियों की 'धनिया', **वेस**—दोधकवृत्ति के अनुसार वेश्या, **छुडु**—यदि, **अग्घइ**—अर्घति मोल पाता है।

(७१)

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं।
रणदुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुँ॥

खड्ग से, भी, साधित, जहाँ, पावें, प्रिय ! उस, देश को, जावें, रणदुर्भिक्ष में, भाँगे (हम), बिना, युद्ध (के) नहीं, प्रसन्न होते। जहाँ खड्ग चलाकर जीविका निर्वाह कर सकें वहाँ तो रण-दुर्भिक्ष से (दिल) टूट गएबिना युद्ध के आनंद नहीं आता। **भग्गाई**–भग्न, **वलाहुं**-न रतिं प्राप्नुमः (दोधकवृत्ति) यह अर्थ उसी के अनुसार है किन्तु कुछ खटकता है। रण-दुर्भिक्ष में भागे हैं, बिना युद्ध के न लौटेंगे। जैसे दुर्भिक्ष के कारण देश से भागे बिना सुभिक्ष नहीं लौटते—यह अर्थ अच्छा है।

(७२)

कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सर सास म मेल्लि।
कबल जि पाविय विहिवसिण ते चरि माणु म मेल्लि॥

हे कुंजर, स्मरण कर, मत, सल्लकियों (एक प्रकार की बेलों) को, सरल (लम्बे) साँस मत छोड़ कौर, जो, पाए विधिवश से, उन्हें चर, मान, मत, रख। दोधकवृत्ति के अनुसार **मेल्लि**-का दोनों जगह 'छोड़ना' अर्थ करने से निरर्थक वाक्य हो जाता है कि सल्लकी को याद मत कर, उसास मत ले, जो मिलता है उसे चर और मान मत छोड़। **सास म मेल्लि** अर्थात् साँस मत ले, दूसरा **मेल्लि**-रख।

(७३)

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु।
भर्ण-पत्तलु छाया बहुल फुल्लहिं जाम कयम्बु॥

हे भौंरा ! यहाँ, भी, नींबडी में, कुछ, दिन, विलंब कर, घने पत्तोंवाला, बहुत छाया वाला, फूलै, जब तक, कदंब । **एत्थं**—पंजाबी इत्थु, इत्थैं, सं० अत्र, **दियहड़ा**-दिवस, **पत्तलु**-पत्तेवाला, **जाम**-यावत्—देखो ८१,६८ ।

(७४)

प्रिय एम्वहिं करे सेल्लु करि छड्डहि तुहं करवालु ।
जं कावालिय बप्पुडा लेंहिं अभग्गु कवालु ॥

हे प्रिय ! अब, कर में, सेल, करो, छोड़ो, तुम, तरवार, ज्यों, कापालिक, बापुरे, लेवें, अभग्न (=अखंडित), कपाल । तुम्हारे खड्ग से शत्रुओं के सिर फट जाते हैं, कापालिकों को साबत खप्पर नहीं मिलते इसलिए तुम सेल से मारो जिससे खोपड़ी साबत तो मिलें ।

(७५)

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥

दिवस, जाते हैं, झटपट से, पड़ते हैं, मनोरथ, पीछे, (=निष्फल जाते हैं), जो है, वह भोगा जाय, 'होगा' (यों) करता (हुआ), मत, (बैठा) रह । दिन जाते हैं, जो है उसे भोगो, भविष्य के भरोसे मत रहो । **अच्छइ**—बँगला आछे, राजस्थानी छै । **माणिअइ**-देखो प्रबंध १४, पत्रिका भाग २ पृ० ४६, **होसइ**—देखो प्रबंध (३, पत्रिका भाग २, पृ० ३५), कुमार (२३, पत्रिका भाग २, पृ० १४६) ।

(७६)

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥

होते हुए, भोगों को, जो, छोड़ता है, उस (की), कांत की, बलि की जाय (उसकी बलिहारी जाइए) उसका, दैव ने, ही, मूंड दिया है, (सिर), जिसका, गंजा (है), सीस । गंजा कहे कि मैंने सिर मुंडाया तो क्या ? 'विना मिलती के ब्रह्मचारी' सभी बन बैठते हैं । जो होते हुआते भोग विलासों को छोड़े उसकी बलैयां लीजै । **सन्ता** वर्तमान धातुज, **कीसु**—मैं करूं (हेम०), तू कर, **खल्लिहडउं**-खलति, **खल्वाट** (संस्कृत) ।

(७७)

आइतुंगत्तणु जं थणहं सो च्छेयहु न हु लाहु ।
सहि जइ केवँइ तुडिवसेण अहुरि पहुच्चइ नाहु ।।

अति तुंगत्व (ऊँचापन), जो स्तनों का (है), सो, छेवा (=टोटा, घाटा) (है), न, तो, लाभ, सखि ! यदि, किसी त्रुटि वश से, अधर पर, पहुँचता है, नाथ। ऊँचे स्तन चुंबन में आड़े आते हैं । **छेय**-छेकना, **छेवा**=कमी, **केवँइ**-किसी से, कुछ से, **त्रुटि** -विलंब, **पहुच्चइ** सं० प्रभवति (?) समर्थ होता है (दोधक वृत्ति), हिंदी 'पहुँचना' इस व्याख्या में अधिक उपयुक्त है ।

(७८)

इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गाइ ब्रोप्पि ।।

इतना, बोलकर, शकुनि, ठहरा, पुनि, दुःशासन, बोला—तो, हौं, जानूं, यह हरि (है), यदि, मेरे, आगे, बोले । किसी पुराने महाभारत से। **इत्तउं**-एतो, **ब्रोप्पिणु**—पूर्वकालिक, **ब्रोप्पि**-पूर्वकालिक, दोनों जगह (!) '**ट्ठिउ**' जोड़ो अर्थात् '**बोलकर ठहरा**' (दोधक वृत्ति) **ट्ठिउ**-स्थित, ठयो ।

(७९)

जिव तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ।।

जिम तिमि (ज्यों त्यों) तीखे (शस्त्र), लेकर, किरणों को, यदि, शशी, छीला जाता, तो, यदि, गौरी के, मुखकमल से, सदृशता कोई भी (कुछ कुछ), पाता (तो पाता) । **तिक्खा**-केवल विशेषण, विशेष्य गुप्त; कर, **ससि**, विभक्ति की बेकदरी से धोखा होता है कि छोलिज्जन्तु का कर्म ससि है या कर; **छोल्लिज्जन्तु**-कर्मवाच्य की क्रियातिपत्ति, छोला जाय, कर्मवाच्य का 'ज', मिलाओ 'छीलना' का गँवारी रूप 'छोलना' इसी से छोला=हरा चना, **जइ**=जगति (!! जगत् में—दोधकवृत्ति), **सरिसिम**-सदृशता, सं० का इमनिच्, मिलाओ कुमार (२१, पत्रिका भाग २, पृ० १४५, **लहन्तु** क्रियातिपति ।

(८०)

चूडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि कबोलि निहित्तउ।
सासानल जाल झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ॥

अर्थ के लिए देखो कुमार (२३, पत्रिका भाग २, पृ० १४६)। आग पर तपाने और ऊपर से पानी की छींट पड़ने से दाँत की चूड़ी दरक जायगी।

(८१)

अब्भड बंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ।
सव्वासण रिउ संभवहो कर परिअत्ता तावँ॥

(१) अभ्रवाली (रात्रि) में, चलकर, दो, पैंड, प्रेम, निबहाती (पूरा करती) है, ज्यों, (अभिसारिका), सर्वाशन (सर्वभक्ष=अग्नि) के रिपु (सागर) के संभव (पुत्र) अर्थात् चन्द्रमा के, किरण, पसर गए, त्योंही। काली बादलों से घिरी रात में प्रेयसी चली थी कि चन्द्र ने सहायता की (समाधि) या (२) उलटे चलकर, दो पैंड, प्रेमिका को, लौटाता है (प्रवासी) ज्यों चन्द्रमा के कर, फैल गए, त्यों ही। प्रिया पहुंचाने आई थी, प्रवासी ने उसे लौटाना चाहा। इतने में चंदा उग आया। फिर कहां का जाना आना? अब्भड-अभ्रट, मेघवाला, या अभ्यट्य लौटकर, **वंच**=व्रज्र, चलना, बे-दो, पयइँ-पद, **निअत्तइ**, निर्वर्तयति या निवर्तयति, **जावँ तावँ**-यावत् तावत, **परिअत्ता**-फैले। दोधकवृत्तिकार ने इसके अर्थ में बहुत गोते खाए हैं—**अब्भड**-पीछे चलकर, **बंचिउ**-ठगकर या ठगा गया, 'प्रिया लौटाती है प्रिय को' इत्यादि।

(८२)

हिअइ खुड्डुक्कइ गोरडी गयणि घुड्डुक्कइ मेहु।
वासा रत्ति पवासुअहं विसमा संकडु एहु॥

हिए में, खटकती है, गोरी, गगन में धड़कता है, मेह, वर्षा (की) रात (में) प्रवासिओं को, विषम, संकट (हैं) यह। **विसमा** से जान पड़ता है कि **संकड** एकवचन नहीं है। **पवासु**-'इन्' के अर्थ में 'उ' (उण्)।

(८३)

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थन्ति।
महु कन्तहो समरंगणइ गयघड भज्जिउ जन्ति॥

अम्मा ! (मेरे) पयोधर, वज्र के-से, (हैं) नित्य, जो, सम्मुख, ठहरते हैं, मेरे, कंत के, (जिससे समरांगण में, गज घटा, भाग कर, जाती हैं। वज्जम वज्रमय, भज्जिउ—भागने का ग्रामीण 'भाजना' देखो ऊपर (६४)।

(८४)

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

देखी पत्रिका भाग २, पृ० १९। **पुत्ते जाएँ**-भावलक्षण, पुत्र जाए, जन्मे से, **मुएण**-मुए से, **जा**—जिसकी, **बप्पी** की-बपोती की, **भुंहडी**-भूमि, देखो प्रबंध (१) टिप्पणी, **चम्पिज्जइ**-चंपीजं, कुचली जाय, दबाई जाय, मिलाओ पगचंपी=**पैर** दबाना।

(८५)

तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेबहु वित्थारु।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु॥

वह, तितना, जल, सागर का, सौ, तितना, विस्तार, तृषा का, निवारण, पल भी नहीं पर, दहाड़ता है, असार। **तेतिउ**-तेतो, **तेवड**-तेवडो (गुजराती), **तिस**-राजस्थानी तिस, तृषा **धुट्ठअइ**-अनुकरण, गर्जता है। मिलाओ, राजशेखरसूरि के चतुर्विंशतिप्रबंध से—

वरि वियरो जहिं जलु पियइ घुट्टुग्घुट्टु चुलुएण।
साथरि अत्थि बहुय जल छि खारउं किं तेण॥

वरि-वर, अच्छा, **वियरो**-राजस्थानी बेरा, कुआ, **चुलुएण**-चिल्लू से, **अत्थि**-है।

(८६)

जं दिट्ठउँ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि-गिलि राहु मयंकु॥

जो, दीठो, सोम (चंद्र) ग्रहण, (तो) असतियों से, हँसियो (हँसा गया), निःशंक, पिय-मानुसों (के) बिछोह कर (ने वाले) को निगल, निगल, राहु !

मयंक को। **बिच्छोहगरु**-बिछोहकर, नेपाली में 'करना' धातु का 'गरना' हो गया है 'क' रहा ही नहीं, 'ग' है; 'प्रगट' को शुद्ध करके 'प्रकट' लिखने वाले ध्यान दें।

(८७)

अम्मीए सत्थावथेंहि सुधिं चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥

अम्मा ! स्वस्थ अवस्था (वालों) से, सुख से, चींता जाता है, मान। पिया दीठे पर, हलबली से, कौन चेतता है, अपान को ? स्वस्थ बैठे हों तब मान गुमान की सूझती है, पिया को देखते ही ऐसी हलबली मचती हैं कि अपनी सुध भी जाती रहती है, बेचारे मान की क्या चलाई ? **सुधिं**-सुखि, सुख से, **पिए दिट्ठे**-भावलक्षण।

(८८)

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउँ जम्मु।
जासु न चाउ न चारहडि नय पम्हट्ठउ धम्मु ॥

शपथ, करके, कथित (कहा गया), मैं (ने), उसका, पर, सफल, जन्म (है), जिसका, न, त्याग, न, और, आरभटी, न, और प्रभ्रष्ट (हुआ है), धर्म। **सवधु, कधिदु-थ** की जगह ध, **सभलउँ**-फ के स्थान में भ, **पम्हट्ठ**-भ्र के लिए म्ह। **आरहडि**-आरभटी शूरवृत्ति। **चाउ**-त्याग, **पम्हट्ठउ** तीनों के साथ है, चाड, आरहडि, और धम्म। दोधकवृत्ति का दूसरा अर्थ "जिसके अपव्यय नहीं, और धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ" ठीक नहीं।

(८९)

जइ केवँइ पावीसुँ पिउ अकिया कुड्ड करीसु।
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वगें पइसीसु ॥

यदि किसी प्रकार, पाऊँगी, प्रिय (को), (तो) न किया, कौतुक, करूँगी, पानी, नए (में), सकोरे (में), ज्यों, सर्वांग में प्रविशूंगी (घुसूंगी)। नए मिट्टी के बरतन में पानी की तरह रोम-रोम में रम जाऊँगी। पावीसुँ, करीसु, पइसीसुँ—संभावना, भविष्यत् गुजराती श, राजस्थानी स्युं। **अकिया**—अकृत, किसी ने जो न किया हो कुड्ड-कौतुक, राज० कोड, **सरावि**-सं० शरावे।

(९०)

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चणकन्तिपकासु ।
गोरीवयणविणिज्जिअउ नं सेवइ वणवासु ।

ओ (= देख), कनियार, प्रफूला (है), कांचन-कांतिप्रकाश, गोरी-बदन-विनिर्जित नाई (मानो), सेता है, वनवास । वन में विकसित होने के कारण की उत्प्रेक्षा है । **उअ**-देख (प्राकृत), **कणिआरु**-(सं०) **कर्णिकार** (पंजाबी पहाड़ी) कनयार, अमलताश, पीले फूलों से लद जाता है । **गोरी**-देखो प्रबंध १४ (पत्रिका भाग २, पृ० ४७) नं-वेद का उपमावाचक 'न' बांध में नहीं बंध सका, प्रवाह में चला आया ।

(९१)

व्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गंगाण्हाणु ॥

व्यास, महाऋषि, यों (यह), भणता (कहता) है, यदि श्रुतिशास्त्र, प्रमाण, (हैं तो) माओं के, चरण, नँवतो के, दिन दिन, गंगा स्नान (है) । **व्रासु**-व्यास, इस 'र' के लिए मिलाओ **शाप**-स्राप, **मायहं**-माताओं के; मातृ-मायि, माय, माइ, माई, **नवंताहं**-नँवतों, नमतों, प्रणाम करतों के, **दिविदिवि**-वेद का 'दिवे-दिवे' देखो ऊपर (९०) में नं ।

(९२)

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ।
नव वहु दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥

क्यों (कर), समाप्त हो दुष्ट, दिन, कैसे, रजनी, झट, होय, नव वधू (के) दर्शन (की) लालसा (वाला), बहता है, (ऐसे) मनोरथ, सो (वह नायक) । **वहइ** —धारण करता है, उठाए फिरता है । **केम** –गुजराती केम । **छुडु**—'छ' का 'झ' होने के लिए देखो ऊपर (८७), (८८), झट ।

(९३)

ओ गोरीमुहनिज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहवियतणु सो किवँ भवँइ निसंकु ॥

यह गोरी (के) मुँह (से) निर्जित, बादल में, लुका (है), मयंक, अन्य, भी, जो, परिभृत (हारे हुए) तनु (का), (है), सो, किमि, भ्रमै, निसंक। हारे हुए मुँह लुटकाए फिरते हैं। **परिहविय**—परि+भू=हारना (सं०) 'भू' का 'हो'।

(९४)

बिम्बाहरि तणु रयणवण किह ठिउ सिरि आणन्द।
निरुवम रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द॥

बिंवा (फल के-से) अधर पर का, रदन (दंत) व्रण, कैसा स्थित (हुआ), श्री आनंद ? निरुपम, रस, पिय ने, पीकर, जनु, शेष (रस) के (=पर), दीनी, मुद्रा। अधर पर दंतक्षत क्या है, मानो अनुपम रस पीकर पिया ने बाकी पर अपनी मुहर लगा दी है। **बिम्बाहरितणु**-'बिंवाधर पर, तन्वी के' यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं, 'तणु, तण, या तणो' संबंध-सूचक प्रत्यय हैं, 'बिंबाधर-पर-का-रदन-व्रण' यही अर्थ है। **ठिउ**-थियो, थो, था। **सिरि आणन्द**-संबोधन है तो किसी का नाम, संभवतः कवि का; या रदनव्रण का विशेषण। **सेसहो**—हो को लघु पढ़ो।

(९५)

भण सहि निहुअउं तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥

सखी नायक की शिकायत कर रही है। मुग्धा कहती है—कह, सखि ! निभृत (गुप्त), त्यों मुझे, यदि, प्रिय, दीठा (है), सदोष, ज्यों न, जानै, मुझका (—मेरा), मन, पक्षापतित (=पक्षपाती), तिसका। मेरा मन उस (प्रिया) का पक्षपाती है, वह न जाने, उससे छिपाकर कह। अमरु के 'नीचैः शंस, हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर, श्रोष्यति' का भाव है। 'उस दूसरे के पास में स्थित मेरा मन जैसे न जाने' भर्ता-इति गम्यते' (!!) (दोधकवृत्ति)।

(९६)

मइं भणिअउ बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु।
जेहु तेहु नवि होइ बढ सइं नारायणु एहु॥

किसी वामनावतार की कथा से। शुक्राचार्य कहता है—मैं (ने) भणा,

बलिराज, तूँ (=तुझे), कैसा, मंगन (याचक), यह, (है) जैसा, तैसा (=ऐसा वैसा), नहीं, होय, हे मूर्ख, स्वयं, नारायण, यह (है)। बढ़-मूर्ख मिलाओ वंठ (हर्षचरित)। दोधकवृत्ति कहती है कि उत्तरार्द्ध राजा वलि का उत्तर है।

(६७)

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थुवि तेत्थुवि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु॥

यदि, सो, घड़े, प्रजापति, कहीं (से), भी, लेकर, शिक्षा, जहां, भी, तहां, भी, इसमें, जग में, कह, तो, उस (नायिका) का, सरीखा ? **केत्थु, जेत्थु, तेत्थु, एत्थु,** कुत्र यत्र तत्र अत्र (सं०) **कित्थुं, जित्थुं, तित्थुं,** इत्थुं (पुरानी पंजाबी) कित्थें जित्थें तित्थें एत्थें (पंजाबी)। चौथे चरण का पाठ सम्भव है यह हो—'भण को तहे सारिक्खु'—कह कौन उस (का) सरीखा है ?

(६८)

जाम न निवडइ कुंभयडि सहीचवेडचडक्क।
ताम समत्तहं मयगलह पइ पइ वज्जइ ढक्क॥

जौं (लों), न, (नि), पड़ती है, कुंभतट पर, सिंह (की) चपेट (की) **चटाक** तों (लों), समस्तों, मदकलों, (गजों) के पद पद, बाजै, ढक्का। सिंह की चपेटा लगने तक सिर पर नगारे बजते हैं। **चडक्क**—अनुकरण, **ढक्का**—एक वाजा।

(६९)

तिलहं लिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलन्ति।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति॥

तिलों का, तिलपन, तों (लों), पर, जौं (लों), न, नेह, गलता है, या गलाते हैं, नेह, प्रनष्ट (होने) पर, वेही, तिल, तिल (से), फिट कर, खल, होते हैं। नेह के दो अर्थ—चिकनाई और प्रेम, खल के दो अर्थ, खल और दुर्जन। नेह निकला कि खल हो गए। दोधकवृत्ति ने नेह को बहुवचन 'गलन्ति' का कर्ता माना है, अधिक सम्भव है कि 'तिल' कर्ता हो और 'नेह' कर्म। **तेज्जि**-तेईज (गुज० मारवाड़ी) देखो प्रबंध १७ (पत्रिका भाग २, पृ० ४९) **फिट्टवि**-फिट्=बिगड़ना, भ्रष्ट होना, मिलाओ फिट मुए, (ऊपर, ५४) फटना से पट् या पाट् से है, फिट् भ्रंश् (भ्रष्ट होने से)।

(१००)

जामहिं बिसमी कज्जगइ जीवहिं मज्झे एइ।
तामहिं अच्छउ इयरु जणु सुअगुवि अन्तरु देइ ॥

जब विषम कार्यगति, जीवों के, मध्य में, आती है, तब रहो, इतर जन, स्वजन, भी, अन्तर, देता है। इतर जन तो अलग रहा, स्वजन भी किनारा कसता है। **जामहिं तामहिं, जाऊँ ताऊँ,** (९८) **जाम ताम** (९९) यावत् तावत्। **मज्झे**-माझे माँझ में, मध्ये। **अच्छऊ**-आछो, हो, उसकी तो बात ही क्या।

(१०१)

जेवडु अन्तरु रावण रामहं तेवडु अन्तरु पट्टण गामहं।

जितना, अन्तर, रावण-राम (का) तितना, अन्तर, पट्टन (नगर) (और) गाँव का। **जैवडु तेवडु** जेवडो तेवडो (गुज० राज०) जितना तितना। किसी रावण-पक्षपाती की उक्ति। दोधकवृत्ति के अनुसार ग्राम पट्टण का क्रम बदलने की आवश्यकता नहीं।

(१०२)

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविठ्ठा ताहँ।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहँ ॥

वे, मूँग, हराए गए (अकारथ गए), जो, परोसे गए, उनके (उन्हें), नीचे ऊपर, जोहते हुओं के, (जिनके) स्वामी, गंजा, गया, जिनका। इधर 'मूँग परोसना' बड़े आदर और उत्सव की बात है। जँवाई आता है या त्यौहार होता है तो मूँग चावल बनते हैं। जिन कायरों के इधर-उधर देखते-देखते स्वामी पिट गया उन्हें मूँग परोसना वृथा है, मूँग बरबाद करना है। राजशेखर सूरि (सं० १४०५ के चतुर्विंशतिप्रबन्ध में यह गाथा रत्नश्रावक प्रबन्ध में कही गई है जहां एक राजकुमार दूसरों की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार होता है। **मुग्गडा**-मूँग, डा के लिए देखो प्रबन्ध (१) **हराविआ**, हारना—वृथा खोना, **परिविट्ठ**-परिविष्ट, परोसा:, **अवरोप्परु** अवर + उप्पर, नीचे-ऊपर, इधर-उधर देखते हुए या ऊँच नीच विचारते हुए, दोधकवृत्ति के अनुसार 'परस्पर'। **जोअन्ताहं**-देखो ऊपर (७) जोअंतिए। **गंजिउ**-गँजना, पिटना, मारा जाना।

(१०३)

बम्भ ते बिरला केंवि नर जे सव्वंग छइल्ल ।
जो वंका ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥

हे बंभा, या बंभ कहता है कि, वे, विरल, कोई भी, नर, (होते हैं), जो, सर्वांग (=सब तरह), छैले, होते हैं, बांके (होते हैं), वे, वंचक (होते हैं), जो, ऋजु (=सीधे), वे बैल । सब तरह चतुर विरल होते हैं, बांके तो ठग और सीधे बैल । **बंभ**-ब्रह्म, कबि का नाम, प्राकृत पिंगलसूत्र के कुछ उदाहरणों पर किसी-किसी टीकाकार ने लिखा है कि वंभ (ब्रह्म) बंदी या भाट के लिए आता है जैसे हरिबंभ अर्थात् हरि नामक बंदी,—ब्रह्मभाट ? छइल्ल—देखो (पत्रिका भाग २, पृ० १४८) **बंक** –वक्र (सं०) युक्ताक्षर की 'न' श्रुति, वञ्चयर 'वञ्चकतर' मानने की जरूरत नहीं, अर या अयर कर्तृवाची प्रत्यय है, **उज्जुअ** **ऋ** की उ-श्रुति ।

(१०४—५)

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं भुअजुअलु ।
अन्नु सु धण थणहारु तं अन्नु जि मुहकमलु ॥
अन्नु जि केसकलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि ।
जेण निअम्बिणि घडिअ स गुणलायण्णनिहि ॥

अन्य, वे, दीर्घ लोचन, अन्य, वह, भुजयुगल, अन्य, वह, स्तन-भार, वह, अन्य, जी, मुख कमल, अन्य, जी, केशकलाप, वह, (कहाँ तक कहें) अन्य, जी, प्रायः, विधि, जिसने, नितम्बिनी (नारी), घड़ी, वह, गुणलावण्यनिधि । **प्राउ** (१०५), प्राइव (१०६), प्राइम्ब (१०७), पग्गिम्व (१०८)—प्रायः ।

(१०६)

प्राइव मुणिहंवि भन्तडी ते मणिअडा गणन्ति ।
अखइ निरामइ परमपइ अज्जवि लउ न लहन्ति ॥

प्रायः, मुनियों की (भी), भ्रांति (होती है) वे, मनके, गिनते हैं, अक्षय, निरामय, परमपद में, आज भी, लय, नहीं, लहते । 'मनका फेरत जुग गया' (कबीर), **मणिअडा**—मणिक, मनके 'ड' कुत्सा में ।

(१०७)

अंसुजलें प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर।
तें सम्मुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर॥

अश्रुजल में, प्रायः गोरी के हे सखि !, औटे (हैं), नयनशर, वे, सम्मुख, संप्रेषित (भले ही हों), देते हैं, तिरछी, घात, पर। अश्रुजल में बुझाए हुए हैं न, —चाल सीधी है पर मार तिरछी। **उव्वत्ता**– उद्वृत्त, उवटे, औटे। दोधक-वृत्ति 'नयन सरोवरों' (!) को अश्रुजल में 'उल्लसित' बताती है।

(१०८)

ऐसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइं अणुणेइ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ॥

आवेगा, पिय, रूसूँगी, हौं, रूठी (को), मैं (को), अनुनय करेगा (मनावेगा वह) प्रायः इनको, मनोरथों (को), दुष्करों (को), दयिता, करै। मन के लड्डू खाती है। **ऐसी**—सं० एष्यति, राज० आसी, **रूसेसु** प्राकृत मन्तेसु, पुरानी हिन्दी हनिसों, राज० करस्युं, गुज० करीश, **दुक्करु**—इसलिए कि पूरा होना वियोग के कारण कठिन है।

(१०९)

बिरहानलजालकरालिअउ पहिउ कोवि वुड्डिवि ठिअओ।
अनु सिसिरकालि सीअलजलउ धूम कहन्तिहु उट्ठिअओ॥

विरहानल (की) ज्वाला (से) करालित, पथिक, कोई, डूबकर स्थित (है) नहीं तो शिशिरकाल में शीतल जल से धुआं कहां तें, उठा ?। जाड़े में पानी पर भाफ उठती देखकर उत्प्रेक्षा। **करालिअउ**-करालियो, दग्ध, देखो ऊपर (पत्रिका भाग २, पृ० १५०), **पहिउ** – मारवाड़ पही, 'पावणो पही'—पाहुना और पथिक, **ठिअउ**—ठिओ, ठयो, **उट्ठिअउ**—उठियो, उठ्यो।

(११०)

महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कइ झुम्पडा बलन्ति।
अह रिउरुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति॥

मेरे, कंत के, गोष्ठस्थित के, क्यों, झोंपड़े, जलते हैं, या रिपु-रुधिर से, बुझाता है, या, अपने से, न भ्रांति (है इसमें) कंत 'गोहर' सम्हालते गया है, पीछे शत्रुओं ने झोंपड़े जला दिये, उसकी जात से तो यही उम्मेद है कि मारेगा या मरेगा। **अह अह** अथ, अथ,—या···या, **गुट्ठ**—गोष्ठ, गुसांई जी का 'गाइ गोठ', **उल्हवइ**—उल्हावे, बुझावे।

(१११)

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्ब।
मइ विन्निवि विन्नासिआ निद्द न एम्ब न तेम्ब।

पिय (के) संगम में, कहाँ नींद, पिय के, परोक्ष में, क्यों (कर नींद) ? मैं, दोनों ही (तरह) से, विनाशिता (हुई), नींद, न, यों, न, त्यों। **केम्ब, एम्ब, तेम्ब** क्यों, यों, त्यों, किमि, इमि, तिमि, केवें, एवें, तेवें, (पंजाबी में **एवें** है।) **मइं विन्निवि विन्नासिआ**—दोधकवृत्ति—'मया द्वे अपि विनाशिते' !!

(११२)

कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खंडिउ माणु।
सीहु निरक्खय गहु हणइ पियु पयरक्खसमाणु॥

कंत, जो, सिंह (क =) से, 'उपमा दिया जाता है, तो, मेरा, खंडित (होता है,), मान, सिंह, बिना रक्षक (के), गज को, हनै पिव, पद-रक्ष समेत (गजों) को (हनता है)। जंगल में हाथी जिन्हें सिंह मारता है नीरक्षक (बिना रखने-वाले के) होते हैं रणभूमि में उनके पैदल सिपाही रक्षक होते हैं, उन समेत हाथियों को मारने वाले पिय को सिंह की उपमा देना मेरा मान घटाना है। **उवमिअइ**-उपमीयते (सं०), **पयरक्ख**-पद, पियादा।

(११३)

चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं॥
होसइं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिससयाइं॥

चंचल, जीवित, ध्रुव, मरण, (है) पिय, रूसा जाता है, क्यों ? होंगे, दिवस, रूसने, दिव्य, वर्षशत (की तरह लंबे और असह्य)। **रूसिज्जइ**-रूसीजै, **होसइं**—होशे, होसी, **रूसणा**-दिअहा का विशेषण, रूसने (के) दिवस।

(११४)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मां दुज्जणकरपल्लवेंहिं दंसिज्जन्तु भमिज्ज ॥

देखो सोमप्रभ (१, पत्रिका भाग २, पृ० १३९) **माणि पणट्ठइ**—मान प्रनष्ट होने पर (भावलक्षण) **चइज्ज**—छोड़ा जाता है (दोधक वृत्ति), किन्तु **भमिज्ज** के साथ से **चइज्ज भमिज्ज**=तजीजै, भमीजै होना चाहिए, **दंसिज्जन्तु**—दिखाया जाता हुआ, दोधक वृत्ति के अनुसार 'दश्यमान' डसा जाता हुआ, नहीं ।

(११५)

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खलमेह म गज्जु ।
वालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥

लोन, विलाता है, पानी से, अरे, खल मेघ ! मत, गरज, हे जलाए गए ! गलता है, झोंपड़ा, गोरी, भीजती है, आज । सं० लावण्य, हिं० लौन (जैसे 'सलोना' 'नौना' में) नोन, फारसी नमक, सौंदर्य अर्थ में आता है । 'अमरुशतक' में एक प्रक्षिप्त श्लोक है कि जब से प्रेमपिया से मैंने उसका अधर पान किया तब से तृषा बढ़ती ही जाती है, क्यों न हो, उसमें लावण्य है न ? नमक से प्यास बढ़ती है । उस पर टीकाकार इस कल्पना की ग्राम्यता पर चुटकी लेता है कि वाह कवि क्या है, कोई सांभर की खान का खोदनेवाला है ! यहाँ नमक 'पानी पड़ने से गलता है' यही लेकर उक्ति है कि दुष्ट मेघ, मत गरज, झोंपड़ा गले जाता है, गोरी भीगती है; लवण (लावण्य) बिलाता है, बस कर । **लोणु**-लवण और लावण्य, **विलिज्जइ**—विलीयते (सं०), **वालिउ**—वाल्या (राज०) गाली, दग्ध, **तिम्मइ**—(सं०), तिम्, गीला होना 'दोधकवृत्ति' दो अर्थ करके भी स्पष्ट नहीं हो सकी ।

(११६)

विहवि पणट्ठइ बंकुडउ रिद्धिहिं जणसामन्नु ।
किंपि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥

विभव प्रनष्ट होने पर, बाँकुरा, रिद्धि में, जन-सामान्य, कुछ-कुछ, मेरे पिय का, शशि, अनुहरता (सदृश होता) है, न अन्य । चन्द्रमा क्षीण होता है तो कलाएं बाँकी होती हैं, पूर्ण होता है तो सामान्य गोल और ताराओं का-सा, मेरे,

पिया के सदृश वही है। पिया संपत्ति नष्ट होने पर अकड़ते हैं और संपत्ति में नम्रता से साधारण रहते हैं। **विहवि पणट्ठइ**— भावलक्षण, **बंकुडउ**—बांकुडो, बांकुरो, **जण-सामन्नु** जन सामान्य (समास) **मणाउं**—मनाक्, कुछ। दोधक-वृत्ति—'सामान्यो लोकः ऋद्‌द्धया वक्री स्यात्' 'चन्द्रस्य तारका वक्रा भवन्ति मम प्रियस्य निर्धनस्य अन्ये जना वक्रा भवन्ति' आदि न मालूम क्या-क्या लिख गई है।

(११७)

किर खाइ न पिअइ न विद्दवइ धम्मि न बेच्चइ रुअडउ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ दूअडउ॥

निश्चय, खाय, न, पिए न, भी, देवे, धर्म में, न बेचे, रुपया, यहां, कृपण, न जाने, जैसे, यम का, क्षण से (=में), पहुंचै, दूत। **किर**-किल, **बेच्चइ**-व्ययति (सं०) खर्च करे, इसी से बेचना, **पहुच्चइ**-प्रभवति (सं०) पहुँचे। **रूअडउ, दूअडउ**-रूपडो, दूतडो, दे० प्रबंध (१)।

(११८)

जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ अह वा तं जि निवाणु॥

जाईजै, उस (में), देसडे (में), (जहाँ), लभै (मिलै), पिय का, प्रमाण (पता), यदि, आवे, तो, आनिए, अथ वा, वह, जी, निर्वाण (माना जाय)। मिल जाय तो ले आऊं नहीं तो वहीं शांति मिले। **जि**-पादपूरण।

(११९)

जउ पवसन्ते सहुँ न गयअ न मुअ विओएं तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा देन्तेहिं सुहयजणस्सु॥

जो, प्रवास करते के, साथ, न, गया (गई) न, मुआ (मुई), वियोग में, उसके (मैं अब) लजाती हूँ, संदेश, देती हुई, सुभग जन के (को)। **पवसन्ते, देन्तेहि**— वर्तमान धातुज। **लज्जिज्जइ**-लजीजै, लजाया जाता है, **दिन्तेहि**-देती हुई (हम) से।

(१२०)

पत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ॥

इत, मेह, पीते हैं, जल, इत, वडवानल, औटता है, पेखो, गंभीरता, सागर की, एक भी, कनी, नहीं घटता। **एत्तहे**···**एत्तहे**-इतै, **आवट्टइ**-आवटै, ओटै, **गहीरिम**-(सं०) गंभीरिमा इमनिच् के लिए देखो (ऊपर पृ० ४०५ पत्रिका भाग २, पृ० १४५), **कणिअ** कणिका, कनी, **ओहट्टइ**-अवघटे। दोधकवृत्ति ने अर्थ के पहले 'हे नाथ' लगाया है, मूल में तो यह पद नहीं जान पड़ता, संभव है उसके कर्ता के सामने मूल ग्रंथ रहा हो जिसमें से यह उद्धृत है और वहाँ 'नाथ' की संगति (Context) हो।

(१२१)

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउं कइ पय देइ।
हिअइ तिरिच्छी हउं जि पर पिउ डंबरइं करेइ॥

जाओ, मत, जाते हुए का, पल्ला (पकड़ूं), देखूं, कै, पद, देता है (आगे), हिए में, तिरछी, हौं, जी, पर, पिय, (आ) डंवर, करै। मैं हृदय में तिरछी, आड़ी, रास्ता रोककर खड़ी हूँ, पिया जाने के आडंबर करते हैं, जाना वाना कुछ न होगा, **पल्ल वल्ला** मैं नहीं पकड़ती, जाओ, देखें कितने पैंड जा सकता है। **पल्लवह**-पल्ले को?

(१२२)

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्बहिं राह पओहरहं जं भावइ तं होउ॥

हरि, नचाया, (प्र+) आंगन में, विस्मय में, पाडा (डाला) लोक, यों (अब) राधापयोधरों का (=को), जो, भावे, सो, हो। जो ये चाहें सो करें, हरि को तो आँगन में नचा दिया और क्या करेंगे, **नच्चाविउ**-नचाव्यो, **पाडिउ**-पाड्यो, पातित (सं०), **भावइ**–भावै। दोधकवृत्तकार न मालूम, 'बलिदैत्य ने हरि नचाया' कहां से ले आए।

(१२३)

साव सलोणी गोरडी नक्खी कवि विस-गण्ठि।
भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि॥

सर्वसलोनी, गोरडी, अनोखी, कोई, विस गाँठ, है, भट, प्रत्युत, सो, मरे,

जिसके, न लगे कंठ में। और विसगाँठ तो गले लगने से मारती है यह न लगे तो मारे इससे अनोखी। **सलोणी**-सलावण्या (सं०) सलौनी, देखो (११४), **गोरडी**-विहारी का गोरटी, चोरटी, **नवखी**-सं० नवका (नवकी !, पंजाबी-नौक्खी, (अनौखी) **भडु**-भट देखो प्रबं० (पत्रिका भाग २, पृ० ४७), **पच्चुलिउ**-प्रत्युत (हेमचन्द्र ८।५।४२०) 'अनबूडे बूडे तरे' का भाव है।

(१२४)

मइं वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेंहि विगुत्ताइं।
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं॥

मैं (ने), उक्त (कहा)-तू, धुर (को), धर (उठा), कसरों से, विगुप्तों (धुरों ?) को तैं (तुझ), बिना, हे धवल !, न, चढ़ै, भर, यों, (तू) खिन्न, क्यों? **धवल**-धुर उठानेवाला धोरी बैल अन्योक्ति है कि भार तू उठा, बछड़ों से क्या सरेगा ? **धुर**-आगे का भार, **कसर**-पट्ठे, छोटे बैल, **विगुत्त** ?-न उठती हुई ? **धवल**-जो जिस जाति में उत्कृष्ट हैं वह धवल (देखो पत्रिका भाग २, पृ० २६) तथा ऊपर ४०९-१० **वुन्नऊ**-बुन्नो, विषादयुक्त।

(१२५)

एक्कु कइअ ह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि।
मइं मित्तडा प्रमाणिअउ पइं जेहउ खलु नाहिं॥

एक, कभी, भी, न, आवे, अन्य, जल्दी, जाय, मैं (ने), हे मित्र प्रमाणित किया, तैं (ने), जैसा, खलु, नहीं। एक कभी आता नहीं, दूसरा जल्दी चला जाता है, मित्र जैसा मैंने पहचाना है वैसा तूने नहीं। अस्पष्ट। यह अच्छा अर्थ होता—एक मित्र तो कभी आता ही नहीं, दूसरा झटपट चला जाता है, हे मित्र, मैंने प्रमाणित किया है कि तुझ जैसा निश्चय कोई भी नहीं। **वहिल्लउ**-शीघ्र।

(१२६)

जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं जिवँ नइ तिवँ बलणाइं।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं॥

ज्यों, सुपुरुष, त्यों झगड़ते हैं, ज्यों, नदी, त्यों, बलन (मोड़, ज्यों डूंगर (पहाड़) त्यों, कोतरे (खोह), हे हिया ! विसूरता है, क्यों ? मित्रता में झगड़े होते ही हैं। **घंघलइं**-धँघँलना = झगड़ना, धाँधल होना, **विसूरना**-हिंदी (पृ० १५७)।

(१२७)

ज छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउं तडि घल्लन्ति ।
तइं संखहँ विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥

जो, छोड़कर, रत्ननिधि (समुद्र) को, अपने को, तट पर, घालते (फैंकते) हैं, उनको,शंखों को, विटाल, पराए, फूँकते हुए भ्रमते (घूमते) हैं । अपना स्थान छोड़ने से विडंवना होती है । छड्डेविणु-छाँड़कर पूर्वकालिक **विट्टालु**-अधम जन (दोधक-वृत्ति) अस्पृश्यसंसर्ग (हेमचन्द्र), **विटाल**-बिगड़ैल, **बिटलना** = बिगड़ना, **विटालना**-बहकाना, फोड़ना, खराव करना ।

(१२८)

दिवेहि विढत्तउं खाहि वढ संचि म एक्कुवि द्रम्मु ।
कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥

दैव से, दिया हुआ, खा, मूर्ख ! संचय कर, मत, एक भी द्रम्म कोई, डर, सो, पडै, जिससे, समाप्त होवे, जन्म । **विढत्त**-अर्जित ? (दोध०), सौंपा, **संचि**-संचना (संचय करना) धातु पुरानी हिंदी और पंजाबी में है, **द्रम्मु**-एक सिक्का, दाम, **द्रवक्कउ**-द्रव को, डर दड़बड़ी ।

(१२९)

एकमेक्कउं जइवि जोएदि
हरि सुट्ठी सव्वायरेण
तोवि द्रेहि जहिं कहिंवि राही
को सक्कइ संबरेवि पड्ढनयणा नेहिं पलुट्टा ॥

एक एक (गोपी) को, यद्यपि, जोहता, है, हरि, सुठि, सर्वादर से, तो भी, दीठ, जहां, कहीं भी राधा (है वहीं है) कौन, सकै, संवरण करने को, दग्ध नयनों (को), नेह से पलोटों (को) । दोधकवृत्ति का अर्थ गड़बड़ है । **द्रेहि**—दृष्टि, डीठ, **संवरेवि** (सं०) संवरीतुं, **दड्ढ**—दग्ध, डाढे, नेहि, पाठांतर, **नेहें**—नेह से, **पलुट्टा** – लिपटे, भरे ।

(१३०)

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पट्ठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥

विभव में, किसका, स्थिरत्व, यौवन में, किसका, मराठापन (अहंकार) है (तो भी) वह, लेख, पठाया जाता है, लगे, जो निचट। नायक का भरोसा नहीं, वैभव में किससे आशा की जाय कि वह स्थिर रहेगा। अपने यौवन का भी घमंड नहीं कि वह खिंच ही आवेगा, तो भी खंडिता या प्रोषिता सोचती है कि ऐसा संदेसा भेजूं जो तीर की तरह चुभ जाय, चैंठ जाय। **थिरत्तणउं**—स्थिरत्व, **लेखडउ**—लेखडो, **निच्चट्ट** – अत्यंत गाढ़ा।

(१३१)

कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु ।
दूरठिआहंवि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥

कहाँ, शशधर (चंद्र), कहाँ, मकरधर (समुद्र), कहाँ, मोर, कहाँ मेघ, दूर-स्थितों के भी, सज्जनों के, होय, असाधारण, नेह, **बरिहिणु**—सं० वर्हि, बरहि (तुलसी) **असड्ढलु**—सं० असंस्थुल (?)

(१३२)

कुंजरु अन्नहं तरुअरहं कुड्डेण घल्लय हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिं सल्लइहि जइ पुच्छइ परमत्थु ॥

कुंजर, अन्यों (पर), तरुवरों पर, कोड से, घालै हाथ, मन, पुनि एक ही (पर), सल्लकी पर, यदि, पूछो, परमार्थ। कुड्ड—कौतुक विनोद, देखो ऊपर (८६)।

(१३३)

खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयंपह ।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥

खेल, किया (गया), हमसे, निश्चय, क्या, प्रजल्पते (कहते) हो (कहैं) ? अनुरक्तों (को) भक्तों को, हमें, मत, तज, स्वामी। अनुष्टभ् छंद। **खेड्ड**—खेल,

साडे खेडण दे दिन चार (पंजावी गीत) पाठांतर में 'अणुरत्ताओ भत्ताओ' है।

(१३४)

सरिंहि (न) सरेंहि न सरवरेंहि न वि ऊज्जाणवणेंहि।
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेंहि सुअणेंहि॥

सरि (ता) ओं, सरों से, न सरवरों से, न, भी उद्यान-वनों से, देस, रमणीय, होते हैं, मूर्ख, (किंतु होते हैं। (नि) बसते हुए, स्वजनों से। **रवण्ण**—रमणीय, रम्य, **वढ**—देखो (४३, १२८, आदि)।

(१३५)

हिअडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउ भंडय ढक्करि सार॥

हिअडा! तैं (ने) यह, बोला, मुझ आगे, सौ बार, फटूंगा, पिय (के), प्रवास करते (ही), हौं, हे भंड, हे अद्भुत दृढ़तावाले!, (अब तो तू नहीं फटा!) **हिअडा**—हे हिय, **पइं**—मध्यमपुरुष, **फुट्टिसु**—फूटिस्यों, **पिएपवसन्ति**—भाव-लक्षणा **भंडय**—पाखंडी, **ढक्कारिसार**—ढकर गया, निकल गया, है सार, बल जिसका। अर्थात् छूछा (दोधकवृत्ति) किंतु अद्भुत सार (हेमचंद्र)।

(१३६)

एक कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी
तहं पंचहं वि जुअंजुअ बुद्धी।
बहिणुए तं घरु कहि किव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण-छन्दउं॥

एक, कुटी, (शरीर) पांच (इंद्रियों) से, रूँधी गई (रुकी), तिन्ह, पाँचों की, भी, जुदी जुदी! बुद्धि (है), बहन! वह, घर कह, किमि, नन्दै (प्रसन्न हो), जहां, कुटुम्ब, आप छंदा (हो)? **कुडुल्ली**—कुटी का कुत्सा या अल्पार्थ **जुअंजुअ**—जुगजुग, न्यारी-न्यारी, **अप्पगछन्द**—आपमुहारा, अपने-अपने मत के, "खसम पूजते देहरा भूतपूजिनी जोय। एकै घर में दो मता कुसल कहाँ ते होय॥"

(१३७)

जो पुणि मणि जि खसफसिहूअउ चिंतइ देह न दम्मु न रूअउ।
रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सोनालिउ ॥

जो, पुनि, मन ही में, घुसफुसाता हुआ, गिनता है, देय, न, दंम, न रुपया रतिवस (से) भ्रमण करने वाला, (वह), कराग्र उल्लालित घर में ही, जी, कुंत, गुणता है, वह मूर्ख। जो सदा व्याकुल रहे, पैसा न खरचै, वह घर बैठे ही भाला घुमाया करता है, मन के लड्डू फोड़ता है। **खसफसिहूअउ**—व्याकुल, **दंमु**-द्रम सिक्का, दाम, **रूअउ**—रूपक, चाँदी का सिक्का, **रइ**—रति, मन की लहर, **भमिरु**—भरमता हुआ, **उल्लालिउ**—उल्लालित, **कोन्तु**—कुंत, भाला, **गुणइ**—गुणै, **नालिउ**—दुर्लालित, दुर्ललित, मूढ़।

(१३८)

चलेहिं चलन्तेहि लोअणेहिं जे तइं दिठ्ठा बालि।
तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥

(चं) चलों से, चलते हुओं से, लोचनों से, जो, तैं (ने), दीठे, हे बाले! उन पर, मकरध्वज (कामदेव), दड़बड़ा कर, पड़ै, अपूरे (ही) काल में, या (दोधक वृत्ति के अनुसार) उन पर मकरध्वज का दड़बड़ा (धाड़ा) पड़ता है अपूरे काल में ही। उन पर दिन दहाड़े डाका पड़ता है, वे बेमौत मारे जाते हैं, जिन्हें तैंने चंचल नयनों से देखा। दडवडउ—अच (! व) स्कंदं कटकं धाटी (दोधकवृत्ति) धाड़ा, अपूरह कालि—अपूर्ण काले।

(१३९)

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥

गया, वह, केसरी, पिओ, जंण, निश्चित, हरिण, जिसके, केरे, हुंकार से, मुँह से (तुम्हारे) पड़ते हैं, तृण। जिसके हुंकार के सुनते ही मुँह से तृण पड़ जाया करते हैं वह सिंह गया, अब निःशंक जल पिओ। **जसु केरएं**—ध्यान दीजिए कि **जसु** (यस्य) में षष्ठी की विभक्ति सु या उ अलग है, केरएं विशेषण की तरह 'हुंकारए' से लगन रखता है। केर विभक्ति नहीं है जिसे 'जसु' से सटाया जाए। **जसु केरएं हुंकारडएं**—यस्य केरकेण हुँकारेण, केर=केरा। यह 'का की के' का

बाप कहा जाता है किंतु यह स्वयं ही विभक्ति नहीं है और न सट सकता है। फिर इसके बेटे पोते कैसे सटाए जा सकते हैं ? इससे मिलता एक मारवाड़ी प्रसिद्ध दोहा है—

जिण मारग केहरि वुवो रज लागी तिरणांह।
ते खड़ ऊभी सूखसी नहीं खासी हरिणांह॥

जिस मार्ग से सिंह गया, रज लगी, तृणों को, वे खड़े-ही-खड़े सूखेंगे, हरिण, नहीं खावेंगे।

(१४०)

सत्थावत्थहं आलवणु साहुवि लोउ करेइ।
आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ॥

स्वस्थावस्थों का (से), आलपन, सब ही लोग, करे, आर्तों को 'मत डर' ऐसी अभयवाणी, जो, सज्जन (हो) वही, दे। **आलवणु**—आलपन, बातचीत (देखो ४८) **साहु**—सहु, सब, सौ, **आदन्नह**—? आपन्नहं, आपन्नों, आर्तों को **मब्भीसडी**—मत डर, 'मा भैषीः' इस वाक्य से बनाई हुई, संज्ञा, स्वार्थ में 'डी'।

(१४१)

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाव।
लोहें फुट्टणएग जिवं घणा सहेसइ तवि॥

यदि, रचता है, तू, जो दीठा उसी में, दे हिय ! मुग्धस्वभाव ! लोहे से, फूटनेवाले से, ज्यों, घने, सहे जायेंगे, ताप (तुझ से)। (या सहेगा ताप तू), जो दीखा उसी में रमने लगेगा तो टूटनेवाले लोहे की तरह घड़ी-घड़ी खूब तपाया जायगा तब कहीं एक जगह जमकर प्रेम करने में दृढ़ता सीखेगा। **रच्चसि**—रचता है, प्रेम करता है, **जाइट्ठिअए**—जो जो+दीठा उसी में **फुट्टणएग**—फूटनेवाले से, सहेसहि-कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य का धोखा होता है।

(१४२)

महं जाणिउं बुडीसु हउं प्रेमद्रहि हुहुरुत्ति।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय नाव झडत्ति॥

मैं (ने), जान्यो (जाना), बूडूंगी, हौं, प्रेमदूह में, हुहुर यों, न पर, अचिंतित आपतित हुई (आ पड़ी), विप्रिय (रूपी), नाव झट। प्रेम इतना था कि मैं दह के समान उसमें डूब जाती किंतु उसमें से मुझे बचाने को विप्रियरूपी नाव झटपट मिल गई। **बुड्डीसु**—बूडूँगी, (देखो पृ० ३२) **हुहुरुत्ति**—अनुकरण, डूबते समय साँस के बुलबुले उठने का, या घबराने का, **नवरि**-संस्कृतछायावालों का, 'केवल' ही नहीं, वरन, **संपडिय**—संयोग से आ गई, **विप्पियनाव**—'विप्रिय रूसना या वियोग बेड़ा'। (दोधकवृत्ति)।

(१४३)

खज्जइ नउ कसरक्केहि पिज्जइ नउ घुट्टेहिं।
एवइ होइ सुहच्छडी पिएं दिट्ठे नयणेहिं॥

खाया जाता है, न तो, कसरकों से, पीया जाता है, न तो, घूँटों से, यों ही, होय, सुखस्थिति, पिय, दीठे (पर), नयनों से। खाने-पीने की-सी तो तृप्ति नहीं होती किंतु कोई अनिर्वचनीय सुख मिलता है। **खिज्जइ**—खाइजै, **पिज्जइ**—पीईजै कर्मवाच्य, **कसरक्क**—बड़े-बड़े ग्रास, डचके, (देखो पृ० ४०२) **एम्वइ**—यों ही या ऐसा होने पर भी (दो० वृ०) **सुहच्छडी**—(सुख+अस्ति) पना, 'डी' से नाम बनाया गया (दे० ३७, ६१, १४०) या सुखाशा (दो० वृ०) **नपिएंदिट्ठें**—भावलक्षण।

(१४४)

अज्जबि नाहु महुज्जि घर सिद्धत्था वन्देइ।
ताउंजि विरहू गवक्खेहि मक्कडघुग्घिउ देइ॥

आज भी (अभी), नाथ, मेरे ही, घर, सिद्धार्थों को, वंदना करता है, तो भी, विरह, गवाक्षों (जालियों) में से बंदर घुड़की, देता, है। अभी नाथ परदेस गए, नहीं हैं, घर ही में हैं, यात्राकाल के मंगल द्रव्यों को सिर से लगा रहे हैं। तो भी विरह समझ गया है कि मेरा मौका आ गया। अभी वह सदर दरवाजे से तो घुस नहीं सकता जाली के मोखों में से मानो बंदरघुड़की दिखा रहा है। **अज्जवि, महुज्जि, ताउंजि**—में वि और जि कितना जोर दे रहे हैं। सिद्धत्वसिद्धार्थ पीली सरसों मंगल शकुन, गवक्ख-गवाक्ष (सं०) पुरानी चाल की जालियों के छेद बिलकुल गौ की आँख के-से ही होते हैं इसी से हिंदी **गोखा**—दरवाजे पर का झरोखा, **मक्कडघूग्घि,**—बंदरघुड़की, **घूग्घिड**=चापल्यं (!) (दोधकवृत्ति)।

(१४५)

सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मनिअडा न बीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठबईस॥

सिर पर, जीर्ण, लोई गले में, मनके, न, बीस, तो भी, गोठ के निवासी (युवक) कराए, मुग्धा ने ऊठ बैठ। सिंगार की पूँजी तो यही है कि पुरानी कमली और गले में पूरे बीस मनकों की माला भी नहीं, तो भी लावण्य ऐसा है कि गाँवभर के छैलों को ऊठकबैठक करा रही है। **जरखण्डी**—जीर्ण और खंडित, **लोअडी**—लोई, कंबल, **मणिअडा**—कुत्सा का 'ड' **गोट्ठडा**—गोठ के लिए देखो (११०) गाँव के बाहर गोस्थान जहाँ युवक ही इकट्ठे होते हैं, **गोट्ठडा**—वहाँ के निवासी, **उट्ठबईस**—गुजराती, बैसना = बैठना।

(१४६)

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ बिणासहो कालि॥

अम्मा ! पछतावा (है), पिया, कलहित किया, रात्रि में, अवश्य, विपरीत, बुद्धि, होय, विनास के, काल में। मान करके पछताती है। **अम्मडि-बुद्धडी**—स्वार्थ में डी, या अनुकंपा में, **पच्छायावडा**—यहां भी पश्चात्ताप के आगे डा है, **कलहिअउ**—कलहिओ, कलहापितः (देखो ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ५०७) **विआलि**—देखो कुमार० (१८, ना० प्र० पत्रिका, भाग २, पृ० १४४), ऊपर (६२), **घइं** हेमचंद्र ने अनर्थक कहा है, पादपूरण या अवधारण अर्थ है।

(१४७)

ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिं देसि।
हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि॥

ढोला ! यह परिहास ऐ ! कह, किस में, देश में (है) ? हौं, छीजूँ तेरे लिये, पिय ! तू, पुनि, अन्य के लिये। मिलाओ (५५) यह कौन से देश की चाल है ? **ढोल्ला**—देखो (१) **परिहासडी**—मजाक, हँसी, या परिभाषा (दोधकवृत्ति) **अइभन**—दोधकवृत्ति एक शब्द मानकर अर्थ किया है अत्यद्भुत। हेमचंद्र में भी 'अइभ न' प्रधान पाठ माना है। **झिज्जउं**—झीजना, झीना होना, सूखना, **तउकेहि**

—तेरे लिए, **रेसि** --वास्ते (हेमचंद्र ८।४।४२५)

(१४८)

सुमिरिज्जइ तं वल्लहउं जं वीसरइ मणाउं ।
जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइं नाउं ॥

सुमरा जाय, वह बल्लभ, जो, बिसरै, मन से, जिसका, पुनि सुमरन, यदि, गया उस (का), नेह का, क्या, नाम ? जिसे भूलें उसे तो याद करें और जिसका स्मरण चला जाय (भूल जाय) उसके नेह का नाम ही क्या ? कुछ नहीं। जिसका नेह है वह कभी भूला नहीं जा सकता और उसके स्मरण की जरूरत नहीं। **सुमरिज्जइ** —सुमरीजै, **मणाउ** —मनाक (दोधकवृत्ति), मन से, **जाउं** —यदि, **कइं नाउं** —काई नांव ? (जयपुरी)।

(१४९)

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं ।
मूलि विणट्ठइ तुंविणिहे अव सें सुक्कइं पण्णइं ॥

जीभ-इंद्रीय को, हे नायक ! वश करो, जिसके, अधीन, अन्य (इंद्रिय) (हैं) मूल (में) विनष्ट (में) होने पर, तूँबी के, अवश्य, सूखैं, पान । **मूलि विणट्ठइ**— भावलक्षण, **तुंविणि**—तुंबिनी, तूँबी, **सुकइं** —सुकैं ।

(१५०)

एक्कसि सीलकलंकिअहं देज्जहिं पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खंडइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥

एक बार शीलकलंकित (करनेवालों) को, दिए जाते हैं प्रायश्चित्त, जो, पुनि, खंडित करै (शील को), अनुदिवस, उसके, प्रायश्चित्त से, क्या ? **एक्कसी** —एक बार के अर्थ में, एकशः, मारवाड़ी एकरश्यां, एकश्यां **देज्जहिं** —दीजै, **खण्डइ** —खण्डै, **अणुदिअहु** --दिन-दिन ।

(१५१)

विरहानलजालकरालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वहिं पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥

विरहानल ज्वालाओं से करालित, पथिक, पंथ में, जो, दीठा, उसे मिलकर सब (ने), पंथियों ने, सो जी किया, अँगीठा। विरह-ताप की अधिकता की अतिशयोक्ति, मिलाओ (१०६)। 'दोधकवृत्ति' शायद यह अर्थ करती है कि पथिकों ने उसका अग्नि-संस्कार कर दिया 'अग्निष्ठः कृतः' **मेलवि** —मिलकर, या रखकर। **अग्गिट्ठउ** —अँगीठो, स्त्री० अँगीठी, अनुस्वार के लिए देखो पत्रिका भाग २, पृ० ४०।

(१५२)

सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमासंधिहिं वासु।
पेक्खिवि बाहुबलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु॥

स्वामि (का) प्रसाद, सलज्ज, पिय, सीमासंधि में, वास, पेखकर, बाहुबलोल्ललित (पिय को), नायिका, छोड़ती है, निःश्वास। राजा की कृपा जिससे वह कभी छुट्टी न दे और कठिन कामों पर ही भेजे, पिया संकोची कि काम के लिए नाहीं न करे न छुट्टी माँगे, रहना सीमा पर जहाँ नित नये झगड़े हों, और बाहुबल से गर्वीला पिय कि आगे होकर झगड़ा मोल ले —बेचारी इतने कारणों से विरह के अंत का संभव न जानकर उसासें भरती है। **बाहुबलुल्लडा** —बाहु+बल+उल्लल, उल्लट, या 'बाहु' का विशेषण 'बलुल्लड'=बलदर्प से भरे बाहु (पिय के, देखकर), **धण** —देखो (१, ७०) **मेल्लइ**—रक्खै, छोड़ै, मेलै।

(१५३)

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेंहिं कच्चुआ तितुव्वाण करन्त॥

पथिक ! दीठी, गोरी ? (हाँ) दीठी, मग (को), देखती (हुई)। आँसू (और) उसासों से, कंचुक को, गीला, सूखा, करती (हुई)। आँसुओं से गीला और उसासों से सूखा, (८०) **यातितुव्वाण**—तन्तूद्वान, ताना बाना, आँसुओं का ताना, उसासों का बाना। **गोरडी**—देखो (८२, १२३) 'डी' (१४०) **निअन्त**—देखती, **तितुव्वाण** —तीमा, तिमित=गीला, देखो तिम्मइ (११५)।

(१५४)

पिउ आइउ सुअ बत्तडी—झुणि कन्नडइ पइट्ठ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआवि न दिट्ठ॥

पिय, आयो, (इस) शुभ, वार्ता (की) ध्वनि, कान में, पैठी उस (की), विरह की, भागते (की), धूल भी, न दीठी। ऐसा भागा कि खोज तक न मिले, लंगोटी भी हाथ न आई। **बत्तडी, कन्नडइ धूलडिआ**-अब 'डी' या 'ड' पर लिखना व्यर्थ है। **नासन्त**-नश्यत् (सं०) नष्ट होना, अदर्शन होना, भागना, पंजाबी **न्हस**—भागना।

(१५५)

संदेसें काइं तुहारेण जं संगहो न मिलिज्जइ।
सुइणन्तरि पिएं पाढिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ॥

संदेसे से, क्या, तुम्हारे से, जो, संग से, न, मिलीजै, स्वप्नान्तर में, पिए (हुए) से, पानी से, पिय ! प्यास, क्या छीजै ? केवल संदेश से क्या ?

(१५६)

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।
पिअपब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिवि न ठाइ॥

इधर तिधर, द्वार (और) घर में, लक्ष्मी, विसंस्थुल, धाय (=दौड़ी फिरती है), प्रिय-प्रभ्रष्ट, इव, गोरी, निश्चल कहीं भी, न, ठवें (स्थित होती, टिकती है)। लक्ष्मी की चंचलता की वियोगिनी की बौखलाहट से उपमा। **वारि घरि**—घर द्वार, घर बार, **पब्भट्ठ**-प्रभ्रष्ट (सं०) भटकी, चूकी।

(१५७)

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउं किंपि णवि मरिएव्वउं पर देज्जइ॥

यह, ग्रहण करके, जो, मैं, (=मुझसे) यदि, पिय, उबारा जाय, (तो) मेरा, कर्तव्य, कुछ, भी, नहीं, (रहे) मरना, पर, दिया जाय। यदि यह लेकर मेरे पिय का उद्धार हो जाय तो मेरा कर्तव्य कोई बाकी नहीं रहता मैं चाहे अपना मरण दे दूं (मरण भी सह लूं)। 'दोधकवृत्ति' के अनुसार—"किसी सिद्ध पुरुष ने विद्यासिद्धि के लिए धन आदि देकर नायिका से बदले में पति माँगा तो वह कहती है कि यदि यह लेकर पति उद्वर्त्यते-त्यज्यते-बदले में दिया जाय तो मेरा कर्तव्य कुछ नहीं है

केवल मरना दे सकती हूँ" (चाहे मेरे प्राण ले लो पति को न दूंगी) **गृह्णेप्पिणु**-पूर्वकालिक, **ध्रं**—देखो (४१), **उव्वारिज्जइ** (१) उबारा जाय, (२) बटाया जाय ? देखो ऊपर टीका, **करिएव्वउं, मरिएव्वउं**-करबो, मरबो (राज०), करवुं, मरवुं (गुजराती), कर्तव्य, मर्तव्य (सं०)।

(१५८)

देसुच्चाडणु सिहिकढणु घणकुट्टणु जं लोइ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्व सहेव्वउं होइ॥

देश (से) उचाटा जाना, शिखि (आग) पर कढ़ना (काढ़ा जाना), घना कुटना, जो लोक में (अति दुःखदायक भयंकर दण्ड हैं वे) मंजीठ से, अतिरिक्त से, सब, सहना, होय। रक्त=(१) लाल (२) अनुराग में पगा हुआ। मंजीठ देस-निकाला, आग पर कढना, घनी कुटाई सहती है, यह 'रक्त' होने का फल है। **सहेव्वउं**-सहवो, सहितव्य।

(१५९)

सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिं समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु॥

सोना, पर, वारित किया गया (है), पुष्पवतियों के साथ, जागने को, पुनि कौन, धरता है (पकड़ता) है, यदि, सो, वेद, प्रमाण (है)। किसी शोहदे की उक्ति। जिस वेद में 'साथ सोने' की मनाई है यदि वही प्रमाण हो तो 'साथ जागने' को कौन रोकता है? **सोएवा जागेवा**—सोबो, जागबो, **वारिआ**-वारित, **पुप्फवई**-पुष्पवती, रजस्वला, पुष्प का उपचार हिंदी तक आया है क्योंकि प्रथम-रजोदर्शन को 'फुलेरा' कहते हैं। मिलाओ गाथा—

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ तन्नाम।
एह णिमज्जसु पासे पुप्फइ ण एइ मे णिद्दा॥

(सरस्वती कंठाभरण ३, २९)

[लोग खिझें, खिझें, बंचनीय (निन्दा) हो तो होने दो, आ, पास लेट जा, पुष्पवती ! मुझे नींद नहीं आती।]

(१६०)

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं ।
अम्हाहिं वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥

हे हिय ! यदि, बैरी, घने (हैं) तो, क्या, आकाश में चढ़ें ? हमारे (भी) तो, दो, हाथ (हैं), यदि, पुनः मारकर, मरें । अब्भि-अभ्र में, शत्रुओं से बचने के लिए धरती छोड़ आकाश को चले जायँ क्या ? दो हाथ तो हैं, मार कर मरेंगे।

(१६१)

रक्खइ सो विसहारिणी वे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिंबिअमुंजालु जलु जेंहि अडोहिउ पीउ ॥

रक्खै वह विष (=पानी) हारिणी, दो, कर, चूमकर, जीव (अपना), प्रतिबिंबित-मूँज-वाला-जल, जिनसे, पिलाया, पिया को। कहीं ताल के तीर पर मिलन हुआ था । किनारे पर मूंज उग रही थी । उसकी पानी में परछाई पड़ रही थी। पिया ने उसके हाथों से जल पिया था, फिर मिलना नहीं हुआ। नायिका उन हाथों को चूम-चूमकर ही जीवित रह रही है। विस—जल संस्कृत में भी अप्रयुक्त है, यदि बिस (कमल की नाल) लाने वाली अर्थ करें तो अच्छा हो क्योंकि कमलनाल का मूल वहां रहता है जहां जल में मुंज का प्रतिबिंब पड़ा था इसलिए कमलनाल तोड़ते समय सब स्मरण आता रहता है। बे—दोधक वृत्ति कदाचित 'जेहि' के नित्य-संबंध से इसे वर्तमान हिंदी का 'वे' मानती जान पड़ती है, **चुम्बिवि**—पूर्वकालिक **मुंजालु**—'आला' प्रत्यय 'वाला' अर्थ में **अडोहिउ**-पिया, पिलाया।

(१६२)

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु ।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाणाउँ मुंज सरोसु ॥

देखो 'प्रवन्धचिंतामणि' वाला लेख (पत्रिका भाग २, पृ० ४४)। दोधक-वृत्ति **'मुंजो भूपतिः सरोषः'** कहकर यही अर्थ करती है कि नायिका नायक मुंज से कह रही है।

(१६३)

जेप्पि असेसु कसायबलु देप्पिणु अभय जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ।।

जीतकर, अशेष, कषायबल, देकर, अभय, जगत का (को) लेकर, महाव्रत, शिव, पाते हैं, ध्यान कर, तत्व का (को)। **जेप्पि, देप्पिणु, लेब्बि, झाएविणु**—पूर्वकालिक, **कसाय**—कषाय, मल, क्रोधादि, **सिव**—मोक्षपद।

(१६४)

देवं दुक्करु निअय धणु करण न तउ पडिहाइ ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहं मणु पर भुञ्जणहि न जाइ ।।

देना, दुष्कर, निजक-धन, करना, नहीं, तप, (प्रति) भाता, यों, सुख, भोगने का, मन (है), पर, भोगने को (=भोगा) न, जाता। देवं—(पाठा० देवें) देवो, देवुं (गुज०) **भुञ्जण**—भोजन, **भुञ्जणहि न जाइ**—'भोगा नहीं जाता' भोक्तुं न याति (दोधकवृत्ति) नहीं।

(१६५)

जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि ।
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणेवि ।।

जीतना, त्यागना, सकल, धरा को, लेना, तप, पालना, बिना, शांति (नाथ) तीर्थंकर से (=को), कौन सकै, भुवन में भी ? **जेप्पि, चएप्पिणु, लेविणु पालेवि,** क्रियार्थी क्रिया सं० तुम। ये रूप पूर्वकालिक क्रिया के रूपों से मिलते हैं।

(१६६)

गंप्पिणु वाणारसिहिं नर अह उज्जेणिहिं गंप्पि ।
मुआ परावहिं परमपउ दिव्वन्तरहिं म जम्पि ।।

जाकर, बनारस में, नर, अथ (वा), उज्जयिनी में, जाकर, मुए (लोग), प्राप्त होते हैं, परम पद, दूसरे स्वर्गों को (=की बात), मत, कह। **गंप्पिण, गंप्पि**—पूर्वकालिक, **वाणारसी या वाराणसी**—देखो ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृ०

२२७-८, **परावहिं**-प्रापैं, **दिव्वंतर**—अन्य दिव, दूसरे लोक, परमपद ही मिल जाता है तो और स्वर्ग आदि की बात ही क्या, तीर्थान्तर (!) (दो० वृ०) **जंप**-जल्प (सं०), इसमें 'इ' केवल छंद के लिए लगा है ।

(१६७)

गंग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास गउ सो जमलोउ जिणेप्पि ॥

गंगा, जाकर, जो, मुए (मरे), जो, शिवतीर्थ (काशी), जाकर, खेलता है, त्रिदशावास, गया, वह जमलोक, जीतकर । **गमेप्पिणु, गमेप्पि, जिणैप्पि**—जाकर जीतकर, **कीलदि**—क्रीडति (सं०) **तिदसावास**—त्रिदश (देव) आवास, गउ—गयो ।

(१६८)

रवि अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्ड मुणालियहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥

रवि (के) अस्तमन में, समाकुल ने, कंठ में दिया, न, छीना (—काटा, दाँतों से) चक्र (वाक) ने, खंड, मृणालिका का, नाईं जीवार्गला दीना । चक्रवाक ने मृणाल का कौर मुँह में लिया कि सूर्यास्त हो गया । वियोग का समय आया । बेचारे ने कौर काटा भी नहीं, मुँह में डाल लिया, मानो वियोग में जीव न निकल जाय इसलिए अर्गला, (आगल, अरगड़ा) देदी । **अत्थमणि**—देखो पत्रिका भाग २, पृ० ५६ । **विइण्णु**-बितीर्ण, **चक्के**-कर्मबाच्य का कर्ता जैसे मैं, तैं (मइं, तइं), 'ने' वृथा है, पंजाबी राजें-राजा ने । **नउ**-उपमावाचक, देखो (५), **जीवग्गलू**-जीव + अर्गला । संस्कृत के इस श्लोक का भाव है—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाशंकां विलोक्य प्रियाम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना विसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥

—सुभाषितावलि सं० ३४८३, पीटर्सन

(१६९)

वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लहविरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ।।

वलयावलि (के) निपतन (के) भय से, नायिका, ऊर्ध्वभुज, जाय (जाती है), वल्लभ (के) विरह (रूपी) महादह की, थाह, ढूंढ़ती है, मानो वियोग में दुबली हो गई है। चूड़ियां गिर न जायं इसलिए बाहें ऊँची करके जाती है। मानो प्रिय के विरह के महादह की थाह ढूंढ़ रही है, नहीं पाती। जो गहरे पानी की थाह लेना चाहता है वह सिर पर हाथ ऊँचे कर लेता है कि पानी सिर से ऊँचा है। **उद्धब्भुअ**-ऊर्द्ध+भुज, **धण**-देखो(१), दह (सं०) ह्लद का व्यत्यय मिलाओ काली-दह, **गवेसइ**-सं० गवेषयति, **नाइ**—नाईं, देखो (५)।

(१७०)

पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो दीहरनयण सलोणु ।
नावइ गुरुमच्छरभरिउ जलणि पवीसइ लोणु ।।

पेखकर, मुँह, जिनवर का, दीर्घ नयन (वाला) सलोना, मानो, गुरुमत्सर-भरित, ज्वलन (आग) में, प्रविशै, लावण्य ! इतना सुन्दर मुख है कि लावण्य, मत्सर से भरा, आग में कूद पड़ता है। सुन्दरता पर दीठ न लग जाय इसलिए 'राई नौन' आग में डालते हैं। **लोणु**—देखो (११५), **नावइ**—मानो, नाईं। देखो (५)।

(१७१)

चम्पयकुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ वइट्ठउ ।।

[हिंदी-सम=चंपक कुसुमहि माँझ सहि भँवर पैठो ।
सोहै इन्द्रनील जनु कन (क) हि बैठो ।।]

(१७२)

अब्भा लग्गा डुंगरहिं पहउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरिगिलणमणु सो किं धणहे धणाइ ।।

अभ्र (—मेघ), लागे, डूंगरों पर, पथिक, रटता हुआ, जाय (=जाता है कि), जो, ऐसा, गिरियों (को)(नि) गलने (के) मन (वाला) (मेघ है), वह, क्या, नायिका को, बचावेगा ? पहाड़ों पर मेघ देखकर वियोगी समझता है कि ये पहाड़ों को निगलेंगे, वह पुकार उठता है कि जिनका ऐसा हौसला है वे क्या बेचारी वियोगिनी को छोड़ेंगे ?

अब्भा—अभ्र, **रडन्तहु**—रडन्तो, पंजाबी रड्याना=पुकारना, **धण**—देखो (१), **धणाइ**— दोधकवृत्ति में 'धनानि इच्छति'=धन चाहता है !! **धणी**= धनी=स्वामी, उससे नाम धातु धणाइ=धनाता है, '**धणी**' पन करता है (आचार क्विप्) अर्थात् स्वामित्व दिखाता, रक्षा करता, बचाता है। राजस्थानी **धपणियाप**— धणीपन, स्वामित्व ।

(१७३)

पाइ विलग्गी अंवडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कंतस्सु ।।

पाँव में, (वि) लगी, आँत, सिर, ल्हसा (झुक गया) कंधे पर, तो भी, कटार पर, हाथ, बलि, की जाऊं, कन्त की । वीरता की पराकाष्ठा । ल्हसिउ—ल्हसियो, हत्थडउ=हत्थडो, **बलि किज्जउँ**– बलि जाऊँ, **किज्जउँ**– कीजौं, **खन्धस्सु**—कंधे का=पर ।

(१७४)

सिरि चडिआ खन्ति फलइं पुणु डालइं मोडन्ति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ।।

सिर पर, चढ़े, खाते हैं, फलों को, पुनि, डालों को, मोड़ते (तोडते) हैं, तो, भी, महाद्रुम शकुनों (पक्षियों) को, अपराधी न, करते हैं । महापुरुषों की क्षमा । **मोडन्ति**—सं० मोटयन्ति, तोड़ना फोड़ना । शकुनियों का अपराध (बिगाड़) नहीं करते' (दोधकवृत्ति) ।

(१७५)

सीसु सेहरु खणु विणिम्मविदु खणु कंठि पालंबु किदु; रदिए विहिदु खणु मुंडमालिए जं पणएण तं नमहु कुसुमदामकोदण्डु कामहो ।

इस गद्य में इस बात का उदाहरण दिया है कि अपभ्रंश में शौरसेनी की तरह कुछ काम होता है। और कुछ खंड और गाथा इसलिए दिए गए हैं कि अपभ्रंश में व्यत्यय और कई प्रयोग संस्कृत के-से होते हैं । उन अवतरणों को यहां देने का कोई प्रयोजन नहीं । इस गद्य का अर्थ यह है—सीस पर शेखर क्षण (भर के लिये) विनिर्मित क्षण (में) कंठ में प्रालम्ब (लम्बी माला) कृत, रति ने विहित क्षण में मुंडमालिका में जो प्रणय से, उसे नमो कुसुमदाम-कोदण्ड को, काम के (को) । काम का फूल—धनुष कभी रति अपना सीसफूल बनाती है कभी गले में लटकाती है कभी मूँड़ पर माला की तरह पहनती है, उसे प्रणाम करो । **सेहरु**—शेखर, सेहरा, **बिड़िम्म**—विदु—सं० विनिर्मापित, **पणएण**—प्रणय से, इसे दोधकवृत्ति 'नमहु' का विशेषण मानती है ।

हेमचन्द्र के व्याकरण के इस अंश में जो शब्द उदाहरणवत् दिए हैं उनका यहां उल्लेख निष्प्रयोजन है । जो वाक्यखंड आए हैं उनमें से कुछ के विचार के लिए पृथक् लेख का उपयोग किया जाएगा ।

□

परिशिष्ट

ऊपर पत्रिका भाग २, पृ० ४६ तथा १५० में यह भ्रम से लिखा गया है कि 'काण वि विरह करालिअँहे' आदि दोहा हेमचन्द्र में है । यह हेमचन्द्र में नहीं है। उस दोहे का अर्थ स्पष्ट नहीं था। उसका ठीक अर्थ करने का यत्न किया जाता है ।

मूल

$\frac{\text{कारण वि}}{\text{कीई वि}}$ विरह करालि $\frac{\text{यहे}}{\text{इं}}$ (यइ) उड्डाविअउ वराउ ।

$\frac{\text{सहि}}{\text{इउ}}$ अच्चब्भुउ दिट्ठ मइ कंठि विलुल्लइ काऊ ।

विरहाकुलिता कौए को उड़ाया करती है कि हमारा पति आज आता हो तो

उड़ जा। जहां कई विरहाकुलिता हो वहां कौए की शामत आ जाए। इधर गया तो एक उड़ावे, उधर गया तो दूसरी, कहीं बैठने को ठौर ही नहीं पावे। बेचारा कष्ट में अधर झूल रहा है कि किधर छाऊँ। कुछ का (=से) विरहकरालिताओं का (=से), पैं, उड़ाया गया, वराक, हे सखि या यह, अत्यद्भूत, देखा, मैं (ने), कष्ट में, विलुलता है, काक। काक—सम्बन्ध बहुवचन, **कंठि** = कट्ठि (देखो; पत्रिका भाग २, पृ० ४०) कष्ट में, **विलुल्लइ** —मारा-मारा फिरता है, मंडराता है, **काउ**—कौआ। पहला अर्थ शास्त्री तथा टानी के भरोसे पर किया था। इस नए अर्थ के मार्गदर्शन का उपकार बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर) का है।

□ □

[**प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका** (भाग २, ३) : १६२१-२२ ई०]

द्वितीय खण्ड

शेष रचनाएं

- कथा/कहानी
- शोध
- राजनीति/धर्म
- अत्र तत्र सर्वत्र : टिप्पणियां
- समीक्षाएं
- पत्र-साहित्य
- संस्मरण
- निबंध/लेख
- भाषा
- जीवनचरित
- काव्य
- परिशिष्ट

कथा / कहानी

हीरे का हीरा

(१)

आज सवेरे ही से गुलाबदेई काम में लगी हुई है। उसने अपने मट्टी के घर के आंगन को गोबर से लीपा है। उस पर पीसे हुए चावल से मण्डन मांडे हैं। घर की देहली पर उसी चावल के आटे से लीकें खैंची हैं और उन पर अक्षत और बिल्वपत्र रक्खे हैं। दूव की नौ डालियां चुनकर उनने लाल डोरा बांधकर उसकी कुलदेवी बनाई है और एक हरे पत्ते के दूने में चावल भर कर उसे अन्दर के घर में, भींत के सहारे एक लकड़ी के देहरे[1] में रक्खा है। कल पडोसी से मांग कर गुलाबी रंग लाई थी उससे रंगी हुई चादर विचारी को आज नसीब हुई है। लठिया टेकती हुई बुढिया माता की आंखें—यदि तीन वर्ष की कंगाली और पुत्र वियोग से और डेड वर्ष की बीमारी की दुखिया के कुछ आंखें और उन में ज्योति बाकी रही हो तो—दरवाज़े पर लगी हुई हैं। तीन वर्ष के पतिवियोग और दारिद्रय की प्रबल छाया से रातदिन के रोने से पथराई और सफेद हुई गुलाबदेई की आंखों पर आज फिर कुछ यौवन की ज्योति और हर्ष के लाल डोरे आ गए हैं। और सात वर्ष का बालक हीरा, जिसका एकमात्र वस्त्र कुरता खार से धोकर कल ही उजला कर दिया गया है, कल ही से पडोसियों से कहता फिर रहा है कि मेरा चाचा[2] आवेगा[2]।

वाहर खेतों के पास लकड़ी की धमाधम सुनाई पड़ने लगी। जान पड़ता है कोई लंगड़ा आदमी चला आ रहा है जिसके एक लकड़ी की टांग है। दस महीने पहिले एक चिट्ठी आई थी जिसे पास के गांव के पटवारी ने पढ़ कर गुलाबदेई

१. लकड़ी का बना देवताओं का सिंहासन। प्राकृत : देवल; राजपूतानी : देवलो, देहरो, देवरो; पंजाबी : देहरा
२. पिता

और उसकी सास को सुनाया था। उसमें लिखा था कि लहनासिंह की टांग चीन की लड़ाई में घायल हो गई है और हांगकांग के अस्पताल में उसकी टांग काट दी गई है। माता के वात्सल्यमय और पत्नी के प्रेममय हृदय पर इसका प्रभाव ऐसा पड़ा था कि बेचारियों ने चार दिन रोटी नहीं खाई थी। तो भी —अपने ऊपर सत्य आपत्ति आती हुई और आई हुई जानकर भी हम लोग कैसे आंखें मीच लेते हैं और आशा की कच्ची जाली में अपने को छिपाकर कवच से ढका हुआ समझते हैं!—वे कभी-कभी आशा किया करती थीं कि दोनों पैर सही-सलामत लेकर ही लहनासिंह घर आ जाय तो कैसा! और माता अपनी बीमारी से उठते ही पीपल के नीचे के नाग के यहां पंचपकवान चढाने गई थी कि 'नाग बाबा! मेरा बेटा दोनों पैरों चलता हुआ राजी-खुशी मेरे पास आवे।' उसी दिन लौटते हुए उसे एक सफेद नाग भी दीखा था जिससे उसे आशा हुई थी कि मेरी प्रार्थना सुन ली गई। पहले-पहले तो सुखदेई को ज्वर की बेचैनी में पति की एक टांग—कभी दहनी और कभी बांई—किसी दिन कमर के पास से और किसी दिन पिंडली के पास से और फिर कभी टखने के पास से कटी हुई दिखाई देती, परन्तु फिर जब उसे साधारण स्वप्न आने लगे तो वह अपने पति को दोनों जांघों पर खड़ा देखने लगी। उसे यह न जान पड़ा कि मेरे स्वस्थ मस्तिष्क की स्वस्थ स्मृति को अपने पति का वही रूप याद है जो सदा देखा है, परन्तु वह समझी कि किसी करामात से दोनों पैर चंगे हो गए हैं।

(२)

किन्तु अब उनकी अविचारित रमणीय कल्पनाओं के बादलों को मिटा देने वाला वह भयंकर सत्य लड़की का शब्द आने लगा जिसने उनके हृदय को दहला दिया। लकड़ी की टांग की प्रत्येक खटखट मानो उनकी छाती पर हो रही थी और ज्यों-ज्यों वह आहट पास आती जा रही थी त्यों-त्यों उसी प्रेमपात्र के मिलने के लिए उन्हें अनिच्छा और डर मालूम होते जाते थे कि जिसकी प्रतीक्षा में उनने तीन वर्ष कौए उड़ाते और पल, पल गिनते काटे थे। प्रत्युत वे अपने हृदय के किसी अन्दरी कोने में यह भी इच्छा करने लगीं कि जितने पल विलम्ब से उससे मिलें उतना ही अच्छा, और मन की भित्ति पर वे दो जांघों वाले लहनासिंह की आदर्श मूर्ति को चित्रित करने लगीं और उस अब कभी न दिख सकने वाले दुर्लभ चित्र में इतनी लीन हो गईं कि एक टांग वाला सच्चा जीता-जागता लहनासिंह आंगन में आकर खड़ा हो गया और उसके इन हंसते हुए वाक्यों से उनकी वह व्यामोहनिद्रा खुली कि—

"अम्मा ! क्या अम्बाले की छावनी से मैंने जो चिट्ठी लिखवाई थी वह नहीं पहुंची ?"

माता ने झटपट दिया जगाया और सुखदेई मुंह पर घूंघट लेकर, कलश लेकर अन्दर के घर की दहनी द्वारसाख पर खड़ी हो गई। लहनासिंह ने भीतर जाकर देहरे के सामने सिर नवाया और अपनी पीठ पर की गठड़ी एक कोने में रख दी। उसने माता के पैर हाथ से छूकर हाथ सिर से लगाया और माता ने उसके सिर को अपनी छाती के पास लेकर उस मुख को आंसुओं की वर्षा से धो दिया जो बाक्तरों की गोलियों की वर्षा के चिह्न कम-से-कम तीन जगह स्पष्ट दिखा रहा था।

अब माता उसको देख सकी। चेहरे पर दाढी बढी हुई थी और उसके बीच-बीच में तीन घावों के खड्डे थे। बालकपन में जहां सूर्य, चन्द्र, मङ्गल आदि ग्रहों की कुदृष्टि को बचाने वाला तांबे-चांदी की पतड़ियों और मूंगे आदि का कठला था वहां अब लाल फीते से चार चांदी के गोल-गोल तमगे लटक रहे थे। और जिन टांगों ने बालकपन में माता की रजाई को पचास-पचास दफा उघाड़ दिया उनमें से एक की जगह चमड़े के तसमों से बंधा हुआ डंडा था। धूप से स्याह पड़े हुए और मेहनत से कुम्हलाए हुए मुख पर और महीनों तक खटिया सेने की थकावट से पिलाई हुई आंखों पर भी एक प्रकार की वीरता की, एक तरह के स्वावलम्वन की ज्योति थी जो अपने पिता पितामह के घर और उनके पितामहों के गांव को फिर देखकर खिलने लगी थी।

माता रुंधे हुए गले से न कुछ कह सकी और न कुछ पूछ सकी। चुपचाप उठकर कुछ सोच-समझकर बाहर चली गई। गुलाबदेई जिसके सारे अंग में बिजली की धाराएं दौड़ रही थीं और जिसके नेत्र पलकों को धकेले देते थे इस बात की प्रतीक्षा न कर सकी कि पति की खुली हुई बांहें उसे समेटकर प्राणनाथ के हृदय से लगा लें किन्तु उसके पहले ही उसका सिर जो विषाद के अन्त और नवसुख के आरम्भ से चकरा गया था, पति की छाती पर गिर गया और हिंदुस्तान की स्त्रियों के एकमात्र हाव-भाव—अश्रु—के द्वारा उसकी तीन वर्ष की कैद हुई मनोवेदना बहने लगी।

वह रोती गई और रोती गई और फिर रोती गई। क्या यह आश्चर्य की बात है ? जहां की स्त्रियां पत्र लिखना-पढ़ना नहीं जानतीं और शुद्ध भाषा में अपने भाव नहीं प्रकाश कर सकतीं और जहां उन्हें पति से बात करने का समय भी चोरी से ही मिलता है वहां नित्य अविनाशी प्रेम का प्रवाह क्यों नहीं अश्रुओं की धारा की भाषा में··· (अपूर्ण)

[प्रथम प्रकाशन : **जनसत्ता** : ६ जुलाई, १९८७ ई०]

धर्मपरायण रींछ

(१)

सायंकाल हुआ ही चाहता है। जिस प्रकार पक्षी अपना आराम का समय आया देख अपने-अपने खोतों का सहारा ले रहे हैं उसी प्रकार हिंस्र श्वापद भी अपनी अव्याहत गति समझकर कन्दराओं से निकलने लगे हैं। भगवान सूर्य प्रकृति को अपना मुख फिर एक बार दिखाकर निद्रा के लिए करवट लेने वाले ही थे, कि सारी अरण्यानी 'मारा है, बचाओ, मारा है' की कातर ध्वनि से पूर्ण हो गई। मालूम हुआ कि एक व्याध हांफता हुआ सरपट दौड़ रहा है, और प्रायः दो सौ गज की दूरी पर एक भीषण सिंह लाल आंखें, सीधी पूंछ और खड़ी जटा दिखाता हुआ तीर की तरह उसके पीछे आ रहा है। व्याध की ढीली धोती प्रायः गिर गई है, धनुष-बाण बड़ी सफाई के साथ हाथ से च्युत हो गए हैं, नङ्गे सिर बिचारा शीघ्रता ही को परमेश्वर समझता हुआ दौड़ रहा है। उसी का यह कातर स्वर था।

यह अरण्य भगवती जह्नुतनया और पूजनीया कलिन्दनन्दनी के पवित्र सङ्गम के समीप विद्यमान है। अभी तक यहां उन स्वार्थी मनुष्यरूपी निशाचरों का प्रवेश नहीं हुआ था जो अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक से चौगुना-पंचगुना पाकर भी झगड़ा करते हैं, परन्तु वे पशु यहां निवास करते थे जो शान्ति-पूर्वक समस्त अरण्य को बांटकर अपना-अपना भाग्य आजमाते हुए न केवल धर्मध्वजी पुरुषों की तरह शिश्नोदर-परायण ही थे, प्रत्युत अपने परमात्मा का स्मरण करके अपनी निकृष्ट योनि को उन्नत भी कर रहे थे। व्याध, अपने स्वभाव के अनुसार, यहां भी उपद्रव मचाने आया था। उसने बङ्ग देश में रोहू और झिलसा मछलियों और "हासेर डिम" को निर्वंश कर दिया था, बम्बई के केंकड़े और कछुओं को वह आत्मसात् कर चुका था, और क्या कहें मथुरा, वृन्दावन के

पवित्र तीर्थों तक में वह वकवृत्ति और विडालव्रत दिखा चुका था। यहां पर सिंह के कोपन वदनाग्नि में उसके प्रायश्चित्तों का होम होना ही चाहता है। भागने में निपुण होने पर भी मोटी तोंद उसे बहुत कुछ बाधा दे रही है। सिंह में और उसमें अब प्रायः बीस ही तीस गज का अन्तर रह गया और उसे पीठ पर सिंह का उष्ण निश्वास मालूम-सा देने लगा। इस कठिन समस्या में उसे सामने एक वड़ा भारी पेड़ दीख पड़ा। अपचीयमान शक्ति पर अन्तिम कोड़ा मारकर वह उस वृक्ष पर चढ़ने लगा और पचासों पक्षी उसकी परिचित डरावनी मूर्ति को पहचानकर अमङ्गल समझकर त्राहि-त्राहि स्वर के साथ भागने लगे। ऊपर एक बड़ी प्रबल शाखा पर विराजमान एक भल्लूक को देखकर व्याध के रहे-सहे होश पैंतरा हो गए। नीचे मन्त्र-बल से कीलित सर्प की भांति जला-भुना सिंह और ऊपर अज्ञात कुलशील रींछ। यों कढ़ाई से चूल्हे में अपना पड़ना समझकर वह किंकर्त-व्यविमूढ़ व्याध सहम गया, बेहोश-सा होकर टिक गया, "न ययौ न तस्यौ" हो गया। इतने ही में किसी ने स्निग्ध गम्भीर निर्घोष मधुर स्वर से कहा—"अभयं शरणागतस्य !" अतिथि देव ! ऊपर चले आइए। पापी व्याध, सदा छल-छिद्र के कीचड़ में पला हुआ, इस अमृत अभय वाणी को न समझकर वहीं रुका रहा। फिर उसी स्वर ने कहा—"चले आइए, महाराज ! चले आइए। यह आपका घर है। आप अतिथि हैं। आज मेरे बृहस्पति उच्च के हैं जो यह अपावन स्थान आपकी चरणधूलि से पवित्र होता है। इस पापात्मा का आतिथ्य स्वीकार करके इसे उद्धार कीजिए। "वैश्वदेवान्तमापन्नो सोऽतिथिः स्वर्ग संज्ञकः।" पधारिये—यह विष्टर लीजिए, यह पाद्य, यह अर्घ्य, यह मधुपर्क।"

पाठक ! जानते हो यह मधुर स्वर किसका था ? यह उस रींछ का था। वह धर्मात्मा विन्ध्याचल के पास से इस पवित्र तीर्थ पर अपना काल बिताने आया था। उस धर्मप्राण धर्मैकजीवन ने वंशशत्रु व्याध को हाथ पकड़कर अपने पास बैठाया; उसके चरणों की धूलि मस्तक से लगाई और उसके लिए कोमल पत्तों का बिछौना कर दिया। विस्मित व्याध भी कुछ आश्वस्त हुआ।

नीचे से सिंह बोला—"रींछ ! यह काम तुमने ठीक नहीं किया। आज इस आततायी का काम तमाम कर लेने दो। अपना अरण्य निष्कंटक हो जाय। हम लोगों में परस्पर का शिकार न छूने का कानून है। तुम क्यों समाज-नियम तोड़ते हो ? याद रक्खो, तुम इसे आज रखकर कल दुःख पाओगे। पछताओगे। यह दुष्ट जिस पत्तल में खाता है उसी में छिद्र करता है। इसे नीचे फेंक दो।"

रींछ बोला—"बस, मेरे अतिथि परमात्मा की निन्दा मत करो। चल दो।

यह मेरा स्वर्ग है, इसके पीछे चाहे मेरे प्राण जांय, यह मेरी शरण आया है, इसे मैं नहीं छोड़ सकता। कोई किसी को धोखा या दुःख नहीं देता है, जो देता है वह कर्म ही देता है। अपनी करनी सबको भोगनी पड़ती है।''

''मैं फिर कहे देता हूं, तुम पछताओगे!'' यह कहकर सिंह अपना नख काटते हुए, दुम दबाए चल दिया।

(२)

प्रायः पहर भर रात जा चकी है। रींछ अपने दिन भर के भूखे-प्यासे अतिथि के लिए, सूर्योढ अतिथि के लिए, कन्दमूल फल लेने गया है। परन्तु व्याध को चैन कहां? दिन भर की हिंसा प्रवण प्रवृत्ति रुकी हुई हाथों में खुजली पैदा कर रही है। क्या करे? बिजली के प्रकाश में उसी वृक्ष में एक प्राचीन कोटर दिखाई दिया और उसमें तीन-चार रींछ के छोटे-छोटे बच्चे मालूम दिये। फिर क्या था? व्याध के मुँह में पानी भर आया। परन्तु धनुष-बाण, तलवार रास्ते में गिर पड़े हैं, यह जानकर पछतावा हुआ। अकस्मात् जेब में हाथ डाला तो एक छोटी-सी पेशकब्ज! बस, काम सिद्ध हुआ। अपने उपकारी रक्षक रींछ के बच्चों को काटकर कच्चा ही खाते उस पापात्मा व्याध को दया तो आई ही नहीं, देर भी न लगी। वह जीभ साफ करके ओठों को चाट रहा था कि मार्ग में फरकती बाईं आँख के अशकुन को ''शान्तं पापं नारायण! शान्तं पापं नारायण'' कह-कर टालता हुआ रींछ आ गया और चुने हुए रसपूर्ण फल व्याध के आगे रखकर सेवक के स्थान पर बैठकर बोला—''मेरे यहां थाल तो है नहीं, नहीं पत्ते हैं, पुष्पं पत्रं फलं तोयं अतिथि नारायण की सेवा में समर्पित हैं।'' जब व्याध अपने दग्धोदर की पूर्ति कर चुका तो इसने भी शेषान्न खाया और कुछ प्रसाद अपने बच्चों को देने के लिए कोटर की तरफ चला।

कोटर के द्वार पर ही प्रेमपूर्वक स्वागतमय 'दादा ही' न सुनकर उसका माथा ठनका। भीतर जाकर उसने पैशाचिक लीला का अवशिष्ट चर्म और अस्थि देखा। परन्तु उस वीतराग के मन में ''तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः?''। वह उसी गम्भीर पद से आकर लेटे हुए व्याध के पैर दबाने लग गया। इतने में व्याध के दुष्कर्म ने एक पुराने गीध का रूप धारण कर रींछ को कह दिया कि तेरी अनुपस्थिति में इस कृतघ्न व्याध ने तेरे बच्चे खा डाले हैं। व्याध की कर्मसाक्षी में विश्वास न था, वह चौंक पड़ा। उसका मुँह पसीने से तर

हो गया, उसकी जीभ तालू से चिपक गई और वह इन वाक्यों को आने वाले यम का दूत समझकर थर-थर कांपने लगा। बूढ़े रींछ के नेत्रों में अश्रु आ गये; परंतु वह खेद के नहीं थे, हर्ष के थे। उसने उस गृध्र को सम्बोधन करके कहा—"धिक् मूढ़ ! मेरे परम उपकारी को इन उल्वण शब्दों से स्मरण करता है ! (व्याध से) महाराज ! धन्य भाग्य उन बच्चों के जो पाप में जन्मे और पाप में बढ़े; परन्तु आज आपकी अशनाया निवृत्ति के पुण्य के भागी हुए ! न मालूम किन नीचातिनीच कर्मों से उनने यह पशुयोनि पाई थी, न मालूम उनने इस गर्हित योनि में रहकर कितने पाप-कर्म और करने थे। धन्य मेरे भाग्य ! आज वे 'स्वर्गद्वारमपानृतं' में पहुंच गए। हे मेरे कुलतारण ! आप कुछ भी इस बात की चिन्ता न कीजिए। आपने मेरे 'सप्तावरे सप्त पूर्वे' तरा दिए !" जिसे मद नहीं और मोह नहीं वह रींछ व्याध का सम्वाहन करके संसार-यात्रा के अनुसार सो गया, परन्तु उसने अपना निर्भीक स्थान व्याध को दे दिया था, और स्वयं वह दो शाखाओं पर आलम्बित था। चिकने घड़े पर जल की तरह पापात्मा व्याध पर यह धर्म्माचरण और तज्जन्य शान्ति प्रभाव नहीं डाल सके; वह तारे गिनता जागता रहा और उसके कातर नेत्रों से निद्रा भी डर कर भाग गई। इतने में मटरगश्त करते वहीं सिंह आ पहुंचे और मौका देखकर व्याध से यों बोले—"व्याध ! मैं वन का राजा हूं। मेरा फर्मान यहां सब पर चलता है। कल से तू यहां निष्कण्टक रूप से शिकार करना। परन्तु मेरी आज्ञा न मानने वाले इस रींछ को नीचे फैंक दे।" पाठक ! आप जानते हैं कि व्याध ने इस यत्न पर क्या किया ? रींछ के सब उपकारों को भूलकर उस आशामुग्ध ने उसको धक्का दे ही तो दिया। आयुः शेष से, पुण्यबल से, धर्म की महिमा से, उस रींछ का स्वदेशी कोट एक टहनी में अटक गया और वह जागकर, सहारा लेकर ऊपर चढ़ आया। सिंह ने अट्टहास करके कहा—"देखो रींछ ! अपने अतिथि चक्रवर्ती का प्रसाद देखो। इस अपने स्वर्ग, अपने अमृत को देखो। मैंने तुम्हें सायंकाल क्या कहा था ? अब भी इस नीच को नीचे फैंक दो।" रींछ बोला—"इस में इनने क्या किया ? निद्रा की असावधानता में मैं ही पैर चूक गया, नीचे गिरने लगा। तू अपना मायाजाल यहां न फैला। चला जा।" रींछ उसी गम्भीर निर्भीक भाव से सो गया। उसको परमेश्वर की प्रीति के स्वप्न आने लगे और व्याध को कैसे मिश्र स्वप्न आये, यह हमारे रसज्ञ पाठक जान ही लेंगे।—"नहि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।"

(३)

ब्राह्ममुहूर्त में उठकर रींछ ने अलस व्याध को जगाया और कहा—

"महाराज ! मुझे स्नान के लिए त्रिवेणी जाना है और फिर लोकयात्रा के लिए फिरना है, मेरे साथ चलिए, मैं आपको इस कांतार से बाहर निकालने का मार्ग बतला दूं। परन्तु आप उदास क्यों हैं ? क्या आपके आतिथ्य में कोई कमी रह गई ? क्या मुझ से कोई कसूर हुआ ?" व्याध बात काटकर बोला—"नहीं, मेरा ध्यान घर की तरफ गया था। मेरे पर, अन्न-वस्त्र के लिए धर्मपत्नी और बहुत से बालक निर्भर हैं। मैंने सुख से खाया और सोया, परन्तु वे बेचारे क्षुत्क्षाम-कण्ठ कल से भूखे हैं, उनके लिए कुछ पाथेय नहीं मिला।" रींछ ने हाथ जोड़-कहा—"नाथ ! आज आपकी छुरिका त्रिवेणी में यह देह स्नान करके स्वर्ग को जाना चाहता है। यदि इस दुर्मांस से माता और भाई तृप्त हों, और इस जर-च्चर्म से उनकी जूतियां बनें तो आप 'तत सदद्य' करें। धन्यभाग्य आज यह अनेक जन्मसंसिद्ध आपके वदनाग्नि में परागति को पावै।" व्याध ने बरछी उठाकर रींछ के हृदय में झोंक दी। प्रसन्न वदन रींछ ऋतुपर्ण की तरह बोला—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।

उस उदार महामान्य के आगे कर्ण का यह वाक्य क्या चीज़ था—

कियदिदमधिकं मे यद्द्विजायार्थयित्रे,
कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि।
अकरुणमवकृत्य द्राक्कृपाणेन तिर्यग्,
वहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि॥

(४)

सारा अरण्य स्वर्गीय प्रकाश और सुगन्ध से खिल रहा है। अनाहतनाद का मधुर स्वर कानों को आप्यायित कर रहा है। दिग्दिगन्तर से 'हरि हरि' ध्वनि आकाश को पवित्र कर रही है। उसी वृक्ष के सहारे एक दिव्य विमान खड़ा है और परात्पर भगवान् नारायण स्वयं रींछ को अपने चरणकमल में ले जाने को आये हैं। भगवान् मृत्युञ्जय भी अपनी चन्द्रकलाओं से उस शरीर को आप्या-यित कर रहे हैं। देवाङ्गनाएं उसकी सेवा करने को और इन्द्रादिक उसकी चरण-धूलि लेने को दौड़े आ रहे हैं। जिस समय उस बर्छी का प्रवेश उस धर्मप्राण कलेवर में हुआ, भगवान् नारायण, आनन्द से नाचते और क्लेश से तड़फते, लक्ष्मी को ढकेल, गरुड़ को छोड़ और शेषनाग को पेल, 'नमे भक्तः प्रणश्यति' को सिद्ध करते हुए दौड़ आये और रींछ को गले लगाकर आनन्दाश्रु गद्गद कण्ठ से

बोले—"प्रयाग में बहुत बड़े-बड़े इन्द्र, वरुण, प्रजापति और भरद्वाज के यज्ञ हुए हैं, परन्तु सबसे अधिक महिमापूर्ण यज्ञ यह हुआ है जिसकी पूर्णाहुति अभी हुई है। प्रिय ऋक्ष ! मेरे साथ चलो, और हे नराधम ! तू अपने नीच कर्मों……।" ऋक्ष ने भगवान् के चरण पकड़ कर कहा—"नाथ ! यदि मेरा चावल भर भी पुण्य है तो इस पुरुष-रत्न को बैकुण्ठ ले जाइए। इसके कर्म का फल भोगने को मैं घोरातिघोर नरक में जाने को तैयार हूं।" भगवान् विस्मित होकर बोले—"यह क्या ? लोक-संग्रह को उत्सन्न करते हो ?" ऋक्ष हाथ जोड़कर बोला—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं करुणमार्येण न कश्चिदपराध्यति।

भक्त का आग्रह माना गया। भगवान् व्याध और ऋक्ष एक ही विमान में बैकुण्ठ गए।

भारतवासियो ! यह तुम्हारे ही 'महाभारत' की कथा है। परन्तु अब पुराणों की भक्ति कहने ही की रह गई। पुराणों को सिवाय "वीक्ष्य रन्तुं सनश्चके" के और किस वासना से कौन पढ़ता है ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६]

घण्टाघर

एक मनुष्य को कहीं जाना था। उसने अपने पैरों में उपजाऊ भूमि को बंध्या करके पगडण्डी काटी और वह वहां पर पहला पहुंचने वाला हुआ। दूसरे, तीसरे और चौथे ने वास्तव में उस पगडण्डी को चौड़ी किया और कुछ वर्षों तक यों ही लगातार जाते रहने से वह पगडण्डी चौड़ा राजमार्ग बन गई, उस पर पत्थर या संगमरमर तक बिछा दिया गया, और कभी-कभी उस पर छिड़काव भी होने लगा।

वह पहला मनुष्य जहां गया था वहीं सब कोई जाने लगे। कुछ काल में वह स्थान पूज्य हो गया और पहला आदमी चाहे वहां किसी उद्देश्य से आया हो, अब वहां जाना ही लोगों का उद्देश्य रह गया। बड़े आदमी वहां घोड़ों, हाथियों पर आते, मखमल बनात बिछाते आते, और अपने को धन्य मानते आते। गरीब आदमी कण-कण मांगते वहां आते और जो अभागे वहां न आ सकते वे मरती बेला अपने पुत्र को थीजी की आन दिलाकर वहाँ जाने का निवेदन कर जाते। प्रयोजन यह है कि वहां मनुष्यों का प्रवाह बढ़ता ही गया।

एक सज्जन ने वहां आने वाले लोगों को कठिनाई न हो, इसलिए उस पवित्र स्थान के चारों ओर, जहां वह प्रथम मनुष्य आया था, हाता खिंचवा दिया। दूसरे ने, पहले के काम में कुछ जोड़ने, या अपने नाम में कुछ जोड़ने के लोभ से उस पर एक छप्पर डलवा दिया। तीसरे ने, जो इन दोनों से पीछे रहना न चाहता था, एक सुन्दर मकान से उस भूमि को ढक दिया, इस पर सोने का कलश चढ़ा दिया, चारों ओर बेल छवा दी। अब वह यात्रा, जो उस स्थान तक होती थी, उसकी सीमा की दीवारों और टट्टियों तक रह गई, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य भीतर नहीं जा सकता। इस 'इनर सर्कल' के पुजारी बने, भीतर जाने की भेंट हुई, यात्रा का चरम उद्देश्य बाहर की दीवार को स्पर्श करना ही रह गया, क्योंकि वह भी भाग्यवानों को ही मिलने लगा।

कहना नहीं होगा, आने वालों के विश्राम के लिए धर्मशालाएं, कूप और तड़ाग, विलासों के लिए शुण्डा और सूणा, रमणिएं और आमोद, जमने लगे, और प्रति वर्ष जैसे भीतर जाने की योग्यता घटने लगी, बाहर रहने की योग्यता, और इन विलासों में भाग लेने की योग्यता बढ़ी। उस भीड़ में ऐसे वेदान्ती भी पाए जाने लगे जो दूसरे की जेब को अपनी ही समझकर रुपया निकाल लेते। कभी-कभी ब्रह्म एक ही है उससे जार और पति में भेद के अध्यास को मिटा देने वाली अद्वैतवादिनी और स्वकीया परकीया के भ्रम से अवधूत विधूत सदाचारों के शुद्ध द्वैत (=झगड़ा) के कारण रक्तपात भी होने लगा। पहले यात्राएं दिन-ही-दिन में होती थीं, मन से होती थीं, अब चार-चार दिन में नाच-गान के साथ और आफिस के काम को करते सवारी आने लगी।

एक सज्जन ने देखा कि यहां आने वालों को समय के ज्ञान के बिना बड़ा कष्ट होता है। अतएव उस पुण्यात्मा ने बड़े व्यय से एक घण्टाघर उस नए बने मकान के ऊपर लगवा दिया। रात के अन्धकार में उसका प्रकाश, और सुनसानी में उसका मधुर स्वर क्या पास के और क्या दूर के, सब के चित्त को सुखी करता था। वास्तव में ठीक समय पर उठा देने और सुला देने के लिए, एकान्त में पापियों को डराने और साधुओं को आश्वासन करने के लिए वह काम देने लगा। एक सेठ ने इस घण्टे की (हाथ) (सूइयां) सोने की बनवा दीं और दूसरे ने रोज उसकी आरती उतारने का प्रबन्ध कर दिया।

कुछ काल बीत गया। लोग पुरानी बातों को भूलने लग गए। भीतर जाने की बात तो किसी को याद नहीं रही। लोग मन्दिर को दीवार का छूना ही ठीक मानने लगे। एक फिर्का खड़ा हो गया जो कहता था कि मन्दिर की दक्षिण दीवाल छूनी चाहिए, दूसरा कहता कि उत्तर दीवाल को बिना छुए जाना पाप है। पन्द्रह पण्डितों ने अपने मस्तिष्क, दूसरों की रोटियाँ और तीसरों के धैर्य का नाश करके दस पर्वों के एक ग्रन्थ में सिद्ध कर दिया या सिद्ध करके अपने को धोखा देना चाहा कि दोनों झूठे हैं, पवित्रता प्राप्त करने के लिए घण्टे की मधुर ध्वनि का सुनना मात्र पर्याप्त है। मन्दिर के भीतर जाने का तो किसी को अधिकार ही नहीं है, बाहर की शुण्डा और सूणा में बैठने से भी पुण्य होता है, क्योंकि घण्टे का पवित्र स्वन उन्हें पूत कर चुका है। इस सिद्ध करने या सिद्ध करने के मिस का बड़ा फल हुआ। गाहक अधिक जुटने लगे। और उन्हें अनुकूल देखकर नियम किए गए कि रस्ते में इतने पैंड़ रखने, घण्टा बजे तो यों कान खड़ा करके सुनना, अमुक स्थान पर वाम चरण से खड़े होना, और अमुक पर दक्षिण से। यहां तक कि मार्ग में छींकने तक का कर्मकाण्ड बन गया।

और भी समय बीता। घण्टाघर सूर्य से पीछे रह गया। सूर्य क्षितिज पर

आकर लोगों को उठाता और काम में लगाता, घण्टाघर कहा करता कि अभी सोए रहो। इसी से घण्टाघर के पास कई छोटी-मोटी घड़ियाँ बन गईं। प्रत्येक में में की टिक-टिक से बकरी और झलटी को मात करती। उन छोटी-मोटियों से घबरा के लोग सूर्य की ओर देखते और घण्टाघर की ओर देखकर आह भर देते। अब यदि वह पुराना घण्टाघर, वह प्यारा पाला-पोसा घण्टा ठीक समय न बतावे तो चारों दिशाएं उससे प्रतिध्वनि के मिस से पूछती हैं कि तू यहां क्यों है? वह घृणा से उत्तर देता है कि मैं जो कहूँ वही समय है। वह इतने ही में सन्तुष्ट नहीं है कि उसका काम वह नहीं कर सकता और दूसरे अपने आप उसका काम दे रहे हैं, वह इसी में तृप्त नहीं है कि उसका ऊँचा सिर वैसे ही खड़ा है, उसके मांजने वालों को वही वेतन मिलता है, और लोग उसके यहां आना नहीं भूले। अब यदि वह इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं, और चाहे कि लोग अपनी घड़ियों के ठीक समय को बिगाड़ें उनकी गति को रोके ही नहीं, प्रत्युत उन्हें उल्टी चलावें, सूर्य उनकी आज्ञानुसार एक मिनिट में चार डिग्री पीछे हटे, और लोग जागकर भी उसे देखकर सोना ठीक समझें, उसका बिगड़ा और पुराना काल सबको संतोष दे, तो वज्र निर्घोष से अपने सम्पूर्ण तेज से, सत्य के वेग से मैं कहूंगा—"भगवन्, नहीं कभी नहीं। हमारी आँखों को तुम ठग सकते हो' किन्तु हमारी आत्मा को नहीं। वह हमारी नहीं है। जिस काम के लिए आप आए थे वह हो चुका, सच्चे या झूठे, तुमने अपने नौकरों का पेट पाला। यदि चुपचाप खड़े रहना चाहो तो खड़े रहो, नहीं तो यदि तुम हमारी घड़ियों के बदलने का हठ करोगे तो, सत्यों के पिता और मिथ्याओं के परम शत्रु के नाम पर मेरा-सा तुमारा शत्रु और कोई नहीं है। आज से तुम्हारे मेरे में अन्धकार और प्रकाश की सी शत्रुता है, क्योंकि यहां मित्रता नहीं हो सकती। तुम बिना आत्मा की देह हो, बिना देह का कपड़ा हो, बिना सत्य के झूठे हो! तुम जगदीश्वर के नहीं हो, और न तुम पर उसकी सम्मति है, यह व्यवस्था किसी और को दी हुई है। जो उचक्का मुझे तमंचा दिखा दे, मेरी थैली उसी की, जो दुष्ट मेरी आँख में सूई डाल दे, वह उसे फोड़ सकता है, किन्तु मेरी आत्मा मेरी और जगदीश्वर की है, उसे तू, हे बेतुके घण्टाघर, नहीं छल सकता अपनी भलाई चाहै तो हमारा धन्यवाद ले, और-और-और चला जा!!!"[१]

१. कार्लाइल का अनुकरण।

An imitation of carlyle.

[प्रथम प्रकाशन : **वैश्योपकारक** : वर्ष १, संख्या ८, कार्तिक १९६१ वि०, १९०४ ई०]

संस्मरण

बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण

कष्टो जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय
स्तन्मे यदुक्तमशिवं नहि तत् क्षमं ते ।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न रचरणैरवताडनानि ।।

(भवभूतेः)

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का गृहप्रवेशोत्सव मङ्गलपूर्वक हो चुका था। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी जी ने "धनि भाग आजु या भवन में नाथ तिहारे पग पड़ै" कहकर सर डिग्‌ग्‌स लाटूश का स्वागत किया था, और माननीय पण्डित मालवीय ने चमकती अंग्रेजी की छोटी स्पीच में उन्हें "गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ" कह दिया था। दूसरे दिन प्रातःकाल का समय है। मि० जैन वैद्य और हम, सिद्धेश्वर प्रैस से, कपड़े पहनकर, वाहर निकलने को तैयार हैं। इतने में एक सज्जन "जैन वैद्य जी हैं क्या ?" इस प्रश्न के पीछे आ खड़े हुए। हमने देखा, उनके शरीर पर मोटे वनारस सिल्क का चपकन और चोगा है, पजामा है, बादामी बूट है। सिर पर उस ढंग का बंगाली शमला है जिस ढङ्ग का महा-महोपाध्याय पदवी पाने वालों को सरकार से खिलत में मिला करता है। पूछने पर उनने परिचय दिया कि—"मैं मुजफ्फरपुर से आता हूं।" इस पर हम अपनी मुस्कुराहट को न रोक सके, क्योंकि काशी में दो दिन से ही "खड़ी बोली वाला आता है, खड़ी बोली वाला जाता है।" की धूम मच रही थी। जिस मूर्त्ति के लेख, नाम और वर्णन पत्रों में पढ़े जाया करते थे, उसे यों अचानक सामने देखकर एक विलक्षण भाव उत्पन्न हुआ। अस्तु, परस्पर के परिचय के पीछे हम लोग एक

गाड़ी पर सवार होकर चले। पहले मैंने प्रश्न किया कि आप कल के उत्सव में आ पहुंचे थे वा नहीं। उनने इस के उतर में 'हां' कहकर कहा कि एड्रेस गवांरी बोली में क्यों दिया गया, यदि वह खड़ी बोली में होता तो हम मुसलमानों को भी अनुकूल कर सकते। गंवारी बोली यह बाबू अयोध्याप्रसाद का 'व्रजभाषा' के लिए प्यारा नाम था। एक आध बार उनने उस दिन भी कहा—"जब तक यह गंवारी हमारे सभ्य साहित्य का पल्ला न छोड़ेगी तब तक इसकी उन्नति न होगी।" हम ने भी कहा —"आप तलाक दिलाकर मानियेगा!" अस्तु, बाबू साहब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर सभा को पड़तीं, क्योंकि सबके सामने पालिसी में "सरल भाषा के पक्षपाती" बनने वालों को निखालिस उर्दू शब्द काम में लेने पड़ते और काशी के नाम को कुछ गौरव से रहित करना पड़ता। हमने ध्यान से देखा बाबू अयोध्याप्रसाद के नेत्र बिलकुल श्वेत थे। उनके बाल कहीं-कहीं सफेद थे इसलिए इस अवस्था में भी आँखों में लाल डोरों के अभाव का हम पर असर पड़ा। हम ज्यों-ज्यों ध्यान से उन पथराई हुई "धौली आंख धणी" को देखते थे, त्यों-त्यों उन की भाव शून्यता और नीरसता मालूम होती जाती थी, जो मनुष्यों में अधिकांश के साथ विरोध रखने का फल और लक्षण है। वे कुछ ठहर-ठहरकर श्वास लेते थे और चकित होकर इधर-उधर तकते थे, मानो किसी भय में हैं। उनके अधरोष्ठ पर दो दाँत निकले हुए थे और उनके ओष्ठ कुछ खुले हुए ही रहते थे। मालूम होता है यह gape करने की आदत उन्हें अधिक विरोध की शंका से हो गई थी। पं० नारायण पाण्डे के काल निर्णय की बात चली तो, उनने कहा कि मुझे कलेक्टर साहब ने मुकद्दमे में रजामन्दी करने को बाधित किया था। उनने कहा था This case must be compromised out of court। पीछे जब उन्हें मालूम हुआ कि हम सारस्वत ब्राह्मण हैं तो वे बोले—"हम खत्री हैं, आपके यजमान हैं, आपको तो हमारा पक्ष लेना चाहिये न कि पं० नारायण पाण्डे का जो आप से भिन्न ब्राह्मण हैं।" हमारे भिन्न ब्राह्मण का अर्थ पूछने पर उनने कहा कि व्रजभाषा के पक्षपाती हरिश्चन्द्र अगर वाले थे और हम खड़ीबोली के रिफार्मर खत्री हैं इससे भी आपको हमारी ही तरह होना चाहिए। इस तर्क से हम दंग आ गए। सभा वाले हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखने वाले हैं, इस प्रसङ्ग में आपने कहा—"चाहे ये लोग कुछ करें इनके ब्रेन नहीं हैं; हमें चार घण्टे किसी लाइब्रेरी में बिठा दीजिए, झटपट इतिहास लिख डालें, ये लोग ऐसा ब्रेन कहां से लायेंगे?"। फिर उनके खड़ीबोली आन्दोलन की वर्तमान अवस्था और सभा में उनके प्रस्ताव की सफलता की बात चली। उनने कहा—"प्रभुदयाल पांडे पं० प्रतापनारायण मिश्र का शिष्य था।

उसने प्रतापनारायण मिश्र को खड़ी बोली का आदि पक्षपाती लिखा है। इसपर हमने लिखा कि जैसे परशुराम ने जमदग्नि के वास्ते कार्तवीर्य को बलि दे दिया उसी तरह से आप हमें भी अपने गुरु के लिए बलि दे दीजिए। अब हम बनारस में आए हैं, आप लोग सब मिलकर हमें मार डालिए—मार डालिए, हां साहब, मार डालिए।" इतने में चौंकते हुए हम 'चौक' पहुंचे, और वहां माननीय पण्डित मालवीय जी की गाड़ी सामने से आ गई। वहां उनने हमें अपने साथ क्वीन्स कालेज ले जाने का आग्रह किया। लाचार हमें बाबू अयोध्याप्रसाद की मनोरंजक बातों से विदाई लेनी पड़ी। हमने उन्हें अपने साथ जाने को तैयार न पाकर पूछा कि आप कहां ठहरे हैं? उत्तर मिला—"गाय घाट पर, वहां मेरी लड़की की सुसराल है। वे भी बनारसिए हैं, दो-तीन साल से उसे मेरे घर नहीं भेजते। इन बनारसियों के एक समूह ने तो मेरी खड़ीबोली को दुःख दे रक्खा है और दूसरा मेरी पुत्री को मेरे से मिलने के लिए भी नहीं भेजता।" इस पर हमने हंसकर कहा कि बेटियां अपने ही घर शोभा पाती हैं, पिता के घर नहीं। आप दोनों को अच्छी तरह इन्हीं बनारसियों के हवाले कर दीजिए।" इसपर हँसकर हाथ मिला-कर बाबू साहब चले गए।

उस ही दिन सायंकाल को फिर बाबू अयोध्याप्रसाद के दर्शन हुए। सभा के पुस्तकालय में बाबू साहब बैठे थे। वहीं पर उनने हम को पण्डित केशवराम भट्ट का हिन्दी व्याकरण दिखाया, और शिवहर स्कूल के हेडमास्टर रामदास राय का बनाया खड़ी बोली कविता में मिल्टन के 'पैरेडाइज़ लास्ट' की द्वितीय पुस्तक का अनुवाद मिस्टर जैन वैद्य को, और उनके द्वारा हमको, दिया। पीछे उनने अपना यह लेख भी हमें दिखाया, जिसे वे कल की सभा में पढ़ा जाने के लिए लाये थे। इसके पीछे एक ऐसी शोचनीय घटना हुई जिसका उल्लेख हम नहीं करना चाहते, परन्तु बाबू साहब की स्वर्गीय आत्मा के अनुरोध से हमें उसे कहना ही पड़ता है। उस समय सभा के सभी उपस्थित मेम्बरों का फोटो लिया जाने वाला था।

"विमल बी०ए० पास बाबू श्यामसुन्दरदास" हम तो हाथ पकड़ कर तीन-तीन दफ़ा फोटो के लिए ले चले परन्तु बाबू साहब से उनने आँख तक न मिलाई। यही नहीं, यदि हम बाबू साहब को पकड़ कर न ले जाते, तो शायद मेरे पास की कुर्सी पर बैठे रहने और मुझ से बातचीत करते रहने पर भी उन्हें कोई फोटो के लिए न ले जाता। फोटो में भी मि० वैद्य उन्हें अपने साथ लेकर खड़े हुए, नहीं तो बिचारे पांचवीं छठी पङ्क्ति से भी बाहर धकेले गए थे। खैर,

फोटो उतरा, मालवीयजी की सभा हुई । दूसरे दिन प्रातःकाल हम गङ्गास्नान से लौट रहे थे । राह में बाबू श्यामसुन्दर दास के मकान में पहुंचे । देखा कि खासी मण्डली जमी है । रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज़ हैं जो पूछ रहे हैं कि लोटा मांजने से क्यों पवित्र हो जाता है । बाबू गोपालदास हैं । शायद पण्डित गणपति जानकी-राम दुबे भी हैं । और हैं, जमीन छीलते हुए बाबू अयोध्याप्रसाद । प्रायः आध घण्टा हम बैठें रहे, परन्तु बाबू अयोध्याप्रसाद से कोई न बोला । उनकी 'खड़ी बोली डायरी' के पृष्ठ पण्डित गणपति दुबे के हाथ में थे । आखिर बाबू साहब चले गए । तब बाबू श्यामसुन्दर दास ने कहा कि—"ये मुझ से यह कहने आए थे कि आज की सभा में मेरा प्रस्ताव बिना विरोध पास करा दो तो मैं सभा में आऊं । तुम लोगों ने विहारी डेलिगेटों के न आने देने के लिए आजकल उत्सव किया है । इसके उत्तर में मैंने कहा कि मैं यह गारन्टी नहीं दे सकता कि आप का प्रस्ताव बिना विरोध के पास हो ही जाएगा ।" हम भी चले आए । सायंकाल को सभा में बाबू साहब नहीं आए । बड़े झगड़े के बाद उनका प्रबन्ध पण्डित गणपति जानकीराम दुबे ने पढ़ा । सभा में इसका कोई प्रबल विरोध नहीं हुआ । अवश्य ही सभा "ब्रज भाषा से हिन्दी साहित्य का पिण्ड छुड़ाने" को तैयार न थी परन्तु उस ने इस प्रस्ताव के मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं की कि "खड़ी बोली में भी कविता हो और सभा उस के लिए विशेष उत्साह प्रदान करे ।" बाबू राधा-कृष्णदास के जलपान में भी बाबू अयोध्याप्रसाद नहीं आए थे । दूसरे दिन बाबू राधाकृष्णदास से वे मिले थे । अपनी परम प्रसन्नता और सभा के "सुबह के भूले के शाम को घर लौट आने" पर हर्ष प्रकट कर के अपने घर चले गए । वहां जाकर उनने लाल स्याही से अपना खड़ीबोली का विजय घण्टा घोष छापा । बस, यही हमारा उनका साक्षात्कार हुआ । यह फरवरी की बात है । अगली गर्मियों में बाबू साहब ने मिस्टर जैन वैद्य को और हम को लीचियां बहुत खिलाईं,—बहुत ही खिलाईं । हम सदा उन लीचियों और उन के मनोविनोदी दाता को स्मरण करेंगे । इस वर्ष गर्मियां खूब पड़ीं और जब हम आबू में दुर्लभ लीचियों का जिह्वा से प्रत्यक्ष करते तब हमें हठी किन्तु सरलहृदय, तीव्र किन्तु मुग्ध, साहित्यरिफार्मर कहलाने के लोभी परन्तु काम करने वाले, बाबू अयोध्या-प्रसाद के स्मरण से हृदय में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हो जाता ।

काशी के साक्षात्कार के कुछ दिन पहिले बाबू अयोध्याप्रसाद ने एक पन्द्रह सेर का पुलिन्दा मि० जैन वैद्य के पास भेजा था । उस में बाबू अयोध्याप्रसाद का सर्वस्व था । या यों कहिए कि जिस-जिस पत्र में या जिस-जिस मित्र को उनने खड़ी बोली के बारे में जो टिप्पणी या लेख लिखा था, उस की यह फाइल थी ।

यह साहित्य का कौतुक, यह शास्त्रार्थों का किब्लेगाह, हमने और मि० वैद्य ने बड़े ध्यान से पढ़ा था। वे ही कागज बाबू साहब ने काशी की सभा के मौके पर भेज दिये थे। यही उनका अमोघ शास्त्र था, यह उनका गाण्डीव था। उसमें एक अंगरेज़ी नोट भी हाथ का लिखा रक्खा था। यह लिखा किसी और का है, परन्तु नीचे अंगरेज़ी में Ayodhya Prasad हस्ताक्षर है और २४—१२—०३ तारीख है। इसका अनुवाद हम पाठकों को सुनाना चाहते हैं। साथ-साथ ब्रैकेट में जो टिप्पणियां हैं वे हमारी लिखी हुई हैं।

"हिन्दी कविता की भाषा के सुधार के दो पीरियड हैं।

(१) सन् १८७६ से १८८७ तक। इस पीरियड का आरम्भ मेरे हिन्दी व्याकरण के बनने से हुआ। उस के पीछे बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने 'योगी' नामक पण्डित स्टाइल की खड़ी बोली की कविता बनाई (१८७६) उसके पीछे बाबू महेशनारायण ने 'स्वप्न' लिखा। यह मुन्शी स्टाइल में खड़ीबोली का निबन्ध है जो वर्डसवर्थ की ओड आन इमार्टेलिटी के छन्द में बना है (१८८१) [हिन्दी साहित्य की दृष्टि में ये दोनों ग्रन्थ मर चुके हैं।]

(२) सन् १८८७ से आजकल तक। मेरी खड़ी बोली पद्य प्रथम भाग मुजफ्फरपुर में १८८७ में छपा। वृन्दावन के पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने इस की ता० ११-११-८७ के 'हिन्दोस्थान' में समालोचना की। इस पर उसी पत्र में मेरे दल के पंडित श्रीधरपाठक और विरोधी दल के पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बड़ा भारी विवाद हुआ। इस बहस ने हिन्दी साहित्य में जो कुछ भी प्रेम रखते थे उन के सामने खड़ीबोली कविता के गुण और दोष रख दिये। उस समय से सभी विद्वानों ने इस विषय पर पूरा ध्यान दिया है और बहुत-सी खड़ीबोली कविताएं लिखी गई हैं।

पूरी तौर से देखा जाय तो फल सन्तोषदायक है जैसा कि चाहा जा सकता है। इस आन्दोलन से जो हिन्दी भाषा उत्पन्न हुई यह मेरी डायरी के पृष्ठ २१ में 'अङ्गरेज़ी पीरियड की हिन्दी का तीसरा काल' नाम से लिखी गई है। जैसा मैंने ऊपर कहा है पहला साधारण आन्दोलन, मेरी खड़ीबोली पद्य के प्रथम भाग के छपने पर 'हिन्दोस्थान' के द्वारा आरम्भ हुआ था। दूसरा साधारण आन्दोलन सन् १८८८ ई० में उसी पुस्तक के लण्डन में छपने पर हुआ और 'हिन्दोस्थान' और, आजकल बंद, पं०

भुवनेश्वर मिश्र की सम्पादित, 'चम्पारण चन्द्रिका' ने इसमें भाग लिया। यद्यपि 'हिन्दोस्थान' स्पष्ट विरोधी नहीं था, तो भीं उसने खड़ी बोली कविता पर कुटिल आक्षेप किये, और 'चम्पारण चन्द्रिका' ने इस पक्ष का समर्थन किया। [उन्हीं दिनों 'चम्पारण चन्द्रिका' में बाबू अयोध्याप्रसाद ने खड़ी बोली रामायण के लिये प्रति पङ्क्ति एक रुपए का विज्ञापन दिया था। खेद है कि इस खड़ी बोली शाहनामे का कोई फिरदौसी नहीं खड़ा हुआ]

आन्दोलन का तीसरा समय जनवरी सन् १६०१ की 'सरस्वती' ने आरम्भ किया। वहां प्रथम लेख भूमिका के सम्पादक ने यद्यपि खड़ी बोली आन्दोलन का मण्डन किया तो भी उस में मेरे भाग को वह भूल गये। [शायद यही आन्दोलन का उद्देश्य था कि खड़ीबोली के साथ बाबू साहब का भी नाम अवश्य रहे] इस पर पत्रव्यवहार और आन्दोलन शुरू हुआ। देखो मेरी डायरी पृष्ठ १। यह भूल मार्च १६०१ की 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' ने भी जारी रक्खी। परन्तु उन सब ने अपनी गलतियां स्वीकार कीं और मेरे हक कुबूल किये। देखो 'सरस्वती' जून १६०१ ई०।

आन्दोलन के इस समय में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात 'काशी नागरी प्रचारणी सभा' का मत परिवर्तन है। सभा में बहुत-से जीवित विद्वान् हैं, और वह हिन्दी साहित्य के उस बड़ की प्रतिनिधि हैं' जो भूतपूर्व हरिश्चन्द्र ने कायम किया था। उनने खड़ी बोली के विरुद्ध लिखा था, और मेरे आन्दोलन के विरोधी सदा उनकी दुहाई देते थे। अपनी १८१७ की पत्रिका के पृष्ठ ३० में सभा ने आन्दोलन की बुरी समालोचना की थी और मुझे गालियां दी थीं।[1] परन्तु वह अब बिलकुल बदल

[1] बाबू साहब का इशारा बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की इस कविता पर है :—

पै अब केते गये हाय इमि सत्यानासी
कवि औ जांचक रस अनुभवसों दोऊ उदासी,
शब्द अर्थ को ज्ञान न कछु राखत उर माहीं,
शक्ति निपुनता औ अभ्यास लेसहू नाहीं,
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जांचत विवेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले जित निशिदिन,
जोरि बटोरि कोउ साहित्य ग्रन्थ निर्माने,
अर्थ शून्य कहुं कहूं विरोधी लक्षण ठानै

गई है और खड़ी बोली कविता का पक्ष लेती है। देखो, जनवरी १९०१ की 'सरस्वती' का दूसरा पृष्ठ। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय जो बाबू श्यामसुन्दरदास 'सरस्वती' के सम्पादक थे, वे 'नागरीप्रचारिणी सभा' के मन्त्री थे और हैं। 'सरस्वती' के टाइटिल पेज पर "नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित" भी मिलता है। फिर फरवरी-मार्च, १९०३ की 'सरस्वती' के पृष्ठ १९ में नये सम्पादक प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, जो सभा के मेम्बर हैं, मेरे मत का पूरा समर्थन करते हैं।

इस आन्दोलन का छोटा इतिहास भूमिहार ब्राह्मणपत्रिका, भाग ३ संख्या १ में छपा है।

अयोध्याप्रसाद
२४—१२—०३

मालूम होता है, जैसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी अपने कालचक्र में "हरिश्चन्द्री हिन्दी नए ढाल में ढली" लिख गए हैं, वैसे ही "पण्डित श्रीधर पाठक, बाबू हरसहायलाल (?) और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी" को "अयोध्याप्रसाद के आन्दोलन से सुधरी हिन्दी" कहकर नया तट बांधने का बाबू साहब को बड़ा आग्रह था। इस पर उनने मन-ही-मन अपने शत्रु बना रखे थे। जब मार्च १९०१ की 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में खड़ी बोली-कविता को महारानी विक्टोरिया के राज्य काल की एक घटना कहा गया तब बाबू साहब ने पण्डित श्रीधर पाठक को यह पत्र लिखा—"सभा वालों ने खड़ी बोली कविता में आपको सन्मानपूर्वक आसन दिया है परन्तु जहां आप हैं वहीं आपका सेवक मैं भी हूं। परन्तु मेरा नाम नहीं लिखा गया। इसका कारण यह है कि मैंने तो "एक अग्रवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना" लिखी थी, और आपने

जानतहूं नहिं कहा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य स्वयं भव।
जात खड़ी बोली पै कोउ भयो दिवानो,
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर मांही,
त्यागि पद्यप्रतिबन्धहु लिखत गद्य क्यों नाहीं?
अनुप्रास कबहूं न सुकवि की शक्ति घटावैं,
वरु सच पूछो तो नव सूझ हियें उपजावैं।
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखें फीके,
मांगहिं विधना सों ते श्रवन मानुषी नीके।

हरिश्चन्द्राष्टक की १००० प्रति बांटी थीं।" शब्द हमें ठीक-ठीक स्मरण नहीं पर उस पत्र का आशय यही था। इधर पण्डित भुवनेश्वर मिश्र ने, एक जगह, यों लिखा है—"पहले बाबू अयोध्याप्रसाद किले के नीचे खड़े थे, और शत्रु उन पर किले से हमला करते थे। अब बाबू साहब लकड़ियों और घास के सहारे किले के टीले पर चढ़ गए हैं।" खड़ी बोली कविता का वास्तव में किसी ने विरोध नहीं किया। केवल पण्डित राधाचरण गोस्वामी अपने विरोध में दृढ़ रहे। वास्तव में सभी खड़ी बोली के अनुकूल थे। भारतेन्दुजी की दुहाई दी जाती है, परन्तु जैसा अच्छा उनका 'दशरथविलाप' हुआ है, ऐसी मुंशी स्टाइल की खड़ी-बोली क्या किसी ने लिखी है ? बनारसी गिरि की लावनियां काशी में खड़ीबोली में बनती आई हैं। भारतेन्दुजी के पिता का बनाया रेखते का पद है। काशी को जो ब्रजभाषा के पक्षपातियों और खड़ी बोली के विरोधियों का अड्डा कहा गया है, वह ठीक नहीं। भारतेन्दुजी ने एक जगह लिखा है कि मुझ से खड़ी बोली कविता अच्छी न हो सकी, परन्तु उस का यह अर्थ नहीं है कि खड़ीबोली कविता करो ही मत। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'हिन्दोस्थान' में खड़ी बोली का विरोध किया था सही, परन्तु 'सङ्गीत शाकुन्तल' में जो बढ़िया खड़ी बोली कविता है वैसी अयोध्याप्रसाद जी के किस पक्षपाती ने लिखी है ? भूषण कवि के भी दो-तीन कवित्त खड़ी बोली के मिलते हैं। इसके विरुद्ध पण्डित श्रीधर पाठक को लीजिए, जिन्हें बाबू अयोध्याप्रसाद अपना परम पक्षपाती मानते हैं। वास्तव में यदि खड़ी बोली में कोई कविता बनी है तो वह पाठक जी का 'एकान्त-वासी योगी' है। जिन बिहारियों का नाम बाबू अयोध्याप्रसाद बड़े आदर से लेते हैं, उनके खड़ी बोली-काव्य हिन्दी-काव्य की दृष्टि में मर चुके हैं। परन्तु पाठक जी का **'उजाड़ गाम'** अच्छा बना है, या **श्रान्त 'पथिक'** ? कहां पहले की द्राक्षापाक कविता, और निसर्ग मधुर आनन्द, और कहां दूसरे की क्लिष्टकल्पना और खैंच-खांचकर खड़े शब्दों की जोड़-तोड़ ? अब भी पाठक जी का 'भ्रमराष्टक' जितना मधुर है, उतना उनका 'एड्विन और अंजलेना' नहीं। आजकल भी जो कुछ वे लिखते हैं ब्रजभाषा में ही उस का अधिक अंश होता है। उनके विरोधियों से इतनी सहायता मिलने पर भी बाबू साहब "खून लगाकर शहीद" बनने को तैयार थे, यदि वास्तव में उनका विरोध होता तो न मालूम वे अपने को सुकरात लगाते वा ईसा मसीह। काशी की सभा ने कभी उनका विरोध नहीं किया। जिस कविता पर उनका वंश था, वह बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की थी, और सभा सदा से हिन्दी-साहित्य के इस अर्धाङ्ग पर विलाप कर तो आई है। अवश्य ही वह सूरदास और बिहारीदास की भाषा को धकेलकर उस की जगह बाबू अयोध्याप्रसाद का lions painted by themselves चित्र नहीं रख सकती। वास्तव में खड़ी बोली से अयोध्याप्रसाद और रामदास रायों की जरूरत नहीं है, जरूरत है सूरदासों और

तुलसीदासों की। कृष्ण-भक्ति के कारण, प्राचीन वैष्णव ग्रन्थों के कारण, कथभट्टों, रासधारियों और पुराने पंडितों के कारण ब्रजभाषा की 'ताके धिपे' अभी तक महाराष्ट्र देशों तक गूंजती है। कोई सूरदास का-सा गारुड़ी आवे, जो खड़ी बोली की अकड़ी नसों और हड्डियों में मोहिनी फूंककर देश भर को मस्त कर दे। काल-निर्णय के पीरियड़ों पर लड़ना, सब को अपना शत्रु मानकर चलना, और बिहा-रियों को ही हिन्दी का एकमात्र अधिकारी मानना-उचित नहीं। पद्य की भाषा गद्य की तरह से सदा अक्खड़ नहीं हो सकती; उस में एक प्रकार की लोच वा मुड़ने की ताकत सदा चाहिए। अंग्रेजी में भी साधारण भाषा में लोच आने से saxon बन्द हुई, कोरे आन्दोलनों से नहीं। यह लोच ब्रजभाषा में ज्यादा है खड़ी बोली में कम। ब्रजभाषा वाले आग को 'आगि' वा 'आगु' करते हैं, खड़ी बोली वालों ने 'आगी' बनाया है। बैसवारी वाले 'जहां' को 'जहं' करते थे, बिहार वाले 'जह वां तहवां' (ओह !) करते हैं। मोड़ने-तोड़ने में कमी नहीं है। अवश्य पण्डित राधाकृष्ण मिश्र की संस्कृत प्रायः खड़ी बोली बहुत अच्छी खिलती है, परन्तु यह बाबू साहब के प्यारे मुंशी स्टाइल से दूर है। और फिर क्या "फद फद फद फद प्यारी बोले चढ़ी चूल्ह पर दाल"—"प्यारी चमगुदड़ी"—अधेले की बूटी मिरच दमड़ी की लय लई"—इनसे कभी साहित्य चमका है ? जितना जोश और जान, मरी ब्रजभाषा में बाबू राधाकृष्णदास के बनाए **भारत बारहमासा** और **प्रताप विसर्जन** में है उसकी एक कला भी क्या इन 'प्यारी चमगुदड़ी' कविताओं—पण्डित श्रीधर पाठक की कविता को हम पृथक् किये देते हैं—में मिल सकती है ? जिस दिन किसी सुकवि की शक्ति से खड़ी बोली भी सरस हो जायगी उस दिन ब्रजभाषा चुप रह जायगी। दोनों भाषाओं को कविता के लिए लड़ने दें। जीवन के लिये संग्राम होते-होते Surival of the fittest सत्तम का अवशेष हो जायगा। डायरियों और आन्दोलनों के छपने और खून लगाकर शहीद बनने से यह काम न होगा, यह होगा, नये कवियों के जन्मने से। बृजभाषा से यों पिण्ड नहीं छूट सकता। कोई यह न जानें कि मैं खड़ी बोली की कविता का विरोधी हूं, मैं उसका समर्थक ही नहीं परन्तु लीक पीटने वाले ब्रजभाषा कवियों का निन्दक भी हूं। बाबू अयोध्याप्रसाद के यत्न-उद्योग, परिश्रम, व्यय, अध्यवसाय, और हिन्दी की प्रीति, सहायता की स्तुति करता हुआ भी मैं उन्हें 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' नहीं कह सकता, और न बिहारियों का उन्हें 'खून लगाकर शहीद' बनाना देख सकता हूं। मेरा विचार था कि ये सब बातें बाबू अयोध्याप्रसाद से कहूं। परन्तु हा ! वह परोपकारी और हिन्दी भाषा के हितचिन्तन का व्रती मनुष्य अब इस लोक में नहीं है। चाहे उनके प्रकारों से लोगों का विरोध रहा हो, परन्तु वर्तमान युग में बिहार में क्या, हिन्दीभाषा के देशभर में, ऐसा तीव्र किंतु सत्समालोचक,

और उदार देशसेवक विरला ही मिलेगा। उनने जो कुछ किया उस में हिन्दी की हितकामना भरी हुई थी। लोगों ने उन्हें गालियां दीं, चिड़ाया, सिड़ी समझा; उनने भी छोटी-छोटी बातों पर नुक्ताचीनी की, बिना काम का द्वेष समझा, अपने को सताया और ईज़ा पहुंचाया गया समझा, परन्तु ऐसी बातें सदा होती आई हैं। आशा है कि उनकी आत्मा अब अपने किये हुए भले कामों के फल में अनन्त शांति भोगती होगी। जिन लोगों ने बेसमझे-बूझे, या अपने स्वार्थ के लिये, उनकी निन्दा वा उन से विरोध किया होगा, वे अब इस लेख के ऊपर लिखे भवभूति के वाक्य को पढ़ते होंगे।

□

[प्रथम प्रकाशनः **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

शोध

'विक्रमोर्वशी' की मूल कथा

प्राचीन आर्य-गौरव के प्रधान कीर्तिस्तंभ, कविकुल चूड़ामणि कालिदास की रचनाओं में 'विक्रमोर्वशी' नाटक का भी जगत् के नाटक-साहित्य में अद्वितीय आसन है। दृश्य वा श्रव्य मधुरता में यह 'अभिज्ञान शाकुंतल' वा 'उत्तररामचरित' से किसी प्रकार निकृष्ट भी क्यों न हो, तथापि और और अभिनेय रचनाएं इसके आगे सिर झुकाती हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृति की वर्णना में, भावों के समावेश, सम्पर्क और संघर्ष के अंकन में, एक शब्द से ही कई प्रकार के भावों को जगाने में, रंगमंच पर दिखाई देने वाले अभिनय के साथ-साथ सुनाई देने वाले शब्दों से वास्तव प्रकृति और वास्तव मनुष्यस्वभाव का धोखा देने में, इस नाटक के विषय में यही कहना बस होगा कि जिस अमृतमय लेखिनी से यह निकला है, वह परिणत न होने पर भी, उसी कालिदास की लेखिनी है, जिसका लिखा 'अभिज्ञान-शाकुंतल' गत बीस शताब्दियों में जगत् के रंगमंच पर अधिकार किए रहा है। उस नाटक की मूल कथा क्या है और कहां से ली गई है, और महाकवि ने उसमें क्या-क्या परिवर्तन करके इस सुन्दरता की वस्तु को सदा के लिए सुखदायिनी बनाया है, इन बातों का दिग्दर्शन कराने के लिये ही इस निबन्ध की अवतारणा है।

कथा की मूल भित्ति को 'स्रोत' या 'सोता' (Source) भी कहा करते हैं। हमारे प्राचीन इस विषय में इतना ही कहकर चुप हो जाते हैं कि 'कविरनुहर-तिच्छायाम्' और देखा जाए तो एक प्रकार से भारतवर्ष के काव्य वा आख्या-यिकाओं का सोता जानना उतना कठिन नहीं है। वैदिक वा पौराणिक उपाख्यान, दैविक, अर्धदैविक, मानुष, और मिश्र इतिहास, और समकालीन साहित्य, जो सदा अमर वेद, पुराण और इतिहासों में निबद्ध है, किसी न किसी रूप में संस्कृत-कवियों के मुख्य भोजन रहे हैं। कहीं-कही कवियों ने प्राचीन नियमों की शृंखलाओं

को तोड़ने का साहस किया है। एक तो धर्मप्रधान भारतवर्ष में देवचरित्र वा अवतारचरित्र के सामने नरकीटों के चरित्र की गिनती ही क्या थी, दूसरे उसमें अनर्गल कल्पना को उतना स्वच्छंद अवकाश न मिलता। तथापि कुछ कवियों ने मनुष्यचरित्र को भी बड़ी योग्यता से निबाहा, और कुछ ने 'भोजप्रबन्ध' जैसे ग्रन्थों में एक राजा के गले सब कवियों को, ऊँट के गले म्याऊं की तरह, बांधने की योग्यता दिखाई। यों मनुष्यचरित्र से कम वर्णित होने से और देव और देवकोटि प्रविष्ट मनुष्यों के चरित्र गिने हुए स्थिर और ज्ञात ग्रन्थों में होने से, मुद्रणकला के न होने से ग्रन्थों में जीवन योग्य और मरण योग्य का भेद निश्चित होकर उनमें जीवन-संग्राम और सत्तमों का अवशेष न होने से, जिस समय संस्कृत पुस्तकें नष्ट होने लगीं उस समय संस्कृत रचना काल का भी शेष हो जाने से, प्रधान-प्रधान दृश्य और श्रव्य काव्यों की मूलभित्ति जानना उतना कठिन नहीं है। किन्तु योरोप में, जहां सात-आठ सौ वर्ष से मुद्रायन्त्र ग्रन्थ प्रकाश में सहायता करके ग्रंथ-लोप में भी सहायता करता रहा है, जहां प्रकाशित साहित्य रक्तबीज की तरह बढ़ता गया और नष्ट होता गया है, अनेक कवियों के अनेक काव्यों के अनेक सोतों का पता लगाना कठिन यों है कि देवचरित्र में मनुष्यचरित्र की संसृष्टि वहां की गई है, और जगत् के वृत्तांत दैव इतिहासों में प्रतिबिंबित किए गए हैं। तथापि प्राचीन और नवीन योरोपियों ने इस काम को "पुराने महाकवियों की धज्जियां उड़ाना" न समझा, और और-और विषयों की तरह इसमें खूब उन्नति की। महाकवि शेक्सपीयर के नाटकों में क्या-क्या भाव और घटना कहां-कहां से कैसे-कैसे ली गई, मिल्टन की 'स्वर्गच्युति' में किस-किस ग्रन्थ का प्रतिबिंब है, इन पेचीली बातों को लेकर अंग्रेजी में एक साहित्य का साहित्य उत्पन्न हो गया है। अब तो अंग्रेजों की कृपा से हम लोग भी अपने कवियों के विषय में लिखने-पढ़ने और सुनने भी लगे हैं, तो भी अंग्रेजी न जानने वाले 'गूंगे के गुड़' की तरह उन प्राचीन कवियों के प्रति कृतज्ञता का स्वाद नहीं ले सकते, जो 'शेक्सपीयर सोसाइटी' प्रभृति के नाम और काम से प्रकट है।

प्राचीन और योग्य कवियों ने नई कहानी गढ़ने का यत्न नहीं किया। अपटु कवि ही नई कहानी में उलझाने का यत्न करके अपने और दोषों को छिपाने का यत्न करते हैं; जिस कहानी को आबालबृद्ध जानते हों, जो हमारे घर-बार का अंग हो गई हो, उसी को नया रंग चढ़ाकर, नव भाव से पूजा देना महाकवियों की शक्ति है। जैसे, एक हल जोतने वाले ने कोहनूर को पाकर अपने बैल के गले में बांध दिया था, और सुचतुर जौहरियों ने उसे ओप देकर राजा कर्ण के भोटे,

शाहजहान के मयूर-सिंहासन, पंजाब केसरी के नेत्र, और विक्टोरिया के ताज का भूषण बनाया वैसे ही प्राचीन साहित्य में बिखड़े कंकर-पत्थरों को जगत् के प्यारे रत्न बनाना महाकवियों का ही महत्त्व है। अब सब लोग जानते हैं कि अभिज्ञान-शाकुंतल की मूलभिति 'महाभारत' और 'पद्मपुराण' की एक-एक आख्यायिका है। क्या उस आख्यायिका के भरोसे दुष्यन्त और शकुंतला अमर हो जाते? और विचार से देखा जाय तो उस आख्यायिका में हाड़-मांस के अतिरिक्त जीवन कितना है? धीरोदात्त गुणान्वित नायक अपनी व्याहता को भूल जाता है, और उससे अश्लील भाषण कर उसे व्यभिचारिणी ठहराना चाहता है। सौंदर्य की और रस की प्रति-लिपि नायिका उसे स्वार्थी और कृतघ्न कहती है। 'शकुंतला' को जो कुछ शकुंतला' बनाता है वह सब कालिदास का है। अरण्य में मिलन, एकांत में पवित्र प्रणय, दुर्वासा का शाप, कण्व का कन्या को घर भेजना, दैवी कला से वियोगियों का मेल, जो कुछ 'शाकुंतल' की जान है वह कालिदास का है। अतएव शाकुंतल-कोहनूर के आगे हम उस निर्जीव आख्यान को कंकड़ और खसड़ा कूतें न तो क्या करें? जगत्पावन रामचरित्र को **वाल्मीकि, कालिदास** और **भवभूति** ने गाया है। यों तो चाहे तुलसीदास जी की तरह ये भी कहैं कि पावन कथा को कहकर हमने अपनी जिह्वा और लेखिनी पवित्र की, किन्तु हमारी बुद्धि में राम-चरित्र का भी सौभाग्य है कि वह इनके हाथ पड़ा। वाल्मीकि के मनुष्यदेव राम-चन्द्र से कालिदास और भवभूति के मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र कितने उदात्त चरित्र वाले हैं। यह तो वारांतर में समालोच्य है, तथापि इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि जो रामचरित्र भवभूति की सुधावाहिनी लेखिनी से यह कहलाता है कि—

पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्धयतु च श्रेयांसि सेयं कथा
मंगल्या च मनोहरा व जगतां मातेव गंगेव च।

उसी का 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' 'सुमानुष' आदर्श दांपत्य बौद्ध जातक ग्रन्थों के हाथ में पड़कर भ्राता-भगिनी के कलुषित विवाह में परिणत हो जाता है, और **बेवर, लासन, दत्त** प्रभृति के श्री करकमलों में पड़ अपना ऐतिहासिक रूप खोकर किसान और खेती के रूपक की कीर्ति पाता है!! कुछ चिन्ता नहीं, हम एक प्राचीन कवि के श्लोक के अनुसार रामचरित्र को सम्बोधन करके यही कहेंगे कि—"हे रत्न! वानर ने तुम्हें सूंघा, चूमा, चाटा, चाबा और उदास मन से फैंक दिया तो इससे खेद न मानो। तुम्हारा कल्याण यही हुआ है कि अन्तःसार के खोजी वानर महाराज ने तुझे पत्थर से चूर्ण न कर डाला!"

एक बात और है। गंगोत्री में जो क्षुद्र जल की रेखा है, वह क्या पुण्यतोया

भगवती भागीरथी का मूल कहलाने योग्य है? बैलीफरिस्ट में जो भद्दा उपाख्यान है वह क्या जगन्मंगल 'हैमलेट' का पिता कहलावैगा? 'मूलकथा' का नाम सुनकर पाठक बड़ी आशाएं न बांधें ! जो कुछ कालिदास का कालिदासत्व है, जो कुछ कालिदास को कालिदास और उसके नाटक को उसका नाटक बनाकर अनन्वयालंकार और 'अनामिका' नाम को सार्थक करता है, उस चीज़ को तुम कहीं न पाओगे। कहते हैं कि शेक्सपीयर ने हैमलेट की कथा अमुक जगह पाई, लीयर का वृत्तांत फलाने ग्रन्थ में पाया, किन्तु वास्तव में विचारो तो सही कि उसने क्या पाया और क्या लिया? हैमलेट का ज्ञानगर्भ पागलपन और लीयर का परिणामानुकूल पागलपन उसे कहां मिला था? जिन क्षुद्र ग्रन्थों को इन मनुष्य जाति के चित्रों का 'सोता' कहा जाता है उन्हें पढ़कर फर्नेस ने कितना अच्छा लिखा है—"रात्रि को खद्योतों को, और दूर से बीर बहूटियों को देखकर यही ध्यान होता है कि ये अमूल्य रत्न राजकुमारों के खिलौने हैं जिन्हें वे खेलते समय छोड़ गए हैं। किन्तु दिन में और पास जाकर वे ऐसे गर्हित और घृणा के पात्र कीड़े मालूम देते हैं कि दया के मारे पैर उन्हें कुचलना भी नहीं चाहता।"

जो हो, 'विक्रमोर्वशी' नाटक की आख्यायिका जहां-जहां जैसी-जैसी है, उसे यहां वैसी ही उद्धृत करके, इस 'मूलभित्ति' पर कालिदास ने क्या कारचोबी की, यह दिखलाने का यत्न किया जाएगा।

(क) वैदिक

१—ऋग्वेद, दशम मण्डल, सूक्त ९५
(अ) सायण भाष्यानुसार अनुवाद।[1]

१. भगवान् वेदपुरुष के चरण-कमलों का ध्यान और सहारा लेकर कठिन मंत्रों पर कुछ लिखने का साहस किया जाता है। ऊँ।

वेद भाष्यकर्ताओं में सदा से दो पक्ष चले आते हैं—ऐतिहासिक और नैरुक्त। ऐतिहासिक वेद में लिखे संज्ञा शब्दों को मनुष्यनाम वा देवनाम मानते हैं और नैरुक्त उन्हें एक ही देवता के गुण विशेष से कल्पित रूपक मात्र मानते हैं। जैसे इन्द्र वृत्र के संग्राम को नैरुक्त लोग 'वर्षणकर्म' मात्र ही कहते हैं। इन्द्र और वृत्र का स्वतन्त्र नर-जीवन वा देवजीवन नहीं मानते। पुराणों की कथाएं इसके विरुद्ध ऐतिहासिक परिपाटी से बढ़ी हैं। आजकल भी योरोपीय भाष्यकार वर्षणकर्म, उषा और सूर्य, मृगशिर और रोहिणी प्रभृति कई दृश्य पदार्थों पर श्रुतियों को घटाते हैं। मीमांसा में वेद को जो अपौरुषेय और नित्य सिद्ध किया गया है उसमें एक यह भी युक्ति है। ववर प्रवाक्षणि किसी राजा का नाम नहीं है, किंतु बहने वाले वायु का। देखा चाहिए, वर्तमान सूक्त पर दोनों संप्रदायों के क्या-क्या मत हैं।

१. पुरूरवा—हे घोर (दुःख देने वाली) पत्नी। मन लगाकर ठहर] अभी संवाद के वाक्य करें। अपनी ये रहस्य बातें, नहीं कही जाने से, अनेक दिनों तक, अन्तिम दिन में भी, सुख नहीं देतीं।"[1]

२. उर्वशी—इस (कोरी बात से क्या करें ? मैं तुम्हारे पास से चली गई हूं, जैसे उषाओं में से पहली। पुरूरवा ! फिर अस्त (घर) को लौट जा, मैं वायु की तरह दुष्प्राय हूं।[2]

(क) ऋग्वेद में एक जगह वर्णन है कि वासतीवर सत्र में बुलाए मित्रावरुणों का वीर्य उर्वशी को देखकर कलश में गिरा, उससे वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। "सत्रेह जाता विषिता नमोभिः कुंभे रेतः सिसिचतुः समानम्। ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जात-मृषिमाहुर्वसिष्ठम्। ७।३३।१३" यह रूपक मात्र है। दिन रात्रि का उषा को देखते ही सूर्य को उत्पन्न करना अथवा बिजली के आते ही वायु से जल बरसाना, मात्र है। पौरा-णिकों के लिए कलशोद्भव मुनि और वसिष्ठ का जन्म है।

(ख) इस सूक्त में, मिलकर बिछड़े हुए और फिर मिले दो प्रेमियों का संवाद पौराणिकों के लिए, और नैरुक्तों के लिए, बिजली और वायु, की स्तुति है, अथवा उषा और सूर्य का संवाद है। निरुक्त में पुरुरवा की व्युत्पत्ति यों की है—पुरु (भृश, बहुत) जो शब्द करे (रू) मेघ जो कई तरह का शब्द करे। वात और प्राण ही पुरूरवा है, यह विज्ञान है।

उर्वशी—उरू, बहुत स्थान को जो (अश्नोति) व्याप्त करे वा वश करे अथवा जो उरू (जांघ) से सम्भोगकाल में कामी को वश कर ले। उरू (बड़ा) है काम जिसका। बहुतों में वा बहुतों का है काम जिसका।

१. ऋक्-स्त्री को देखकर पुरूरवा कहता है। घोर इसलिए कि वियोग में दुःख दिया। हमारे दिल के उद्गार नहीं निकलने से इकट्ठे होकर कई दिन बीतने पर भी सुख नहीं देते, यह तात्पर्य है। अतएव उफान निकाल लें। 'पुरोत्पीड़े तडागस्य परीवाहः प्रति-क्रिया। शोकस्तम्भे तु हृदयं प्रलापैरेव धार्यते (उत्तरचरित)।' न कहने से कोई लाभ नहीं, कह लेना ही अच्छा है।

२. उर्वशी का उत्तर—'इस वाणी से' अर्थात् अब फिर मिलना हो नहीं सकता, खाली वाचिक सहानुभूति क्यों ? "उषाओं में से अगली" ऋग्वेद में कई जगह उषा और उर्वशी को समानार्थ-सा प्रयोग किया है, यह नैरुक्तों के हाथ में अच्छा शस्त्र है। "उषाओं में से पहली" का तात्पर्य उस क्षीण आभा से है जो कुछ अंधकार हटते-हटते ही हट जाती है, और जिसके पीछे कुछ गुलाबी, गहरा गुलाबी प्रकाश आता है। इस वाक्य से तिलक महाशय का सिद्धान्त भी पोषित होता है। उत्तर ध्रुवदेशों में ग्रहों का उदयास्त नहीं होता किन्तु नियमित काल की रात्रि के पीछे नियमित उषाएँ चारों तरफ घूमती दिखाई देती हैं, फिर यह भी वैसे चलते हैं। सो उनमें अगली उषा अर्थात् महारात्रि के अव्यव-हितोत्तर उषा का झंडा, जिसके पीछे कई उषाएं आती हैं। तैत्तिरीय संहिता में तीस उषाओं का हाल है, देखो—इयमेवसा या प्रथमा व्योच्छत्·· त्रिंशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतिं समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः (तै० ५।३।४।७)॥ अपनी बात पर उर्वशी दृढ़ है अपनी दुष्प्राप्यता ही उसके वक्तव्य का तत्त्व है।

३. पुरूरवा—तरकस में से बाण जीत के लिये नहीं फेंका जाता। वेगवान् भी मैं (शत्रुओं की) गौओं का पानेवाला न हुआ, न सैकड़ों (शत्रु धनों) का। वीरविहीन (राज) कर्म में (मेरी सामर्थ्य) नहीं चमकती। कँपानेवाले वीर विस्तीर्ण संग्राम में (सिंहनाद) शब्द को नहीं समझते।[3]

४. उर्वशी— हे उषा! वह (उर्वशी) धन और अन्न श्वसुर को देती हुई यदि पति को चाहती तो पास के (रसोई) घर से (पति) के घर को पहुँच जाती। जिस घर में वह पति को चाहती थी और दिन-रात पति-सम्भोग-सुख पाती।[4]

५. उर्वशी—हे पुरूरवा! तू मुझको दिन में तीन बार संतुष्ट करता, और बिना सौतों के (ओसरे से) मुझे पूर्ण करता। (यों) मैं तेरे घर गई (रही) थी। वीर राजा। तू मेरे शरीर का उन दिनों (सुख देने वाला था)।[5]

६. पुरूरवा—जो सुजुर्णि, श्रेणि, सुम्नेआपि, हृदेचक्षु, (माननियां) थीं, उनके साथ संदर्भवाली चलती-फिरती उर्वशी (आई) (अथवा सुजूर्णि=वेगवती) उर्वशी, ग्रंथिनी और श्रेणि, सुम्नेआपि, और हृदेचक्षु इन सखियों के साथ गई। वे गुलाबी गहनेवालियाँ (पहली की तरह) नहीं चलतीं। आश्रय के लिए बच्चे-वाली गौओं की तरह शब्द नहीं करतीं।[6]

३. पुरूरवा—अपनी विरह-वेदना बताता है। राजा बाण नहीं छोड़ सकता, दौड़ में गौएं और धन नहीं पाता, सारी वीरता सूख जाने से (अब) वीरविहीन कामों में बल नहीं चलता, और न सिंहनाद ही हो सकता है।

४. इस ऋक् में उर्वशी अपने पुराने प्रेम और राजा के पुराने सुखों की याद से उसकी ग्लानि को मिटाती है। मानो उसी आनन्द के स्मरण में अपने को तृतीय पुरुष में कहती है। उषा का संबोधन अपनी आत्मा को है, मालूम देता है। इतना प्रेम था कि श्वसुर की सेवा करते भी पति के पास दौड़ आती। अन्तिम चरण का अक्षरार्थ यह होगा—"दिन रात पुरुष चिह्न से ताड़ित होती।" यह उर्वशी ने परोक्ष वचन से कहा, अब—

५. मैं फिर आत्मनिर्देश आ गया। यहां प्रथम चरण का अक्षरार्थ होगा—"तीन बार पं प्रजनन से दिन में ताड़न करता।" अव्यती=invariable अब भी उन पुराने दिनों का स्मरण कर लो, कातर क्यों होते हो? सपत्नियों का न होना, अहोरात्र विहार, देह का आधिपत्य, यही बहुत थे।

६. पुरूरवा का अभिप्राय कदाचित् यह है कि खैर, तुम्हारे प्रेम को तो मैं स्मरण करता रहूंगा, किंतु तुम्हारे साथ की देवपत्नियां अब मेरे पास नहीं हैं। उर्वशी उसे रोकती है और बार-बार उसके जन्म और वीरता की स्तुति करके उसे भुलावा देती है कि तुम ऐसे बड़े आदमी, इन नाचीजों का ख्याल छोड़ दो (ऋक् ७)।

इस ऋक् में सुम्नेजूर्णि, श्रेणि, सुम्नआपि, हृदेचक्षु, ग्रंथिनी, चरण्यु इतने पद इकट्ठे

७. उर्वशी—इस (पुरूरवा) के जायमान होते (अप्सराएँ वा) देव पत्नियाँ इकट्ठी हुईं और इसको स्वयं चलने वाली नदियों ने भी बढ़ाया। हे पुरूरवा! बड़े लड़ाई के संग्राम के लिए दस्युओं को मारने के लिए देवताओं ने तुमको बढ़ाया।[7]

८. पुरूरवा—जब सहायभूत पुरूरवा अपने रूप को छोड़ती हुई अमानुषी (अप्सराओं) में मानुष (होकर) सामने होता है, तो वे मुझसे हटकर चलती हैं जैसे तरसत् मृग की भोज्य (स्त्री) और रथ में जुते हुए घोड़े।[8]

हैं। गूफिथ ने सबको नाम मान लिया है। सुजूर्णि-वेगवती, ग्रंथिनी-गन्दर्भवती, गठीली? चरण्यु=विचरनेवाली। इनमें में अन्तिम को तो उर्वशी का विशेषण माना है। बाकी में चार सखियों के नाम हैं। एक अर्थ में सुजूर्णि उर्वशी का विशेषण, एक अर्थ में सखी नाम। दूसरे में ग्रंथिनी सखी नाम, एक में उर्वशी का विशेषण। ये अब मेरे आश्रय के लिए (जब तुम साथ थीं तब की तरह) नहीं चलतीं, नहीं उत्सुक होतीं। गौवें जैसे शरण आने को शब्द करती हैं वैसे (उत्सुकता से) ये नहीं करतीं। 'गुलाबी गहने वाली' विशेषण फिर उषा का ही स्मरण कराता है।

७. आधे में परोक्षोक्ति, आधे में प्रत्योक्षोक्ति। पुरूरवा, उर्वशी, और देव-पत्नियां तीनों ही ऋग्वेद के अनुसार मध्यस्थान देवता हैं। इस मंत्र में नैरुक्त और ऐतिहासिक दोनों पक्ष खूब साफ प्रकट होते हैं। नैरुक्त अर्थ यह है—इस पुरूरवा (बड़े शब्द के करने वाले वायु) के वृष्टिकर्म में अपने को लगाने पर जल सब तरफ से आ जाता है, आ घेरता है। और शब्द करने वाली स्वयं चलने वाली नदियां उसे बढ़ाती हैं (यहां या तो लौकिक नदियां मानें, जो बात को प्रेरणा करती मानी गई हैं, या द्युलोक की 'सप्तसिंधु' जो वृष्टि की प्रेरणा करती हैं (देखो, तिलक का 'आर्यध्रुवनिवास, पृ० २८८-२९३)। हे पुरूरवा! तुमको मेघ के साथ बड़े संग्राम के लिए और मेघ के बध के लिए देवता बढ़ाते हैं। यों वायु के अर्थ में सब ठीक लगाकर निरुक्तकार यास्क कहते हैं—"देवपत्नयो वा" अर्थात् जल के स्थान में देवपत्नी अर्थ (ग्ना) शब्द का करने से ऐतिहासिक बन जाता है, वह यों है। सब देवपत्नियां इसके चौतरफ आ जाती हैं और स्तुति करती हुई स्वयं चलने वाली (स्वच्छन्द) उसे बढ़ाती हैं। हे पुरूरवा! असुरों से युद्ध और उनके मारने के लिए तुम्हें देवता आगे करते हैं।

८. बाइबल में एक जगह लिखा है कि ईश्वर के पुत्रों ने (देवताओं) ने मनुष्यों की कन्याओं को सुन्दरी देखा और उनसे विवाह कर लिया। इसके विरुद्ध वृत्तांत्त को अर्थात् देवकन्याओं से अमर्त्यों से मर्त्यों के विवाह को टेनीसन ने inverted scripture 'औंधी बाइबिल' कहा है। जिस देश को जातीय संकीर्णता की जड़ कहा जाता है उस (भारतवर्ष) में यह उलटा वेद बड़ा पुराना है। इससे ही पुराणों में जहां-तहां राजा का शत्रुविजय में देवताओं की सहायता को स्वर्ग जाना, वहाँ अप्सराओं से विवाह और देवांशसम्भूत राजाओं का जन्म पाया जाता है। अस्तु! राजा अपने वार्तालाप के पुराने सिलसिले में ही कहे जाता है—८-९ में सब देवपत्नियों से और १० में केवल उर्वशी से अभिप्राय है। "अपने रूप को छोड़ती हुई", मनुष्य सेवन से। 'सामने होता है' वा होता था तब भी वह भागती थी।' अर्थात् पुरूरवा विषयों से अब भी सन्तुष्ट नहीं हुआ है।

९. पुरूरवा—जब अमर इनमें मर्त्य (मैं) बिलकुल स्पर्श करता हुआ वाणी से और काम से सम्पर्क करता है, तब वे आति बनकर अपने रूप नहीं प्रकाश करती जैसे खेलते हुए ओठ चाटते हुए घोड़े।[९]

१०. पुरूरवा—जो बिजली की तरह गिरती हुई प्रकाशित होती है, अंतरिक्ष सम्बन्धी (अथवा) व्याप्त, चाहे हुए पदार्थों को वा जल को मेरे लिए संपादन करती हुई, तो कामों में लगा हुआ मनुष्यों के लिए हित अच्छे जन्मवाला, पुत्र उत्पन्न होता है। उर्वशी दीर्घ आयु बढ़ाती है।[१०]

११. उर्वशी—यों पृथ्वीपालन के लिए तू उत्पन्न हुआ है, मेरे (उदर में) तैंने बल रक्खा है। जानती हुई मैंने तुझे सब दिनों में (जो कुछ करना था सिखाया, मेरा वचन नहीं सुनते, क्यों तो नहीं निभाने वाला (प्रतिज्ञाओं का) बोलता है?[११]

९. आति=आधि, मानस-पीड़ा। जैसे मानस-पीड़ा छिपी रहती है, प्रकाश नहीं होती, जैसे अड़ियल घोड़े अपना असली रूप (गति का) हांकने वाले को नहीं बताते, वैसे वे भी पूरी तौर से प्रेम नहीं करतीं। पुरूरवा अब फिर उन सबको चाहता है।

१०. इसमें फिर नैरुक्त और ऐतिहासिक की संसृष्टि का आनन्द लीजिए— जब बिजली (मेघों से) झट गिरती हुई प्रकाश करती है, प्यारे (काम्य) जलों को ले जाती हुई अर्थात् बरसाती हुई, तब अवश्य मनुष्यों का लाभदायी जल का प्रवाह अच्छी तरह से होता है (और उसके द्वारा अब उत्पन्न करा के) उर्वशी विद्युत सब मनुष्यों को दीर्घ आयु देती है। ठीक है, बिजली चमकने से दृष्टि अधिक होकर दीर्घ आयु होती ही है। निरुक्त कहता है— "नाराशंस्यो वा" अर्थात् इसका मनुष्योपाख्यान भी अर्थ है। वह जैसे अब बिजली की तरह झलक से आती हुई उर्वशी (रूप से) चमकी, और मेरे चाहे हुए स्वर्गीय (प्रेमादि) भावों को पूरी तरह निभाती हुई (वह मेरी प्यारी रही और वह गर्भवती है इससे) मनुष्यों का हितकारी (राजा) अथवा मनुष्य का पुत्र अच्छे, (देवाप्सरा सम्बन्धी) जन्म-वाला, पुत्र उत्पन्न होगा, उर्वशी (अपनी संभाल से) उसकी आयु दीर्घ करती है।

अमर्त्य उर्वशी मर्त्य पुरूरवा की भी अपने सम्बन्ध से, पुत्र के होने के कारण, दीर्घ आयु बढ़ाती है, उसे अमर करती है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति है—"हे मर्त्य यही तेरा अमृतपना है कि प्रजा में तू ही जन्म लेता है।" "प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्"। इसमें पुरूरवा ने उसकी पूरी खुशामद की है और उसे पाने की आशा ही ने तीन ऋचाएं एक साथ कहला दी हैं।

११. यों, मुझमें पुत्र उत्पन्न करके। 'आत्मा वै जायते पुत्रः', पुत्र आत्मा ही होता है, यह श्रुति है। तू फिर उत्पन्न हुआ है। यों पुत्र के रूप में स्वयं उत्पन्न होने की बात कह उर्वशी राजा को अमरत्व का लोभ दे, नश्वर विषय-वासना से दूर करती है। यदि कहो, तू मेरे पास रह जा, तो अब पुराने समयों (कौलों) की याद दिलाती है, अब प्रतिज्ञा का पालन कर विलाप क्यों करते हो? स्मरण रहे, कौल तीन थे।

१२. पुरूरवा—कब पुत्र उत्पन्न होकर पिता को (मुझको) चाहैगा ? कब (मुझको) जानकर, पाकर रोता हुआ अश्रु बहावैगा ? कौन समान मन वाले पति-पत्नी को बिलगावैगा, अब जो (गर्भरूप) अग्नि श्वसुरों में दीप्त हो रहा है ।[12]

१३. उर्वशी—मैं तुझे उत्तर देती हूँ (तेरा पुत्र) अश्रु बहावैगा, और सोची हुई कल्याण वस्तु के होने पर रोता-चिल्लाता होगा। जो तेरा (अपत्य) हम में निहित है वह तुम्हारे पास भेजती हूँ । तुम घर लौट जाओ, मूढ़ ! तुम मुझे नहीं पाते ।[13]

१४. पुरूरवा—अच्छी तरह (तुम्हारे साथ) खेलनेवाला आज पड़ जाओ, विना ढका हुआ दूर से दूर देश जाने को चला जावैं अथवा पृथ्वी की (वा मृत्युपापदेवता की) गोद में शयन करैं, अथवा जंगली कुत्ते वेग वाले इसे खा जावैं ।[14]

१५. उर्वशी—पुरूरवा ! मत मरो, मत पड़ो, अशुभ वृक भी तुमको न खाएं । स्त्रियों की की हुई मित्रता नहीं ही होती, ये (इनकी) मित्रताएँ जरखों के हृदयों की-सी (विश्वस्तों की घातुक) होती हैं ।[15]

१६. उर्वशी—अब[16] अपना रूप छोड़ (अथवा तुम्हारे प्रेम से अनेक रूपों

१२. अब राजा पुत्र की ममता माता पर डाल उसे लपेटना चाहता है । बिना पिता के पास रहे बेटा उसे कैसे जानेगा ? यदि तुम्हारे गर्भ न होता, तो भले ही पृथक् हो जाते, किंतु जब श्वसुर कुल का (मेरा) अग्नि "दम्पत्योः स्नेहबन्धनं" विद्यमान है तो पृथक् क्यों ? 'समान मन वाले' दोनों ही हैं, किंतु इस ऋक् में बड़ा ही करुण स्वर है ।

१३. उर्वशी पुत्र को पिता के पास भेजने की प्रतिज्ञा करती है, किंतु अब तक का उसका प्रेम का स्वर यहां बदलकर 'मूढ़!' बन जाता है । मूढ़ यों कि प्रतिज्ञाएं तोड़ चुका है । सुख-दुःख में पुत्र को पिता का साथ बताकर उर्वशी मानो सम्बन्ध तोड़ देती है । पुरूरवा वहां कह सकता है—"ते हृदयं नाविदाम्" ।

१४. वही देह जो तुम्हारी लीलाओं का पात्र था, आज भगुपतन, महाप्रस्थान गमन, जीवित खनन और आत्मघात की दुहाई देता है । न मालूम क्यों अन्तिम आठ मन्त्रों का सायण-भाष्य कुछ निर्जीव और शिथिल है ।

१५. यहां उर्वशी अपना दोष समस्त स्त्रीजाति पर रखकर राजा से पृथक् होना चाहती है, यह अन्तिम दशा है । राजा को अब तक उर्वशी में पूर्ण प्रेम था । बार-बार उसका उल्लेख और उससे अतृप्त होने का निदर्शन है । किन्तु यहां उर्वशी ने दिल तोड़ दिया । इस ऋक् के अंतिम चरण का sentiment भाव अच्छा नहीं है ।

१६. पुरूरवा पहले वाक्य को सुनकर उदासीन हो गया हो, तथापि पुराने प्रेम के सम्बन्ध से उर्वशी को साथ रखना चाहे या उर्वशी के जीवन-निर्वाह के लिए उसे अपनी राजधानी में ले जाना चाहे तो यह कथन । यह पता नहीं चलता कि चार वर्ष से अभिप्राय है, वा चार शरत् से, वा चार शरद् ऋतु की रात्रियों से ।

में) मनुष्यों में बिचरी थी, (तो) चार शरद (ऋतु वा वर्ष ?), रात्रि रही थी; तब थोड़ा सा घी दिन में एक बार खाती थी उससे मैं यों तृप्त रहती हूं ।

१७.—पुरूरवा (अपने तेज से) अंतरिक्ष को भरने वाली, रज (जल) की बनानेवाली उर्वशी को खूब बसानेवाला मैं वश में लाता हूं । अच्छे कामों का देनेवाला (पुरूरवा) तुझे उपस्थित हो, मेरा हृदय तृप्त होता है, (इससे) लौट चल ।[१७]

१८. उर्वशी—ऐल ! तुझे देवता कहते हैं कि तू मृत्यु का बंधुआ है, जिस कारण तू यों है, प्रकर्ष से लायमान तू देवताओं का हवि से याग करता है, स्वर्ग में भी तू प्रसन्न करता है (यज्ञ से सबको) ।[१८]

(इ) ग्रिफिथ का अनुवाद (मैक्समूलर और आफ्रेक्ट के आधार पर)

१. पु०—हे मेरी पत्नी ! ठहर, ऐ भयंकर आत्मावाली स्त्री, और अपन कुछ देर तक साथ विचार करें । हमारे इन विचारों के-से विचार पिछले दिनों में न कहे जाकर भी हमें कभी सुख नहीं लाए हैं ।

२. उ०—मुझे तेरे इस कहने का अब क्या करना है ? मैं प्रातःकालों में से पहले की तरह तेरे पास से चली गई हूं । पुरूरवा, तू अपने घर को लौट जा, मैं वायु की तरह पकड़ने में कठिन हूं ।

३. पु०—विजय के लिए तरकस से छोड़े तीर की तरह, या वेगवान् घोड़े की तरह, जो गौओं को (बाजी में) जीतता है, सैंकड़ों (रुपये) जीतता है, बिजली चमकती हुई दिखलाई दी, जैसे कायरों ने विचारा था । भाट लोग दुःख में भेड़ की तरह बरड़ाए ।

४. उ०—अपने पति के पिता को जीवन और धन देती हुई, पास के घर से, जब उसका पति उसे चाहता, वह उस घर में पहुंच जाती जहां वह अपना

१७. पुरूरवा की अंतिम आपत्ति—"मेरा चित्त दुखी है ।" हक का खयाल न कर, कौल को भल जा, तैंने आकाश व्याप्त किया है, तू बिजली रूप से जल की भी स्रष्ट्री है, मैं भी प्रेमियों में सर्वश्रेष्ठ हूं । इससे लौट चल ।

१८. तुम मृत्यु के बन्धन में हो, इससे यागादिक करके अमर हो जाओ और मेरे समोक होकर सदा अपनी इच्छा पूरी करो । अथवा यहीं से इसी लोक में बैठकर तुम यज्ञों से सब देवों को तृप्त करते हो, तो यज्ञफल से हमारे साथ मोद करोगे । ऐसे यज्ञों के कर्ता तुम यज्ञ-पुरुष का आश्रय लो, मेरे मोह की क्या चिंता करते हो ?

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो दद्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ।।

सुख पाती, दिन और रात अपने पति के आलिंगनों का स्वीकार करके ।

५. उ०—तू दिन में तीन बार अपनी जाया का आलिंगन करता, यद्यपि वह तेरे प्यारों को रूखी तरह से स्वीकार करती । हे पुरूरवा, मैं तेरी इच्छाओं के वश थी, वीर ! यों तुम मेरे देह पर राजा थे ।

६. पु०—सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नेआपि, चरण्यु, ग्रंथिनी, और हृदेचक्षु—ये सब युवतियां लाल गौओं की तरह दौड़ गई हैं; प्रकाशमान और दूध देने वाली गौवों ने बहस में राम्भा है ।

७. उ०—जब यह उत्पन्न हुआ था तो बुढ़ियाएं साथ बैठी थीं, नदियों ने स्वतन्त्र दयालुता से उसे पोषण दिया, और तब, हे पुरूरवा देवताओं ने तुझे बड़ी लड़ाई में दस्युओं को नष्ट करने के लिए बढ़ाया ।

८. पु०—जब मैंने मर्त्य होकर, अपने आलिंगनों में कपड़े खोलने वाली इन दैवी देवियों को लपेटा, वे कातर हरिणियों की तरह मुझसे डरकर भागीं, गाड़ी के घोड़ों की तरह से, जब गाड़ी उन्हें छू गई हो ।

९. पु०—जब इन अमरों को प्यार करता हुआ, मर्त्य इनकी आज्ञा से देवियों से संपर्क रखता है, हंसों की तरह वे अपने देह की सुंदरता दिखाती हैं, मचलते हुए घोड़ों की तरह काटती और कुतरती हैं ।

१०. पु०—वह, जो गिरती बिजली की तरह प्रकाशमान चमकी थी, मेरे लिए जलों में से बढ़िया भेंटें लाई । तब उस तूफान से वीर युवा उत्पन्न हो ! उर्वशी अपनी आयु सदा बढ़ावै !

११. उ०—तेरे जन्म ने मुझे पृथ्वी की दुधार गायों से दूध पिलाया है, पुरूरवा ! यह शक्ति तैंने मुझको दी है । मैं जानती थी और तुझे उसी दिन चेताया था । तू मुझे नहीं सुनना चाहता था । अब तू क्या चाहता है, जब कोई बात तुझे लाभदायक नहीं ?

१२. पु०—पुत्र कब पैदा होगा और पिता को खोजेगा ? विलापी की तरह उसे पहले-पहल जानते ही क्या वह रोवेगा ? दिल की लगन वाले पति-पत्नी को कौन पृथक् करेगा, जब अग्नि तेरे पति के माता-पिता के पास जल रही है ?

१३. उ०—मैं उसे ढाढस दूंगी जब उसके आंसू गिरते होंगे; उस सम्हाल के लिए जो सुख देती है वह नहीं रोवै-चिल्लाएगा । हम दोनों में जो कुछ तेरा है वह नहीं मैं तुझे भेज दूंगी । मूर्ख ! घर को लौट जा, तैंने मुझको नहीं पाया ।

१४. पु०—तेरा प्रेमी आज के दिन सदा के लिए भाग जाएगा, न लौटकर सब से दूर की दूरी खोजने को। तो उसका बिछौना नाश की छाती में होने दो और भयंकर निर्दय भेड़िए उसे खा जाएं।

१५. उ०—नहीं, पुरूरवा, मत मरो, मत नष्ट हो, कुशकुन के भेड़िए भी तुझे न खाएं। स्त्रियों के साथ स्थायी मित्रता नहीं हो सकती, जरखों के हृदय हैं, स्त्रियों के हृदय।

१६. उ०—जब बदली हुई सूरत में मनुष्यों में मैं रही, और चार पतझड़ तक उनमें मैंने रातें बिताईं, मैं दिन में एक सेर घृत का एक बिंदु चखती थी, और अब भी मैं उससे ही सन्तुष्ट हूं।

१७. पु०—मैं उसका सर्वप्रधान प्रेमी, जो हवा को भरती है और देश भर को नापती है, ऐसी उर्वशी को मुझसे मिलने को बुलाता हूं। पवित्रता से लाया दान (वर) तुझे पहुंचे। तू मेरे पास हट आ, मेरा हृदय दुःखित है।

१८. उ०—हे इला के पुत्र ! ये देवता तुझसे यों कहते हैं। मृत्यु ने सच्चे ही तुझको अपना विषय कर लिया है, तेरे पुत्र अपनी भेंट से देवताओं की सेवा करेंगे, और तू भी स्वर्ग में सुख पावेगा।

(उ)—बड़े खेद का विषय है कि स्वामी दयानन्द जी का ऋग्वेद भाष्य यहाँ तक पहुँच ही न पाया, नहीं तो नैरुक्त शैली का एक और अर्थ यहाँ उद्धृत किया जा सकता।

२. सर्वानुक्रम, सायणभाष्य में उद्धृत—

"....'हये'। दो कम (बीस) उर्वशी को इला के बेटे पुरूरवा ने पहले की कामना से फिर पाकर पकड़ना चाहा; वह उसे न चाहती हुई उसकी बात मोड़ने लगी..."

३. बृहद्देवता ७, १४०-१४७ (डा० मित्र के संस्करण से) :

पूर्वकाल में अप्सरा उर्वशी राजा पुरूरवा के पास संवित् करके रही और उसने राजा के साथ धर्माचरण किया। इन्द्र ने उन दोनों के सहवास की और ब्रह्मा का पुरूरवा पर जो इन्द्र के समान प्रेम था उसकी ईर्ष्या करके उन दोनों के वियोग के लिए पास खड़े वज्र को कहा—हे वज्र ! तू यदि मेरा प्रिय चाहता है तो इन दोनों की प्रीति तोड़ दे। "ठीक है" कहकर माया से वज्र ने उनकी प्रीति तोड़ दी। तब उस (उर्वशी) के बिना राजा पागलों की तरह फिरने लगा। घूमते-घूमते सरोवर में उसने सुन्दरी उर्वशी को पांच सुन्दरी अप्सराओं से घिरी हुई देखा।

उससे कहा कि "आजा," किन्तु उसने राजा से कहा "नहीं"। राजा ने उसे प्रेम से बुलाया किन्तु उसने राजा को दुःख से कहा—"मैं आपको आज यहां दुष्प्राप्य हूं, स्वर्ग में मुझे फिर पाओगे।" यह (सूक्त) उनका आपस में आह्वान और आख्यान है। इसे यास्क (कल्पित) संवाद मानते हैं और शौनक इतिहास। 'हये' इति···

४. **उसी में आर्षानुक्रमणी में** उर्वशी और पुरूरवा ऐल को इस सूक्त के भिन्न-भिन्न मंत्रों का ऋषि लिखा है। जिस मंत्र का जो अर्थ (जिसके प्रति) लगता हो, वही उस मंत्र का देवता है अर्थात् उसके प्रति वह मंत्र कहा गया है, ऐसा सायण भाष्योद्धृत अनुक्रमणिका में लिखा है।

५. **सायणभाष्य** में सूक्तस्थल में कुछ श्लोक 'बृहद्देवता' से उद्धृत किए हैं। वही एशियाटिक सोसाइटी के निरुक्तसंस्करण में' और मैक्समूलर की भाष्य-भूमिका में उद्धृत हैं, किन्तु डा० राजेन्द्रलाल मित्र की 'बृहद्देवता' इनका पता नहीं। **षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी** पर जो 'वेदार्थ दीपिका' टीका बनाई है, उसमें भी वही श्लोक, कुछ पाठभेद से, मिलते हैं। यद्यपि ये **वैदिक** नहीं कहला सकते, तथापि उनका अनुवाद, हम यहीं दे देते हैं—

ऐल और उर्वशी का इतिहास यहां स्पष्टता के लिए वर्णन किया जाता है। मित्र और वरुण दोनों दीक्षित थे, उर्वशी को देख चलचित्त हो, घड़े में शुक्र रखकर उनने उसे शाप दिया कि तुम पृथ्वी में मनुष्यभोग्या हो जाओ। इसी काल में इल राजा, मनुपुत्रों के साथ, शिकार खेलता हुआ देवी की गोद (? हिमालय) में घुसा, जहां गिरिजा भगवान् शंकर को सब प्रकार से संतुष्ट कर रही थी। "यहां घुसनेवाला पुरुष स्त्री हो जायगा"—यह कह (पार्वती) वहां घुसी थी, अतएव स्त्री होकर लज्जित होकर, वह झटपट शिव की शरण गया।

"राजन! तुम इसे प्रसन्न करो।" शिव जी के यह कहने पर अपने पुरुषत्व की सिद्धि के लिए देवी की शरण गया। देवी ने भी छै महीने में उसे पुरुषत्व प्राप्त करा दिया। कभी स्त्रीकाल (वसंत ऋतु ?) में सौंदर्य से मोहित होकर बुध ने अप्सराओं से भी विशिष्ट उस राजस्त्री (अर्थात् स्त्रीभूत राजा इल) की कामना की। इला में सोमपुत्र से राजा पुरूरवा उत्पन्न हुआ। प्रतिष्ठानपुर (पैठान) में उसकी उर्वशी ने कामना की। "बिछौने के सिवाय कहीं तुम्हें नंगा देखकर मैं जैसे आई वैसे चली जाऊंगी। दो भेडे, पुत्र वहां मेरे पास दृढ़ कर दो।" यह समय करके उसने राजा को प्रसन्न किया। चार वर्ष बीतने पर देवताओं ने दोनों भेडे चुराए, उसकी ध्वनि सुनकर वह भूपति नंगा ही उठकर "जीतकर आऊँगा"—यों बोला। बिछौने से अलग ही बिजली ने इस (उर्वशी) को नंगा ही दिखा दिया। प्रतिज्ञा नष्ट होने

से उर्वशी तो स्वर्ग को चली गई। तब उसे देखने की इच्छा रखता हुआ राजा पुरूरवा ने पागल की तरह इधर-उधर उसे खोजता हुआ मानस सरोवर के तीर में अप्सराओं के साथ विचरती हुई, उसे देखा। पहले की तरह उससे भोग की राजा ने इच्छा की, किन्तु उसने अपने शाप के मुक्त हो जाने से अश्रुपूर्वक उसे **"चला जा"** कहकर प्रत्याख्यान किया।

६. यास्क ने निरुक्त में इस विषय में जो कुछ लिखा है वह हम ऋग्वेद के अंश की टिप्पणी में कह चुके हैं।

७. शतपथ ब्राह्मण ५, १-२

उर्वशी अप्सरा ने इड़ा के पुत्र पुरूरवा की कामना की। उसे स्वीकार करते समय कहा। तीन बार ही मुझको अहोरात्र में वैतस दंड से ताड़न करना। अनिच्छा वाली मुझसे न मिलना, मैं तुझको नंगा न देखूं। यह स्त्रियों का उपचार नहीं है। वह इसके साथ जुड़कर रही। और इससे गर्भिणी भी हुई। तब तक सुख से इसके साथ रही। तब गंधर्व इकट्ठे हुए। "क्या ठीक है कि सुख से उर्वशी मनुष्यों में रही? उपाय करो जिससे वह फिर आ जाय।" उसके प्रकट दो भेडे बिछौने में बंधे थे। तब गंधर्वों ने एक भेडे को दबाया। वह बोली—"जहां कोई वीर न हो, जहां कोई जन न हो, वहां की तरह मेरे पुत्र को हरते हैं।" दूसरे को दबाया। वह वैसे ही बोली। अब इसने (पुरूरवा ने) विचारा। कैसे वहां वीर नहीं, कैसे वहाँ जन नहीं, जहां मैं हूं? वह नंगा ही कूद पड़ा। देरी इसको माना कि कपड़ा पहनता। तब गंधर्वों ने बिजली को पैदा किया। उसको जैसे दिन में (वैसे साफ़) नग्न देखा (उर्वशी ने) तभी यह तिरोभूत हो गई। फिर आऊंगी यों गई। छिपी हुई का ध्यान कर बकता हुआ कुरुक्षेत्र के पास फिरने लगा। वहां आधि से प्लक्षों-वाली और कमलोंवाली (वापी) के पास चला गया। उसमें चलती-फिरती अप्स-राएं डुबकियां ले रही थीं। उसे यह (उर्वशी) जानकर बोलीं। यह वह मनुष्य है जिसके पास में रही थी। वे बोलीं। उस पर हम प्रकट हों। ठीक है। (सब) उसके (सामने) प्रकट हुईं। यह उसे जानकर बकने लगा। "हे पत्नी! मन से ठहर, भयंकरे! वचन मिले हुए करैं तो। नहीं, हमारे मंत्र बिना कहे ये सुख करते हैं परतर दिनों में।" ठहर तो जा; बातें तो करैं यों यह उसको बोला। उसको इसने उत्तर दिया "क्या ऐसी बातें करूं तुमारी, मैं चली गई हूं, उषाओं की पहली की तरह। पुरूरवा! फिर घर को चला जा, दुष्प्राप्य हवा की तरह मैं हूं। नहीं, तैंने वह किया जो मैंने कहा था। दुष्प्राप्य अब तुझे मैं हूं। फिर घरों को जा, यह इसको बोली। तब यह खिन्न होकर बोला। "अच्छा देव आज गिरैगा बिना सम्हाला परम न लौटनेवाली दूरी को जाने को। और सोएगा निर्ऋति की गोद में, और निर्दय वृक इसे खाएंगे।" सुदेव जो या तो मारेगा या गिर जायगा जिससे

इसे वृक वा कुत्ते खाएं । यह वह इसे बोला । उसको दूसरी बोली—"पुरूरवा ! मत मर, मत गिर, मत तुझको भेड़िये अमंगल क्षय करें । नहीं स्त्रियों की मित्रता है सालावृकों के हृदय हैं इनके ।" मत इसका आदर कर । नहीं स्त्रियों की मित्रता है । फिर गृहों को जा ।" यह उसको बोली—"जो रूप बदल कर बिचरी मर्त्यों में शरद की रात्रि चार । घी थोड़ा सा एक बार दिन में खाया उससे ही मैं तृप्त फिरती हूं ।" सो यह उक्त प्रत्युक्त (सवाल-जवाब) पंद्रह ऋचों का वह्वृच कहते हैं । उसको हृदय अर्पण किया । वह बोली—वर्ष भर (पीछे) की रात्रि को आना । तब मेरे एक रात्रि वास सोएगा । उत्पन्न भी तब यहां तेरा पुत्र हो जायगा । वह वर्ष भर पीछे की रात्रि को सुवर्ण निर्मित (गंधर्व लोकों में ?) आया । तब इसको एक बोली—'इसको ले ले ।' तब इसको वह ला दी । वह बोली—"गंधर्व तुझको प्रातःकाल वर देंगे । उनसे वर ले । उसे मेरे लिए तू ही वर ले । तुममें से ही एक हो जाऊं—यह कहना ।" उसको सवेरे गंधर्वों ने वर दिया । वह बोला—"तुममें से ही एक हो जाऊं ।" वे बोले—"मनुष्यों में अग्नि की वह यज्ञिय तनू नहीं है जिससे यज्ञ करके हममें एक हो जावे । उसे स्थाली में रख अग्नि दिया । इससे याग करके इसमें एक हो जायगा ।" उस (अग्नि) को और कुमार को लेकर चला आया । वह अरण्य में ही अग्नि को रख कुमार के साथ ही ग्राम को गया । "फिर आऊँगा, यों आया तो गुप्त ! जो अग्नि था उसे अश्वत्थ और जो स्थाली थी उसे शमी (पाया) वह फिर गंधर्वों के पास गया । ये बोले—"संवत्सर भर चार के खाने लायक ओदन बना । वह इसी अश्वत्थ की तीन-तीन समिधें घी से आंजकर समित्वाली घी वाली ऋचों से आधान करै । उससे जो अग्नि होगा, वही वह होगा । वे बोले—यह सब तो परोक्ष ही है । अश्वत्थ की ही उत्तर अरणि बना । शमीमयी अधर अरणि (नीचे की) बना । वह जो उससे अग्नि उत्पन्न होगा, वही वह होगा ।" उसने अश्वत्थ की ही ऊपर की अरणि बनाई । अश्वत्थ की ही नीचे की । उससे जो वह अग्नि हुआ वह वही हुआ । उससे याग करके गंधर्वों में से एक हो गया । इससे अश्वत्थ की ही उत्तरारणि करै, अश्वत्थ की ही अधरारणि । वह उससे जो अग्नि होता है वह वही होता हे । उससे याग करके गंधर्वों में से एक हो जाता है ।

८. मैक्समूलर, चिप्स फ्राम दी जर्मन वर्कशाप, जिल्द ४, पृष्ठ १०७ प्रभृति :

वेद की कथाओं में से एक जो उषा और सूर्य के इस परस्पर सम्बन्ध का, अमर्त्य और मर्त्य के इस प्रेम का, प्रातःकाल की उषा और सायंकाल की उषा की एकता का, निरूपण करती है, उर्वशी और पुरूरवा की कथा है । उर्वशी और

पुरूरवा ये दो नाम हिन्दू के लिए केवल नाममात्र ही हैं, और वेद में भी उनका असली अर्थ प्रायः पूरी तरह से उड़ गया है। ऋग्वेद में उर्वशी और पुरूरवा का एक संवाद है जिसमें दोनों वैसे ही पुरुषायित (Personifie) रूपक में हैं जैसे कालिदास के नाटक में। इसलिए पहली बात जो हमें सिद्ध करनी है यह है कि उर्वशी वास्तव में एक विशेषण था और उसका अर्थ 'उषा' था।

उर्वशी का शब्दविज्ञान कठिन है। यह 'उर्व' शब्द से 'श' प्रत्यय लगाकर तो बनाया नहीं जा सकता, क्योंकि 'उर्व' कोई शब्द ही नहीं, और 'रोमश', 'युवश', प्रभृति शब्दों में अन्तोदात्त होता है। इससे मैं साधारण भारतवासियों का अर्थ मानता हूँ जिसके अनुसार यह नाम उरु (विस्तीर्ण) शब्द से, जो अश् (व्याप्त होना) धातु से बना मानना पड़ता है। यों उर्व-अशी उषा के दूसरे प्रसिद्ध विशेषण 'उरूची', 'उरू-अच्' दूरव्यापी के स्त्रीलिंग रूप से तुलनीय होता है। यह वास्तव में बहुत ध्यान देने योग्य लक्षण है, और आकाश के और सब वासियों से उषा का भेदक है कि वह आकाश का बड़ा विस्तार रोकती है, और उसके घोड़े मानो विभा की-सी शीघ्रता से सम्पूर्ण क्षितिज पर दौड़ जाते हैं, इससे हम पाते हैं कि 'उरू' से आरम्भ होनेवाले नाम प्रायः उषा के ही पौराणिक नाम हैं। वेद में उषा का नाम कदाचित् ही यों लिया जाता हो जबकि उसकी दूर-दूर तक व्याप्त शोभा का उल्लेख न किया हो, जैसे 'उर्विया विभाति', दूर तक चमकती है, 'उर्विया विचक्षे', दूर देखती हुई, 'वरीयसी', सबसे चौड़ी, इसके विरुद्ध सूर्य का प्रकाश दूर फैला हुआ नहीं वर्णित किया जाता है, किन्तु दूर दौड़ता हुआ।

किन्तु केवल उर्वशी के नामों के सिवाय ऐसे और भी चिह्न हैं जो हमसे कल्पना कराते हैं कि वह वास्तव में उषा की देवी थी। वसिष्ठ, यद्यपि वेद का अन्यतम प्रधान कवि कहकर प्रसिद्ध है, तथापि वसु (प्रकाशमान) का प्रधानतम द्योतक है और यों सूर्य का भी एक नाम है। इससे यह हुआ कि जो पद केवल सूर्य ही पर घटते हैं वही पद इस प्राचीन कवि पर आरोपित कर दिए गए। वह मित्र और वरुण (रात्रि और दिन) का पुत्र कहा जाता है और यह पद सूर्यार्थक वसिष्ठ ही पर कुछ अर्थ रखता है, और इसलिए कि कई बार सूर्य को उषा का पुत्र कहा गया है, वसिष्ठ ऋषि भी उर्वशी से उत्पन्न कहा गया (ऋ०, ७, ३३, ११)। उसके जन्म की विशेषता ही सियड् की वर्णित अफ्रोडाइट की कविता का शीघ्र ही स्मरण दिला देती है।

और भी ऋग्वेद में जिन थोड़ी सी ऋचाओं में उर्वशी का नाम आता है, उसे वही गुण और वही काम लगाए जाते हैं जो साधारणतः उषा के हैं।

यह उषा के लिये बारम्बार कहा गया है कि वह मनुष्य की आयु बढ़ाती है, और वही उर्वशी के विषय में वर्णित है (५-४, १९, १०. ९५, १०)। एक ऋक् में (४. २. १८) उषसः की तरह उर्वशी शब्द ही बहुवचन में कहा गया है, इसी अर्थ में कि बहुत-सी उषा वा बहुत से दिन मनुष्यों की आयु बढ़ावें। यह सिद्ध करता है कि इस शब्द (उर्वशी) का विशेषणार्थ अभी पूरी तरह से नहीं भूला गया था। वह अन्तरिक्षप्रा, आकाश को भरती हुई कही जाती है। (यह उपमा सूर्य की है)। बृहद्दिवा, बड़े प्रकाश वाली भी वर्णित है, ये सब उषा की प्रकाशमान उपस्थिति के सूचक हैं। उर्वशी उषा ही है, इसका सबसे अच्छा प्रमाण उसके और उसके पुरूरवा के लिए प्रेम की जो कथा कही जाती है, वही है। यह कथा उषा और सूर्य की ही सच्ची हो सकती है। सूर्य वीर के लिए पुरूरवा उपयुक्त नाम है, इस बात के प्रमाण की बहुत कम जरूरत है। पुरूरवा का अर्थ है—बहुत प्रकाश से युक्त, क्योंकि यद्यपि 'रव' शब्द के अर्थ में आता है तथापि 'रू' धातु जिसका वास्तव अर्थ 'चिल्लाना' है बड़े प्रकाशमान अर्थात् 'रैड' लाल रंग के अर्थ में भी लगाया जाता है (तुलना करो—रबर, रूफस, रॉड, रोट, रुधिर, रवि-सूर्य)। पुरूरवा अपने को 'वसिष्ठ' कहता है, जो कि, हम जानते हैं, सूर्य का नाम है और यदि वह इडा का पुत्र 'ऐड' है तो वही नाम और जगह अग्नि को दिया गया है। ऋग्वेद के अन्तिम पुस्तक में इन दैव-प्रेमियों में एक संवाद पाते हैं। इन पद्यों में से एक में उर्वशी कहती है—"मैं सदा के लिए गई हूं, जैसे उषाओं की पहली।" यह कवि के मन में प्राचीन कथा का विलक्षण चमकना दिखाता है और मैमन की माता अपने पुत्र की लाश पर जो आँसू बहाती थी, और जिन्हें पिछले कवि 'प्रातःकाल की ओस' कहते थे, उनकी हमें याद दिलाता है। और चौथी ऋक् में उर्वशी अपने को सम्बोधन करके कहती है—"यह व्यक्ति (अर्थात् मैं) जब उसको ब्याही गई थी, हे उषा! उसके घर में गई और दिन-रात आलिंगित हुई।" फिर भी वह पुरूरवा को कहती है कि देवताओं ने तुझे अन्धकार की शक्तियों को मारने के लिए (दस्युहत्याय) बनाया, ऐसी बात सदा इन्द्रादि व्यक्तियों ही के लिए कही जाती है। उर्वशी की सहेलियों के नाम भी उषा की ओर इशारा करते हैं।

यह अवश्य हमको मानना होगा कि वेद मे भी कवि लोग उर्वशी और पुरूरवा के वास्तव अर्थ के वैसे अनभिज्ञ थे जैसे होमर, टिथोनोस इयोस नामों का। पुरावार्ता नंगे सूर्य का वृत्त कहती और सती उषा का पति को देखकर मुँह छिपाना वर्णन करती। तो भी वह कहती है कि मैं फिर आऊंगी। जब सूर्य अपनी प्रिया की खोज में जगत् भर के ऊपर घूम चुका, तब वह मृत्यु के दरवाजे

आता है और अपने एकाकी जीवन को समाप्त करने को होता है, वह फिर दिखाई देती है, वैसी ही उषा (जैसे होमर में भी इयोस दिन का आदि अन्त दोनों करती है) और वही उषा उसको अमरों के वासस्थान को ले जाती है। पुरूरवा-उर्वशी की सब कहानियों की जड़ छोटे कहावती वाक्य थे, जो प्राचीन भाषाओं को बहुत प्यारे थे, जैसे "उर्वशी पुरूरवा को प्यार करती थी", ='सूर्य का उदय होता है, "उर्वशी ने पुरूरवा को नंगा देखा"="उषा हो चुकी", "उर्वशी को पुरूरवा फिर मिल गया"="सूर्य अस्त हो रहा है।"

आगामी प्रस्ताव में इस कथा का पौराणिक रूप दिखाया जायगा।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

विक्रमोर्वशी की मूल कथा-२

(द्वितीय लेख)

(ख) पौराणिक मूल

(१) **विष्णुपुराण, ४, ६ (गद्य)**

पुरूरवा अत्यन्त दानी और तेजस्वी राजा था, जिस सत्यवादी और रूपवान् राजा को 'मित्रावरुण के शाप से मुझे मर्त्यलोक में रहना होगा' यह विचार के उर्वशी ने देखा। उसको देखते ही अपना मान छोड़, स्वर्ग के सब सुखों की इच्छा को तज, उसी में मन लगा, सेवा करने लगी। उसे सब लोकों की स्त्रियों से कान्ति, सुकुमारता, लावण्य, हास्य, विलास आदि गुणों में उत्कृष्ट जान राजा की चित्तवृत्ति भी उर्वशी के अधीन हो गई। दोनों ही एक-दूसरे में मन लगाए रहें, और कहीं न देखें, और और सभी प्रयोजनों को छोड़ बैठे। राजा ने बुद्धिमानी से उसे कहा—"हे सुभ्रु ! तुझसे मेरा अत्यन्त प्रेम है, कृपा करके विवाह कर ले।" ऐसा कहने पर लज्जा से मुँह छिपा, उर्वशी बोली—"ऐसा ही सही, यदि मेरे वचन का आप पालन करें।" "अपना वचन मुझे कहो।" यह पूछने पर बोली—"सोने के समय मेरे पुत्र समान दो भेडे न हटाए जायं। मैं आपको नंगा न देखूं। घी ही मेरा भोजन रहेगा।" राजा ने कहा—"यों ही सही।" उसके साथ राजा ने अलकापुरी में चैत्ररथादि वनों में, निर्मल कमलोंवाले सरोवरों में, बिहार करते एकसठ हजार वर्ष, दिन-दिन बढ़ते आनन्द में बिताए। उर्वशी भी उसके उपभोग से दिन-दिन अनुराग बढ़ने के कारण स्वर्गलोक में रहने की इच्छा नहीं करती थी। उर्वशी के बिना स्वर्गलोक अप्सराओं और सिद्ध गन्धर्वों को रमणीय नहीं मालूम पड़ने लगा। तब उर्वशी और पुरूरवा के समय (प्रतिज्ञा, कौल) को जानने वाला विश्वावसु, गन्धर्वों के साथ, रात को, नेत्रों के पास से ही, एक भेडे

को ले गया। आकाश में ले जाए जाते उसका शब्द उर्वशी ने सुना और कहा— "मुझ अनाथा के पुत्र को कोई ले जाता है, किसके शरण जाऊं ?" यह सुनकर भी राजा मुझे, देवी नंगा देख लेगी, यह विचार कर न गए। गन्धर्व दूसरे भेडे को भी लेकर चलने लगे। चुराए जाते उसके शब्द को सुनकर "मैं अनाथा हूँ, बिना पति की, कुपुरुष के आश्रय में हूं।" यह (उर्वशी की) आर्तवाणी हुई। राजा भी मारे गुस्से के अन्धेरा समझकर (नंगे ही) तलवार लेकर, "मारा है दुष्ट ! मारा है।" कहता दौड़ा। इतने में गन्धर्वों ने अत्यन्त उज्ज्वल बिजली पैदा की। उसके प्रकाश से राजा को बिना वस्त्रों के देखकर उर्वशी, प्रतिज्ञा टूट जाने से, उसी क्षण चली गई। उन भेडों को छोड़कर गन्धर्व सुरलोक को चल दिए। राजा भी जब उन भेडों को ले प्रसन्न होते हुए बिछौने पर आया तो उर्वशी को न पाया। उसे न देखकर बिना कपड़ों ही के पागल होकर घूमने लगा। कुरुक्षेत्र में कमल-सरोवर में, चार अप्सराओं के साथ उसने उर्वशी को देखा और उन्मत्तों की तरह "हे भयंकर पत्नी ! मन में रह, वचन में रह।" ऐसे कई प्रकार के सूक्त कहने लगा। उर्वशी बोली—"महाराज ! ऐसी अविवेक चेष्टा को बस कीजिए। मैं गर्भिणी हूं। वर्ष के अन्त में आप यहां आवें। आपके कुमार होगा। एक रात्रि मैं तुम्हारे साथ रहूंगी।" ऐसा सुनकर प्रसन्न हो, राजा अपने घर चले आए। उन अप्सराओं से उर्वशी ने कहा—"यह वह पुरुष श्रेष्ठ है जिस प्रेमी के साथ मैं इतने काल तक रही।" यह कहे जाने पर अप्सराएं बोलीं—"इनका रूप बहुत ही अच्छा है, इनके साथ तो हमारी भी सर्वदा रमण करने की इच्छा हो सकती है।" वर्ष पूरा होने पर राजा वहां आए। उर्वशी ने उसे 'आयु' कुमार दिया। और एक रात्रि राजा के साथ रह पांच पुत्रों की उत्पत्ति के लिए गर्भ पाया। और राजा से कहा—"मेरी प्रीति से महाराज के प्रति सभी गन्धर्व सन्तुष्ट हैं और वर देना चाहते हैं, सो वर मांगो।" राजा बोले—"मैंने सब शत्रु जीत लिए हैं, मेरी इन्द्रियों की सामर्थ्य घटी नहीं है, मेरे मित्र भी हैं, सेना और कोश भी है। हमें उर्वशी सालोक्य के सिवा, और कुछ अप्राप्य नहीं है। सो मैं इस उर्वशी के साथ काल बिताना चाहता हूं।" यह कहने पर गन्धर्वों ने राजा को अग्निस्थाली दी, और उसे कह—ा"अग्नि को वेद के अनुसार तीन बार उर्वशी-सलोकता मनोरथ का उद्देश करके याग करो। इससे अवश्य ही अभिलषित को पाओगे।" ऐसा कहने पर उस अग्निस्थाली को ले राजा चला आया। जंगल में राजा ने सोचा— 'अहो ! मेरी बड़ी मूर्खता हुई जो मैं अग्निस्थाली को लाया, उर्वशी को नहीं।' और अग्निस्थाली को वन में ही छोड़ दिया। अपने नगर को लौट आया। आधी रात बीतने पर नींद टूटने से सोचा—'मेरे उर्वशी-सालोक्य प्राप्ति के लिए गन्धर्वों

ने अग्निस्थाली दी थी। वह मैंने जंगल में छोड़ दी। सो मैं वहां उसे लेने जाता हूं।' यह सोच, उठकर जब वहां गया तो अग्निस्थाली नहीं देखी। शमीगर्भ अश्वत्थ को अग्निस्थाली के स्थान में देखकर राजा विचारने लगा—'मैंने जहां थाली फेंकी थी वहीं शमीसंयुक्त अश्वत्थ हो गया है। सो इसी अग्निरूप को ले, अपने घर जा अरणि बना, उससे उत्पन्न अग्नि की उपासना करूंगा।' अपने नगर में पहुँचकर ऐसी ही अरणि बनाई। उसके प्रमाण को अंगुलों से नापते हुए गायत्री का पाठ करने लगा। पाठ करते-करते जितने गायत्री के अक्षर थे, उतने अंगुलों (२४) की ही अरणि बनी। उससे अग्नि मन्थन करके, वेद के अनुसार तीनों अग्नियों का होम किया, और उर्वशी सालोक्य फल का निर्देश किया। उसी विधि से बहुत से यज्ञों को करके गन्धर्वलोकों को पाया, उर्वशी के साथ वियोग नहीं पाया। पहले एक ही अग्नि था; ऐल (पुरूरवा) ने इस मन्वन्तर में त्रेता (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय) चलाई।

२. भागवत ९. १४

उससे इला में उदाहृत पुरूरवा का जन्म। हुआ इन्द्र के भवन में नारद के द्वारा जिसके रूप, गुण, उदारता, शील, धन, पराक्रम आदि का गान सुनकर काम पीड़ित हो उर्वशी उसके पास आई। मित्रावरुण के शाप से मनुष्यलोकता को पा, कामदेव के सदृश सुन्दर उस पुरुषश्रेष्ठ को जान, धैर्य धारण करके, उसके पास उपस्थित हुई। वह नरपति उसे देखकर रोमांचित हो, हर्ष से नेत्र प्रसन्न करके, मीठी वाणी से बोले—"हे सुन्दरि ! तुम्हारा स्वागत है; बैठो, क्या करें ? मेरे साथ अनन्त काल पर्यन्त रमण करो।" "हे सुन्दर ! किस कारण तुममें दृष्टि और मन न लगै ? जो दृष्टि और मन आपसे क्रीड़ा करने की इच्छा से और अंग को पाकर भी लौट जाते हैं। हे राजन् ! मानद ! ये मेरे दो भेडे अमानत रख लो, मैं तुम्हारे साथ रमण करूंगी। स्त्रियों का वर श्लाध्य ही होता है। वीर, घृत ही मेरा भोजन रहे और मैं तुझे नंगा न देखूं।" महामना ने इन सब बातों को वैसे ही मान लिया। "धन्य है तुम्हारा रूप और धन्य है तुम्हारा मनुष्यलोक को मोहनेवाला भाव, कौन मनुष्य स्वयं आई हुई तुझ देवी को न स्वीकार करै !" वह पुरुषश्रेष्ठ, यथावत् रमण करती हुई उसके साथ चैत्ररथादि देवताओं के विहारों में यथावत् विहार करता रहा। कमल केसर की सुगन्धिवाली उस देवी के साथ विहार करता हुआ, उसके मुख के आमोद से चुराया जाकर बहुत से अहर्गणों तक आनन्द करता रहा। इन्द्र ने उर्वशी को न देखते हुए गन्धर्वों को प्रेरणा की कि "उर्वशी से रहित राजधानी मुझको शोभा

नहीं देती।" वे रात्रि को बड़े अंधियारे में आ, पत्नी उर्वशी के राजा के पास रक्खे हुए भेडों को चुरा ले चले। देवी ले जाए जाते पुत्रों का चिल्लाना सुनकर बोली—"नपुंसक और अपने को वीर माननेवाले दुष्ट स्वामी ने मुझे मार डाला। जो पुरुष होकर भी, दिन में स्त्रियों की तरह रात को निश्चिन्त सोता है और जिसके विश्वास से मैं नष्ट हुई और चोरों ने मेरे पुत्र चुरा लिए।" जैसे हाथी अंकुश से, वैसे इन वाक्य-बाणों से बिद्ध होकर राजा बिना वस्त्र ही क्रोध में रात्रि को खड्ग लेकर दौड़े। गन्धर्व भेडों को वहां छोड़कर बिजलियां चमकाने लगे। मेषों को लेकर आते हुए अपने पति को उर्वशी ने नंगा देखा (और अदृश्य हो गई)। ऐल भी शयन में पत्नी को न देखकर विकल और उदास हो, उसी में मन लगा, पागल की तरह भूमि में घूमने लगा। कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी में उसे और उसकी प्रसन्नमुख पांच सखियों को देखकर पुरूरवा सूक्त को बोला—"हे घोर पत्नि! ठहर-ठहर। मुझे छोड़ना ठीक नहीं। आज भी सन्तुष्ट न हो करके बातें करें। देवि! इस देह को तूने बहुत दूर घसीटा है, यह नहीं गिरता है; यह तेरे प्रसाद का पात्र नहीं होता तो इसे भेड़िये और गीध खाते हैं।" "तू पुरुष है, मत मर, ये वृक भी तुझे न खायें, स्त्रियों से कहीं भी मित्रता नहीं होती। जैसे भेड़ियों के हृदयों से। स्त्रियें बिना दया के, क्रूर, असहिष्णु और साहस को चाहनेवाली होती हैं। थोड़ी-सी बात के लिए विश्वस्त पति और भ्राता को भी मार डालती हैं। मूर्खों में झूंठा विश्वास बनाकर, मित्रता छोड़, नए-नए को चाहती हुई स्वच्छन्द पुंश्चलियां बन जाती हैं। ईश्वर! वर्ष के अन्त में आप मेरे साथ एक रात्रि रहोगे और आपके और भी पुत्र होंगे।" देवी को गर्भिणी जानकर वह अपने नगर को लौट गया और वर्ष के अन्त में वहां जा, उर्वशी को वीरमाता पाकर प्रसन्न हुआ। रात्रि को उसके साथ बिताया। घबराए हुए, विरह से पीड़ित राजा को उर्वशी बोली—"इन गन्धर्वों से मांगो, ये मुझे तुमको दे देंगे, हे राजन्!" उसकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर उनने अग्निस्थाली दी। उसे उर्वशी मानता हुआ वह चलता-चलता वन में जागा। स्थाली को वन में छोड़कर घर को जाकर रात को ध्यान करते हुए त्रेतायुग आ जाने से उसके मन में फिर त्रयी (अग्नि) आयी। स्थाली छोड़ आने की जगह पर जाकर वहां शमीगर्भ अश्वत्थ को देखकर राजा ने उससे दो अरणि बना, उर्वशी लोक की कामना से उर्वशी का मन्त्ररूप से ध्यान करते हुए (याग किया)। उस अरणि के मन्थन से जात-वेदा जो अग्नि उत्पन्न हुआ, उसे तीन बार राजा ने त्रयी विद्या से अपने पुत्रपने में कल्पित किया। उर्वशी लोक को चाहते हुए, राजा ने उस अग्नि से सर्वदेवमय विष्णु भगवान् का याग किया। पूर्वकाल में एक ही वेद था। सर्ववाङ्मय एक ही ओंकार था, एक देव नारायण, एक अग्नि और एक वर्ण था। हे राजन्!

त्रेता के आदि में पुरूरवा को ही त्रयी हुई। अग्नि की कृपा से सन्तान होने से (अथवा अग्नि के पुत्र रूप होने से) राजा गन्धर्व-लोक को पहुँच गए।

३. मत्स्य पुराण, अध्याय २४

बुध ने इला के उदर में धर्मात्मा पुत्र जना, जिसने अपने तेज से एक सौ एक अश्वमेध किये। पुरूरवा यह उसका नाम था और वह सर्वलोक-नमस्कृत था। वह महाराज रोज-रोज इन्द्र से मिलने को जाया करता था। कभी सूर्य के साथ दक्षिण-आकाशगामी रथ पर आरूढ़ हो, उसने केशी नामक दैत्यराज से ले जाई जाती चित्रलेखा उर्वशी को देखा। यश चाहनेवाले बहुत अस्त्रों को लिए हुए बुधपुत्र ने वायव्यास्त्र चलाकर उसे युद्ध में जीतकर, इन्द्र को भी इसने (केशी ने ?) यों ही युद्ध में जीता था, इससे देवताओं से मित्रता कर ली और उर्वशी इन्द्र को दे दी। तब से लेकर इन्द्र मित्र हो गया। भरत ने लक्ष्मी स्वयंवर प्रवृत्त किया जिसमें मेनका, उर्वशी, और रम्भा को नाचने की आज्ञा दी। उसमें उर्वशी लक्ष्मी बनकर लय के साथ नाच रही थी। नाचती-नाचती, पुरूरवा को देख कामपीड़ित हो भरत के बताए हुए सम्पूर्ण अभिनय को भूल गई। भरत ने क्रोध से शाप दिया कि इसके वियोग से भूतल में तू पचपन वर्ष लता रहेगी और पुरूरवा पिशाच वहीं तेरा अनुभव करेगा। तब चिरकाल तक जाकर उर्वशी ने उसे पति बनाया, और भरत के शाप के अन्त में बुध के पुत्र से उसने आठ पुत्र जने, जिनके नाम सुनो—आयु, दृढ़ायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, शुचिविद्य और शतायु—इन सब ही के बल और ओज दिव्य थे।

४. हरिवंश, १०।२६—

हे प्रजापति तात ! प्रजापति मनु ने पुत्रकाम होकर मित्रावरुणों की इष्टि की। जब मुनि ने मित्रावरुणों के अंश में आहुति दी, तब दिव्य वस्त्र और अलंकरणों वाली दिव्य इला उत्पन्न हुई। दण्डधर मनु ने उसका 'इला' नाम कहा और कहा कि तू मेरा अनुगमन कर। इला ने उत्तर दिया कि 'हे वक्ता ! मैं मित्रावरुणों के अंश में उत्पन्न हुई हूं, उन्हीं का अनुगमन करूंगी, हत धर्म मुझे न मारे (इससे मैं तुम्हारे साथ नहीं जाती)।' मनु देव को यों कह मित्रा-वरुणों के पास जा, हाथ जोड़ इला रमणी यों बोली—"देवो ! मैं तुम्हारे अंश में हुई हूँ। बोलो, क्या करूं ? मनु ने मुझे कहा था कि मेरा अनुगमन कर।" उस धर्मपरायणा, साध्वी इला को यों कहते समय मित्रावरुणों ने जो कहा सो सुन—"महाभागे ! तू हमारी कन्या कहलावेगी और तू ही मनु का वंशधर पुत्र होगी। तीनों लोकों में प्रसिद्ध सुद्युम्न तेरा नाम होगा।" यह सुनकर वह पिता (मनु) के

पास लौट चली । रास्ते में बुध ने उसका मैथुन के लिए आह्वान किया और सोमपुत्र बुध से उसमें पुरूरवा उत्पन्न हुआ ।···महाराज ! बुध का पुत्र पुरूरवा विद्वान्, तेजस्वी, दानी, यागी, दक्षिणा देनेवाला था । उस ब्रह्मवादी, क्षान्त, धर्मज्ञ, सत्यवादी को मान छोड़ यशस्विनी उर्वशी ने वरा । राजा उसके साथ १०,५,५,६,७,८,१०,८ वर्ष रहा । विशाल अलका में वनोत्तम नन्दन में, मनोरथ के अनुसार फल देनेवाले उत्तरकुरुओं में, गन्धमादन की तलहटी में, मेरु के उत्तर पृष्ठ में, देवताओं से बसे हुए इन मुख्य वनों में वह उर्वशी के साथ परम हर्ष से निवास करता था । महर्षियों से स्तुत पुण्यतम देश प्रयाग में उसने अपना राज्य बनाया । देवसुतों के समान, स्वर्ग में उत्पन्न, महात्मा सात पुत्र उसके हुए—आयु, धीमान्, अमावसु, विश्वायु, धर्मात्मा, श्रुतायु, दृढायु, वनायु, शतायु । ये उर्वशी के पुत्र थे । इसके पीछे कथा वैसे ही ठीक-ठीक चली है जैसे 'विष्णुपुराण' में । विशेष इतना ही है कि गंगाजी के उत्तर तीर में प्रयाग में प्रतिष्ठानपुर में उसने राजधानी बनाई ।

५. **वायु पुराण** में ये कथा **हरिवंश** के शब्दों में ही वर्णित है, केवल **कलाप** ग्राम में राजा की यात्रा, उत्तर **यामुन** तीर में राजधानी और सात के स्थान में छः पुत्रों का उल्लेख है ।

६. **देवी भागवत** में **भागवत** की ही कथा का सार है ।

प्रथम प्रस्ताव[1] में विक्रमोर्वशी के वैदिक मूल दिखाए गए थे और दूसरे में

१. **टिप्पणी** :

प्रथम प्रस्ताव में वैदिक और प्रायोवैदिक ग्रंथों से उर्वशी की कथा को खोलने का यत्न किया गया था। बड़े खेद का विषय है कि हिंदी सामयिक पत्रों के कर्ताओं ने उस पर कुछ भी न लिखा । इससे यह अभिमान करना कि वह प्रबन्ध निर्दोष था, मेरी धृष्टता होगी, परन्तु यह अनुमान करना आवश्यक होगा कि हिन्दी साहित्यज्ञों ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया। अपनी तरफ से वेद के कठिन अर्थों को समझाने में जो टका भर यत्न किया था, और 'शतपथ' का जो मूलानुसारी अनुवाद किया था उसपर वर्धक या कर्तक सम्मति पाने की मेरी बड़ी इच्छा थी । और वह इच्छा उन लोगों से थी, जो काशी से प्रकाशित रमेशचंद्र दत्तीय भारतवर्ष के इतिहास के अनुवाद का समर्पण लिखने वालों की भाषा में —"इसमें लिखी बातों के समझने के उपयुक्त पात्र हैं ।"

प्रयाग के धार्मिक मासिक पत्र 'राघवेंद्र' ने आश्विन, १९६२ के अंक के ५५ वें पृष्ठ में लिखा है—"विक्रमोर्वशी की मूल कथा में लेखक महाशय ने कलकत्ते के The Arya Mission Institution को भी मात कर दिया है ।" इस संक्षिप्त समीक्षा का अर्थ मैं नहीं समझा । यदि लेखक का अभिप्राय यह है कि किसी बंगाली के गवेषणा के परिश्रम को मैं बिना नाम-धाम दिए अपना रहा हूं, तो यह कहना अलं होगा कि

पौराणिक मूल बताए गए हैं। काश्मीरिक सोमदेव भट्ट कृत 'कथासरित्सागर' में भी पुरूरवा और उर्वशी की कथा है। यह पार्वती के प्रणय-मन्दरान्दोलन से निकला हरमुखाम्बुधि का कथामृत चाहे और कई कवियों और नाटकों का जन्मदाता हुआ हो, परन्तु सोमदेव भट्ट के कालिदास के बहुत पीछे होने से, कालिदासीय कथा सोमदेवीय कथा से कुछ नहीं ले सकी है, यह कहना अयुक्त न होगा। सम्भव है, यदि कालिदास पंचम शताब्दी में ही हुए हों तो, 'कथा-सारित्सागर' की मूलभित्ति **गुणाढ्य** की 'बृहत्कथा' और उससे पहले की भूत-भाषामयी पैशाची बृहत्कथा ने कालिदास को कुछ ऋणी बनाया हो। यों तो जितने पुराणों के वाक्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनमें से कई एक को भी आधुनिक ऐतिहासिक कालिदास से प्राचीन न मानेंगे, परन्तु पुराणों में किस प्रकारकी कथा चली आई है और वास्तव वैदिक रूप इस कथा का क्या था, यह दिखाने के लिए ऐतिहासिक विचार पीछे डाल दिए गए हैं। अब आगामी प्रस्ताव में कालिदास की कथा का सार देकर किस-किस वैदिक या पौराणिक कथा से उसका स्वारस्य और वैरस्य है और वह कवि ने किस अभिप्राय से किया है, इसका यथाज्ञान अनुसन्धान करने का विचार है। परमेश्वर चाहेगा तो वह प्रस्ताव अवकाश मिलने पर पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाएगा।[1]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

'बंगला भाषा के भंडार' को 'नाच कूद का सार' बिना बनाए हिन्दी में कुछ लिखना असंभव नहीं है। और यदि कुछ धार्मिक कटाक्ष है तो, लेखक क्षमा करें, अनर्थक वेद पढ़ने या सुनने से, चाहे उसे शलाटु और नीरस पत्ते न भी कहा जाय, सार्थ वेद को जानने का यत्न करना अधिक पुण्यकारक है, और वैसा करने वाले को धर्मच्युत कहने का इशारा करना भी संकीर्ण कलुषता है।

१. लगता है, गुलेरी जी इस लेख को आगे बढा नहीं पाए। इस प्रसंग पर उनका और कुछ लिखा नहीं मिलता। —सम्पा०

निबन्ध | लेख

काशी

आर्यधर्म में, हिन्दू-सभ्यता में और भारतवर्षीय विद्या में, जो कुछ दृढ़, दुर्भेद्य और सारभूत है, वह 'काशी' इन दो मधुर अक्षरों में आ जाता है। घर के कुतर्की और बाहर के विधर्मियों से वैदिक धर्म का लोप क्यों नहीं हो गया, कभी-कभी जीवन-संग्राम में अनुपयुक्त होने पर भी क्यों नहीं यहां की सभ्यता नामावशेष हो गई, उपेक्षा अज्ञान और आडम्बर के होते हुए भी प्राचीन अपरा और परा विद्या क्यों नहीं संसार से उठ गई,—'इन प्रश्नों का 'काशी' यही पूरा उत्तर है। काशी ! तेरे शीतल प्रभाव में देशभर का धर्म विषयक अनुताप हटता रहा है, तेरे आप्यायनकारी प्रकाश में चारों दिशाओं का अज्ञानान्धकार मिटता रहा है, तेरे अनुकरणीय उदाहरण में आर्यसमाज अपना सांग भरता रहा है।

काशी ! तू नित्य है, तू दुर्घर्ष है, तू अजेय है ! तू सदा के लिए हिन्दू-धर्म, सभ्यता और विद्या का केन्द्र है। जब डैमस्कस में झौंपड़ भी न थे, जब मिस्र के पिरैमिडों की जगह नील नदी का बालू-ही-बालू था, जब बैक्टीरिया के कुम्हारों ने अपने शराकृति लेखों के पुस्तक न पकाए थे, तब तू थी और तब तू पूजित थी ! 'तस्य भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्य' उपदेश, 'देवानां पिय दस्सी' राजा अशोक की धर्म-लिपियां, भगवान् शंकराचार्य का अद्वैत, तुग़लकों की ज़ज़िया, वीर बुक्क का वेदार्थ प्रकाशन, और चेतसिंह का कारावास—सभी तेरी गोद में खेल चुके हैं ! जो काशी बौद्ध और जैन नीति को चुलुकित कर गई, जो मुसलमानों के दुराग्रह को बिना डकार निगल गई, जिस में महाराष्ट्रों का चौथ का ऐश्वर्य और सिक्खों की फतह, घाट और सोने की चादर बनकर, आ चढ़े, जिसमें पण्डितों को कृस्तान बनाने का डाक्टर बालंटाइन का हठ कीन्स कालेज की उन्नति में परिणत हो गया, जो एनीबेसेन्ट से भी एक उत्तम कालेज ले बैठी और

जो रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज से भी नागरीप्रचार करा रही है, वह काशी धन्य है ! भगवती वाराणसि ! तेरी सीमा के बाहर समय और विवर्त और परिणाम टक्करें मार जावें, तेरी जादू की जमीन में वहीं मर्त्य में अमर्त्य की सदाबहार है। गंगाजी के किनारे-किनारे, हिन्दी के प्रधान कवि तुलसिदासजी का घाट, पुरैतिहासिक दस अश्वमेधों का घाट, दैवज्ञशिरोमणि सवाई जयसिंह के यन्त्रों के नीचे काबुलविजयी राजा मान का मानघाट, भक्त यवन का मीरघाट, विष्णु भगवान् का मणिकर्णिका घाट और महास्मशान, सैंधिया के और शिवाजी महाराज के वंशधर भौंसलाओं के घाट, दोनो भुजाएं उठाकर विजेताओं की प्रबलता और हारे हुओं की मर्मकातरता दिखाने वाली काशी की अधिदेवी के समान ऊंचे मीनारों वाली मस्जिद के नीचे बिन्दुमाधव घाट,—कितने इतिहासों का दृश्य है, कितने परिवर्तनों का तमाशा है, कितनी भावनाओं को जगाने वाला चित्र है !

यहां नंगे पैर चलना फैशन के डर से भाग नहीं गया है। वही चिल्ले के जाड़े में तड़के जागना, वही कमण्डलु लिए और राजकम्बल ओढ़े गंगातीर जाना, गुरुचरणों की धूलि से पवित्र वही एकान्त घाट, वही भगवती गंगा का पावन मज्जन, वही साधारणतया तीर में संध्यावंदन, वही गीली धोती लेकर स्नानार्थियों और बलीबर्दों से बचते हुए भगवान् विश्वनाथ के यहां जल चढ़ाने जाना, पुष्प लोभी बैलों से बचते हुए प्रेम के मधुर धक्के खाना, 'दर्शनं दैवदेवस्य-स्पर्शनं पापनाशनं', वही परिक्रमा, वही सभामण्डपेश्वर, वही भगवती अन्नपूर्णा के यहां गोमय का कर्दम, वही बंगाली चण्डीपाठ और तैलंग दुर्गापाठ का सम्मिलित स्वर, वही ढुंडिराज, वही ज्ञानवापी, वही भैरव—चाहे यहां विद्यार्थी बनकर आवें चाहे दर्शक बनकर। काशी ! तू तो सदा वैसे ही मन्दस्तिमित कृपाकटाक्ष से सब को देखती है। तेरे में हिन्दुओं की और भारतवर्ष की एकता का वास है। एक तेरे में देश-देश के विद्यार्थियों का समूह है जो मिलकर, बंगालियों और तैलंगों, मद्रासियों और काश्मीरियों में सख्य पैदा करता है। अध्यापकों, सत्रों और संगति का प्रबन्ध ठीक न होने से चाहे विद्यार्थी यहां आकर 'बनारसी' पने का ही पास हासिल करें, परन्तु सामग्री प्रचुर है और यदि धर्म मानकर, भिक्षा मांगकर, अर्थकर विद्याओं को छोड़कर 'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते' पर बीसों वर्ष बिताने वाले इस दल को जातीयभाव से अनुप्राणित कर दिया जावे तो ? एक तेरे में धर्मपरायण कल्पवासार्थ आगता विधवाओं का दल है जो प्रातःकाल से सायंकाल और सायंकाल से प्रातःकाल जल चढ़ाने और जप में लगी रहने पर भी देश-देशान्तर की समानशीलव्यसनास्त्रियों को धर्म की बहन बनाकर जातीयता का मार्ग खोल रही हैं। यदि उन्हें समझा दिया जाय कि कल्प-

वास का पुण्य और दुरितक्षय न केवल मन्दिर-मन्दिर भटकने में है, प्रत्युत बालिकाओं और बालकों के रोगनिवारण और विद्यादान में दया की भगिनी बनने में भी है, तो? एक तेरे में दान का वह क्रम विद्यमान है जो चारों दिशाओं के पुण्यार्थ दिए हुए धन को बिना भेदभाव के धार्मिक भारतवासी मात्र में सत्रादिरूप से वाँटता है। यदि वह वृथापुष्टों और कलहप्रियों को न दिया जाकर आलस्य का बंधक न बनै, पात्रों की तरफ लगाया जाकर देश का बल बढ़ा सकै तो? एक तेरे में विद्वानों का वह समूह है जो प्राचीन शास्त्रों की पावनी त्रिपथगा में अपने मैथिलत्व दाक्षिणात्यत्व, व पंजाबीपने को धो, 'शास्त्री' बनकर, देशकाल-पात्र की परवाह न करके, प्रकारता की कुक्षि में प्रविष्ट विशेषता की नब्ज सम्हाला करता है और खाने-पीने की सुधि तक भूलकर वेद से लेकर अर्वाचीन परिष्कारों तक की मूर्ति में शब्दब्रह्म और भगवती वीणापाणि की आराधना करता है। यदि इस समूह को, समयानुसार, मुँह फाड़कर देश का अहित चाहने वाली आपत्तियां और आवश्यकताएं समझा दी जायं, यदि वह दल नियत काम करके यूरोपीय पण्डितों के वेदों में टक्कर मारने के स्थान पर उचित गवेषणा चला दे, यदि जो शक्ति अवच्छेद का प्रकारता की चक्की में या फर्माइशी व्यवस्थाएं गढ़ने में वृतरूप से पर्यवसान पाती है वही सरलरेखा में चलाकर पहाड़ फोड़ सकने वाली वन सकै तो? बस, फिर क्या है, देश के भाग न जाग जायं!

परन्तु काशी! तेरे में बड़ी भारी एकदेशिता है, यह विद्या और धर्म का स्रोत तेरे में अखण्ड होने पर भी खण्डित है, नित्य होकर भी नश्वर है। बंगाल और मिथिला में ऐसे बहुत से पण्डित कुटुम्ब मिलेंगे जो पन्द्रह-बीस पीढ़ियों से, परम्परा से शास्त्रों के पारदृश्वा विद्वान होते आए हैं। काशी की प्राचीनता से यदि हम यह नहीं पूछ सकते कि गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने वाले पण्डित तो बता, तो नहीं सही, परन्तु यहां एक वंश में दो पीढ़ी भी पण्डितों की नहीं मिलती। यहाँ पढ़कर कोई पण्डित हुआ, वह या तो कहीं राजाश्रय में चला गया और या कोई पण्डित राजाश्रय पाकर पढ़ने-पढ़ाने में दिन बिताने यहां पर आया। बस। यहां पर 'पण्डितपुत्र' मूर्खवाचक गाली है। फिर नये पण्डित हुए, फिर चले गये। इतने पण्डित-मण्डल में एक विद्वान की भी स्त्री विदुषी नहीं जो मण्डन मिश्र की सरस्वती की उपमा नहीं तो छाया तो बनै! यही नहीं, पण्डितों का जीवन कर्कशा और अननुरूपा अर्धांगियों के क्लेश से दुःखमय रहता है!

परन्तु काशी! आज तेरे में विलक्षण भीड़ है। बंगाली विश्वनाथ की पुरी में अनाथ की तरह चिल्लाने आये हैं। अन्नपूर्णा की पुरी में अन्न के अभाव को मिटाने के उपाय सोचे जा रहे हैं। ढुण्ढिराज के पड़ोस में आपत्तियों से बचने का

उपाय ढूंढ़ा जाता है। पंचक्रोशी के भीतर पंच कोसे जाते हैं। बनारस में रस बना रखने के लिए प्रदर्शिनी लगती है। काशी में धर्म करवट ले रहा है जिस में उसका कुसंशोधन कुरीति दोष मिटकर सुरीति पुनर्जन्म हो। सभा मण्डपेश्वर के सामने बीसों सभाओं के मण्डप बने हैं। भगवति! क्या ये आशाएं पूरी होंगी? **काशी-मरणान्मुक्तिः**' क्या आज से भारत के सब दुःखों की मुक्ति मान लें? दुर्गे! क्या हमने सब दुर्ग जीत लिए? अन्नपूर्णे! क्या हमारे लिए सदापूर्ण बनोगी? ज्ञान-वापी! क्या हमारे लिए तेरा जल सुधामधुर होगा, पत्रकलुषित नहीं? गंगे! क्या हम निम्नाभिमुख गति को बदलेंगे? धर्मकूप! क्या हम कूपपतन के लायक नहीं रहेंगे? भैरव! क्या आज से हम शत्रुओं के लिए भैरव बन जायेंगे? सारनाथ! क्या हम में कुछ सार होगा? पिशाचमोचन! क्या कुरीतिपिशाचों से मुक्त होंगे? भागीरथि! सुरधुनि!! क्या हमारी गृहलक्ष्मियां तुम्हारी तरह जगत्पावन होंगी? और हे प्राचीन और अर्वाचीन को मिलानेवाली काशी! सदा नित्य वाराणसी! क्या हम तेरी तरह स्थायी, नित्य, दुर्धर्ष और पूजनीय बनेंगे? क्या हमारा स्त्रियों की जड़ता का अर्धांग और समयानुसार प्रतीकार न सोचने की हृदयशून्यता 'औषधं जाह्नवीतोयं' से न हटेंगे? [अपूर्ण]

[प्रथम प्रकाशनः **समालोचकः** जनवरी-मार्चः १९०६ ई०]

जय जमुना मैया की

आज मुझे बड़े हर्ष का समय है। नए ढंग के लोग कितनी ही औंधी-सीधी बातें करें 'श्री बेङ्कटेश्वर समाचार' के सम्पादक ऐसे चिकने घड़े हैं कि अंग्रेज़ी वालों की युक्ति की बरसात उन्हें सूखे का सूखा छोड़ जाती है। भला, यह क्या कम हिम्मत की बात है कि युक्तियों को ठुकरा देना और धर्म को शास्त्रमूलक और अन्धविश्वासमूलक मानना? यह क्या कम पण्डिताई है कि इस युग में भी बिलायत यात्रा को बारम्बार पाप कहते रहना? जहां नए समझदारों ने पुरानों को कुछ कहा कि उन पर, उनके फैशन और बकवाद पर टूट पड़ना क्या कम बहादुरी है? जो नया सिद्धान्त उसने कहा है, जिसे मैं हर्ष के मारे अभी नहीं कहता, उसका सूत्रण करना क्या दैवीशक्ति के बिना सम्भव है? धन्य! त्रिवार धन्य!! आप ही हमारे ठहरे हुए और ठहरनेवाले भारतवर्ष के लङ्गर हैं आपके बिना यह देश, आगे बढ़ ही जाता और इसका कहीं पता भी न लगता।

धर्म सारे मन का सर्वोच्च भाव है। मन के एक अंश का उस पर इजारा नहीं है। भाव, ज्ञान, और संकल्प तीनों उस में लगने चाहिए। बिना ज्ञान के भाव नहीं लगता, और न संकल्प ही अधीनता स्वीकार करता है। हम 'सप्त-शृंगवृषभ' में प्रेम नहीं करते, और न उसके अधीन अपने संकल्प को करते हैं, क्योंकि हम उसे जान नहीं सकते। वृहस्पति का बचन है कि "केवल शास्त्र को मानकर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि युक्तिहीन विचार से धर्महानि होती है।" प्राचीन आचार्य भी वेदशास्त्रविरोधी तर्क को मानते हैं। किन्तु ऐसे प्रकाण्ड से यह कब सहा जाय? यहां तो अटकलवालों के विरुद्ध जेहाद है, और ज्ञान (knowing) को कोश में से निकालने का यत्न है। नहीं तो डिपटीक्लेक्टर मिश्र को 'रोर' का 'घोर' फल क्यों, और मीमांसा के एक technical

शास्त्रार्थ की इतनी खुशी क्यों ? स्मरण रहे, केवल शास्त्रमूलक धर्म वाह्यधर्म external sanction of morality है, और उसमें परस्पर विरोध, अपवाद, नई व्यवस्थाएं इन सबकी ठीक व्यवस्था जो युक्तिवाद से करते हैं, वे सम्पादक को नापसन्द हैं। गत वर्ष के धर्मकार्य की आलोचना में आप फर्माते हैं कि "पण्डितों की सभा में सिद्ध हुआ कि धर्म शास्त्रगम्य है।" धन्य ! बीसवीं शताब्दी का चौथा इसी के इन्तिज़ार में बैठा था ! हम पूछते हैं—धर्म में अक्ल की गुंजाइश नहीं, यह क्या आज सिद्ध हुआ है ? शंकराचार्य जी ने मन्दिर पर सोने का कलश चढ़ाया ! अब पृथ्वी अपनी धुरी पर जल्दी चलने लगेगी ! ! विलायत-यात्रा अब **विवाद** के विषयों में से उठकर **काम** की श्रेणी में आ गई है, अब प्रश्न यह नहीं है कि विलायत-यात्रा की जाय, या न की जाय, किन्तु यह है कि कितनी अधिक की जाय, किन्तु सम्पादकजी अभी इसे 'पाप' कहे चले जाते हैं। और जहां नयों ने कुछ कहा कि तुम सुस्त ! तुम फुज़ूल खर्च ! तुम बकवादी ! बाबा ! हम बुड्ढों से तो वे अच्छे हैं कि अपने दोषों को पहचानते तो हैं, और हमारी तरह टर्र में गोबरिया गणेश नहीं बनते ! अच्छा भाई नयो ! हमारे भाग्य ही ऐसे हैं। तुम्हें यदि गालियें न सुननी हैं तो हमें हमारे दिग्विजयी सम्पादक के हवाले छोड़ जाओ ! जब हमें ऐसे बज्र का सहारा है तो किसका भय है ?

किन्तु सबसे काम की बात एक और ही है। अभागे अहमदाबादी पेपर ने लिख मारा था कि जाति भोजन से रुपया बचाकर स्कूल में लगाया जाय ! संसार में छोटी बात से बड़ी-बड़ी बातें हो जाती हैं। व्याध के क्रौञ्च पक्षी को मारने से **रामायण** बन गया। वैसे ही इस छोटी बात से एक अखण्डनीय, अपूर्व और उदार सिद्धान्त निकला है, जिसके निकलने से सम्पादक का और भारतवर्ष का गौरव हो गया है। वह यह है कि "**जातीय भोजन जातीय एकता के मूल है।**" वाह ! बीसवीं शताब्दी में जातीयता का यह सिद्धान्त भारतवर्ष के एक प्रवीण सम्पादक ने निकाला, तो कहो तो, यह भूमि रत्नगर्भा है कि नहीं। कांग्रेस ने मूर्खता की। प्रति वर्ष चन्दा बटोरकर ब्रह्मभोज कर दिया करै। मुझे तो सुख-स्वप्न दीखता है कि एक दिन मथुरा के कलक्टर और युक्तप्रान्त के शिक्षा-विभागाध्यक्ष मथुरा के स्कूल को तोड़कर, घाटों पर खीर बहा देंगे और हम पशुओं की तरह उसे पीएंगे ! सरकार पांच लाख रुपया यूनिवर्सिटियों को न दे, किन्तु दक्षिणियों की कढ़ी और नागरों की इमली की सबीलें लगवा दे। क्यों सिख लोग बीस लाख रुपया बरबाद करते हैं ? एक दिन 'कड़ाह प्रसाद' खाकर 'वाह गुरुजी की फतह' कह डालें। व्यर्थ ही मारवाड़ी चन्दा मांगते फिरते हैं। राजपूताना के किसी गन्दे शहर की गलियों में ब्राह्मणों को बिठाकर लड्डू स्वाहा कर डालें !

हो जाय, एक दफ़े तो, घी की नहरें बह जायं ! टाटा को भी तार दिया जाय कि वे वृथा रुपया न नष्ट करके लड्डू तुड़वावें, और एक टोकरा हमारे दिग्गज सम्पादक के पास भेज दें।

सुनते हैं, जयपुर में इतने हेड़े होते हैं कि उनके वर्ष भर के खर्च से एक ऐसा कालेज चल सकता है जिसे विश्वविद्यालय के नये नियम नहीं डरा सकते। महाराज जयपुर को चाहिए कि अपने कालिजों को भी हेड़ों के अधीन कर दें—

जै जमुना मैया की ! आओ लड्डू ! हाय पेट !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

सोऽहम्

'सोऽहम्' वह मैं हूं—यह बात भारतवर्ष के हिन्दू के सिवाय और कोई नहीं कहता। इसी बात के कहने से हिन्दू, हिन्दू है, इसी में हिन्दू का हिन्दूत्व है, हिन्दू का हिन्दूधर्म है। 'सोऽहम्' हिन्दू का लक्षण है, हिन्दूत्व का लक्षण है, हिन्दूधर्म का लक्षण है।

बात क्या है ? सो समझ लेनी चाहिए।

ब्रह्म और ब्रह्माण्ड, सृष्टिकर्ता और सृष्टि इन दोनों में क्या भेद है ? क्या सम्बन्ध है? इस विषय में प्रधानतः दो ही मत हैं। एक मत तो यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म, सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि एक ही पदार्थ हैं अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड का उपादान है, सृष्टिकर्त्ता ही सृष्टि का उपादान है। उपादान किसे कहते हैं ? जिसके द्वारा कोई वस्तु निर्मित हो वही उस वस्तु का उपादान है। जैसे—मृत्तिका घट का उपादान। अतएव इस मत के अनुसार ब्रह्म जो पदार्थ है, ब्रह्माण्ड भी उसी पदार्थ से बना है। ब्रह्माण्ड ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इस मत के बारे में यही प्रधान बात है; इस प्रबन्ध में जो और अवान्तर बातें कहना आवश्यक होंगी; आगे कही जावेंगी। दूसरा मत यह है कि ब्रह्म ब्रह्माण्ड से, सृष्टिकर्त्ता सृष्टि से बिलकुल पृथक् है। सृष्टि के पहले सृष्टि का उपादन कुछ भी न था। सृष्टिकाल में सृष्टिकर्त्ता ने अपनी असीम शक्ति से न मालूस कैसे जगत् बना दिया। सृष्टिकर्त्ता स्वयं जो वस्तु है, सृष्ट जगत् वह वस्तु नहीं है; उस वस्तु से बिलकुल पृथक् और भिन्न प्रकृति की चीज़ है। इन दोनों मतों में प्रथम मत हिन्दुओं का है, दूसरा कृस्तान प्रभृति का। यह नहीं कि प्रथम मत भारत से बाहर और कहीं प्रचारित ही नहीं हुआ। बात यह है कि जैसे यह भारत में प्रबल है वैसे और कहीं नहीं। इसलिए यह—'भारत वर्ष के हिन्दुओं का मत'—इस नाम से प्रसिद्ध है।

दोनों मतों में कौन सत्य है ? कौन ग्रहणयोग्य है ? इस मत की दो प्रकार

से मीमांसा हो सकती है और दोनों ही तरह से हिन्दू का मत ही पक्का मालूम होता है।

पहली बात यह है कि जगत् यदि जगदीश्वर से पृथक् है तो फिर जगदीश्वर असीम नहीं हो सकता, उसे ससीम होना पड़ेगा। जहां दो वस्तु हों वहां कोई भी असीम नहीं हो सकती, दोनों ही पदार्थ ससीम हो गए। कृस्तान प्रभृति अपरधर्मावलम्बी यह कहते हैं कि जगदीश्वर जगत् से पृथक् होकर भी जगत् में विराजमान है, अतएव ससीम नहीं है। किन्तु जगत् में सर्वत्र विद्यमान होना और जगत् होना—यह दोनों एक बात नहीं हैं। अतएव जगदीश्वर यदि जगत् में केवल विद्यमान ही है, जगत् नहीं है तो जगत् में जगदीश्वर को छोड़कर कुछ और भी है और उसके होने ही से जगदीश्वर को ससीम होना पड़ा। जहां दो वा उससे अधिक वस्तु हों, वहां सीमाज्ञान अपरिहार्य है। दूसरी बात यह है कि सृष्टि का कोई उपादान नहीं था, इस बात की हम भावना नहीं कर सकते। कोई वस्तु एक बेर कुछ भी नहीं रही हो यह कल्पना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, मनुष्य मन के लिए असाध्य है। मनुष्य इसे सोच नहीं सकता, इसकी धारणा नहीं कर सकता, तो जो कुछ नहीं था, वह अचानक हो पड़ा, यह बात कैसे मन में आवै ? जो इस मत के पक्षपाती हैं वे कहते हैं कि जगदीश्वर की शक्ति असीम है, उसे कुछ भी असाध्य नहीं है; मनुष्य जिस बात को समझ भी नहीं सकता, उसे वह अनायास कर सकता है। अतएव जिस बात की मनुष्य धारणा नहीं कर सकता वह असम्भव वा असत्य हो यह कोई बात नहीं। यह है तो ठीक किन्तु जगदीश्वर के सब कुछ साध्यायत्त है, यों मानकर सब कुछ उसने किया यह कहना कोई बात नहीं। विचार करते ही जो वह सब कुछ कर सकता है यही उसका प्रकृत असीमत्व और अनन्तत्व है। किन्तु असीम और अनन्त मानते हुए उसने सब कुछ किया यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अतएव जिस प्रणाली की सृष्टि को मनुष्य बूझ नहीं सकते उस प्रणाली से जगदीश्वर ने सृष्टि नहीं की—यह कहना जगदीश्वर की असीम शक्ति और उसके अनन्तत्व का अस्वीकार करना नहीं है। यहां विचार्य विषय यह है कि जिस मत के अनुसार सृष्टिक्रिया मनुष्य के लिए दुर्बोध्य है उस मत के अवलम्बन की आवश्यकता है कि नहीं। प्रत्युत्तर में सब ही यों कहते हैं कि सृष्ट जगत् स्रष्टा जगदीश्वर से इतना अधम और निकृष्ट है कि जगत् जगदीश्वर को एक पदार्थ मानने से जगदीश्वर की नितान्त ही अवमानना करनी होती है उसे नितान्त ही अधम मानना पड़ता है। किन्तु जगदीश्वर अधम पदार्थ का सृष्टिकर्त्ता है—यों कहने से जगदीश्वर की क्या उतनी ही अवमानना नहीं की गई, उसे उतना ही अधम नहीं दिखाया गया ? क्या केवल अधम पदार्थ होने ही से अधम होना होता

है, अधम कार्य करने अथवा अधम पदार्थ प्रस्तुत करने से क्या अधस नहीं होना होता ? लोक में खाली दुश्चरित्र होने ही से अधम होता है ? सच्चरित्र होकर भी यदि दुर्नीतिपूर्ण पुस्तक लिखें तो क्या अधम नहीं हुए ? तो जगत् को अपकृष्ट पदार्थ कहकर इसे जगदीश्वर का रूप, विकाश वा विवर्त न कहने से, इसे सृष्ट पदार्थ ही कहने से क्या ईश्वर के मान वा गौरव की रक्षा हो गई ? जो यह कहते हैं उनकी बात हम नहीं समझ सकते; उनका नीतिशास्त्र कैसा है सो वही जानें, उनका मानमर्यादा विषयक संस्कार कैसा है सो वही कह सकते हैं। इस विषय में और जो वक्तव्य है सो आगे चलकर कहेंगे।

परन्तु दोनों मतों में कौन-सा अच्छा है इसकी मीमांसा करने का एक और अच्छा उपाय है। जरा ध्यान लगाकर देखने से जाना जा सकता है कि दोनों मतों में विशेष पार्थक्य नहीं है। जगत् जगदीश्वर का रूप विकाश वा विवर्त है, यों कहने का जो अर्थ है जगत् जगदीश्वर की सृष्टि है यों कहने का भी अर्थ प्रायः वही है। सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता के बीच में क्या सम्बन्ध है यह एक पार्थिव दृष्टान्त द्वारा बहुत कुछ समझा जा सकता है। शेक्सपीयर अथवा शेक्सपीयरत्व एक पदार्थ है। शेक्सपीयर रचित 'हैमलेट' का चरित्राङ्कन और ही पदार्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'हैमलेट' शेक्सपीयर से पृथक् पदार्थ है। हैमलेट का चरित्र जिन सब उपकरणों से बना है, मालूम होता है कि स्वयं शेक्सपीयर के चरित्र में वह सब उपकरण नहीं थे। इस अर्थ में शेक्सपीयर और हैमलेट दो भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु और एक अर्थ में दोनों में बड़ी विभिन्नता नहीं है अर्थात् शेक्सपीयर जो है, हैमलेट भी वही है। हैमलेट के शेक्सपीयर से भिन्न होने पर भी हैमलेट में कुछ ऐसी चीज़ है जो शेक्सपीयर में पाई जाती है और किसी व्यक्ति में नहीं पाई जाती। उस 'कुछ चीज़' का नाम शेक्सपीयरत्व, शेक्सपीयर का सार, शेक्सपीयर की अस्थिमज्जा वा शेक्सपीयर का शेक्सपीयर जो शेक्सपीयर का कोई एक भाव वा कार्यविशेष नहीं है जो शेक्सपीयर के सकल-भाव और सकलकार्यों में है, जिसके गुण से शेक्सपीयर के भाव शेक्सपीयर के भाव हैं, और किसी के या और किसी तरह के भाव नहीं हैं, शेक्सपीयर के कार्य शेक्सपीयर के ही कार्य हैं और किसी के या और किसी तरह के कार्य नहीं हैं, वह 'कुछ चीज़' अर्थात् वह शेक्सपीयरत्व शेक्सपीयर का सार, शेक्सपीयर का अस्थि-मज्जा वा शेक्सपीयर का शेक्सपीयर खाली हैमलेट में ही नहीं है, शेक्सपीयर रचित छोटे-बड़े भले-बुरे सब चरित्रों में है --लीयर में, मिरण्डा में, फालष्टाफ़ में, ओवेरन में, मैकबैथ, मैकडफ़ शाइलाक सब चरित्रों में है। मिल्टन रचित किसी चरित्र में वह शेक्सपीयरत्व नहीं और शेक्सपीयर रचित किसी चरित्र में मिल्टनत्व नहीं।

यों ही सकल मानव सृष्टिकर्त्ता के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है।

एवं इस कथा का अर्थ यह है कि जो जौनसी सृष्टि वा रचना करता है उसमें उसका निज कुछ वा कुछ निजत्व रहता ही रहता है। जिस परिमाण में वह **निज का कुछ** वा **कुछ निजत्व** है, कम से कम उसी परिमाण में मानवसृष्टा और मानवसृष्टि के विषय में कहा जा सकता है कि दोनों एक ही पदार्थ हैं; और मानवसृष्टि वा मानवसृष्टपदार्थ मानवसृष्टा को लक्ष्य करके कह सकते हैं कि **सोऽहम्**। शेक्सपीयर का हैमलेट यदि काल्पनिक सृष्टि न होकर हमारा तुम्हारा-सा सजीव वा सचेतन सृष्टि होता तो तुम-हम जैसे ब्रह्म को लक्ष्य करके कह सकते हैं—**सोऽहम्**। वैसे वह भी शेक्सपीयर को लक्ष्य करके कह सकता था—**सोऽहम्**। कार्य से कारण भिन्न होने पर भी कार्य कारण में रहेगा ही। कृष्टानधर्मावलम्बी यूरोपीय दार्शनिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। अतएव सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता अवश्य है—सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता सम्पूर्णरूपेण पृथक् हो नहीं सकता। सृष्टिकर्त्ता को कम-से-कम सृष्टि का आंशिक उपादान तो करना ही होगा। अन्ततः उसी अंश के सम्बन्ध से सृष्ट पदार्थ सृष्टिकर्त्ता को लक्ष्य करके कह सकता है—**सोऽहम्**। कहने में कोई दोष नहीं, कहना ही कर्त्तव्य है। न कहने से सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व का अस्वीकार करना हुआ। एवं सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व के अस्वीकार ही का मान नास्तिकता है। अतएव कृस्तान प्रभृति द्वैतवादियों के मतानुसार भी ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पृथक् नहीं है। सृष्टिकर्त्ता से सृष्टि पृथक् नहीं है। उस मत के अनुसार भी अस्तित्व एक ही है, दो नहीं, वस्तु एक ही है, दो नहीं। दार्शनिक श्रेष्ठ फेरियर ने कहा है।[1] The only absolute existence is an eternal mind in permanent synthesis with matter. अर्थात् जड़ प्रकृति के साथ अच्छेद्य भाव से संयुक्त एक ही अनन्त चैतन्य की वास्तव सत्ता है और कुछ भी नहीं है। अतएव सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता को भिन्न कहने पर भी, और भिन्न कहकर विवेचना करके युक्ति सिद्ध होने पर यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सृष्टि में जो कुछ है सो सृष्टिकर्त्ता की ओर लक्ष्य करके कह सकता है—सोऽहम्। अतएव विकासवाद और सृष्टिवाद दोनों ही पक्षों में सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का एकत्व निश्चित हुआ।

यहां एक गुरुतर मीमांसा आवश्यक होती है। जो कृस्तान प्रभृति की तरह द्वैतवादी हैं, वे कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में जो भले-बुरे समयविध द्रव्य देखे जाते हैं तो कैसे सब ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहें, कैसे तिक्त और मधुर को एक कहें, सुगन्ध और दुर्गन्ध को एक कहें, दया और निर्दयता को एक कहें ?

इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि जब विकासवाद और सृष्टिवाद दोनों ही में

१. फेरियर—'इंस्टिट्यूट ग्राफ़ मेटाफिज़िक' नामक ग्रंथ देखो।

सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का एकत्व प्रमाणीकृत हो चुका ही है, तो फिर कोई भी ऐसी आपत्ति उठाने में समर्थ नहीं है। द्वितीय और प्रधान उत्तर यह है कि यह सब विभिन्नता प्रकृत विभिन्नता नहीं है— यह सब विभिन्नता मनुष्य की अवस्था विशेष का फल वा उपलब्धि मात्र है। मनुष्य जिस द्रव्य को तिक्त कहकर फेंक देता है कोई पशु उसी द्रव्य को अतिशय मधुर मानकर पेट भरके खाता है। मनुष्य की दृष्टि में जो लाल है किसी एक पक्षी की दृष्टि में वह काला है। स्थूल अवस्था में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के भिन्न-भिन्न आकार और स्वाद रहते हैं। रासायनिक विश्लेषण द्वारा वही द्रव्य सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर एक ही आकार धारण करते हैं और प्रायः एक ही स्वाद देते हैं। स्थूल आकार में एक ही वस्तु स्थूल इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीयमान होती है। यूरोपीय वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि ताप, तडित् और आलोक प्रभृति जो सब स्थूल पदार्थ स्थूल इन्द्रियों के द्वारा इतने न्यारे-न्यारे अनुभूत होते हैं, सूक्ष्माकार में वे सब एक ही पदार्थ हैं। अतएव जो जगत् में विभिन्नता करके जानी जाती है वह प्रकृत विभिन्नता नहीं है —स्थूल इन्द्रिय सम्पन्न स्थूल अवस्था की स्थूल उपलब्धि मात्र है। जो स्थूल इन्द्रियों का शासन अतिक्रम करके स्थूल अवस्था से उन्नत हों सूक्ष्मरूप दर्शन करने में समर्थ हो गए हैं, उनके लिए जगत् में भले-बुरे का भेद नहीं है, प्रकृत विभिन्नता नहीं है। उनके पास तिक्त मधुर का भेद नहीं है, सुन्दर-कुत्सित का भेद नहीं है, पाप-पुण्य का भी प्रभेद नहीं है। जो स्थूल दृष्टि के शासन में रहकर स्थूल दृष्टि से देखते हैं—वही केवल तिक्त, मधुर, पाप, पुण्य प्रभृति विभिन्नता दर्शन करते हैं और वही समस्त विभिन्नता के अधीन होकर नानाविध क्लेश भोग करते हैं और अवनति को प्राप्त होते हैं। यह जो हम जड़ पदार्थ और चैतन्य के बीच में प्रभेद करते हैं यह क्या ठीक है? आधुनिक यूरोपीय विज्ञान कहता है कि जड़ जगत् ही चिन्मय जगत् रूप में फूट पड़ा है, [अर्थात् जड़मय से चिन्मय बना है] हम भी नित्य देखते हैं कि हम जिन सब जड़ द्रव्यों को भक्षण करते हैं वे केवल हमारे जड़ शोणित और जड़ अस्थि की ही वृद्धि नहीं करते हैं किन्तु हमारी चिन्ताशक्ति की भी वृद्धि करते हैं। शुक्रशोणित समुद्भूत सन्तान केवल जड़ नहीं चेतना सम्पन्न भी होते हैं। तो ही हमारे गुरु-तुल्य एक ग्रन्थकर्त्ता लिख गए हैं —"जड़ जगत् चिन्मय है।"[1] अतएव कैसे कहें कि जड़ पदार्थ और चेतन पदार्थ भिन्न पदार्थ हैं? कैसे यह नहीं कहें कि हम स्थूल

१. देखो, स्वर्गीय भूदेवमुख्योपाध्याय सी० आइ०ई० के 'पारिवारिक प्रबन्ध का उत्सर्गपत्र'।
यहां यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारत के सुपुत्र विज्ञानाचार्य अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु ने सुकुमार विज्ञान से जड़ पदार्थों में चेतना पूरी तरह सिद्ध कर दी है। (अनुवादकर्त्ता)

अवस्था में स्थूल इन्द्रियों के शासन में हैं अतएव जड़ का और चैतन्य का एकत्व देख नहीं सकते। कैसे न कहें कि जड़त्व चैतन्य की एक अवस्था मात्र ही है ? कैसे न कहें कि ब्रह्म अथवा स्थूलतः शून्य चैतन्य के लिए जड़ और चैतन्य एक ही पदार्थ हैं ?

किन्तु ब्रह्माण्ड के भीतर प्रकृत विभिन्नता वा वैषम्य न होने पर भी यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि ब्रह्माण्ड की एक स्थूल अवस्था है। ब्रह्माण्ड में प्रकृत विभिन्नता नहीं है ठीक, किन्तु एक प्रकार की विभिन्नता है। यह विभिन्नता स्थूलत्व का फल अथवा स्थूलत्व का अंग वा लक्षण है। अतएव स्वीकार करते हैं कि ब्रह्माण्ड में कुछ स्थूलत्व है। किन्त उसके होते कैसे कहा जाय कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक ही पदार्थ है ? ब्रह्माण्ड में यदि स्थूलत्व रहता है तो ब्रह्माण्ड और ब्रह्म को एक कहने से ब्रह्म को भी स्थूल कहा गया और ब्रह्म स्थूल है यह बात कहने से उसको पापपुण्यरूप विभिन्नता और वैषम्य का विषयीभूत वा अधीन करना हुआ। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्माण्ड का स्थूलत्व ब्रह्माण्ड का नित्य गुण वा नित्य की अवस्था नहीं है—क्षणस्थायी गुण वा अवस्था मात्र है। एवं यह गुण वा अवस्था प्रकृत अस्तित्व ही नहीं – केवल क्षणिक अवस्था की क्षणिक उपलब्धि मात्र है। इस गुण वा अवस्था में प्रकृत अस्तित्व नहीं है, यह सहज ही जाना जा सकता है। मनुष्य को राग, द्वेष, लोभ, मोह, प्रभृति कितनी ही स्थूल प्रवृत्तियां हैं। मनुष्य जितनी देर उन सब स्थूल प्रवृत्तियों के वशीभूत रहता है उतनी देर उसे केवल कुछ क्षणस्थायी एवं विभिन्न भावों का आधार वा रण-क्षेत्र इस नाम से कह कर जानना चाहिए। वह भी उन विभिन्न क्षणस्थायी भावों के अधीन रह कर अपने को प्रति मुहूर्त अलग-अलग भावों में अनुभूत करता है—अपना जो नखशिख सुदृढ़ सुनिश्चित सुस्थिर समतामय अस्तित्व है उसे अनुभव नहीं करता अथवा नहीं कर सकता। स्वच्छ जल में बादल के बाद बादल की छाया पड़ने से जल की जैसी आकृति होती है, वैसे ही उसकी आध्यात्मिक आकृति हो जाती है। किन्तु बादल के बाद बादल की छाया पड़ने से स्वच्छ जल की जो आकृति वा अस्तित्व है वह जैसे स्वच्छ जल की प्रकृत आकृति वा अस्तित्व नहीं है, भिन्न-भिन्न भावों के अधीन हुए मनुष्य की जो आकृति वा अस्तित्व है वह भी वैसे ही मनुष्य की प्रकृत आकृति वा अस्तित्व नहीं है। किन्तु मनुष्य ज्यों ही लोभ, मोह, मात्सर्य प्रभृति स्थूल इन्द्रियमूलक स्थूल प्रवृत्तियों के शासन को उलांघता है त्यों ही वह एक सुदृढ़, सुनिश्चित, सुस्थिर, सुन्दर, सुनिर्मल, समान आकार का धारण झटपट ही कर लेता है।

जगत् में कोई भी उस आकार का परिवर्तन वा विकार नहीं कर सकते। तब

मनुष्य का आकार वा अस्तित्व मेघों की छाया से विमुक्त स्वच्छ जल के आकार वा अस्तित्व के अनुरूप वा समान है। अतएव समझा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में जो स्थूलत्व है वह क्षणस्थायी अवस्था मात्र है प्रकृत अस्तित्व नहीं है। अतएव ब्रह्म के आंशिक मायामय क्षणस्थायी रूप के ब्रह्म से ही अद्भुत वा प्रक्षिप्त होने पर भी ब्रह्म तद्द्वारा दूषित नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म नित्यतामय है।

अतएव अनित्य द्वारा हारने का नहीं, एवं ब्रह्म उसके अधीन नहीं है वही ब्रह्म के अधीन है। इसका कारण यह है कि वह भी ब्रह्म की इच्छा में सम्भूत है—इन्द्रजाल जैसे ऐन्द्रजालिक का इच्छासम्भूत है वैसे यह भी ब्रह्म की इच्छा से सम्भूत है। एवं इन्द्रजाल जैसे ऐन्द्रजालिक के प्रकृत अस्तित्व को स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे वह भी ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता। वह कैसे स्थूल रूप धारण करता है वा स्थूलत्व प्रकाश करता है, यह वही जानता है। किन्तु चाहे जिस कारण से करे, वह जब अपने को लेकर आप ही इस रूप को धारण करता है तब और कोई बात ही नहीं हो सकती। दूसरे के बारे में 'भला-बुरा' काम करना कहा जाता है। अपने को लेकर भला-बुरा काम करने की कोई बात ही नहीं हो सकती। अतएव ब्रह्माण्ड में स्थूलत्व रहने पर भी ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक है इस बात के कहने में कोई दोष हो नहीं सकता। फलतः ब्रह्माण्ड यदि ब्रह्म को लक्ष्य करके कहे—सोऽहं—तो ब्रह्माण्ड सब बातों का सार ही कहता है।

हम में से जिनने हमारे शास्त्र नहीं पढ़े हैं, अंग्रेजी शास्त्र ही अधिक पढ़ा है उनके लिए यहां दो-तीन बातों की मीमांसा करने की चेष्टा करते हैं। उनमें से कुछ-कुछ कहा करते हैं कि यदि ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है तो ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं सब ही ब्रह्म हैं। और ऐसा होने से तुम भी ब्रह्म, मैं भी ब्रह्म, वृक्ष भी ब्रह्म, पत्थर भी ब्रह्म, ईंट भी ब्रह्म—सब ब्रह्म ही ब्रह्म। ऐसा होने से जगदीश्वर एक नहीं हुआ, जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ही जगदीश्वर हैं। किन्तु इसकी अपेक्षा और हास्यास्पद बात हो नहीं सकती। जो ऐसा तर्क करते हैं वह ब्रह्म किसे कहते हैं सो नहीं जानते और सोऽहं क्या है यह भी नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि ब्रह्म एक ही पदार्थ है, विभाज्य नहीं है, एवं ब्रह्म केवल ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। चक्षु या अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अतएव वे जब यह कहते हैं कि जगत् में जितने पदार्थ हैं वे ब्रह्म हैं तब वे इन्द्रियातीत पदार्थों को इन्द्रियप्रत्यक्ष पदार्थों के अवस्थापन्न करते हैं। उनकी और एक भूल है कि जहां प्रकृत संख्या नहीं है वहां संख्या आरोप वा कल्पना की जाती है। जगत् में पदार्थों की संख्या है, स्थूल इन्द्रिय द्वारा जगत् देखते ही ऐसा भ्रम हो जाता है। प्रकृत ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत में भिन्न-भिन्न पदार्थ वा बहुसंख्यांक पदार्थ देखे नहीं जाते, प्रत्युत भिन्न-भिन्न पदार्थ एक

ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप, आकार या अवस्था जाने जाते हैं। आधुनिक सूक्ष्म और उन्नत विज्ञान ने भी इस बात की सूचना आरम्भ की है। अतएव ब्रह्म जैसे स्थूलचक्षु से देखने की चीज़ नहीं है। ज्ञानचक्षु से देखने की चीज़ है, वैसे ही ब्रह्म के साथ ब्रह्माण्ड वा जगत् का संपर्क निर्णय करती बेर जगत् को स्थूलचक्षु से न देखकर ज्ञानचक्षु से देखना उचित है। ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत् में एकाधिक पदार्थ नहीं दिखाई देंगे, एकाधिक ब्रह्म भी नहीं दिखाई देगा।

दूसरी बात, ज्ञानचक्षु को छोड़कर स्थूलचक्षु द्वारा देखने पर भी जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ब्रह्म नहीं देखे जाते। 'सोऽहम्' इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जो पदार्थ है मैं (अथवा जगत्) भी वही पदार्थ है। यह इसका अर्थ नहीं है कि मैं ही ब्रह्म हूं। तो कैसे कहते हो कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को एक पदार्थ कहने में तुम, हम, वृक्ष-पत्ता, घर-बार सबको ही ब्रह्म वा जगदीश्वर कहना हुआ ? समस्त समुद्र जो पदार्थ है एक छींटा जल भी वही पदार्थ है, किन्तु ऐसा कहने से एक छींटा जल क्या समुद्र हो गया ? एक छींटे जल में क्या समुद्र के तिमिङ्गिल खेलते हैं, समुद्र के तरङ्ग उठते हैं, समुद्र का महाप्रलय उद्भूत होता है ? एक अंगुलि जो पदार्थ है समस्त देह भी वह पदार्थ है। किन्तु उससे क्या एक अंगुलि देह है ? मन का एक भाव जो पदार्थ है, मन भी वही पदार्थ है। किन्तु यह कहने से मन का एक भाव क्या मन है ? तौ फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वानन्द ब्रह्म जो पदार्थ है जगत् भी वही पदार्थ है यों कहने से कैसे कहा जाता है कि तू-मैं, बेल-पत्ता, घट-वट एक-एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द ब्रह्म हुआ ? सोऽहम् का प्रकृत अर्थ समझने की चेष्टा न करने से ही ऐसा प्रलाप बका जाता है।

जिनकी बात कह रहे हैं, उनमें से बहुत-से यह कह बैठते हैं कि ब्रह्म अति महत् पदार्थ है। अतएव जब देखते हैं कि जगत् में मनुष्य को छोड़कर और कोई वा और कुछ प्रकृत महत् नहीं है, कोई प्रकृत महत्कार्य नहीं करता तौ क्यों करके जगत् और जगदीश्वर का एकत्व स्वीकार करके जगत् के सकल पदार्थों को महत् कहें ? वह कहते हैं कि जो सब पदार्थ अचेतन हैं वह सब तौ कोई काम करते ही नहीं, जो पदार्थ चेतन हैं उन सब में मनुष्य छोड़कर और कोई महत्-कार्य करता ही नहीं, केवल आत्मसेवा में ही नियुक्त रहते हैं। यह क्या ठीक है ? जगत में क्या कोई एक ऐसा समय नहीं था जब यहां मनुष्य नहीं थे ? किन्तु उस मनुष्यशून्य जगत् ने ही क्या मनुष्य प्रसव नहीं किये ? यदि किये हैं तौ क्यों कहते हो कि जगत् में जो मनुष्य नहीं है वह महत् कार्य नहीं करते वा कर सकते ? तुम आपत्ति उठाओगे, मैं यूरोपीय विज्ञान का विवर्त्तवाद नहीं मानता वा नहीं समझता। अच्छा वही सही। तुम मनुष्य हो—अतएव तुम

महत् हो—यह तौ मानो, यह तौ समझो। किन्तु कहो तो, तुम जिनका आहार करते हो, अर्थात् जगत् जो मनुष्य नहीं हैं, वे तुम्हारे देह में बल-संचार करते हैं इसीलिये तुम जगत् में महत्कार्य कर सकते हो या और कुछ ? यदि यही है तौ कैसे कहते हो कि जगत् में जो मानुष नहीं हैं वे महत्कार्य सम्पादन करते ही नहीं ? तुम जिस यूरोप की इतनी बड़ाई करते हो उसी यूरोप का विज्ञान आज क्या कहता है ? कहता है कि पृथिवी के कीटानुकीट, अणुपरमाणु क्षुद्र बृहत् सचेतन, अचेतन सकल पदार्थ ही जगदीश्वर ने विपुल ब्रह्माण्ड के विशाल उद्देश्यों के साधन में नियुक्त कर रक्खे हैं। तुम आत्मप्रधान आत्मसर्वस्व प्रकृत ब्रह्मज्ञानी[1] नहीं हो, तो मन में आता है कि तुम जो करते हो वह जगत् का ही काम है, तुम्हारा जो उद्देश्य है, विपुल ब्रह्माण्ड का वही उद्देश्य है, अनन्त ब्रह्म का भी वही उद्देश्य है। तौ तुम जानते नहीं हो कि अनन्त ब्रह्म की दृष्टि में तुम बालू के कण भी नहीं हो। तौ तुम्हारे मन में यह नहीं है कि असीम अनन्त ब्रह्म का असीम अनन्त ब्रह्माण्ड की ट्रेन न मालूम किस असीम अनन्त उद्देश्य से तुम हम राजा-प्रजा, पर्वतप्रान्तर, लता-पत्ता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, धूल, कादा सब पदार्थों को समभाव से उसी एक उद्देश्य के साधक मानकर, असीम वेग से अनन्त मार्ग पर छूट रही है ! तुम क्या अब कहते हो कि जगत् में मानुष के सिवाय महत् और कुछ नहीं, मानुष अतिरिक्त महत्कार्य और कोई करता ही नहीं ! तौ तुम भारत के हिन्दू नहीं हो। 'सोऽहं' भारत के हिन्दुओं की बात है। तुम तौ भारतवर्ष के हिन्दू नहीं। और तुम भारत, या यूरोप, किसी देश के प्रकृत मनुष्य नहीं।

कई ऐसी आशंका करते हैं कि मनुष्य यदि अपने को ब्रह्म मान ले, तौ उसके अहंकार की सीमा ही नहीं रहेगी। हम कहते हैं, यह नहीं, मनुष्य जब अपने को ब्रह्म मान लेगा तौ उसके अहंकार का नाश होगा। जो हिन्दू कहता है 'सोऽहम्' 'वह मैं हूं' वह हिन्दू वास्तव में कहता है कि जगत् में खाली मैं ही वह नहीं हूं, जो कुछ है सब वही है। जहां सब ही ब्रह्म है वहां एक को ब्रह्म कहने में अहंकार वा अभिमान करने का अवसर वा उपाय कहां है ? और जहां मनुष्य अपने को आप ही कहता है—'सोऽहम्' वहां अहं ज्ञान तौ होने ही नहीं पाता, फिर वहां अहंता का स्थान कहां है ? भारत के साहित्य में भी इसका प्रमाण नहीं है। यूरोप में एक समय धर्म के नाम से अनेक अत्याचार और हत्याकाण्ड हो चुके हैं। प्रोटेस्टेन्ट और अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों के अनेक महापुरुष मारे गये हैं किन्तु उनने आनन्द से प्राण विसर्जन किया है तथापि अपने-अपने धर्म विषयक मत को परित्याग वा परिवर्तन नहीं किया। उस बड़े इतिहास को पढ़कर विस्मित और चमत्कृत

१. साम्प्रदायिक अर्थ में इस शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है।

होते हैं। किन्तु उस साहित्य में एक ऐसी बात पाई जाती है जो भारत के साहित्य में नहीं पाई जाती। वह बात यह है—उन सब महापुरुषों ने धर्म के नाम से धर्म-च्युत होना अस्वीकार किया यह नहीं, किन्तु आत्मस्वाधीनता (individual judgment) की दुहाई देकर अस्वीकार किया। उस असाधारण वीरत्व और महत्त्व की जड़ में आत्म वा अहं दिखाई दे रहा है। हिन्दुओं के साहित्य में प्रह्लाद की कथा वैसी ही कथा है—वैसी वा तद्पेक्षा अधिक वीरत्व और महत्त्व की कथा है। किन्तु उस कथा में अहं वा 'आत्मैव' का लेशमात्र भी नहीं है। उस कथा में विष्णु विद्वेषी हिरण्यकशिपु ही अहं वा आत्मैव की प्रतिमूर्ति है—प्रह्लाद में अहं वा आत्मा का बिलकुल अभाव है। प्रह्लाद ने अपने नाम पर, आत्मस्वाधीनता के नाम पर सब यन्त्रणाओं को सहकर अन्तपर्यन्त वैष्णवधर्म धारण किया हो सो नहीं, विष्णु के नाम पर यन्त्रणा सहन करके उसने अन्तपर्यन्त वैष्णवधर्म धारण किया। जहां विष्णु ही सब है, वहां प्रह्लाद और क्या है? 'विष्णुपुराण' में प्रह्लाद-चरित्र पाठ करने से मालूम हो जायगा कि यह प्रातसत्य है वा नहीं। इसीलिए हिन्दुओं के साहित्य में, धर्म के इतिहास में, महत्त्व और वीरत्व की कहानियों में अहं वा 'आत्मैव' की गन्ध भी नहीं—कृष्टधर्मावलम्बी यूरोप के साहित्य में, धर्म के इतिहास में, महत्त्व और वीरत्व की कहानियों में अहं वा आत्मैव बड़ा ही प्रबल है। भारत के 'सोऽहं' ने भारत और यूरोप के बीच में यह अपूर्व भेद उत्पन्न किया है, भारत को यूरोप की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ कर दिया है। भारत का सोऽहं भारत के हिन्दुओं को बड़े गौरव की चीज़ है। मनुष्य वही परब्रह्म है, एक हिन्दू को छोड़कर और कोई भी इतनी ऊँची भावना को भावित करने में समर्थ नहीं है, और किसी को ऐसी बात सोचने का साहस है ही नहीं। इस विशाल बात को मन में धारण कर सके ऐसी मानसिक विशालता ही और किसी को नहीं किन्तु यह कहकर अभिमान नहीं किया जाता है। सोऽहं किसे कहते हैं? वह यदि समझ लिया जाय तो अभिमान किया ही नहीं जा सकता। अभिमान वा अहंकार के नष्ट हुए बिना कोई भी इस सोऽहं का अधिकारी नहीं होता। सूक्ष्मदर्शी महामति हिन्दुओं के सूक्ष्मतम अतिविराट् सोऽहं का अर्थ—प्रकृत ब्रह्मज्ञान, प्रकृत आत्मज्ञान है, अपरिसीम मन अपरिसीम साहस—सबका सामञ्जस्य, सबका महत्त्व, सबका एकत्व और अच्युत विश्वव्यापि अस्तित्व है।

हिन्दुओं के 'सोऽहं' कहने में, हिन्दुओं के समान ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी, ब्रह्मभक्त ब्रह्माण्डग्र ही, अपरिमित साहस-सम्पन्न विराट्मना मनुष्य पृथ्वी पर और कहीं भी दृष्ट नहीं होते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त-नवम्बर, १९०३ ई०]

वेद में पृथिवी की गति

प्राचीन काल में भी भारत के वैदिक आचार्यों को 'पृथ्वी चलती है' यह ज्ञात था। इस बात को पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने आग्रहायण की 'भारती' में सिद्ध किया है। शास्त्री महाशय के लेख की भूलें सुधार, उसका तात्पर्यानुवाद यहां देकर, हम इस विषय पर कुछ और भी लिखते हैं।

वेद में पृथ्वी के इतने नाम हैं —गो, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणि, क्षिति, अवनि, रिप, गातु, और निऋति। ऋग्वेद ही में ये शब्द कई दफा आए हैं। और भी पृथ्वी के कई नाम हैं, किन्तु इस विषय के अनुकूल वा प्रतिकूल न होने से उन पर विचार नहीं किया जाता। इन सब शब्दों की पर्य्यालोचना करने से जाना जाता है कि 'पृथिवी की गति है' ऐसा मानने ही से ये सब शब्द 'पृथिवी' के वाचक हैं।

'गो' शब्द पृथिवी का नाम कैसे है? इसके उत्तर में आचार्य यास्क कहते हैं—"गोरिति पृथिव्या नामधेयं भवति, यह दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गतिर्वोकारी नामकरणः" (निरुक्त २.२.१) 'गो' पृथिवी का नाम है क्योंकि[१] यह दूर जाती है; क्योंकि इसमें सब जीव जाते वा चलते हैं। गाम् वा गा धातु से नाम दिखाने को 'ओ' प्रत्यय किया गया। शाकटायन उणादि मूल में लिखते हैं—'गवेर्डोसु' यास्क कृत प्रथम निर्वचन से (यह दूर पथ में गमन करती है इससे 'गो' कहलाई) स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक आचार्यों को पृथिवी की गति है यह ज्ञान था।[२]

१. यस्माद् इयं दूरं अध्वानं प्रति गता भवति इति (टीकाकार दुर्गाचार्य)

२. कुछ लोग यास्क को निघण्टु और निरुक्त दोनों का कर्ता मानते हैं, और अधिक लोग उन्हें बहुत काल से प्रचलित 'निघण्टु' का भाष्यकार मानते हैं। उनका बनाया भाष्य 'निरुक्त' नाम से प्रचलित है। निघण्टु में किस वस्तु का क्या नाम है, किस धातु

'ग्मा' यह पद भी गम् धातु से बना है। 'गमति' अर्थात् 'गम्' धातु का अर्थ गति है, क्योंकि निरुक्त में लिखा है—"जमति गमति···गति कर्माण: ।" (२·१४) अतएव गो पद की ज्यों व्युत्पत्ति है, ग्मा पद की भी वही है।

जो दूर गमन करे, वा जिसमें जीव विचरण करें, वही ग्मा (पृथिवी) हुई। आचार्य माधव ने भी कहा है—"ग्मा गच्छतेः गच्छन्तीहीयम्" ग्मा गम् धातु से

का क्या अर्थ है, यह दिखाने को शब्दपाठ मात्र ही है। भगवान् यास्क ने उस शब्दपाठ के कठिन-कठिन शब्दों के धातु प्रत्यय बताकर, वेद में उन शब्दों के उस अर्थ के प्रयोग में प्रमाण दिखाकर विस्तार किया है। स्कन्दस्वामी दुर्गाचार्य प्रभृति ने यास्कीय भाष्य की व्याख्या की है। देवराज प्रभृति ने निघण्टु में लिखित सभी शब्दों का संक्षेप से विवरण किया है। यह सब यास्क से बहुत ही पीछे हुए हैं। व्याख्या करने बैठकर ये यास्कमत का तो उल्लंघन कर ही नहीं सकते थे, केवल उसे बोलने की ही चेष्टा करते थे। उनकी ऐसी चेष्टा से यास्क का सिद्धान्त कई जगह बिगड़ गया है। इस 'गो' शब्द के निर्वचन में ही इसका प्रमाण पाया जाता है। यास्काचार्य ने तो कहा है—"दूर गमन करती है इससे पृथिवी 'गो' कहलाई।" स्कन्दस्वामी इस बात को स्वीकार करना नहीं चाहते, इससे कहते हैं कि पृथिवी में वस्तुतः गति नहीं है, किन्तु जैसे आत्मा, आकाश प्रभृति दूर देश में भी पाए जाते हैं पृथिवी भी वैसे पाई जाती है, इससे ही आचार्य ने उसमें गति की कल्पना की है (दूरं गता भवति, आत्माकाया द्विववद्देष्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहारः)

देवराज ने स्कन्दस्वामी की हां में हां मिलाकर इस बात को और भी स्पष्ट किया है, इस बात को दिखाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु इसी सम्बन्ध में उसने एक और बात कही है, उसका उल्लेख करना चाहिए। पृथिवी की गति का विचार करके (सम्भव है कि इससे उन्हें सन्तोष न हुआ हो) उनने लिखा है कि गा धातु से ओ प्रत्यय करने से गो पद होता है तो, किन्तु उस गा धातु का अर्थ गति नहीं है, स्तुति है। अतएव पृथिवी का स्तव होता है, अथवा पृथिवी पर बैठकर स्तव होता है, इससे पृथिवी 'गो' कहलाई। गातेर्वास्तुत्यर्थस्य गीयते स्तूयते असो इति गायन्ति वा धम्यां स्थिता इति गोः) यह व्याख्या कहां तक ठीक है, पाठक विचारें। वेद में गाति या गा धातु का अर्थ गति है। निघण्टु में यह बात स्पष्ट लिखी है—"चतति, अतति, गाति,—द्वाविंशशते गति कर्माणः" (२.१४) उदाहरण भी देख लीजिए "निर्यत्यूतेव स्वधितिः शुचिगात् (ऋक् ८.३.६.) गा, वा, गाति, धातु का अर्थ स्तुति वेद में कहीं भी नहीं पाया जाता। "गायति" वा "गे" में धातु का अर्थ अर्चना पाया जाता है (गायन्ति त्यागायत्रिणाः ऋक् १.१.१.६१ निघण्टु ३.१४) गोपद के निर्वचन में यास्क ने "गाति" कहा है "गायाति" नहीं। और आचार्य यास्क यदि जुहोत्यादि गणीयस्तुत्यर्थक 'गा' धातु का (उदा-देवान्-जिगाति सुम्नयुः) उल्लेख करते तो उनका "अथापि पशुनमिह भवति एतस्मादेव" (इस धातु से इसही अर्थ में बना गो पद पशु का भी वाचक है) यह वाक्य कैसे संगत होता? पशुवाचक गो शब्द गत्यर्थक धातु से बना है। इस बात को तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। वैदिक शब्दों के निर्वचन में यथा सम्भव वैदिक धात्वर्थ ही देना उचित है। देवराज ने बहुत जगह इस नियम का

बना है, क्योंकि यह पृथिवी गमनशीला है।[1]

ज्मा पद जम वा जमति धातु से बना है। वेद में 'जमति' का अर्थ भी गमन है (निघण्टु ३·१४, निरुक्त ३·१६) व्युत्पत्ति पूर्ववत्। गत्यर्थक धातु होने ही से अर्थ निर्वचन प्रणाली 'गो' पद की ऐसी समझ लेनी चाहिए।[2]

क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणि, क्षिति ये पद गत्यर्थक क्षि धातु से सिद्ध किए जा सकते हैं।[3]

'अवनि' अवति वा अव् धातु से बना है। अव् धातु निघण्टु में गत्यर्थ धातुओं में पठित है।[4]

'रिप' गत्यर्थक रेप्ट धातु से उत्पन्न है।

'गातु' गम् धातु से बना है।

निऋति पद के दो अर्थ हैं, पृथ्वी और कष्टप्राप्ति। आचार्य यास्क ने कहा है—'निऋतिः निरमनात् ऋच्छतेः कष्टप्राप्तिखरा।' सब जीवों को आराम देती है इससे पृथिवी निर्ऋति (नि+रम्+क्तिन्) कहाई। कष्टप्रप्तिवाचक निर्ऋति निर् पूर्वक ऋ धातु से बना है। आचार्य यास्क के निर्वचन से पाया जाता है कि निर्ऋति नि+ॠ' धातु से उत्पन्न है। निघण्टु में 'ऋ' धातु गत्यर्थों में पढ़ा है। अतएव पृथिवी के अन्यान्य नामों की तरह निर्ऋति पद की भी 'नि+ॠ+क्तिन्' (कर्तृवाच्य वा अधिकरण वाच्य) व्युत्पत्ति करने में कोई असङ्गति नहीं कही जा

अनुसरण नहीं किया है। और कई शब्दों में भी यही गड़बड़ है। कौतूहली पाठक स्वयं इस बात को देख लेंगे। "गाङ्गलो" से भी 'गो' बनाया जा सकता है।

स्कन्दस्वामि और देवराज की व्याख्या से समझा जा सकता है कि यास्क के समय में पृथिवी चलती है यह स्वीकृत होने पर भी इन दोनों के समय में इस बात पर बड़ी आपत्ति उठ खड़ी हुई थी। ऐसा होता ही आया है। आर्यभट ने पृथिवी का चलना सिद्ध कर दिया था, किन्तु पीछे के सिद्धान्तकारों ने यह बात न मानी। योरोप में भी कलम्बस के समय तक खूब विवाद रहा। यहां तक कि गैलीलियों को "पृथिवी चलती है" यह कहने के प्रायश्चित में अपनी आँखें देनी पड़ीं।

१. यह माधव सायण माधव से प्राचीन है, विवरण ग्रंथकार विदभाष्यकर्ता माधव भट्ट और श्री वेङ्कटाचार्य पुत्र भाष्यटीकाकार माधव, इन दोनों में से कोई है।

२. देवराज ने यहां जमू अदने, जनी प्रादुर्भाते इत्यादि और कई धातुओं से जमा पद सिद्ध करके धात्वनुसार अर्थ किया है।

३. देवराज हिंसार्थक क्षि, क्षयार्थक क्षि और सहनार्थक क्षम प्रभृति धातुओं से इन पदों का साधन करके भी गत्यर्थक क्षि धातु का परित्याग न कर सके।

४. देवराज अव् धातु से अवनी बना है—यह तो मानते हैं किन्तु धातुपाठ प्रभृति के आधार पर अव् धातु के गति, तृप्ति प्रभृति १८ अर्थ कल्पना करके तदनुसार ही अर्थ करते हैं।

सकती ।[१]

इस विषय की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि बहुत पहले भी पृथिवी की गति भारतीय आचार्यों को खूब विदित थी नहीं तो वे एक गति क्रिया से पृथिवी के इतने नाम न करते ।

आचार्य यास्क के लेख से मालूम होता है कि उनके रामय[२] में भी पृथिवी की गति के बारे में कोई विप्रतिपत्ति न थी । उनके पीछे सन्देह की उत्पत्ति हुई । इसीलिए उनके परवर्ती स्कन्दस्वामी को 'यद् दूरं गता भवति' इस (यास्क के) वाक्य पर आस्था न रखकर नाना रूप कष्ट कल्पना करनी पड़ीं । यास्कभाष्य के अन्यतम टीकाकार दुर्गाचार्य ने तो इस वाक्य का यथाश्रुत अर्थ ही किया है । स्कन्दस्वामी प्रभृति व्याख्याकारों ने यास्क के द्वितीय निर्वचन पर ही जोर देकर (यञ्चास्यां भूतानि गच्छन्ति) अन्यान्य नाम निर्वचनों का अर्थ किया है । (सायणाचार्य भी इस ही अर्थ पर चले हैं) । उनने 'अधात्मो अथवा दिवो वहतो' (ऋक् ८.१.१८) इसकी व्याख्या में पृथ्वीवाची ज्मा शब्द की व्युत्पत्ति 'जमन्ति गच्छन्ति अस्याम् इति जमा' यों लिखी है । उन्हें 'जमति गच्छतीतजमा' कहने का साहस न हुआ । यास्क के बहुत पीछे होने पर भी आचार्य माधव ने स्पष्ट ही लिखा है कि पृथिवी चलती है (ग्म गच्छतेर्गच्छन्ती हीयम्) यह पहले दिखा चुके हैं । 'गच्छतीति जगत्' यह जगत्‌की व्युत्पत्ति बहुत प्रसिद्ध जान पड़ती है ।

अर्वाचीन संस्कृत कोशों में पृथिवी के नामों में **'अचला'** और **'स्थिरा'** भी मिलते हैं । पृथिवी नहीं चलती है, स्थिर है यही मानकर ये नाम हुए हैं सही, किन्तु वैदिक अभिधान निघन्टु में इन दो शब्दों का गन्ध भी नहीं है । इन दोनों शब्दों वाला कोई वैदिक वचन भी अब तक नहीं पाया गया होता तो निघण्टु वा यास्कीय

१. मालूम होता है, स्कन्दस्वामी पृथिवी की गति मानने वालों के अत्यन्त विरुद्ध थे । इसीसे उनने यास्क के "निर्ऋति निरमनात्" इस वाक्य की व्याख्या करती बेर लिखा है कि "निरमनात् निश्चलत्वेन अवस्थानात् इत्यर्थः ।' निरमन का "निश्चल रूप से ठहरना" यह अर्थ क्या कष्टकल्पित नहीं है ? देवराज भी स्कन्दस्वामी की हां में हां मिलाते हुए कहते हैं—"निर्निश्चलत्वमाह न अवस्थानम्" (नि उपसर्ग पृथिवी के निश्चलत्व को बताता है, चञ्चलत्व को नहीं) । यहां वैयाकरणों के अर्थ को लेकर देवराज कहते हैं निर्+ऋ+क्तिन्=निर्ऋति इसका अर्थ निश्चलवत् अयतिष्ठते निश्चल की तरह ठहरी है । तो क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती है कि पृथिवी निश्चल की तरह है तो किन्तु वास्तव में निश्चल नहीं है ।

२. यास्क पाणिनि से बहुत प्राचीन हैं । आचार्य गोलुण्टुका का अनुसरण करते-करते पंडित सत्यव्रत सामश्रमि ने यास्क को ईसा से पूर्व १४ वीं वा १५ वीं शताब्दी के अन्धकार में पाया है ।

निरुद्ध में कहीं तो मिलता। इससे ही बोध होता है कि वेद से बहुत काल पीछे, पृथिवी को स्थिर कहनेवालों ने, गो प्रभृति पृथिवी के गतिमत्व के प्रतिपादक नामों के बदले बिलकुल विपरीत ये दो नाम कल्पित कर लिए।

गो ग्मा, ज्या प्रभृति पृथिवीवाची शब्द जो ऊपर लिखे गए हैं वे सब ही ऋग्वेद में पाए जाते हैं।[1] आधुनिक प्राच्य और प्रतीच्य दोनों तरह ही के विद्वान् ऋग्वेद को पृथिवी में सबसे प्राचीन ग्रन्थ मान ब्राह्मण पण्डितों के मत में तो वेद मात्र ही अनादि विवेचना करके देखें, पुराकाल में भारतवर्ष के वैदिक आचार्यों को पृथिवी की गति का ज्ञान था वा नहीं ?

केवल यही नहीं, वेद में और भी कई प्रमाण पृथिवी की गति के हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०]

१. मैक्समूलर के संस्कृत ऋग्वेद की शब्दसूची पढ़ने से जान पड़ेगा कि कौन-कौन शब्द कितनी-कितनी बार आया है।

हिन्दी के अनुवादकर्ता[1]

'समालोचक' में 'एक बंगमहिला' ने 'हिन्दी के ग्रन्थकार' नामक एक समयोपयोगी लेख लिखा है। हिन्दी पत्रों में आजकल उसकी अधिक चर्चा हो रही है। इस लेख में 'बंगमहिला' ने हिन्दी के कई लेखकों का नाम दिया है, जिन्होंने बंगला से पुस्तकें अनुवादित कीं और मूल ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया और अनुवादित पुस्तकों को स्वरचित बतलाया। इस लेख के लिखने से 'बंगमहिला' की यह इच्छा थी कि भविष्यत् में हिन्दी-लेखक मूल ग्रन्थकार से अनुमति लिए बिना हिन्दी अनुवाद न करें और करें भी तो मूल ग्रन्थकार का नाम कृतज्ञतापूर्वक अवश्य दे दिया करें। किन्तु खेद है इस लेख का उलटा ही परिणाम हुआ। कतिपय आत्माभिमानी हिन्दी लेखक इस लेख से बहुत चटके हैं। किन्तु हर्ष है कि चटकनेवाले वह ही महापुरुष हैं जिन्होंने मूल ग्रन्थकार से अनुमति लिए बिना ही हिन्दी अनुवाद किया है और उन अनुवादों को स्वरचित प्रसिद्ध कर रक्खा है। ऐसे अनुवादकर्ताओं की श्रेणी में 'प्रयाग समाचार' के वर्तमान सम्पादक और 'हिन्दी बंगवासी' के नवीन सम्पादक का नाम भी आता है; अतः 'प्रयाग समाचार' और 'हिन्दी बंगवासी' 'बंगमहिला' के लेख को देखकर आपे से बाहर हो जायं तो कुछ आश्चर्य नहीं। नवजात 'वैश्योपकारक' को न जाने क्या सूझी कि वह भी इन लोगों के पीछे-पीछे अपनी मिश्र चाल से पड़ा है।

'प्रयाग समाचार' का लेख लम्बा होने पर भी गंभीर नहीं है। 'बंगमहिला' ने जो यह लिखा है कि "हर्ष है कि लाला बालमुकुन्द गुप्त पंजाबी होकर बंगभाषा की आलोचना करते हैं।" उससे गुप्त महोदय पर अपनी श्रद्धा प्रकट की है उसको भी लोगों ने कटाक्ष समझा है। इसी पत्र में एक लेख श्रीयुत 'विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह'

१. यह लेख हमारे पास बहुत दिनों से पड़ा हुवा था। हमारी इच्छा इसके प्रकाश करने की नहीं थी, किन्तु लेखक के आग्रह से विवश होकर छापना पड़ा है। (सं०स०)

के नाम से छपा है। इसमें बात का बतंगड़ बहुत बनाया गया है। लेखक ने सुप्रसिद्ध 'भारती' पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सरला देवी घोषाल को निष्प्रयोजन ही गाली दी हैं। 'सरस्वती' पर कटाक्ष करते हुए 'सिंह' जी लिखते हैं—" 'सरस्वती' बङ्गनिवासी बङ्गालियों के उत्तम लेख छाप कर धन्य होती है, इन दिनों 'समालोचक' बङ्गमहिला का लेख छापकर बहादुर हुआ है। 'बङ्गमहिला' ने समालोचक पर बड़ी रियायत की है, नहीं तो उसको लेख और बढ़ाना पड़ता और कहना पड़ता कि 'समालोचक' में भी बहुत-से लेख ऐसे निकले हैं जिनमें मूल लेखक का नाम नहीं दिया गया है।"

हम जहां तक जानते हैं कह सकते हैं कि 'समालोचक' के वर्तमान स्वरूप में कोई लेख मूल ग्रन्थकार की अनुमति लिये बिना नहीं छपा है। हां, उस समय 'समालोचक' में कई ऐसे लेख अवश्य निकले थे जब कि आपके श्रद्धास्पद, क्षमताशाली, 'प्रयाग समाचार' के वर्तमान सम्पादक, उसका सम्पादन करते थे। कुछ हिन्दी लेखकों ने बंग भाषा से चोरी की है, इस बात को झूठा सिद्ध करने के लिए लेखक ने 'भारत मित्र' की शरण लेकर यह विचित्र युक्ति लगाई है कि बङ्गाली ग्रन्थकारों ने भी अंग्रेजी से चोरी की है, हम कहते हैं कि यदि बङ्गाली ग्रन्थकारों ने चोरी की है, तो उन्हें चोरी करने दो। आप उनकी देखा-देखी क्यों चोरी करते हैं ? ऐसा कहने से कि बङ्गालियों ने भी चोरी की है यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि हिन्दी के लेखकों ने चोरी नहीं की है और उन्हें करनी चाहिए। हम कहते हैं कि यदि मनुष्य में कुछ भी उदारता और न्याय है और उसने मूल ग्रन्थकार की आज्ञा के बिना ही अनुवाद किया है या मूल लेखक का नाम भूल से नहीं दिया है, तो वह अवश्य ही लज्जित होंगे और भविष्य में ऐसा करने का कभी साहस न करेंगे।

एक सुलेखक महाशय ने भूल से निज अनुवादित पुस्तक में मूल ग्रन्थकार का नाम न देकर आन्तरिक पश्चात्ताप प्रगट किया है। इसी तरह एक सत्स्वभाव स्वर्गीय महात्मा को ऐसी भूल करने से हार्दिक दुःख हुआ था और 'बंगमहिला' के कथन का समर्थन करके उन्होंने भविष्य में कभी ऐसा न करने की प्रतिज्ञा की थी, इसमें सन्देह नहीं। संसार में उदारता भी बड़ी ही अमूल्य वस्तु है। जो उदार हृदय हैं, यदि उनसे एक समय भूल भी हो जाय तो वह उसे मालूम होने पर अवश्य सुधार लेंगे, किन्तु जिनको हठ और दुराग्रह है उनको ब्रह्मा भी समझाने में असमर्थ है।

हिन्दी बङ्गवासी में 'हिन्दी में समालोचना' नामक लेख बड़ी उद्दण्डता से लिखा गया है। एक स्थान पर इसमें लिखा है—

"समालोचकों को विशेष कारणवश, किसी की समालोचना में विशेष अवगुण प्रगट करने का भी प्रयोजन उपस्थित हो जाता है, किन्तु इस तरह की आलोचना के समय आलोचना करने वालों को शिष्टता और सामाजिक स्वार्थ का पूरा विचार रखना चाहिए।"

इस समय ठीक यह ही दशा हिन्दी बंगवासी के सम्पादक की हुई है और आलोचना के समय उनको 'शिष्टता' और 'सामाजिक स्वार्थ' का तनिक भी विचार न रहा। दूसरे पैरा में सम्पादक जी ने लिखा है—"......और अधिकांश समालोचकों की नालायकी की वजह से समालोचना का काम निहायत गन्दगी और बेतुकेपन से चल रहा है।" इन शब्दों में कितनी शिष्टता भरी हुई है? और इनसे क्या सम्पादकीय कर्तव्यपालन होता है? इसे विज्ञ पाठक विचार कर कुछ देखें।

उसी पैरा में लेखक ने गौरांगभक्ति का इस प्रकार परिचय दिया है—"हमें मालूम है कि योरोप में इस समय अगणित ऐसे विद्वान हैं, जो प्राचीन धुरन्धर पण्डितों की पुस्तकों की समालोचना बड़ी आसानी के साथ कर सकते हैं, किन्तु क्या २८ करोड़ भारतवासियों में एक भी ऐसा है जो लार्ड मेकाले, हरबर्ट स्पेन्सर प्रभृति दिग्गज पण्डितों के इन्साइक्लो (?) की आलोचना कर सके, या जो इन्साइक्लोपीडिया बृटानिका पढ़कर उसके विषय में अपनी राय प्रगट कर सकै।" साहब लोगों की क्या प्रशंसा की जाय जो कि किसी भाषा के अक्षर मात्र जानने पर उस भाषा के पारदर्शी विद्वान कहलाने लगते हैं और बिचारे हिन्दुस्तानियों को यथार्थ में पारदर्शी होने पर भी कोई नहीं पूछता। अंगरेजी भाषा में हिन्दुस्तानियों की लिखी हुई बीसों पुस्तकें ऐसी हैं जो कि अंगरेजी साहित्य में उत्तम समझी जाती हैं, किन्तु क्या आप भी किसी योरोपीय विद्वान की लिखी हुई संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी आदि इस देश की किसी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक का पता बता सकते हैं, जो कि आदर की दृष्टि से देखी जाय! साहब लोगों की समालोचना कैसी होती है, इसकी कुछ बानगी आपको 'सुदर्शन' में प्रकाशित 'बेबर का भ्रम' से मिलेगी। हमारी समझ में २८ करोड़ भारतवासियों में एक नहीं, सैकड़ों, ऐसे हैं जो मेकाले, मिलटन, शैक्सपीयर आदि की रचनाओं पर स्वतन्त्र लेख लिख सकते हैं और इनसाइक्लोपीडियो बृटानिका की समालोचना कर सकते हैं।[1]

१. एन्साइक्लोपेडिया बृटानिका में कई लेख प्रसिद्ध भारतवासी के भी हैं। सौ वर्ष की अंगरेजी शिक्षा के लिए यह लज्जा की बात हो यदि भारतवर्ष में एक भी मनुष्य हर्बर्ट स्पेन्सर को न समझ सकै। (समालोचक-सम्पादक)

इस विषय में अधिक लिखकर इस लेख को हम विषयान्तर में नहीं ले जाना चाहते ।

चौथे पैरा में लेखक ने समालोचक के सुयोग्य सम्पादकों पर बहुत ही अनुचित, अयोग्य और तीव्र शब्दों में कटाक्ष किया है—"कोई कालेज में पढ़ता हुआ मुछाकड़ा लड़का ही अपने को हिन्दी भाषा का अकेला समालोचक समझ रहा है ।" जिन्हें विश्वविद्यालय की हवा नहीं छू गई है, वे यों ही उस पुण्यभूमि के वासियों पर टक्कुरें मारना चाहते हैं । इसका निदर्शन दो वैश्यों के पत्र दे चुके हैं । हम कालेज में पढ़ते हुए लड़के को जिसने कई भाषाओं में सुशिक्षा पाई हो उन महापुरुषों (?) के मुकाबले में जो कि अर्द्धदग्ध हैं और योग्य शिक्षा न पाकर भी उर्दू के भरोसे अपने को सर्वज्ञ मान रहे हैं, लाख गुना अधिक अच्छा समझते हैं । क्या सब योग्य सम्पादकों की दाढ़ी ही होती है ? जो आपने समालोचक-सम्पादकों को 'मुछाकड़ा' लिखकर मूंछों से घृणा की है । और फिर आप भी तो जहां तक मुझे स्मरण है, दाढ़ी से वैसे ही कोरे हैं जैसे—'यहुदिन लेडियां' ।

आगे चलकर लेखक कहते हैं कि 'समालोचक' लोग किसी एक पर ही कटाक्ष करते हैं—यह हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ चञ्चला 'समालोचनी' सभी हिन्दी उपन्यास लेखकों पर चढ़ने लगी है । एक पुस्तक रचयिता से हमने यहां तक पूछा है—"जनाब !क्या आप अपनी जननी वा सहधर्म्मिणी से इसी भाषा में बातचीत करते हैं ?" क्या यह 'नितम्बवती' बंङ्गालन यह नहीं समझती थी, कि उसके बाप और शौहर की बातों के बारे में भी कोई मनुष्य उससे कुछ पूछ सकता है ?" 'समालोचनी' और 'नितम्बवती' शब्दों में लेखक के व्याकरण-ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है । हम उस दिन हिन्दी का बड़ा सौभाग्य समझेंगे जिस दिन अर्द्धशिक्षित जनों के स्थान में उच्चश्रेणी के विद्वानों को हिन्दी के सम्पादकीय आसनों पर आसीन देखेंगे । 'बङ्गमहिला' ने जो यह प्रश्न किया है कि "जनाब ! क्या आप अपनी जननी और सहधर्म्मिणी से इसी भाषा में बातचीत करते हैं ?" उससे हम बिलकुल सहमत नहीं, क्योंकि साहित्य की भाषा और घर में कुटुम्बियों के साथ बोलने की भाषा का मिलान करना विडम्बना मात्र है । हम कभी नहीं विश्वास कर सकते कि 'कालिदास', 'हरिश्चन्द्र', 'शैक्सपीयर' आदि ने जिस भाषा का अपने ग्रन्थरत्नों में व्यवहार किया है उस ही भाषा में वह अपने कुटुम्बियों अथवा अपर जनों के साथ वार्तालाप करते हों । हां, हम बंगमहिला से उस बात में सहमत हैं कि ऐसे लेखकों की भाषा में मुसलमानी शब्द बहुत आते हैं । ऊपर ही 'पिता', 'शौहर' शब्द की जोड़ी की बहार देखिए ।

हमें खेद है कि 'भारतमित्र' के सुयोग्य सम्पादक भी यह लिखते हैं कि 'बंगमहिला' लेख में छछोरापन अधिक है। किन्तु यदि वह 'बङ्गवासी' के उक्त लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ते तो जो सम्मति उननें बङ्गमहिला के लेख पर दी है, वही सम्मति वे बङ्गवासी के लेख पर अवश्य देते।

''श्रीबेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक महाशय ने 'बंगमहिला' का लेख पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता प्रगट कर अपनी योग्यता का परिचय दिया है। इस एक प्रकार 'मोहिनी' भी प्रसन्न हुई थी पर आगामी संख्या चलकर ही—''खरबूजे के रंग को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है''—इस लोकोक्ति को चरितार्थ किया है।

आगे चलकर बंगवासी ने अपनी मार्मिकता का इस प्रकार परिचय दिया है—

''आयोग्य मनुष्य ने अनधिकार चर्चा कर इस काम की (समालोचना की) बेइज्जती कर डाली है, इससे उपकार की जगह अपकार ही हो रहा है।'' जब आयोग्य मनुष्यों ने अनधिकार चर्चा कर इस काम की बेइज्जती कर डाली है, उस समय आप जैसे सुयोग्य सम्पादक ने भी साधिकार चर्चा कर इस लेख से अपने पत्र का गौरव बढ़ाकर हिन्दी का जो कुछ उपकार किया है उसे हिन्दी-साहित्य-समाज कभी न भूलेगा।

वैश्योपकारक : यह नवजात पत्र बाबू शिवचन्द भरतिया (?) द्वारा सम्पादित होता है। भरतियाजी मराठी भाषा की सेवा कर प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, अब हिन्दी-साहित्य की सेवा करने को सम्बद्ध हुए हैं। आशा होती है कि '**वैश्योपकारक**' एक सुयोग्य विद्वान के हाथ में होने से किसी समय हिन्दी भाषा की अच्छी सेवा करेगा, किन्तु जेष्ठ के अंक में 'समालोचना की आलोचना' नामक जो लेख छपा है, वह प्रायः पक्षपातपूर्ण है। प्रथम सर्व सम्मानित मान्यवर 'मालवीय' जी पर हाथ साफ किया है फिर 'बंगमहिला' की खबर ली है। हम इस समय अप्रस्तुत विषय पर कुछ न लिखकर प्रस्तुत विषय पर विचार करेंगे।

हम इस बात के समझने में सर्वथा असमर्थ हैं कि 'बंगमहिला' ने अपने लेख में ऐसी कौनसी बात लिखी है जिसमें 'कुलरमणी के रक्षण योग्य मर्य्यादा की रक्षा नहीं हुई' ? ''क्या यही प्रश्न कि ''जनाब ! क्या आप अपनी जननी और सहधर्म्मिणी से इसी भाषा में बातचीत करते हैं ?'' यद्यपि इस प्रश्न के करने की

तनिक भी आवश्यकता न थी, किन्तु इस प्रश्न में हम फिर भी कोई ऐसी बात नहीं देखते कि जिससे समझा जाय कि कुलरमणी के रक्षण योग्य मर्य्यादा की रक्षा नहीं हुई । यदि यह बात ठीक है कि बंगाली साहित्य-सेवियों ने भी अंगरेज़ी से चोरी की है और मूलग्रन्थकार का नाम नहीं दिया और बंगभाषा में भी बहुत-सी अश्लीलतापूर्ण पुस्तकें हैं, तो हमारी समझ में इस बात को स्वीकार करने में 'बंगमहिला' को कोई आपत्ति न होगी । यदि बंगमहिला अंगरेज़ी भाषा की भी जानकार होती, तो हम उनसे स्वयं बंगाली ग्रन्थकारों की चोरी दिखाने की प्रार्थना करते । इस समय हम उनसे सादर निवेदन करते हैं कि बंग-भाषा में जो अश्लीलतापूर्ण पुस्तकें हों, चाहे वह बाबू रवीन्द्रनाथ ठाकुर की हों चाहे और किसी की, उनकी उचित आलोचना कर, अपने बंगाली भाइयों को भविष्य में ऐसी घृणित पुस्तकें न रचना करने की सम्मति देवें । यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि यदि बंगालियों ने घृणित कार्य्य किया है तो हिन्दीवाले भी उसका अनुकरण करें । 'तारा' और 'चपला' की 'भारत मित्र'' 'श्रीवेंकटेश्वर', 'समालोचक', 'राजपूत' आदि चाहे जैसी कड़ी आलोचना करें, तो कुछ नहीं किन्तु यदि 'बंगमहिला' ने इतना लिख दिया "कि इन पुस्तकों को देखकर हमारे देवता कूच कर गये" वह 'वैश्योपकारक' जी को सह्य नहीं । हम इस बात को मानते हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कई एक कविताएं और बड़तल्ले की पुस्तकें अश्लील हैं किन्तु क्या इससे 'गोस्वामीजी' की 'तारा' और 'चपला' निर्दोष सिद्ध हो जायगी ? या 'गोस्वामीजी' की पुस्तकें बड़तल्ले की ही पुस्तकों से तुलना करने योग्य हैं ? कदापि नहीं ।

'मालवीयजी' के तो आप इतने विरोधी कि यदि वह सरल हिन्दी को पसन्द करें तो आप उन्हें खिचड़ी भाषा का पक्षपाती समझें किन्तु 'जौहर' बाबू के इतने पक्षपाती कि यदि वह खिचड़ी हिन्दी भी लिखें तो इस समय यह युक्ति "पर उनसे (मुसलमानी शब्दों से) इस देश के लोगों का सम्बन्ध बिलकुल दूर भी नहीं हो सकता" इन्हीं सब बातों से हमने इस लेख को पक्षपातपूर्ण समझा है । हां, 'प्रवासी' ने जो बाबू श्रीराधाकृष्णदास लिखित 'भारतेन्दु' के चरित की आलोचना की है उसके विषय में जो कुछ 'वैश्योपकारक' का मत है उससे हम अक्षरशः सहमत हैं ।

अब हम इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं कदाचित् हमें भी इस लेख के पीछे कुछ लोगों की गाली खानी पड़े । किन्तु हम श्रीभर्तृहरिजी का यह वाक्य

'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' स्मरण कर निश्चिन्त हैं। किमधिकम्।[१-२]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०]

१. चार वर्ष पहिले 'भारतमित्र' में एक बगाली प्रवासी का वृत्त छपा था, जिसमें लिखा था कि पञ्जाबी स्त्रिया नग्न नहाती हैं। इस पर 'भारत मित्र' ने कहा था कि स्नान करती स्त्रियों को देखने वाले को 'मालजादा' कहते हैं। बंग-महिला को जो कुवाच्य कह चुके हैं, उन्हें पञ्जाबी-सम्पादक क्या कहेंगे? —एक साहित्य पाठक

२. 'वैश्योपकारक' में 'समालोचक' की आलोचना पढ़कर हमें बड़ा ही गर्व हुआ। यह तीर्थ-यात्रा करने का फल है कि पुराने सखा का फिर स्वर सुनाई दिया। ऐसा ही यदि 'समालोचक' की सभी संख्याओं पर हमारे मित्र विवेचन लिखें तो हम बड़े प्रसन्न हों, किन्तु 'खेल भी शिक्षा' को ये फिर पढ़ें। (समालोचक-सम्पादक)

सुमरनी के मनके

खोज की खाज

प्रतिभा-सम्पादक और प्रतिभा-समालोचक ने 'मनोरमा' के वह लत्ते किए हैं कि मेरा उसके लिए कुछ कहना **शाहमदार**[1] बनना होगा, तो भी एक-दो लेखों की बातें ऐसी अद्‌भुत हैं कि एक आध मनका उसके नाम पर फेरना चाहता हूं। दीक्षित जी की 'मनोरमा' के लिए, किसी दूसरे प्रसिद्ध दीक्षित जी की 'मनोरमा' की तरह जगन्नाथ पंडितराज बनने का यश 'प्रतिभा' के समालोचक ने लिया, साहित्याचार्य पं० शालिग्राम शास्त्री जी कहते होंगे कि यह **पार्ट** मैं लेता तो उचित होता, क्योंकि मैंने ही माघ बीतते न बीतेते (=फाल्गुन आते न आते) रुचिरा का पीछा किया था! खैर, समासोक्ति रहने दीजिए, आजकल खोजखाज का बाजार बहुत गर्म है, इसकी धुन बहुतों को सवार है, जो चाहता है, इसमें **छटा सवार** बनता है, खोजखाज का अर्थ मैं षष्ठीतत्पुरुष समास से करता हूं, यह कोढ़ में खाज मनोरमा के 'भास' वाले लेख में दिखाई देती है, बानक तो ऐसा बनाया है कि मौलिक लेख है; पर 'पनिस्‌सरमा का संवाद रूपक' 'जालहंस' की तरह सारी कलई खोल देता है। ऋग्वेद में पणि नामक असुर (जिन्हें कई सच्चे खोजी फिनिशियन व्यापारी समझते हैं) और देवशुनी सरमा का संवाद है, पणि का अंग्रेजी बहुवचन (panis) पनिस् होता है, वही मनोरमा के मनोमुकुट में प्रतिबिम्बित होकर 'तत्तु नत्रैव रमते हताः पाणिनाना वयम्' कहलवाता है। आगे इस लेख में वह गड़बड़झाला, लबड़धों धों या सिक्खाशाही मची है कि कुछ न पूछिए, भास, श्रीहर्ष, धावक धोबी, बड़ा विक्रमादित्य, बड़ा हर्ष, सबका, वैष्णवों का सकल पुंगल बन गया है, अलबिरूनी कहीं से एक हर्ष संवत् लिख गया है जो

१. मरे को मारे शाहमदार।

उसके सिवा किसी ने आज तक न सुना न माना। उस हर्ष संवत् का डूबते को तिनके का सहारा यहां मिला है।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : मई, १९२० ई०]

कलकत्ते का अशोकारिष्ट

'मनोरमा' में एक प्रार्थनाकार महाशय गजेन्द्र को ग्राह से नहीं, वराह से ग्रसाते हैं। यह भी नई पौराणिक खोज है जो ढूंढ़ने वाले का यश बढ़ावेगी, लाला सीताराम अवधवासी भूप, जिनकी रामायण के 'अस्थलों' की खोज और जगह बहुत प्रशंसनीय हुई है, मनोरमा के भाग्य से 'शिशपाचोद्य' और 'अशोकवनिका न्याय' में उलझे हैं, गुह ने राम के लिए बिछौना शिंशिपा के वृक्ष के नीचे क्यों किया इस पर तर्क-वितर्क करने के लिए महावरा बन गया है—शिंशपाचोद्यमेतत्। ऐसे ही रावण ने सीता को अशोक वनिका में क्यों रक्खा, इस पर खोज की खाज उठती है। उसे अशोक वनिका न्याय का काच दिखाया जाता है। यहां पर लाला सीताराम ने कलकत्ते से विज्ञापनी कविराजों के अशोकारिष्ट के भरोसे अशोक को दीपक या उत्तेजक कहकर रावण की सीता को यहां रखने की गूढ़ अभिसंधि खोज निकाली है। बड़ी दूर की सूझी! हम तो कहते हैं कि लंका में पानी की किल्लत थी, मानसून धोखा दे गया था, पेड़ों की सिंचाई मुश्किल हो रही थी या रावण के बागवानों ने तनख्वाह बढ़ाने के लिए हड़ताल कर दी थी, उसने अशोक वाटिका को कसरसब्ज रखने के लिए सीता को वहां रखा कि सीता के पादाघात से वे पेड़ तो कम से कम फूलते रहेंगे। घंटामिश्र के रामायण के अर्थों की हंसी हुआ करती थी, घंटामिश्र मर नहीं गये हैं, वह नए-नए रूप धारकर अपनी उसी व्याख्या योनि की चौरासी पूरी कर रहे हैं, खोज के नाम से घंटामिश्र जी ने नया कलेवर धारण किया है।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : मई, १९२० ई०]

अशोक शास्त्री

अशोक की बात चल गई, कवि संकेत है कि आप कांता के पादाघात से फूलते हैं, कवियों ने इस पर अच्छी-अच्छी कही हैं। एक कहता है कि वाह अशोक, क्या कह रहे हो कि मैंने कान्ता को देखा ही नहीं ? विना उसकी लात खाये तुम यों फूलों से लदपद कैसे हो गये ? दूसरा कहता है कि नायिका ने नीचे-नीचे के अशोक के फूल चुन लिये, अब ऊपर की डालियों से फूल लेने वह उसकी और नीचे की डाली पर पैर देने लगी, बस सारी मिहनत बच गई ! नीचे ही फुलवाड़ी खिल गई। एक पंडित जी किसी की बहुत खुशामद करते थे, वह उन्हें झिड़कता था, जितना वह झिड़कता था, उतना ही वे आगे-आगे बढ़ते थे, उनका नाम यार लोगों ने रख दिया था—अशोक शास्त्री।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : मई, १९२० ई०]

धर्म में उपमा

उपमाओं के भरोसे हमारा बहुत सा काम निकलता है, धर्म में तो दृष्टान्त और उपमाओं के सहारे से बड़े-बड़े सिद्धान्त दृढ़ कर लिए जाते हैं, बटलर ने analogy पर एक पूरे का पूरा निबन्ध लिखकर बताया है कि धर्म के विषय में लौकिक उपमान कहां तक चल सकते हैं। हमारे धर्मोपदेशक उपमाओं की मर्यादा नहीं देखते, वे ये नहीं विचारते कि कहां तक उपमा घसीटकर ले जाई जा सकती है, जब आर्यसमाज ने यह कहना आरंभ किया कि 'पोपजी आपका पेट कोई लैटर बक्स थोड़ा ही है कि यहां खीर-पूरी डाल दी और वहां पितरों को मिल गई' तब सनातनधर्मियों के हाथ डाकखाने और मनीआर्डर की उपमा लगी। वे कहने लगे कि जैसे नाम-पता लिखकर यहां मनीआर्डर का रुपया देने जर्मनी में मार्क, इंगलैंड में पाउण्ड, और अमेरिका में डालर, तथा रूस में रूबल

मिल जाते हैं, वैसे यहां नाम-गोत्र कह देने से खीर-पूरी बैल पितर को घास, सिंह पितर को मांस और सर्प पितर को वायु बनकर मिल जाती है, सुननेवाले तालियां पीट देते हैं। जैसे धर्म-विषय में कोरे सभा में गये थे वैसे ही कोरे लौट आते हैं और एक परदेशी उपमा और पल्ले बांध लाते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अक्तूबर, १९२० ई०]

लायलपुर के बछड़े

गौ का बच्छे से कैसा प्यार होता है, यह वेद-पुराण सभी गाते आये हैं— "हिंकृण्वतीवत्समिच्छन्ती" गौओं का लौटना वेद की बड़ी सुन्दर वर्णना है, गृह्य-सूत्रों में पिता परदेश से आकर पुत्र का सिर सूंघता है, पशुओं का हिंकार बड़े प्रेम की निशानी जो ठहरी। गोसाईं तुलसीदास जी क्या सीता की विदाई में, क्या राम के अयोध्या लौट आने में, "बाल बच्छ जनु धेनु लवाई" को प्रीति की पराकाष्ठा की उपमा में रखते हैं, किन्तु लायलपुर या मांटगोमरी के सरकारी गोष्ठों में देखिए तो न बच्छे मा को पहचानते हैं, न मा बच्छों को। गोवंशशास्त्री और दुग्धवैज्ञानिकों का मत है कि माता की वत्स से प्रीति होने से दूध पतला हो जाता है, मनुष्य के लिए जितना उपयोगी होना चाहिए नहीं होता। इसलिए जनन होते ही बछड़े को अलग कर देते हैं, माता को उसे चाटने भी नहीं देते। इसका फल यह होता है कि स्नेह या ज्ञान बढ़ने नहीं पाता, या पैदा होते ही कुम्हला जाता है, पांच-चार दिन अलग रखकर बच्चा मा के पास आवे तो न मा उसकी ओर खिंचती है, न वह मा की ओर दौड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चे भूखे मर जाते या दुबले रहते हैं। इसके विपरीत वहां के बछड़े, चूंघनेवाले बछड़ों से ज्यादा दूध पाते हैं और मोटे होते हैं। सारा का सारा मा का दूध बछड़े को कुछ सप्ताह तक पिला दिया जाता है, किन्तु अलग बर्तन में, स्तनों से नहीं।

अब इस पुराने श्लोक की ओर आइए कि "जैसे हज़ार गायों में बछड़ा अपनी

मा को पहचान लेता है वैसे मनुष्य को अपना किया हुआ कर्म जन्मजन्मान्तर में मिल जाता है ।" इसके रचयिता ने वैज्ञानिक गौशालाएं नहीं देखी थीं, नहीं तो दृष्टान्त की विषमता या अभिचार साफ नज़र आ जाता ।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अक्तूबर, १९२० ई०]

घड़ी के पुर्जे

धर्म के रहस्य जानने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य न करे, जो कहा जाय वही कान ढलकाकर सुन ले, इस सत्ययुगी मत के समर्थन में घड़ी का दृष्टान्त बहुत तालियां पिटवा कर दिया जाता है। घड़ी समय बतलाती है। किसी घड़ी देखना जाननेवाले से समय पूछ लो और काम चला लो। यदि अधिक करो तो घड़ी देखना स्वयं सीख लो, किन्तु तुम चाहते हो कि घड़ी का पीछा खोलकर देखें, पुर्जे गिन लें, उन्हें खोलकर फिर जमा दें, साफ करके फिर लगा लें—यह तुमसे नहीं होगा। तुम उसके अधिकारी नहीं। यह तो वेदशास्त्रज्ञ धर्माचार्यों का ही काम है कि घड़ी के पुर्जे जानें, तुम्हें इससे क्या ? क्या इस उपमा से जिज्ञासा बंद हो जाती है ? इसी दृष्टांत को बढ़ाया जाय तो जो उपदेशक जी कह रहे हैं उसके विरुद्ध कई बातें निकल आवें। घड़ी देखना तो सिखा दो, उसमें तो जन्म और कर्म की पख न लगाओ, फिर दूसरे से पूछने का टंटा क्यों ? गिनती हम जानते हैं, अंक पहचानते हैं, सुइयों की चाल भी देख सकते हैं, फिर आंखें भी हैं, तो हमें ही न देखने दो, पड़ोस की घड़ियों में दोपहर के बारह बजे हैं। आपकी घड़ी में आधी रात है, जरा खोलकर देख न लेने दीजिए कि कौन-सा पेच बिगड़ रहा है, यदि पुर्जे ठीक हैं, और आधी रात ही है तो हम फिर सो जाएंगे, दूसरी घड़ियों को गलत न मान लेंगे, पर जरा देख तो लेने दीजिए। पुर्जे खोलकर फिर ठीक करना उतना कठिन काम नहीं है, लोग सीखते भी हैं, सिखाते भी हैं, अनाड़ी के हाथ में चाहे घड़ी मत दो पर जो घड़ीसाजी का इम्तहान पास कर

आया है उसे तो देखने दो। साथ ही यह भी समझा दो कि आपको स्वयं घड़ी देखना, साफ करना और सुधारना आता है कि नहीं। हमें तो धोखा होता है कि पड़दादा की घड़ी जेब में डाले फिरते हो, वह बन्द हो गई है, तुम्हें न चाबी देना आता है न पुर्जे सुधारना, तो भी दूसरों को हाथ नहीं लगाने देते इत्यादि।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अक्तूबर, १९२० ई०]

दूध के पैगम्बर

एक महाशय बछड़ों के हिमायती, दूध के शत्रु, अति सनातनी मिले, अति सनातनीयों कि दूध पीना, घी खाना, घी होमना सनातन धर्म है, वे उसके भी पीछे युग में जाते हैं। कहते हैं कि मनुष्य जाति का गोवंश पर परम अन्याय है कि वे बछड़ों की विरासत को छीने जाते हैं। गाय का दूध बछड़े के लिए है, बिना सींग के बछड़ों के लिए, मनु के इस कहने को कि पशु यज्ञ के लिए बनाये गए हैं और एक थन का दूध बछड़े के लिए छोड़ देवे, स्वार्थ की चरम सीमा कहते हैं। यदि मनुष्य से भी बलवती कोई योनि हो और वे स्त्रियों का दूध अपने बच्चों को पिलावें और हमारे बच्चों को घास पर सन्तुष्ट करना चाहें तो मनुष्य जाति को कैसा लगे? सुधारक महाशय का कहना है कि बछड़ों के हक का दूध पीने से मनुष्य में बैल-बुद्धि आ गई है और 'तस्मई' के प्रेमी ऋषियों को वे उसी दृष्टि से देखते हैं जिससे घास पार्टी के समाजी गृहसूत्रों के शून्यगव का ठीक अनुवाद करने वाले समाजी पंडितों को। बालशेविज्म मनुष्य जाति के आपस के अन्यायों की चर्चा करता है, यह अतिबालशेवक सुधारक मनुष्य और पशुओं के बराबरी के समय तक जाते हैं और वहां के अन्यायों की खोज निकालते हैं। इनके तर्क में कोई ननुनच की जगह नहीं है, सब ठीक है। बावन तोते (तोले) पाव रत्ती पूरा नाप-जोख करा न्याय है किन्तु इस तर्क को पीछे हटाकर मनुष्य जाति कहां पहुंचेगी? परमेश्वर ने भूमि सर्पों के रहने के लिए बनाई है। उनका हक

मार कर घर बनाना या खेती करना अनुचित है। फल पक्षियों के लिए बनाये हैं, उन्हें खाना तोते-मैनाओं को भूखा मारना है, ऊन भेड़ को शीत से बचाने के लिए है, उसे पहनना भेड़ को जाड़े में ठिठराना है, बलवान् या बुद्धिमान् दुर्बल या अबुद्धिमान् की चीज़ छीनता है, यह सनातन धर्म यदि न माना जाय तो मनुष्य जाति न मालूम कहां पीछी (पीछे) चली जाय !!

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अक्तूबर, १९२० ई०]

नौरंगसाह के नौरंग

बादशाह औरंगजेब को हिन्दी-कवियों ने नौरंगशाह कर दिया। जोधपुर के महाराज बड़ी संकटावस्था में थे, वहां समाचार मिला कि औरंगजेब मर गया, अपना दुःख भूलकर बोल उठे—

आई खबर अचिंत की, मिट गई तन की दाह।
कासीदां हम भाखियो, मर गयो नौरंगशाह॥

भूषण कवि ने एक प्रसिद्ध कवित्त में शिवाजी की प्रशंसा में कहा है कि—

'सौ रंग है शिवराज बली जिन,
नौ रंग में रंग एक न राख्यो।'

कवि को नौरंग में नौ की गिनती की स्फूर्ति हो आई, उसके साथ एक रंग न रहने देने और सौ रंग है की वाह, वाह गूंथने का मौका मिल गया। किसी दूसरे कवि को यह भूषण की बात खटकी कि नौ रंग में एक रंग का भी न रहने देना कवि ने कहां से कह दिया? नौरंगशाह में नौरंग तो दरसाने चाहिए, उसी पोथियों के बंडल[1] में यह कवित्त मिला जो भूषण की इस कल्पित त्रुटि को पूरा करता है या उसके सूत्र के भाष्य का काम देता है। इसी के आगे दो

१. देखें : गुलेरी रचनावली : दो प्रश्नों का एक उत्तर : पृष्ठ, १९३-९४

समस्यापूर्तियां "नौरंग में रंग एक न राख्यो" पर और हैं। कविता जैसी लिखी है, वैसी ही नकल कर दी जाती है—

प्याजी गई देस दिल्ली लुटाय
गुलाबी गई देच (स) दक्खणी हांको।
लाली गई बरछान की चौंच सों
लाखी अंबीरी (अमीरी) गई सुनि साको।
आबी कपूरी नरंजी गई
जब केसरिया रजपूत को माख्यो।
साह के सूर सेवा के सपूत तें
नौरंग में रंग एक न राख्यो॥

कमी एक ही रह जाती है कि सात रंग गिनाए, नौ नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : नवम्बर, १९२० ई०]

कस्तूरी मृग

हाँ, संस्कृत में 'रसगंगाधर' के कर्ता जगन्नाथ पण्डितराज शाहजहां के समय में हो गये हैं जिन्होंने घमंड से कहा है कि मैंने जो कुछ उदाहरण आदि रक्खे हैं वे स्वयं बनाकर रक्खे हैं किसी और के नहीं लिये, भला जिस मृग को कस्तूरी पैदा करने की सामर्थ्य है वह क्या मन से भी फूलों की सुगन्ध लेता है? जैसा रसगंगाधरकार ने दावा किया है, वैसा निबाहा भी है, वह भी इन्हीं हिंदी-कवियों के समय का था। उस गंध मृग में तो कस्तूरी पैदा करने की शक्ति थी, उसने फूल न सूंघे तो नहीं सही, किन्तु हमारे हिंदी के मधुप सूरदास और तुलसीदास के चंपा के वृक्ष के पास ही नहीं गये और न किसी गुड़हल के फूल को उन्होंने अपने हिए में गड़ाया। वे समझते रहे कि जैसे हममें नाद करने की शक्ति है, वैसे सुगन्ध उपजाने की भी शक्ति हमारे हिस्से आई है, फल यह हुआ

कि जैसे भट्टिकाव्य पढ़ने से पाणिनी के सारे सूत्रों के उदाहरण मिल जाते हैं, पर संस्कृत भाषा तभी आती है जब मन्त्र, ब्राह्मण और महाभारत में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए संस्कृत प्रयोगों की पहचान की जाय, वैसे ही स्वाधीन-पतिका और भाविसुरतगोपना के लक्षण और उदाहरण पढ़ लो किन्तु सूरदास की गोपियों की भाव मधुरिमा इन कवियों के भरोसे नहीं समझी जाती। न इन्हें पढ़कर कोई कवि बन सका। बकौल ग्रिअर्सन के स्वयं कवि न थे और जनम भर माथा खपाते रहे, दूसरों को कवि बनाना सिखाने के लिए!

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : नवम्बर, १९२० ई०]

भारद्वाज गृह्यसूत्र

भारद्वाज गृह्यसूत्र में कई बातें बड़ी अद्भुत हैं। और गृह्यसूत्रों में वैसी चमत्कार की बातें नहीं मिलतीं। यह गृह्यसूत्र 'कृष्ण यजुर्वेद' का है। जान पड़ता है कि इस शाखा का प्रचार बहुत पहले ही उठ गया था, क्योंकि गृह्यसूत्र की न बहुत पोथियां मिलती हैं, न टीकाएं न पद्धतियां। इसमें भी चार ढेलों की लाटरी की चर्चा है। पर विवाह के प्रसंग में दो-तीन रत्न छिपे पड़े हैं। उन अंशों का पूरा अनुवाद अर्थ समझाकर यहां दिया जाता है।[1] मूल को छापने की कोई ऐसी आवश्यकता नहीं। पोथी छप गई है इसलिए घड़न्त का दोष लेखक पर लग नहीं सकता।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अप्रैल १९२० ई०]

१. इस संदर्भ में 'विवाह की लाटरी' के लिए देखें : मेरे द्वारा सम्पादित : गुलेरी साहित्य-लोक : पृष्ठ ३३९

अक्ल बनाम नस्ल

भारद्वाज कहते हैं—विवाह करने के लिए चार बातें देखनी चाहिएं। धन, रूप, बुद्धि और बंधुजन (कुल)। यदि कन्या में ये चारों चीज़ें इकट्ठी न मिलें तो धन को छोड़ दे, तीन ही देखे। फिर भी तीन गुण न मिलें तो रूप को अलग करे। रहने दो। ये दो भी न मिलते हों तो इनमें से किसको छोड़े और किसको ढूंढ़े ? इस पर विवाद है। कुछ लोग कहते हैं कि बान्धवों को धत्ता बताओ क्योंकि साथ रहना है, प्रज्ञाहीन के साथ रहना कैसा ? इसलिए केवल प्रज्ञा देखे। दूसरे कहते हैं कि ब्याह किसी और अर्थ के लिए नहीं किया जाता। स्त्री किसी और मतलब के लिए नहीं ब्याही जाती, इसमें तो प्रजनन का काम ही प्रधान है इसलिए जो इस लक्षण के योग्य हो वही ब्याहनी चाहिए कि जिसमें प्रशस्त (सन्तान) उपजै। अर्थात् संवास—साथ बसना —गौण काम है जिसके लिए प्रज्ञा चाहिए, प्रजनन का काम प्रधान है जिसके लिए बान्धव देखने चाहिए। अतएव पहले पक्ष का मत है कि बांधव न देखे, प्रज्ञा देखे, दूसरे कहते हैं प्रज्ञा हो न हो, कुल देखे।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अप्रैल, १९२० ई०]

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ

लक्षणे जायापत्योष्टक् (३।२।५२) जायाघ्नस्तिलकालकः। पतिघ्ना पाणिरेखा (पाणिनि और पतंजलि)। उस समय भी हाथ की रेखा और तिल देखकर भविष्य कहने वाले लोगों की चलती थी। ये लक्षण देखे और परखे जाते थे।

कई गृह्यसूत्रों ने और धर्मसूत्रों ने कन्या के लक्षण गिनाये हैं। ऐसे बाल हों, ऐसी आँखें हों, ऐसा रंग हो, यह रोग न हो, वह न हो जैसे भौरियां देखकर घोड़े लिए जाते हैं, या जैसे सुधाकर जी की रामकहानी में हाथियों की जातियां गिनाई गई हैं वैसे न गिनाकर भारद्वाज शाखा वाले कहते हैं—लक्षण तो बहुत सारे

होते हैं। पर लक्षण-विद्या को जानने वाले एक श्लोक पढ़ा करते हैं वह यह है—

यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
तां विद्यात् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति ॥

[जिस्में मन रमै जाके जिसमें जा आंख भी लगै।
उसे सुलक्षणा जानो, ज्ञान में क्या धरा हुआ ?]

वाह भारद्वाजो ! किं ज्ञानेन करिष्यति ! क्या कहने हैं !! उस समय ये स्वतंत्र विचार !!! दूसरी शाखा वालों ने तुम्हें नास्तिक कहकर तुम्हारा हुक्का-पानी तो बन्द नहीं कर दिया था ?

भारद्वाज गृह्यसूत्र की सम्पादिका श्रीमती हेनरिएट जे०डब्ल्यू० सालोमन्स, लिट्० डी० के हम गुण गाते हैं कि उन्होंने हालैंड के लीडन नगर में यह पुस्तक छपवाया। यदि एक बात में हम डाक्टरनी हैनरिएट से सहमत नहीं हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम कृतघ्न हैं, या दान के घोड़े के दाँत देखते हैं। श्रीमती कहती हैं कि दोनों प्रकरण पीछे से गढ़े हुए हैं। पहले में तो रचना का ढीला-पन बताकर श्रीमती कहती हैं कि प्रजा (संतान) का 'प्रज्ञा' बन गया है और दूसरे पर फरमाती हैं कि किसी मसखरे ने पीछे से मिला दिया है। श्रीमती इस बात पर चौंक उठी होंगी कि असभ्य हिन्दुओं के यहां, धर्म के मारे हिन्दुओं के यहां—इतने पुराने समय में यह ख्याल कहां से आया कि साथ रहने के लिए प्रज्ञा जरूरी है, और यह आज़ादी कहां कि लक्षण ताक पर रखकर बीसवीं सदी की तरह जहां मन रम जाय और आँख लड़ जाय, वहीं ब्याह कर लो ! सस समय भी मनुष्य थे, भला-बुरा समझते थे, सूझ और उपज भी रखते थे, पुरुषों को विचारों की स्वतंत्रता का अमर्ष हो तो हो, स्त्रियों को भी वह हो गया ! बकौल 'मृच्छकटिक' के 'चारुदत्त' के—

यदि गर्जति वारिधरो, गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत ! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ?

[बादल गर्जें, गर्जो, होते हैं, पुरुष प्रकृति के निष्ठुर।
क्यों बिजली ! तू भी क्या, नारी-संताप जान नहीं सकती ?]

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अप्रैल, १९२० ई०]

असूर्यंपश्या राजदारा

रानियों के लिए बहुत दिन से सुनते आए हैं कि वे असूर्यंपश्या होती हैं। सूर्य को नहीं देखतीं। लक्षणा-व्यंजना का विचार करने वाले कहते हैं कि इसका यह आशय नहीं कि जनाने के भीतर खुले सहन नहीं होते और न खिड़कियां होती हैं जिनसे सूर्य भगवान् सूझ जायं, और न राजरानियां 'यथा उलूकहिं तम पर नेहा' होती हैं। यह केवल कैमुतिक न्याय है कि सूर्य को भी नहीं देखतीं, और का क्या ? पुरानी चालों के हिमायती ज़नाने की ऊँची दीवारों और ख्वाजा-सराओं की मजबूती में यह फिकरा पढ़ा करते हैं और पौराणिक तथा ऐतिहासिक रानियों के स्वतंत्र घूमने पर झेंपा करते हैं। भास के **'प्रतिमा'** नाटक का रामचन्द्र स्पष्ट कहता है कि—

निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
याने विवाहे व्यसने रणे च ॥

[यात्रा, विवाह, विपदा और युद्ध में जो।
स्त्री दृश्य होकर फिरें, नहिं दोष कोई ॥]

'भारद्वाज गृह्यसूत्र' इस असूर्यंपश्या पर एक नया प्रकाश डालता है। भारद्वाजों की विवाह-पद्धति में—संस्कार विधि में—वर वधू के दाहिने कान में कहता है कि—

मां चैव पश्य सूर्यं च मा अन्येषु मनः कृथाः।

[मुझे औ' सूर्य को देख, दूसरों पर न मन् चला]

यह मंत्र है। पति स्त्री को आज्ञा देता है कि मुझे देख और सूर्य को देख, आगे बस कर। अधिक पतिव्रता स्त्री सूर्य को भी नहीं देखती, वह केवल पति को देखती है, सूर्य तक पर निगाह नहीं उठाती। असूर्यंपश्या का अर्थ पतिव्रता हुआ न कि पिंजड़े की चिड़िया। इसलिए काशिकाकारों ने जो यह कहा है कि 'गुप्तिवरं चैतत्। एवं नाम गुप्तां यदपरिहार्यं दर्शनं सूर्यमपि न पश्यन्तीति।' यह उनके समय की चाल पर कहा है। पाणिनी के असूर्यंललाट योर्दृशितयोः (३।२।३६) में पर्दा सिस्टम की हिमायत, भारद्वाजों की उद्धृत की श्रुति के ज़ोर से, नहीं निकल सकती।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

ढेले चुन लो

शैक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' में पोर्शिया अपने वर को बड़ी सुन्दर रीति पर चुनती है। बबुआ हरिश्चन्द्र के 'दुर्लभ बन्धु' में पुरश्री के सामने तीन पेटियां हैं—एक सोने की, दूसरी चाँदी की, तीसरी लोहे की। तीनों में (से) एक में उसकी प्रतिमूर्ति है। स्वयंवर के लिए जो आता है उसे कहा जाता है कि इनमें से एक को चुन ले। अकड़बाज सोने को चुनता है और उलटे पैरों लौटता है। लोभी को चाँदी की पिटारी अंगूठा दिखाती है। सच्चा प्रेमी लोहे को छूता है और घुड़दौड़ का पहिला इनाम पाता है। ठीक ऐसी ही लाटरी वैदिक काल में हिन्दुओं में चलती थी। इसमें नर पूछता था, नारी को बूझना पड़ता था। स्नातक विद्या पढ़कर, नहा-धोकर, माला पहनकर, सेज पर जोग होकर किसी बेटी के बाप के यहां पहुंच जाता। वह उसे गौ भेंट करता। पीछे वह कन्या के सामने कुछ मट्टी ढेले रख देता। उसे कहता कि इनमें से एक उठा ले। कहीं सात, कहीं कम, कहीं ज्यादा। नर जानता था कि ये ढेले कहां-कहां से लाया हूं और किस-किस जगह की मट्ठी (मट्टी) इनमें है। कन्या जानती न थी। यही तो लाटरी की बुझौवल ठहरी। वेदि की मट्टी, गौशाला की मट्टी, खेत की मट्टी, चौराहे की मट्टी, मसान की धूल—कई चीजें होती थीं। बूझो मेरी मुट्ठी में क्या है—चित्त या पट्ट ? यदि वेदि का ढेला उठा ले तो संतान वैदिक पंडित होगा। गोबर चुना तो पशुओं का धनी होगा। खेत की मट्टी छू ली तो जमींदार पुत्र होगा। मसान की मट्टी के हाथ लगाना बड़ा अशुभ था। यदि वह नारी ब्याही जाय तो घर मसान हो जाय—जनम भर जलाती रहेगी। यदि एक नर के सामने मसान की मट्टी छू ली तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उस कन्या का कभी ब्याह न हो। किसी दूसरे नर के सामने वह वेदि का ढेला उठा ले और ब्याही जाय। बहुत से गृह्यसूत्रों में इस ढेलों की लाटरी का उल्लेख है—आश्वलायन, गोभिल, भरद्वाज सभी में है। जैसे राजपूतों की लड़कियां पिछले समय में रूप देखकर, जस सुनकर स्वयंवर करती थीं, वैसे वैदिक-काल के हिन्दू ढेले छुआकर स्वयं पत्नीवरण करते थे। आप कह सकते हैं कि जन्म भर के साथी की चुनावट मट्टी के ढेलों पर छोड़ना कैसी बुद्धिमानी है ! अपनी आँखों से जगह देखकर, अपने हाथ से चुने हुए मट्टी के डगलों पर भरोसा करना क्यों बुरा है और लाखों-करोड़ों कोस दूर बैठे बड़े-बड़े मट्टी और आग के ढेलों—मंगल और शनैश्चर और बृहस्पति—की कल्पित चाल के कल्पित हिसाब का भरोसा करना क्यों अच्छा है, यह मैं क्या कह सकता हूं ? बकौल वात्स्यायन के, आज का कबूतर अच्छा है कल के मोर से, आज का पैसा अच्छा है

कल की मोहर से। आँखों देखा ढेला अच्छा ही होना चाहिए लाखों कोस के तेज: पिण्ड से ! बकौल कबीर के—

पत्थर पूजे हर मिलें, तो तू पूज पहार।
इससे तो चक्की भली, पीस खाय संसार ।।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

ब्रह्मचारी को पान खिलाना

मेरे एक अनन्य मित्र हिन्दी के लेखक हैं। लेखक तो क्या हैं छठे सवार हैं, बुझी हुई ज्वालामुखी हैं, खून लगाकर शहीद बनते हैं, पर हैं कुछ ठठोल। 'ब्रह्मचारी' के सम्पादक ने उनसे लेख मांगा, सनातनियों के ऋषिकुल का सनातनी पत्र, कट्टर सनातनी संपादक। मेरे मित्र को क्या सूझी कि स्मृति की दुहाई देकर लिख बैठे—"भाई 'ब्रह्मचारी' में लेख कैसे लिखूं—

यतये कांचनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
चौरेभ्योप्यभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत् ।।

"संन्यासी को सोना, ब्रह्मचारी को पान, और चोरों को अभय देकर दाता नरक को जाता है" आकर मुझसे कहा। मैंने कहा कि मित्र यह तुम्हारा अभिमान है कि तुम अपने लेख को पान-सा रंगीला समझकर हिचकिचाते हो, कहीं वह सत्तू की मुट्ठी ही न हो ? ब्रह्मचारी को चाहिए कि जो उसका अपमान न करे—या चैनं नावमानयेत्। रही नरक जाने की बात सो यदि इस स्मृति के अक्षरों पर चलें तो हिन्दू आज सैकड़ों बरस से वहां विराजते होते जहां कि मुन्शी चितर गुप्त साहिब जाने का परमिट दिया करते हैं। हम यतियों को केवल कांचन ही नहीं देते परन्तु वे चीज़ें भी सौंप देते हैं जिन्हें कवि सोने की बेल के दो पहाड़ कहा करते हैं और जिन पर हथ्थ न पसारने वाले को तुलसी ने संसार में समरथ्थ कहा है। बालकों का विवाह करते हैं, नाचमुजरों में ले जाते हैं, 'रासपंचाध्यायी' सुनाते हैं तो पान न देने की बात कहां रही। रहे चोर तो उनके लिए अभय की क्या बात है, वे दिन दहाड़े लेते हैं और हम उन्हें दक्षिणा ऊपर से देकर प्रार्थना करते हैं कि हमारी पीठ ठोक दो, सुफल बुला दो।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, १९२० ई०]

राजनीति/धर्म

इण्डियन नेशनल कांग्रेस

पदेन खलुवा एते यन्ति विन्दन्ति खलुवा पदेन एतद्वृद्धमयनम् ।[1]
(तैत्तिरीयसंहिता ७।५।२।१-२)

'ऐतरय ब्राह्मण' में एक 'गवामयन' नामक यज्ञ का वर्णन है। उसमें होता को अर्धरात्र के पीछे प्रकाश होने के पहले-पहले, प्रायः १००० मन्त्रों के आश्विन-शस्त्र का पाठ करना पड़ता है। होता उसका पारायण करने के पहले कुछ घी भी पी लेवै क्योंकि जैसे लोक में तेल या घी लगाने से गाड़ी ठीक चलती है, वैसे उसका पाठ भी ठीक चलता है। यही नहीं, यदि उस सूक्त को पढ़ते-पढ़ते सूर्योदय न हो जाय, तो और कई सूक्तों का पाठ किया जाय, अथवा सारे ऋग्वेद का भी पाठ कर डाला जाय। तौ भी सूर्य न उगे तो रंग-बिरंगे पशु का यज्ञ किया जाय, और कई बार सूर्य न उदय हुआ हो तो देवताओं ने उसके लिए प्रायश्चित्त किए !! अन्य शासकों के नीचे भारतवासियों की पराधीनता रात्रि का अर्धरात्र बीत चुका है, और अब, कांग्रेस और उसका व्यय, सूर्य्योदय के पहले के सूक्त, घी, और याग के समान है।[2]

एक वेर गौएं यज्ञ करने बैठीं। इस इच्छा से कि हमारे सींग और खुर उग आवें। दश महीने उनका यज्ञ रहा। कुछ के सींग निकल आए और वे सफल काम होकर उठ खड़ी हुईं। बाकी अश्रद्धा से दो महीने और बैठी रहीं, और उन्हें ऊर्ज (बल) हो गया, किन्तु सींग न निकले। अस्तु, दोनों तरह की गौएं ही सबकी प्यारी, और सुन्दर हो गईं। गोभक्त, निःशस्त्र भारतवासी श्रद्धा से, वा अश्रद्धा

१. ये रस्ते से चलते हैं, रस्ते ही से अपने मन चाहे को पाएंगे, यही सफल वर्ष है।
२. निरुक्त १२, १। हांग का एतरेय ब्राह्मण ४, ७। आश्वलायन ६, ५, ३-८। आपस्तम्ब १४, १-२।

से दयामय सरकार से यों ही सींग और बल पाकर सुन्दर होंगे ।[1]

'ऋग्वेद' में एक 'मण्डूकसूक्त' है । उसके जप करने से अनावृष्टि हट जाया करती है । वसिष्ठ एक बार वृष्टि के लिए इन्द्र का स्तव कर रहे थे कि मण्डूकों ने उनका अनुमोदन किया । वसिष्ठ प्रसन्न होकर उनकी ही स्तुति करने लगे ।[2] योरोपीय वेदवित् तो कहते हैं कि ब्राह्मणों के यज्ञयागादिक की हँसी उड़ाने को यह सूक्त बना है, किन्तु सूक्त इतना सुन्दर है, और कांग्रेस की दशा को ऐसा जताता है कि हम उसका अनुवाद किये बिना अगाड़ी नहीं बढ़ सकते ।[3]—

" वार्षिक व्रत करने वालें ब्राह्मणों की तरह बरस भर तक सोए हुए, अर्थात् मेघ बरसने के लिए तपस्या करते हुए मण्डूक, मेघ को प्रसन्न करने वाली बोली बोलते हैं ।। १ ।।

" जब सूखी खाल की तरह सूखे हुए इन मैंडकों पर, तालाब में सोए-सोए, दिव्य जल गिरता है तब (वृष्टि होने पर) बच्चेवाली गौओं की तरह इनका बड़ा शब्द उठता ही है ।। २ ।।

" चाहते हुए, प्यासे इन मैंडकों पर, बरसात आने से, जब मेघ बरसता है, तब 'अख्खल' 'अख्खल' करके एक मैंडक दूसरे शब्द करते हुए मैंडक के पास, बाप के पास बेटे की तरह आ जाता है ।। ३ ।।

" जब पानी के मौके पर दो मैंडक प्रसन्न हुए, तो एक दूसरे से मिलता है । पानी से छिड़का हुआ, उछलता-उछलता पृश्नि रंग का मैंडक हरित मैंडक के साथ बोली मिलाकर शब्द करता है ।। ४ ।।

" हे मण्डूको ! आप में से एक दूसरे की वाणी को, अध्यापक की वाणी को विद्यार्थी की तरह, अनुवाद करता है । जब सुवक्ता आप लोग जल पर उछलते हुए बोलते हैं तब आपका सारा शरीर (जो गर्मियों में सूख गया था) हृष्टपुष्ट मालूम देता है ।। ५ ।।

" एक की बोली बैल की-सी, तो एक की बोली बकरे की-सी ! एक पृष्णि रंग का तथा एक हरे रंग का ! भिन्न-भिन्न रूप वाले होने पर भी एक नाम रखते हुए कई जगह बोलते हुए ये उठ खड़े होते हैं ।। ६ ।।

" अतिरात्र सोमयाग में जैसे ब्राह्मण पारी-पारी से स्तोत्र पाठ करते हैं, वैसे अब तुम भरे हुए तालाब के चौतरफ बैठकर रात को बोलते हुए, बरसाती दिनों में, वर्तमान होते हो ।। ७ ।।

१. ऐतरेय ब्राह्मण १४, १७, तैतिरीय संहिता : ७, ९, १-२, ९-२
२ निरुक्त ९, ६ ।
३. ऋग्वेदसंहिता : मण्डल ७ : सूक्त १०३

"ये मण्डूक सोमयाजी ब्राह्मणों की तरह सालियाना स्तोत्र करते हुए शब्द करते हैं। धर्म नामक प्रवर्ग याग (होम) को करने वाले पसीजते हुए वैदिकों की तरह, गर्मियों के सूखे हुए, छिपे हुए कई मण्डूक अब भी प्रकट नहीं होते ॥ ८ ॥

" यही नेता (लीडर) मण्डूक देवताओं के बनाए ऋतुक्रम को रखते हैं, अतएव बारह महीने के ऋतुओं को नापते हैं, नहीं बिगाड़ते। साल बीतने पर बसाति आने से गर्मियों के झुलसे हुए (अपने बिलों से) छुट्टी पाते हैं ॥ ९ ॥

" गौ की-सी आवाज़ वाला मैंडक हमें धन दे ! बकरे के-से शब्द वाला हमें धन दे ! पृश्णी रंग का हमें धन दे ! हरा मैंडक हमें धन दे ! जब हजारों औषधियां पैदा होती हैं, वा हजारों यज्ञ होते हैं, उन दिनों सैकड़ों गौवें हमें देते हुए मैंडक अपनी और हमारी आयु बढ़ावें ! ॥ १० ॥ "

कई शताब्दियों के अज्ञान और अत्याचारों की गर्मी से झुलसे हुए बृटिश राज्य की वृष्टि से अपनी सूखी खाल को पूरी करके वर्ष भर सो रहने पर भी हजारों कान्फरेन्सों की ऋतु में उस मेघ का स्तोत्रपाठ करते हैं जिसने रंग-बिरंगे, भिन्न-भिन्न आवाज़ोंवाले उनको एक नाम दिया है। चाहते हुए, प्यासे इन मैंडकों का अखल शब्द, जो वसिष्ठ (ह्यूम) का अनुमोदन करता है, पर्जन्यस्तुति ही है। देवताओं के बनाए ऋतुक्रम को ये ही रखते हैं क्योंकि लोगों को बड़े दिन की छुट्टी और नए वर्ष का आरम्भ इन्हीं द्वारा जान पड़ते हैं। इनमें से कई अब भी प्रकट नहीं होते। यही नहीं, नवम् मन्त्र भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं कि पर्जन्य की स्तुति करके ये ही वृष्टि के हेतु होते हैं !! तथास्तु।

जैसे मैंडकों की फटी खाल का समूची होना मेघ ही की कृपा है वैसे कांग्रेस भी दयामय सरकार की परम दया का दृष्टान्त है। 'तीसरी मद्रास कांग्रेस' की स्वागतकारिणी सभा के प्रेसीडेण्ट राजनैतिक-कुलतिलक सर टी० माधवराव ने ठीक ही कहा था कि कांग्रेस बृटिश शासन का गुणगान है। हलाकू और चङ्गेजखां से कौन अपने अधिकार मांग सकता है जिसे अपने कन्धों पर सिर भारी न हो? तैमूर और नादिरशाह से अपने अधिकार मांगने की किसको हिम्मत होगी ? चाहे कांग्रेसवाले सरकार का गुणानुवाद करके प्रतिक्षण पिष्टपेषण न करें, तथापि उनका प्रत्येक शब्द, और प्रत्येक चेष्टा, सरकार के महत्त्व का सूचक है। यदि मुसलमानी समय का कोई भारतवासी अंग्रेजी समझने की शक्ति पाकर स्वर्ग से उतर आवै, और कांग्रेस को देखै तो उसके मन में क्या भाव होंगे ? यह कब सम्भव है कि इतनी दूर-दूर के आदमी, एक वासना से, एक मन से यों इकट्ठे हों और अपने शासकों का छिद्रान्वेषण करें ? और उनकी जीभ

न काटी जाय और खाल कुत्तों से न नुचवाई जाय ? कौन इस बात की कल्पना कर सकता था कि इतने बड़े महाद्वीप के अधिवासी, भिन्नधर्मी, भिन्नाचारी, भिन्नभाषी यों मिलकर एक विदेशी भाषा में अपने सम्मिलित भावों को प्रकाश करेंगे ? यह जादू किसने किया, यों मुर्दों को किसने ज़िलाया ? यह उस महात्मा जाति का काम है जिसने असभ्य और उजाड़ देशों को सभ्य और पूरित बनाया है, जिसने करोड़ों दासों की बेड़ियां काटी हैं और जो 'राष्ट्रों की माता' कहलाने की पात्र हैं। साथ ही यह भी कोई न कहे कि कांग्रेस राजविद्रोह करती है, और असन्तोष फैलाती है। अंग्रेजी शिक्षा ने वकील, अध्यापक, डाक्टर, नौकर प्रभृति कई ऐसे मनुष्य उत्पन्न किए हैं जिनका जीवन बृटिश राज्य के होने ही में है। यदि, ईश्वर न करें, पुराना काल लौट आवै तो ये सब टके सेर को भी न पूछे जायं। सरकार का राज्य शस्त्रबल से अवस्थित नहीं है, उसे प्रजा के प्रेम की वज्रभित्ति पर टिकना चाहिए, और इसी कारण, एङ्ग्लो इण्डियन कर्मचारियों को, जो किसी को भी उत्तरदाता न होने के कारण उद्दण्ड हो जाते हैं, शासन में लाना और देशवासियों को कुछ-कुछ अधिकार देते जाना—पुराने वाइसराय उचित मान चुके हैं, और स्वर्गवासिनी महाराणी का घोषणापत्र स्वीकार कर चुका है। विदेशीय राजा को देशीय बातें जतलाना और इन दो सिद्धान्तों को पूरा करना कि "१. किसी जाति का कभी ऐसा शासन न हुआ और न होगा जिसमें परम सन्तोष वर्तमान हो और कोई नया अधिकार न पाना रहा हो और नई इच्छाएं न पूरी करनी हों, और २. कोई सरकार, वा शासकवर्ग ऐसे पूर्ण, निर्दोष और सर्वज्ञ नहीं हो सकते जिन्हें कुछ भी न कहना पड़े।" राजविद्रोह नहीं है, राजभक्ति है। वास्तव में देखा जाए तो कांग्रेस का-सा राजभक्त कोई नहीं होगा। **'पुत्रादिच्छेत् पराभवं'** के अनुसार कांग्रेसवालों से सरकार को प्रसन्न होना चाहिए, रुष्ट नहीं।

अब कांग्रेस अपने जीवन के उन्नीस वर्ष पूरे कर चुकी है और बालिग हो चुकी है। अतएव, उसके पुराने इतिहास पर सिंहावलोकित करके यह देखना अनुचित न होगा कि कौन-कौन प्रवृत्तियां इसकी बढ़ती की ओर जाती हैं, और कौन-कौन इसे रोक रही हैं।

लाट रिपन के काल के पूर्व भारतवासियों के अंग्रेज अफसर आदर्श थे। कई उत्साही नवयुवक उनके आचार-विचार की नकल करने में, उनके साथ खान-पान में, अपना सौभाग्य समझते थे और उन्हें आदर्श मनुष्य मानकर पूजते थे। यद्यपि लिटन के प्रेसएक्ट ने उन्हें अपने अधिकारों से वंचित होने की सूचना दे दी थी, तथापि उनका वह भक्तिभाव नहीं हटा था। इल्बर्ट बिल के विरोध ने उनकी आँखें खोल दीं, और उन्हें अपने अधिकार और उनकी उपेक्षा का पूरा ध्यान

दिला दिया । उसके पीछे १८८४ में कलकत्ते की अन्तर्जातिक प्रर्दशिनी में दूर-दूर के भारतवासी मिले । थियोसोफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशनों में भी मिलते रहने से उनमें परस्पर मिलने की इच्छा हो गई थी। लाट रिपन को विदाई का एड्रेस देने के लिए दूर-दूर के भारतवासी उस अपने नेत्रामृत पूज्य प्रभु को धन्यवाद देते हुए बम्बई में मिले । वहीं भारतवर्ष के 'वृद्ध' मनुष्य दादा भाई नौरोजी ने देश-देश के प्रतिनिधियों के वार्षिक मिलन का प्रस्ताव किया । बम्बई तो अभी इतना व्यय कर चुकी थी, मद्रास में वा पूना में सभा हो, यही विचार होता-होता रह गया । कांग्रेस के पिता ह्यूम साहब ने यह विचारा कि समाज संशोधन और शिक्षा विचार के लिए भारतवासी प्रतिवर्ष प्रधान-प्रधान नगरों में मिला करें और वहां के शासक सभापति बनाए जाया करें । जब यह प्रस्ताव ह्यूम साहब ने लाट डफरिन से शिमले में कहा तो उनने इसका विरोध करके और ही सलाह दी । उनने कहा कि इस देश में Opposition सरकार का विरोधी दल नहीं है, और सम्वाद-पत्र इस काम को कर नहीं सकते, अतएव तुम राजनैतिक सभा करो । मेरी इस बात से पूर्ण सहानुभूति है किन्तु जब तक मैं भारतवर्ष में हूं तब तक यह बात न खोलना । ह्यूम साहब ने इस बात का वचन दिया और प्रान्त-प्रान्त के नेताओं के पास प्रस्ताव फिराया जाकर सन् १८८५ में पूना में कांग्रेस करना विचारा गया । पूना में हैजा होने पर भी मान्यवर तैलङ्ग, मेहता और दादाभाई नौरोजी की कृपा से बम्बई में 'प्रथम इण्डियन नैशनल कांग्रेस' नामक जातीय यज्ञ का, उमेशचन्द्र बनर्जी (डब्ल्यू० सी० बनर्जी) के सभापतित्व में, १८८५ के बड़े दिनों की छुट्टियों में सुमुखश्चेकदन्तश्च हो गया ।

डफरिन साहब का विचार सत्य था । कांग्रेस के नेताओं ने सात वर्ष तक उच्छृ-खल समाज-सुधारकों के प्रस्तावों से पृथक् रहने का झगड़ा किया । सोश्यल कान-फरन्स अब भी कांग्रेस से पृथक् है, किन्तु उसने कांग्रेस के दल में बखेड़े, विवाद और फूट डाल दी है । समाजसुधार राष्ट्रीय महासभा द्वारा हो नहीं सकता । मान लीजिए कि कांग्रेस के मुसलमान कृस्तान और सुधारक डेलीगेट प्रस्ताव पास कर दें कि 'जातिभेद उन्नति का विघातक है' तो क्या फल हो ? महाराष्ट्र और मदरास के हिन्दू पड़दा उठा देने का प्रस्ताव अधिक सम्मति से पास कर दें तो मुसलमान भाई क्या करें ? दूसरे, समाजनीति और है, राजनीति और । हमारी विधवाओं का ब्याह नहीं होता, इससे क्या हम शस्त्र उठाने के योग्य नहीं हैं ? हमारी कुमारियों को शिक्षा नहीं मिलती, इससे क्या हम शासन करने योग्य नहीं हैं ? हमारे कृस्तान भाई हमसे ब्याह-शादी नहीं कर सकते, इससे क्या हम इस्तमरारी बन्दोबस्त के पात्र नहीं रहे ? समाजसुधारकों के दल में भी फूट है ।

वे कहते तो हैं, किन्तु स्वयं संशोधन करके चलने वाले डा० भाण्डरकर के-ऐसे उनमें विरले मिलते हैं। पूना कांग्रेस में सर्वसाधारण के विरोध ने सोश्यल कान्फ्रेंस को कांग्रेस के स्थान में न होने दिया और कलकत्ता सोश्यल कान्फरैंस के प्रेसीडेन्ट ने भी उसके प्रस्तावों का अनुमोदन नहीं किया!! अवश्य ही इस कान्फरैंस से एक बड़ा भारी लाभ यह है, कि जिन सरकारी नौकरों को कांग्रेस से स्नेह है वे भी इसमें आने के मिस से कांग्रेस को परामर्श आदि से सहायता दे सकते हैं।

बम्बई के प्रथम अधिवेशन में प्रतिनिधि चुने नहीं गए थे, और वे सौ से अधिक भी न थे। इन मुष्टिमेय प्रतिनिधियों से किसे आशा थी कि 'जातीय महासमिति' की जड़ जम जायगी? दूसरे वर्ष कलकत्ते में ४३६ प्रतिनिधि जुटे थे, राजा डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र अभ्यर्थना कमेटी के सभापति और त्यागशील, कर्मपटु, विलायत में भारत के प्रतिनिधि, दादाभाई नौरोजी सभापति थे। डाक्टर मित्र ने कहा था कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रतिनिधि यों मिल सकेंगे यह उनका एक स्वप्न था, जिसके सत्य होने की उन्हें आशा न थी। मद्रास में तीसरी जातीय महासमिति की बैठक हुई थी, जिसमें राजनैतिक मुकुट सर टाञ्जोर माधवराव स्वागतकारी थे, और बम्बई के मुसलमानों के नेता बदरुद्दीन तैयबजी सभापति। प्रतिनिधि संख्या ६०७ थी। उन दिनों यूरेशियन, एङ्गोइण्डियन और देशी कृस्तानों की पूर्ण सहानुभूति थी, और ह्वाइट, गैञ्ज, नार्टन प्रभृति ने कांग्रेस की पूरी सहायता की थी। सर टी०माधव राव ने कहा था कि कांग्रेस अंग्रेजी राज्य का सर्वप्रधान गौरव है। इन दोनों कांग्रेसों ने सिद्ध किया कि कांग्रेस वकीलों का तितिम्मा नहीं है, भारतवर्ष के सुशिक्षित मात्र का प्रयत्न है। विज्ञ-गौराङ्ग-पूजित-चरण डाक्टर मित्र, और चार प्रधान देशी राज्यों के बनाने वाले सर टी० माधवराव क्या वह वकील थोड़े ही थे जिन्हें इक्के का किराया नहीं मिलता और जो बकवाद में नामवरी पाना चाहते हैं? उस कांग्रेस में हिन्दी भाषा के इतने प्रतिनिधि उपस्थित थे—राजा रामपालसिंह और पण्डित मालवीय (हिन्दोस्थान), पं० प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण), देवकीनन्दन त्रिपाठी, (प्रयाग समाचार), रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन), पं० गोपीनाथ (मित्र विलास), पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी प्रदीप)। उस समय राजपुरुषों को कांग्रेस से चिढ़ नहीं थी। मद्रास के गवर्नर लाट कनेमारा ने सब प्रतिनिधियों को एक गार्डनपार्टी दी थी। चौथी कांग्रेस प्रयाग में हुई। उसमें बड़े-बड़े विरोध उठ खड़े हुए। लार्ड डफरिन की सहानुभूति एक सम्पादक की भूल से हट गई थी और उनने सेन्ट एंड्रज डिनर में कांग्रेस कर्त्ताओं को Microscopic minority कह दिया। बकवादी बङ्गलियों ने

'वाह वाह' और करतलध्वनि के लोभ से अपने व्याख्यानों में संयम का अतिक्रम करके राजपुरुषों का विरोध पैदा कर लिया। ऐसी भूलें कांग्रेस से कई हुई हैं! उन दिनों प्रधान कांग्रेस-विरोधी सर आकलेण्ड कालविन का पश्चिमोत्तर प्रदेश पर राज्य था। उनने Democracy not suitd to India नामक ग्रन्थ लिखकर भिनगा महाराज के नाम से छपवाया। मिष्टर नार्टन और ह्यूम ने इसका खूब मुँहतोड़ उत्तर दिया। उस समय कई 'जो हुकुम' खुशामदियों ने कांग्रेस का विरोध कर दिया। अलीगढ़ कालेज के संस्थापक सर सैयद अहमद ने एन्टी-कांग्रेस की दोहाई मचाई, और भाई-भाई को लड़ाया। कांग्रेस के लिए स्थान नहीं मिलता था, और पण्डित अयोध्यानाथ अपना मकान खुदवाने को तैयार थे कि स्वर्गीय दरभङ्गा नरेश ने एक कोठी मोल लेकर कांग्रेस को अर्पण कर दी। यदि उस समय पंडित अयोध्यानाथ न होते तो कांग्रेस का नाम-निशान न रहता। सर सैयद और खुशामदियों की शक्ति, सरकार का कोप, और मुसलमानों का विरोध, उस वीर ब्राह्मण के तेज के आगे न ठहर सका। जैसे उत्साह से वह चौथी कांग्रेस हुई थी, वैसा उत्साह फिर कभी न देखा गया। मुसलमानों में दो टुकड़े हो गए—एन्टिकांग्रेस, और कांग्रेसवाले। आयर्लेण्ड निवासी जार्ज यूल साहब सभापति थे और उनका भाषण मुर्दों की भी नसें फड़काने वाला था।

पांचवीं कांग्रेस सन् १८८९ में बम्बई में हुई। इसमें अभ्यंथना-सभापति फिरोजशाह मेहता और सभापति सर विलिमय वैडरवर्न थे। ऐसे अकृत्रिम भारत सुहृत् के सभापतित्व में वैसे ही अकृत्रिम मित्र सर चार्लस ब्राडला कांग्रेस में आए। प्रतिनिधि १८८९ आए थे। न्यायकारी कौन्सिलों के विचार में दो मुसलमान मेम्बरों ने यह औंधा प्रस्तात्र किया कि जितने हिन्दू चुने जायं, उतने ही मुसलमान! पीछे विलायत में आन्दोलन करने के लिए चन्दा हुआ जिसमें मांगने से दूना रुपया आया। उसी समय स्वामी आलाराम सागर ने अपना कम्बल उतारकर चन्दे में दिया था। ब्राडला साहब को एड्रेस दिया गया। कौन्सिलों के सुधार का जो बिल वे पेश करने वाले थे वह किसी और ने और तरह पास करा लिया। छठी कांग्रेस कलकत्ते में ६७७ प्रतिनिधियों के साथ, मनोमोहन घोष के स्वागत से फिरोजशाह मेहता के अधिपतित्व में हुई। उन दिनों सहवास सम्मति के पचड़े ने शत्रुओं को आशा दिलाई थी कि दो पार्टी होकर कांग्रेस टूट जायगी, किन्तु ईश्वर ने इस सामाजिक तूफान को दूर कर दिया। एक हिन्दी पत्र ने वृथा ही 'निशालीन काकरस' का विरोध आरम्भ किया, जो उसने अब छोड़ दिया है। कांग्रेस का सातवां अधिवेशन नागपुर में हुआ। प्रधिनिधि ८१२, अभ्यर्थक नारायणस्वामी नायडू, सभापति श्री युक्त पी० आनन्द चार्लू थे। सुगृहीतनामा पण्डित अयोध्या नाथ ने अगामिवर्ष के लिए कांग्रेस प्रयाग में बुलाई, किन्तु कांग्रेस

के विराट परिश्रम के मारे उस कर्म-वीर का देहपात हो गया। यदि किसी ने कांग्रेस को अपने प्राण दिए हैं तो पंडित अयोध्या नाथ ने। ६२५ प्रतिनिधि थे, पण्डित विश्वम्भर नाथ अभ्यर्थक, और डबल्यू० सी० बनर्जी सभापति।

नवीं कांग्रेस १८९३ में लाहौर में हुई। ८६१ प्रतिनिधि, सिख सर्दारों के नेता दयालसिंह अभ्यर्थक और दादाभाई नौरोजी सभापति थे। १८९४ में मद्रास में ११६३ प्रतिनिधि, रङ्गिया नायडू अभ्यर्थना समिति के सभापति और अलफ्रेड वेव सभापति थे। दूसरे वर्ष पूना में १५८४ प्रतिनिधि, राय बहादुर भिड़े अभ्यर्थना समिति के सभापति थे और सभापति वाग्मिवर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने सात घण्टे तक व्याख्यान दिया। १८९६ में कलकत्ते में महासभा भरी। प्रतिनिधि ७८४, सभापति बम्बई के रहमत उल्ला सयानी और स्वागत-सभापति हाईकोर्ट प्रधान न्यायपति सर रमेशचन्द्र मित्र और डाक्टर रासबिहारी घोष। १८९७ में बराड़ की राजधानी अमरावती में गणेश श्री कृष्ण खापर्डे की अभ्यर्थना, और अवस्था में सबसे छोटे प्रेसिडेन्ट शङ्कर नैयर के सभापतित्व में ६९२ प्रतिनिधि समवेत हुए। अगले वर्ष फिर मदरास में मिलन हुआ, प्रतिनिधि ६१४, अभ्यर्थक सुब्बाराव पान्तलू, सभापति श्रीयुक्त आनन्द मोहन बसु थे। १८९९ में लखनऊ में ७३९ प्रतिनिधियों के सभापति अर्थशास्त्रबित् रमेशचन्द्र दत्त महोदय विलायत से आए थे, उनकी अभ्यर्थना वृद्ध श्रीयुक्त बंशीलाल सिंह ने की थी। रमेशबाबू ने भूमि-कर सम्बन्धी विषयों पर ऐसी सारगर्भ वक्तृता दी थी कि वायसराय ने उन्हें शिमले बुलाया। आगामि वर्ष लाहौर में अधिवेशन हुआ जिसमें श्रीमान् कालीप्रसन्न राय की अभ्यर्थना में बम्बई के श्री युक्त चन्द्रावरकर सभापति थे। जिस सप्ताह में ये कांग्रेस के सभापति चुने गए उसी सप्ताह बम्बई हाइकोर्ट के न्यायपति बनाए गए। १९०१ में कलकत्ते में अधिवेशन हुआ जिसमें दिनशा ऐदुलजी वाचा सभापति थे, और नाटौर के महाराज अभ्यर्थक। १९०२ की कांग्रेस अहमदाबाद में हुई, उसमें अम्बलाल साकरलाल देसाई की अभ्यर्थना में बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सभापति बने थे और इस साल मद्रास में बाबू लालमोहन घोष सभापति की अभ्यर्थना नवाब सैयद ने की थी।

इस देश में राजनैतिक आन्दोलन नई बात है। सारे देश भर से सुप्त जातीयता को जगाने में कांग्रेस सफल मनोरथ हुई है। उसकी प्रार्थना से व्यवस्थापक सभाओं का सुधार हुआ, जूरी विचार प्रवृत्त हुआ, और आमदनी-टैक्स और नमक-टैक्स घटाया गया। यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है। विचार और शासन विभागों का पृथक् होना, सिविल सर्विस परीक्षा का इस देश में होना, सारे भारतवर्ष में चिरस्थायी बन्दोबस्त होना, सैनिक शिक्षा का प्रचार यह भी कांग्रेस की प्रार्थनाओं में से कुछ हैं।

कांग्रेस की त्रुटियां भी कम नहीं हैं। यदि इसके नेता संयम से रहते तो यह सरकार की चक्षुःशूल न होती। न इसके अपव्यय की इतनी धूम मचती। यदि उसके नेता कुछ होशियारी से चलें तो देशवासी सभी अंगरेज, यूरेशियन और देशीक्रस्तान इनके सहायक हो जायं। मुसलमानों का विरोध अब हट ही-सा गया है, क्योंकि एन्टीकांग्रेस केवल शिक्षा-समिति ही रह गई है। मुसलमानों में शिक्षा कम होना ही इसका कारण है, किन्तु नेताओं की उच्छृङ्खलता ने बारिष्टर हामिद अली जैसे कांग्रेस पक्षपातियों को भी अलग कर दिया। मुसलमान लोग यदि समझें कि हिन्दुओं की बहुतायत से नगण्य होकर हमारी क्षति होगी तो यह भूल है। निर्वाचन-प्रणाली मिलते ही बङ्गदेश और मद्रास के हिन्दुओं ने मुसलमानों को ही प्रतिनिधि चुना था। शिक्षित हिन्दुओं में वह भाव नहीं है। पार्सी मुसलमानों से भी थोड़े हैं, उन्हें यह भी बहकाया गया कि वे भारतवासी नहीं हैं, तथापि वे कांग्रेस के प्राण हैं। यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि मुसलमान जमीन्दार का अपनी हिन्दू-प्रजा से प्रेम है, हिन्दू राजा मुसलमान प्रजा को पुत्रवत् मानते हैं तो मुसलमान ग्रेजुएट और हिन्दू ग्रेजुएट लड़ रहे हैं। अस्तु, सर सैयद अपने पोते-पड़पोते तक की पैन्शन करा गए। विलायत में सर चालस डिल्की, डिगवी, हूयम, वैडरवर्न प्रभृति कांग्रेस के सुहृत हैं। केन और ष्टनलि का स्वर्गवास हो चुका। वहां कांग्रेस कमेटी आन्दोलन करती है और 'इण्डिया' नामक साप्ताहिक पत्र निकालती है। यह अपव्यय है; किसी विलायत के प्रधान दैनिक पत्र में एक कालम पा लेने से प्रभाव भी ज्यादा होगा, व्यय भी कम। कांग्रेस का कुप्रबन्ध भी कुछ कम नहीं। वर्ष भर तक सोकर चार ही दिन में देश भर का फैसला किया जाता है। जब कांग्रेस अपनी जान में स्वतन्त्र सरकार को प्रजामत दिखाने का दावा करती है तो उसमें लीडरों की उछृङ्खलता क्यों? वे तो प्रजातन्त्र का दावा करें। वास्तव में प्रतिनिधि सभाओं का और पार्लमेन्टों का काम बक-बक करना ही है। असभ्य ज़मानों में एक दूसरे से राय न मिल सकने पर मनुष्य एक-दूसरे को तलवार से काटकर देश को लाल रंगते थे, अब वह कटाई का काम जीभ से ही हो जाता है। ये भी एक प्रकार की Tyrrany ही है, जहां 'शून्य' 'कुछ नहीं' इस फल को उत्पन्न करने के लिए जबानी जमाखर्च होकर काट-पीट, अनुमोदन और खण्डन होते हैं। अच्छी बात है। आगे शून्य उत्पन्न करने की कला देशों में होती थी, अब पण्डाल ही में, तलवार और कवच के बदले जीभ और प्लेटफार्म से काम हो चुकता है और शासक मज़े में शासन करते हैं, किसान बेरोके खेती करते हैं। अधकचरे, ठग और धकेलने वाले मनुष्यों को बधाई है,—जिसे कुछ भी गुस्सा, गुस्ताखी, हठ, चालाकी और गला फाड़ना आता हो, वही नेता बन बैठे। तलवारों से शत्रुओं को हटा दें, किन्तु आदमियों

के गलों को कौन हटा सकता हैं ? आकाश के नीचे खड़े होने को जगह बहुत है, कुर्सी मूढा नहीं तो ओंधा पीपा ही सही, पत्थर ही सही, सुननेवाले भी कम न होंगे। महापुरुष नेताओं के लिए नियम बनाने की जरूरत नहीं; उनका एक तन्त्र-भी प्रजातन्त्र से अच्छा होता है। हूचम साहब अपनी इच्छा बलात्कार से चलावें, औरों को फटकार दें, तो भी ठीक है, किन्तु उनके यहां न होने पर कांग्रेस बिना सूंड के हाथी की तरह न चले। यदि कांग्रेस को काम करने वाले मिले हैं तो पञ्जाबी मिले हैं। उनने ही शिल्प-प्रदर्शिनी आरम्भ की, जिस में नाटोराधीश, गायकवाड़ और माइसोर के राजा, क्रम से प्रधान बन चुके हैं। उनके प्रस्ताव से एक स्टेण्डिङ कांग्रेस कमेटी बनी थी, जो सभापति चुनने प्रभृति प्रबन्ध के कामों को सम्हालती थी। १९०० की लाहौर कांग्रेस के लिए उन ने विष्णुनारायण धर को चुना किन्तु वे अस्वस्थ थे, अतएव चन्द्रावकर्र का नामकरण हुआ और किसी ने आपत्ति न उठाई। दूसरे वर्ष कमेटी ने बाचा को चुना और देश भर ने स्वीकार किया। बातौनी वीरों को यह बात भाई नहीं। कमेटी तोड़ी गई। अहमदाबाद और मद्रास की कांग्रेसों में प्रेसीडेण्ट चुनने में क्या-क्या खटराग हुए हैं, उन्हें सब जानते हैं। कालीचरण बनर्जी का नाम तीन दफे लिया गया। किन्तु सुरेन्द्र बाबू अहमदाबाद में दर्बार करने गए। इधर भी स्टेड, काटन, प्रभृति कई लोगों के नाम लिए गए, किन्तु किसी के स्वीकार न करने पर राजनैतिक योगी लाल-मोहन घोष अंधरे में से निकाले गए। पञ्जाब के लोग इसी से कांग्रेस से पृथक् हो गए थे। उनका प्रस्ताव यह भी था कि एक दिन भर शिक्षा और शिल्प के प्रस्तावों को दिया जाय। अब उनकी उदासीनता हट गई है, किन्तु प्रबन्ध नहीं हुआ।

जातीय कान्फरैन्सें, बड़े दिन की छुट्टियों में होकर कांग्रेस में योग देने से लोगों को रोकती हैं। लोग कांग्रेस को बच्चे खानेवाली बिल्ली की उपमा देते हैं जो प्रादेशिक कान्फरैन्सों को नष्ट करती है। उत्साह भंग होना हमारे देश का गुण है। अहमदाबाद कांग्रेस तो प्रादेशिक कान्फरैन्स ही मालूम देती थी। पुराने कांग्रेस के बन्धु सुस्त हो गए हैं। कुछ को फूट ने अलग किया है। कुछ स्वेच्छा से हटे हैं। उनको जगाने के लिए सेनापति वैडरवर्न, दादभाई, डबल्यू० सी० बनर्जी और ह्यूम ने 'शंखनाद' **हिन्दुस्तान रिव्यू** में प्रकाशित किया है। वैडर बर्न और ह्यूम के पत्रों का अनुवाद 'समालोचक' में छपैगा। अब फटी थेगली को सीने का समय है, नहीं तो उपहास होगा। कांग्रेस भारतवासी मात्र की सम्पत्ति है और प्यारी सम्पत्ति है। जो लोग कांग्रेस को 'अज्ञात में कूदना' कहते हैं वे देखें कि हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति, व्यवस्थापक सभाओं के मेम्बर, सभी कांग्रेस के पक्षपाती हुए हैं। तथापि कांग्रेस का प्रभाव सर्वसाधारण पर नहीं पड़ा है। पहले तीन-चार वर्षों में जिसे

उत्साह से अंग्रेजी और देशी भाषाओं में ग्रन्थ लिखकर बांटे गए थे, वह बात अब स्मर्तव्यशेष है । कांग्रेस को देशी भाषाओं से घृणा है, वह उनके व्याख्यानों को भी नहीं छापती । काशीनाथ खत्री ने कांग्रेस पर हिन्दू-उर्दू में लिखकर उसे सर्वप्रिय बनाया था। यदि कांग्रेस की रिपोर्ट और ट्रेक्ट हिन्दी भाषा में बांटे जायं, यदि कांग्रेस के नेता शहरों में देश-भाषा में व्याख्यान दें, यदि कांग्रेस में भी आधे व्याख्यान भाषा में हों, तो कांग्रेस का प्रभाव कई गुणा बढ़ सकता है । कांग्रेस का सभापति होना, भारतवासी के लिए बड़ा भारी सन्मान है । जब कई सज्जन उसके पात्र बैठे हैं तो सोने पर सोना चढ़ाने अर्थात् एक ही सज्जन को बार-बार सभापति करने का क्या लाभ है ? अभी यूरेशियन और देशीय कृस्तानों में से कोई सभापति नहीं चुना गया है । युक्तप्रान्त और पंजाब का भी कोई सभापति न बना। इन बातों से असन्तोष हो सकता है ।

प्राचीन हिन्दुओं में से अब तक आनन्द चार्लू ही सभापति बने हैं । आगामी बम्बई कांग्रेस में सच्चे हिन्दू जष्टिस गुरुदास बनर्जी को सभापति बनाना चाहिए, या देशी कृस्तानों के लीडर कालीचरन बनर्जी को, जिससे कि दो बार चुने जाकर न चुने जाने का उनका दुःख मिटै ।

कांग्रेस को मिस सरला घोषाल का जातीय खेलों का भी प्रस्ताव हाथ में लेना चाहिए । परीक्षाओं में नम्बर पाना, बकवाद करना, मेज पर कलम रगड़ना, फूटी आँखें, टूटी कमरें, यही अधिकार पाने की निशानियां नहीं हैं । आस्तीनें चढ़ाना सीखना चाहिए, क्योंकि कार्लाइल के मत में राजदण्ड हथौड़े का (जो सिर समझाने से न मानें उनको तोड़ने के लिए) रूपान्तर है । हथौड़ा उठा सकने वाले राजदण्ड भी उठा सकते हैं ।

जब परमेश्वर ने हमें ऐसी दयालु सरकार दी है तो अवश्य ही अन्त में देश का भला होने वाला है । कांग्रेसकर्त्ताओं की पुष्पिता वाणी भी इस बात को नहीं छिपा सकती कि उनके दल में फूट है । मद्रास कांग्रेस में इन्द्र के कोप से जलप्लावन की बात पढ़कर न केवल तालाब के चौतरफ बैठे मैंडकों का स्मरण होता है किन्तु कांग्रेस के नाटकमय खिलौने पर परमेश्वर की अप्रसन्नता ही जान पड़ती है । फ्रान्स के विप्लव के दिनों में बकवादी फरांसीसियों ने कई गज ऊंचा रंगमंच बनाकर उसमें 'न्याय, राजा, प्रजा,' की ओर सच्चे होने की भक्ति की शपथ की थी, उस दिन वृष्टि ने सब मज़ा बिगाड़ दिया था।[1] हां, कांग्रेस के नेताओं ने यह तो जाना होगा कि सुख में चाहे वे लड़ें किन्तु दुःख में वे एक हैं, क्योंकि उनके

1. Carlyle's History of the French Revolution, Vol II, Book-I, chap. XI, XII.

कपड़े वाटरप्रूफ नहीं हैं तो उनकी खाल तो वाटरप्रूफ है !!

अस्तु ! कांग्रेस के नेताओं को अपना सुप्रबन्ध करना चाहिए, क्योंकि इस लेख के ऊपर लिखी श्रुति कहती है कि रस्ते से चलने से ही सब कुछ होता है ।[1] नहीं तो कार्लाइल के मत में हम भी यह कहेंगे—God confound you, your paper constitutions and theory of irregular verbs. परमेश्वर तुम्हारे कागजी प्रबन्ध और असमाप्त क्रियाओं की परिपाटी को नष्ट करै !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

प्रदर्शिनी

मद्रास में कांग्रेस के साथ जो शिल्पप्रदर्शनी होने वाली है उसके विज्ञापन शंकरं नैयर प्रभृति के हस्ताक्षरों से सरकारी गज़टों में छपे हैं। उनमें बिचारी कांग्रेस का नाम तक भी नहीं है। क्या कांग्रेस के कर्णधारों ने सरकारी कृपा वा यूरोपियनों की सहानुभूति के लिए स्वयं प्रख्यापित स्वार्थत्याग को ढकेल फैंका है। बच्ची प्रदर्शिनी की माता का नाम भी नहीं !!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

१. इस लेख में, और और पुस्तकों के सिवाय, बंगला मासिक पत्र 'साहित्य' के एक लेख की सहायता ली गई है। (स० सं०)

बंग का भंग

सप्त शल्यानि : 'नृपांगणगतः खलः'—गत मास भारतवर्ष में घटनाओं का चक्र इस तेज़ी से घूम गया है कि देखनेवालों को मुंह बाकर और सिर पर हाथ रखकर उसका स्मरण करने में भी कठिनाई पड़ती है। क्या था, और क्या हो गया और उसका परिणाम क्या होगा, इसी की जांच करने में ऐतिहासिक, कभी सही और कभी गलत, अन्दाज़ लगाते हैं। गत मास ऐसे कई अन्दाज़ टूटे हैं और कई नए अन्दाज़ फिर टूटने के लिए बंध गए हैं। किस प्रकार प्रजा के मत को लात मारकर और नए प्रस्ताव पर प्रजा का मत न लेकर, छिपे-छिपे ही बंगालियों की बढ़ती जातीयता के मूल में कुठार मारने वाला भंग का विचार, कर्त्ताओं ने ठानकर प्रजा पर डाल दिया, यह मालूम ही है। उसके पीछे मर्माहत बंगाली जाति ने गाँव-गाँव सभा करके इसका विरोध आरम्भ किया, बंगीय कौंसिल के क्या युवा, क्या वृद्ध सब ही ने इसे बंगालियों और अंग्रेजों के सदा के द्वेष को जगाने वाला कहा और इधर-उधर व्यवहारकुशलों ने विदेशी पदार्थों के त्याग और स्वदेशियों के ग्रहण का बीड़ा उठाया। इसकी परमावधि कलकत्ते के टाउनहाल और उसके उपप्लव मैदान की २०,००० मनुष्यों की सभा ने कर दी जिसमें स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग से अनपेक्ष इंग्लेण्ड की जेब काटने और शोक की सवारी में विद्यार्थियों को लगाकर उनके उत्साहप्रिय समाज को मिलाने की दूरदर्शिता दिखाई गई। विश्वदूत रूटर की कृपा से यह कोलाहल वृथा न गया, और दो दिन पीछे ही सर हैनरी काटन के उपदेश से मि० हर्बर्ट रावर्ट ने, लिबरल नेताओं की सहानुभूति से, पार्लिमेंट में इस विषय पर विचार करने का प्रस्ताव किया। यद्यपि अनुकूल सम्मति होने से स्वीकार की आशा न थी, तो भी यदि 'अपने देश के सिवा सब देशों के मित्र' सर मञ्चूर जी भावनगरी उलटा विरोध करके चक्षुःशूल न बनते तो अच्छा ही होता। 'यस्तित्याज्यसचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति' और बंगालियों ने अपनी भाषा के अनुसार

उनका अच्छा 'सत्कार' कर दिया। मि० ब्राडरिक के और कागज़ पार्लिमेंट में पेश करने के वचन पर वह प्रस्ताव पीछा लिया गया और विलायत के सभी पत्रों का ध्यान इससे बंग-विच्छेद की तरफ़ हो गया। सम्भव नहीं कि इस विषय में श्रीमान् लार्ड कर्ज़न की गीशमाली न की गई हो, और ब्राडरिक महाशय इतने अनजान बने थे, मानो उनने आँख मूंदकर वायसराय को प्रसन्न करने को ही बंग-विच्छेद पर सम्मति दे दी हो। भारतवर्ष के सेना-सुधार में कुछ मास पहले जैसी उनकी बात बिल्कुल न सुनी गई थी, वैसे कुछ तो उनके सान्त्वन का उपाय चाहिए ही था। परन्तु सान्त्वन से वास्तव सांत्वन न हो सका।

सेनापति का चक्र : यद्यपि सेनापति के नए अधिकार और सेना के नये प्रबन्ध से सारा अधिकार और प्रताप वायसराय से प्रधान सेनापति में आ गया है, और 'मुल्की लाट' केवल पति 'जंगी लाट' का बिल चुकाने वाले रह गए हैं जिससे भारतवासियों की लचकी पीठ सेना के बोझ से बहुत शीघ्र टूट जा सकती है, तो भी भारतवासी इस विषय में उदासीन थे।

पहलवानों का दंगल : तुलसीदास जी के शब्दों में, 'कोई नृप होइ हमें का हानी। चेरी छांड़ि न होउव रानी'। उन्हें सिविल एकतन्त्र से मिलिटरी एकतन्त्र केवल एक अंश ही अधिक अन्यायी जान पड़ा। सिविल एकतन्त्र कौन-सा उन्हें दूध देता था? दूसरे, जिस जाति को सदा हवल्दार तक बनकर रह जाना है और जो कभी सेना के ऊंचे पदों की आशा नहीं रखते उसे सेना के प्रबन्ध से क्या? और रूस के आक्रमण के स्ट्रेटेजी से क्या? तीसरे, उनकी दृष्टि में सेनापति और वायसराय का संगर दो लंगर बांधे पहलवानों की कुश्ती या मुर्गों की लड़ाई थी। लोग यही जानते थे कि सेर को सवासेर मिल गया है, लड़ाई हो रही है। विलायत में भी इस विषय का शास्त्रीय गुरुत्व जाता रहा, केवल दो प्रबल पुरुषों की टक्कर ही रह गई जिसमें खिसियाकर लार्ड कर्जन ने इस्तीफे की धमकी दी थी। उनके यश के लिए अच्छा होता, यदि वे उस समय पृथक् हो जाते।

अमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम्! : यद्यपि भारतवासी उनकी सर्वतोभद्र शक्तियों के विश्राम के लिए देवी-देवता मना रहे थे, और चाहे वे भारतवर्ष में सिविल सर्विस कराने का पक्ष लेकर इस्तीफा देते, तो भी देश उनके ठण्डे-ठण्डे जाने से प्रसन्न होता; परन्तु पीछे यदि एकतन्त्र सेनाधिकार उन्हें दुःख देता, तो वे उस वायसराय का स्मरण करते जो और बातों में दुःख देकर भी इस बात में उनका पक्ष लेता था। परन्तु श्रीमान् ने चार छोटे और निष्फल परिवर्तनों पर यह मानकर संतोष किया कि मिलिटरी मेम्बर अपना ही नियत करके किचनर के क्रम को अपदस्थ कर देंगे और एक वर्ष और भारतवर्ष भोग लेंगे! परन्तु श्रीमान् की गणना में अबके भूल हुई।

चुपड़ी और दो दो ? : मि० ब्राडरिक ने अब के सर एडमण्ड बारो को नियत करने वा न करने का अपना अधिकार इन्हें न दिया। इस विषय का जो तार-व्यवहार छपा है उसमें स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पार्लेमेंट बन्द हो जाने से निःशंक मि० बालफोर और ब्राडरिक असम्भावित लार्ड कर्जन को निकालने को तैयार थे। मि० ब्राडरिक ने स्पष्ट कहा "तुम्हारे कहने से मैंने बंग-विच्छेद मान लिया, और तुम्हारे चाहे कौंसिल के मेम्बर दे दिए, अब क्या मैं मट्टी का मम्मा हूं ?"

कर्जन का तर्जन : जैसे लड्डू न मिलने से बिगड़ैल लड़का फांसी की धमकी देता है, वैसे ही मान्यवर ने इस्तीफे की धमकी दी। मि० ब्राडरिक तैयार थे। अपनी आस्तीन में लार्ड मिण्टो को लिए बैठे थे। झट उनको नियत करके मान्यवर के पीछे आगल ठोंक दी जिससे फिर श्रीमान् लार्ड कर्जन आफ कैडलस्टन अपना मत न बदल सके।

पीतल के टुकड़े : इस घटना से सिद्ध होता है कि वालफोर दल के लोग कैसे पीतल के टुकड़े हैं जो अपने को सोना समझ रहे हैं। पार्लेमेंट रहते तो वालफोर और ब्राडरिक की हिम्मत नहीं हुई जो लार्ड कर्जन को पृथक् कर सकते, परन्तु उसके उठते ही उन्हें कोने में फंसाकर इस्तीफ़ा दिलवाकर माने। भारतवर्ष में महाराजाधिराज के प्रतिनिधि ने भी संशोधन के सार्वजनिक विषय पर तो इस्तीफ न दिया, परन्तु व्यक्तिगत सिफारिशी के नियत न होने पर पृथक् होना ठीक समझा। मच्छरों को छाना और ऊंटों को पिया। लोग आश्चर्य न करें कि लार्ड कर्जन ने शिमले की मसनद को खाली कर दिया और सूर्य अभी उदय होता ही है ! प्रलयकाल के मेघ भी नहीं आए और भूकम्प भी नहीं हुआ ! क्या हुआ ! श्रीमान् का अधःपतन ! उससे विश्व ब्रह्माण्ड को क्या ? इतना अवश्य है कि ऐसा पतन ऐतिहासिक घटनाओं में विलक्षण है।

विरुद्ध धर्माश्रय : कितने विरुद्ध-धर्मों का इसमें समावेश था, और कैसे एक-तन्त्र स्वाधीनता के श्रीमान् के मस्तक को फिर दिया था ! जो स्वयं विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा का ऋणी है वह उसके द्वार को बन्द और पढ़ाई को व्यय-साध्य करें ! जो समाचारपत्रों के राजा 'टाइम्स' का सम्वाददाता रहकर बढ़ा है और जिसका ढोल समाचारपत्रों ने पीटा है, वह उनकी स्वाधीनता रोके ! जो व्याख्यानों में बड़ा हुआ है वह 'भाषण की गुलामी' की निन्दा करें ! जिसे पार्लेमेंट ने चढ़ाया, वह उसको तटस्थ कर देवै ! जो महाराणी विक्टोरिया का अन्तिम वायसराय हो वह उसके साम्यवाद के घोषणापत्र को कजोड़ा समझे ! जो कोरिया में परमसत्य बोल चुका है, वह एशिया के सत्य के आदर्शों को

लथेड़ै ! जो अमेरिका के धनिकों को वर्मा में खान के सुभीते दे चुका है वह टाटा के विश्वविद्यालय की चक्की में कंकर डालै ! राजाओं ने जिसके पारिपार्श्वक बनकर 'उद्यानपाल सामान्यं' शोभा बढ़ाई उनके अधिकारों को वही कम करे और उन्हें रेजीडेंटों की गुड़िया बनावै ! जिसने यूरोपियनों का रजवाड़ों में जमना बुरा समझा वही उनके लिए नये-नये पद बनावे ! जिसको बंगाली पंडितों ने श्लोक पढ़-पढ़कर आशीर्वाद दिए, वही बंगाल का बलिदान करै ! जिसने सर फीरोजशाह को के० सी० एस० आई० दी, वही यूनीवर्सिटी वैलिडेशन एक्ट पास करे। जो चेम्बर आफ कामर्स से दावत में मिला, वह सर हैनरी काटन से कांग्रेस के प्रस्ताव न ले ! जो प्रोटेक्शन का विरोधी था, वह देश की कलाओं को न बढ़ावै ! जो सोमालीलेण्ड और ट्रांसवाल में भारत की सेना का व्यय न देता था, वही सेना के व्यय को बढ़ावै और सेनापति की उद्दण्डता को दबाने में वही दुर्बल हो जाय, जो विश्वविद्यालय ऐक्ट और बंग-भंग में सहस्रबाहु था।

पहले-पहले श्रीमान् के भाषणों से और कार्यों से भारतवासियों को आशा हुई थी कि रिपन का भाई आया, और राजाओं ने समझा कि हम पर विश्वास करनेवाला आया। परन्तु, वह संस्कार मिट गये। भारतवर्ष यदि श्रीमान् का किसी बात में ऋणी है तो कुछ कर घटाने और पुरानी इमारतों की रक्षा का और नहीं तो पीछे ढकेले जाने का। परन्तु सारी प्रजा के विरुद्ध मत को जानकर भी श्रीमान् दूसरी दफ़ा भारतवर्ष में आए और रत्न से जुगनू बनकर, और अपने यश को नष्ट करके, सेनापति के हाथों से 'अपवादैरिवोत्सर्गाः' बन गए। एक मारवाड़ी पत्नी ने अपने पति को कहा था, "साजन! तुम बहुत लायक हो, मुझे तो तुम्हारे साथ यह मिला कि जो घर में नहीं था, वह तो आप लाए नहीं और जो था वह खो दिया।" सम्भव है कि कुछ वर्षों पीछे भारतवर्ष आपको भूल जाय किन्तु अभी तो—

'पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे,
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विगलति ॥'

तिसंकू विआ अन्तराले चिट्ठ ! : चाहे खुशामदी लोग श्रीमान् को विदाई के तार दें, और बम्बई ही नहीं, अदन तक पहुंचाने जावें परन्तु देश का मत श्रीमान् के विषय में यही है कि श्रीमान् को शीघ्र ही विदाई न मिल गई और उनकी सर्वतः पाणिपाद शक्ति बंगाल के भेदन से बाज़ न आई। पुराणों में जैसे पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में लटकते त्रिशंकु की राल कर्मनाशा से अंग को अपवित्र कर गई वैसे ही श्रीमान् ने भी १ सितम्बर को बंग-विच्छेद की घोषणा कर दी।

'मुर्गे बिस्मिल ! मत तड़प, यां आंसू बहाना है मना !' जब मि० ब्राडरिक

पार्लमेंट को और कागज़ात पेश करने का वचन दे चुके हैं, तब इस शीघ्रता का करना न्याय है या नहीं, यह विचारणीय है। जैसे तिब्बत मिशन में सरकारी आज्ञा का पालन न करने पर श्रीमान् के लत्ते लिये गए थे, वैसे मि० ब्राडरिक फरवरी में इस विषय में कुछ करेंगे या नहीं, यह प्रश्न है।

आइए ! :

अब स्थविर लार्ड मिन्टो भारतवर्ष में आते हैं और भारतवर्ष में उनका स्वागत है। बुढ़ापा बुद्धि का पिता है। और आशा है श्रीमान् शीघ्र ही आकर श्रीमान् युवराज के पथदर्शक बनेंगे क्योंकि जब तक वे नहीं आते तब तक यही न रह जायं, यह डर लगा हुआ है। जैसे श्रीमान् के पूर्वज गवर्नर जनरल ने बिना एक गोला गोली बरसाये, नैपोलियन के आक्रमण का भय हटाया था, वैसे श्रीमान् भी क्या उपचीयमान् सेना व्यय के कारण रूस के भकोओं को सदा के लिए शान्त न कर देंगे ?

स्वदेशी आन्दोलन :

बंग देश में कोलाहल के साथ-साथ स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का आन्दोलन फैलता जाता है। गांव-गांव में सभा होती हैं। बड़े-बड़े ज़मींदारों ने स्वयं कलें खोलने की प्रतिज्ञा की है। मैञ्चेस्टर के माल को फैलाने के पाप का प्रायश्चित्त मारवाड़ियों ने बुरी तरह भोग लिया है और उन्हें अच्छी हानि उठानी पड़ी है। अब वे बंगालियों के साथ ही रहें, इसमें कल्याण है। मैनचेस्टर वालों ने निर्द्वन्द्व बन कर उन्हें जो आन्दोलन न करने का उपदेश दिया है उसे पढ़ कर हँसी आती है। चाहे मैनचेस्टर की जेब कटने से इंग्लेण्ड वाले ध्यान दें, चाहे न दें, स्वदेशी आन्दोलन देश भर में व्याप्त होना चाहिए। बंगाली पंडितों ने शास्त्रों में से स्वदेशी वस्तुओं के श्लोक खोजना आरम्भ किए हैं और अपने शिष्यों के नाम आज्ञा-पत्र लिखे हैं। यह नई व्यवस्था है। क्या अच्छा हो, यदि कुछ पंडित विदेश-यात्रा के भी यों ही प्रमाण ढूंढ़ दें जिससे श्री वेंकटेश्वर समाचार' का तो मुंह बन्द हो ! सारे भारतवर्ष में यदि चार-पांच महीने भी स्वदेशी आन्दोलन का स्वस्ति-वाचन हो जाय तो इतनी उदासीनता न रहे और राजनैतिक क्षेत्र में ही वचन-बहादुर न कहलाकर हम कर्म-क्षेत्र में भी कुछ कर सकने वाले कहला जायं।

एकाक्षर प्रचार :

इसी जातीयता का लक्षण और भारतव्यापी नई जागने वाली सहानुभूति का निदर्शन, भारतवर्ष में एकाक्षर प्रचार का काम भी गत मास अग्रसर हुआ है। समानकाल में बङ्गाली और गुजराती साहित्यकारों में आन्दोलन उठा और माननीय जस्टिस शारदाचरण मित्र की अध्यक्षता में एक प्रभावशाली समाज

कलकत्ते में देवनागरी प्रचार के लिए कायम हो गया है। यदि पांच भाषाओं में एक पत्र न निकालकर हिन्दी के साथ और भाषाओं के पत्र द्वैभाषिक बनैं, तो अच्छा। हिन्दी प्रान्तवाले इस विषय में चुप हैं, उन्हें कुछ करना चाहिए। स्वयं अग्रणी होने का हठ छोड़कर पीछे काम करने वाले भी अच्छा कर सकते हैं। जापान के देवनागरी लिपि के स्वीकार पर अधिक हल्ला नहीं करना चाहिए। जापान अपना सुभीता स्वयं जान सकता है, हम उसके गुरु बनने योग्य नहीं हैं। अन्तर्जातिक व्यवहारों में जापान को (और हम को भी) अंगरेजी अधिक काम देगी और विजातियों की देवनागरी लिपि का उपयोग—जिसकी वे स्वयं भी सेवा नहीं करते—करने की अपेक्षा जापान में अधिक बुद्धि है !

काशी कांग्रेस :

जब सर फिरोज़शाह महता के एक ही मकार ने बम्बई कांग्रेस को इतनी धूम से कर दिया तो मदनमोहन मालवीय और मुन्शी माधवलाल—पञ्चमकार के रहते क्यों लोग काशी कांग्रेस पर शंकाएं करते हैं ? माननीय गोखले का सभापति होना बहुत सुन्दर है क्योंकि कर्ज़न की कुलंकषा के सामने लोहे का दुर्भेद्य तीर उनने ही दिखाया था। युक्त प्रान्तवालों को पण्डित अयोध्यानाथ के प्राचीन गौरव का स्मरण करना चाहिए। कांग्रेस का विरोध यदि कहीं हुआ है तो उन्हीं के प्रान्त में, और उसके रहने न रहने का संग्राम उनने ही लड़ा है, अतएव रेशमी मोज़े पहनकर लड़ने वाले और प्रान्त उनका उपहास न करैं, इसका उन्हें ध्यान चाहिए। सामाजिक परिषद् के कारण कई स्वाधीनचेता छिपे रुस्तम भी कांग्रेस में आ जाते हैं इससे उसे पृथक् करना तो ठीक नहीं; उसके प्रभाव को रोकने को धर्मसभा कर लेनी चाहिए। एक हिन्दी की कान्फरेन्स भी उस समय होनी अवश्य चाहिए। काशी नागरीप्रचारिणी सभा क्यों चुप है ?

मण्डूका यत्र वक्तार :

माननीय मालवीय ने अच्छा किया कि आत्मगौरव के लिए प्रयाग म्यूनिसिपेलिटी को छोड़ दिया। यदि यही भाव भारतवासियों में रहता तो वे इधर-उधर अनाड़ी बनकर अप्रतिष्ठा न कराते फिरते। या इन सब बातों को हाथ में लें या बिलकुल छोड़ दें।

शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!! :

सभ्यसमाज प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट का ऋणी है कि उनने रूस जापान के लोमहर्षण संग्राम के बीच में पड़कर शान्ति करा दी और रणचण्डी के नृत्य को बन्द किया। संसार जापान की क्षमा और उदारता पर विस्मित है कि वह न केवल युद्धक्षेत्र में परन्तु धर्मक्षेत्र में भी वीर है। वे जातियां कहां हैं जो चीन पर चढ़ दौड़ी थीं और उसकी बोटी-बोटी छीनती फिरी थीं ? परन्तु इतना मानभङ्ग

होने पर भी रूस इतने ऊंचे सुर में है और जापान मे 'शठं प्रति शठम्' न करके अच्छा नहीं किया। यदि वह ही युद्ध में हारता तो उसकी क्या दशा होती? एशियावासी जापान के विजय से प्रसन्न थे, परन्तु इस सन्धि से उन्हें लज्जित होना चाहिए। शत्रु से उदारता क्या, और आततायी से 'तत्वमसि' कैसा? इतने वर्षों पीछे एशिया का एक राज्य यूरोप से शस्त्रों में तो जीता परन्तु '**डिप्लोमैसी**' में वह भी उनसे हार गया? **डिप्लोमैसी** अभी हममें आई नहीं। 'राज्ञां-नीतिबलम्'।

थर्मामिटर और स्वतन्त्रता :

श्रीमती ऐनी बेसन्ट ने मि० स्टेड के सम्भाषण में प्राचीन हिन्दुओं को Pharisees अर्थात् कंस-शिशुपाल के समान कहा है। इस से तो श्रीमती की कार्यावली में विघ्न होगा ही! परन्तु वहीं पर भारतवासियों की राजनैतिक आशा पर यों गीला कम्बल छोड़ गया है—"मैं नहीं समझती कि थोड़े से अंगरेजी पढ़े हिंदुओं को अधिकार मिलने से देश का क्या लाभ होगा।" इधर सिनैट प्रभृति श्रीमती के सहयोगियों का सिद्धान्त है कि यूरोप और अमेरिका की जातियों के आगे ही भविष्य है, यहां वालों के नहीं। यदि यह घोर अनर्थकारी सिद्धांत भाग्यवादी भारतवासियों में फैल जायगा तो बड़ा अनर्थ होगा। परन्तु प्रोफेसर आयरलैंड ने एक थियोरी निकाली है कि ज्यों-ज्यों गर्मी के मारे थर्मा-मेटर का पारा चढ़ता जाता है त्यों-त्यों उस देशवाले राज्यशासन, प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के योग्य नहीं होते। अर्थात् परमेश्वर ने ठण्डे मुल्कवालों को शासक बनाया है, और गर्म मुल्कवालों को केवल एकतन्त्र का दास। राजा को ईश्वर मानने वाले और पुराण-प्रिय भारतवासियों में यदि सत्यनारायण की कथा के मिस से यह सिद्धान्त फैलाए जायं तो राजनैतिक आन्दोलन का बहुत शीघ्र अन्त हो जायगा, और लोग महाराणी के घोषणापत्र की दुहाई न दिया करेंगे। राजा शिवप्रसाद के मतों के उत्तराधिकारियों को बङ्गालियों के तूफान पर इस अमोघ शस्त्र का उपयोग करने की हम सलाह देते हैं।

दादा दादाभाई :

महापुरुषों का पूजन देश के जीवन का लक्षण है और भारतवर्ष के वृद्ध महापुरुष दादाभाई नौरोजी का इकासिवीं वर्षगांठ का उत्सव देशभर में होना अच्छा लक्षण है। अल्पायु भारतवासियों में दादाभाई का जीवन कई युगों के बराबर है। जब जार्ज चतुर्थ बादशाह और लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर जनरल थे उस समय आपका जन्म हुआ था; और परमेश्वर करै—अहुरमज्द करै—जार्ज पञ्चम को राजभक्ति का प्रणाम करने को (और राजभक्ति कहलाती है कि वह दिन दूर हो) और कई उच्छृङ्खल वायसरायों का 'समरकण्डू निकषण' करने को

दादाभाई मार्कण्डेय की आयु पावैं ! लक्ष्मी नरसू चेट्टी का राजनैतिक आन्दोलन, डवल्यू० सी० बनर्जी और लालमोहन घोष का आन्दोलन, — ह्यूम और अयोध्यानाथ का आन्दोलन, और अन्त को प्रोटेस्टमीटिङ् और गोखले का आन्दोलन—चारों तरह के आन्दोलन दादाभाई की गोद में खेल चुके हैं। "अपि नः स कुले जायात्" जो दादाभाई का काम बंटा लेवै और इस परम परिश्रमी वृद्ध को विश्राम दे !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०५ ई०]

विलायती राजनीति

भारतवर्ष को उचित है कि अपने प्रतिनिधि मि० गोखले को उनके चोखे भाषणों और मि० लाजपत राय को उनकी भारतवर्ष की लाज और पत रखने के लिए प्रचुर धन्यवाद दे। अग्रणी बम्बई ने तो अपने पुरुषरत्न को भेजा ही, परन्तु पश्चात्पद पंजाब ने भी और प्रान्तों के टालमटोल करते रहने पर भी योग्य प्रतिनिधि को भेजकर अच्छा कर्तव्यपालन किया। मि० लाजपतराय भारतवर्ष के आत्मनिर्भर को प्रधान मानते हैं और विलायती राजनैतिक पार्टियों पर अधिक भरोसा नहीं करते। मि० गोखले दादाभाई और सर फिरोजशाह की नेमिवृत्ति प्रजा के अनुकूल, लिबरल पार्टी पर अपनी सारी आशाएं बांधते हैं। सत्य इन दोनों के बीच में है। यद्यपि अपने बिना मरे स्वर्ग नहीं दीखता और कन्सर्बेटिव या लिबरल कोई भी ऐसा काम न करेंगे जिससे इंग्लैण्ड के प्रत्यक्ष स्वार्थों का विरोध हो परन्तु सहारे मात्र के लिए उदार लिबरल ठीक ही हैं। लार्ड रोज़वरी फिर अपने दल में मिलने आये थे परंतु होमरूल का नाम सुनते ही चिढ़कर चल दिए। जब ८० मेम्बरों वाले आयर्लैण्ड का यह हाल है तो हमारे बारे में कब लिबरल दल का एकमत हो सकता है ? तो भी समय-समय पर विलायत में प्रतिनिधियों के भेजने की आवश्यकता है। मि० वालफोर का वक्री

मन्त्रिदल अन्त को समाप्त हो गया और वर्णनातीत मि० ब्राडरिक के स्थान में ग्लैडस्टोन के प्राइवेट सिकत्तर और जीवनचरित्र लेखक जानमार्ले भारतवर्ष के भाग्य में आये हैं। जिस समय तक हम लोग अपनी योग्यताओं से अधिकार पाने के योग्य न हो जाएंगे तब तक हमारे भाग्य से चाहे कोई मन्त्रिदल और चाहै कोई सेक्रेटरी आफ स्टेट हो, हम वैसे-के-वैसे ही रहेंगे तो भी 'सच्चे जान' से आशाएं करना निर्मूल नहीं है।

[प्रथम प्रकाशन : **समलोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०]

कांग्रेस और स्वदेशी

कई अदूरदर्शी लोग कांग्रेस में स्वदेशी आन्दोलन को खैंच लाना चाहते हैं। वे बम्बई और भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में इस बारे में गुत्थमगुत्था होती बतलाते हैं। परन्तु भीड़ के साथ हल्ला करना जिन लोगों का उद्देश्य है उनके अतिरिक्त कांग्रेस के और सब नेता अपना सिर नहीं खो चुके हैं और वे उचित विचार करेंगे। अवश्य ही कांग्रेस के विच्छेद, वहां के प्रजामत की अवहेलना, और नये प्रान्त में शाइस्ता खां आदर्श राज्य के विषयों पर मत प्रकाश करेगी; परन्तु यहां कांग्रेस का कार्य पूरा हो जाता है। राजनैतिक कांग्रेस यदि भारतवर्ष की सर्वतोमुख उन्नति को अपने भीतर डालने लगे तो सामाजिक परिषद्, शिल्प परिषद्, प्रदर्शनी प्रभृति की क्या आवश्यकता है? दूसरे कांग्रेस में मिलने से स्वदेशी आन्दोलन की क्षति होगी। यह एक पार्टी का कर्तव्य हो जायगा और सरकारी नौकर प्रभृति इसका अनुसरण नहीं कर सकेंगे। अभी यह सार्वजनिक कार्य्य है जिसमें अंगरेज तक संयुक्त हो रहे हैं। अवश्य ही ऐसा होने से लोग कांग्रेस को केवल भिक्षुकमण्डल कहैंगे परन्तु क्या **वायकाट** नामक प्रतिबन्धक अस्त्र का प्रयोग सारे भारतवर्ष की कांग्रेस कर सकती है? कोई कांग्रेस को रीपब्लिक बनाना

चाहता है, कोई उसको न्याय-मन्दिर बनाना चाहता है, परन्तु यों करके लोग उसके वास्तव उद्देश्य से दूर डालते हैं। अभी कुछ काल तक प्रजामत को उत्पन्न करना और स्वरूप देना इसी में उसको और उनको सन्तुष्ट होना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर १९०५ ई०]

धर्म के शत्रु

किसी धर्म के विरुद्ध जो मनुष्य हो सकते हैं वे साधारण रीति से दो श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। एक तो वे जिन्हें किसी दूसरे धर्म का हठ हो, जिन्हें यह दृढ़ भ्रम हो, कि वास्तव सत्य का अधिकार उन्हीं को है, और सब मनुष्य अज्ञान में लिपटे हैं, इससे दण्डनीय हैं। उन मनुष्यों का जमाना तीन सौ वर्ष हुए योरोप में और भारतवर्ष में भी बीत चुका। आजकल जो लोग धार्मिक स्वतन्त्रता को दबाने में अग्रणी हैं, वे वही हैं जिनके लिए जगत् सन्देहमय है, जिनके कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं हैं अर्थात् जड़वादी और निरीश्वरवादी वैज्ञानिक और चार्वाक। इन्हें पहले अपनी नास्तिकता में एक प्रकार की आस्तिकता थी अर्थात् जैसे धर्मवादियों को अपने धर्म का हठ था, वैसे इन्हें भी धर्म के ठगविद्या होने में विश्वास था, अपनी समझ को वे समझ समझते थे, और अपने पैरों को वास्तव सत्य पर टिका हुआ मानते थे। अब जैसे धर्म की हठात्मकता टूट गई है वैसे चार्वाकों की दृढ़ता भी टुकड़े-टुकड़े हो गई है। प्रकृतिवादी ईश्वर को कल्पना कहते थे, किन्तु उनके जड़विज्ञान की प्रकृति भी अब पर्दे में छिपती जाती है। दार्शनिक और वैज्ञानिक सन्देह का, अज्ञानवाद का, पूरा आचार्य; परलोक में ही नहीं, किन्तु जड़विज्ञान के राज्य में भी व्यापक अनभिज्ञतावाद का पोप, इङ्गलैण्ड के मन्त्री और दार्शनिक मिस्टर वालफोर को समझना चाहिए। ब्रिटिश एसोसिएशन के सभापति बनकर (जिसके सभापति ने गतवर्ष विज्ञान और

विश्वविद्यालयों के बढ़ाने का प्रबल पक्ष किया था) उनने कहा है कि हमारा जानना यही है कि हम कुछ नहीं जान सकते । "मनुष्य जाति का उन पदार्थों का ज्ञान जो उसके चारों ओर हैं, अधूरा ही नहीं किन्तु बिलकुल ग़लत है। यह कहना आश्चर्यदायक होगा कि कोई पांच वर्ष पहले तक मनुष्य जाति, बिना अपवाद के, भूल, अज्ञान और भ्रम में जीती और मरती रही है, और वे भ्रम दूर के या अनज्ञान पदार्थों के विषय में नहीं थे, परमेश्वर की या दैव की कल्पना में नहीं थे, किन्तु उन सीधी-सादी बातों में भ्रम है जिनमें साधारण बुद्धि रोज़-रोज़ निश्चिन्त, सन्तुष्ट, और अनजान बनकर घूमती है ।" सत्य है। इसी से तो बालफोर मिनिस्ट्री के कोई सिद्धान्त होने नहीं पाते क्योंकि उसका अध्यक्ष 'सन्देह की दार्शनिकता' का दार्शनिक है !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

धर्मसंकट

काशी में जातीय आन्दोलन के साथ-साथ ही बड़ा भारी धर्मसंकट भी उपस्थित हुआ है । सनातन हिन्दूधर्म त्रिधा बद्ध हो गया है और उसकी उन्नति का इसे सहायक कहैं, या विघातक, कुछ समझ में नहीं आता । सामाजिक परिषद्, महामण्डल का वर्त्तमान प्रबन्ध, और मालवीयजी की धर्मसभा, इस त्रयी से कुछ अदूरदर्शी आत्मश्लाघी लोगों को धर्म के लिए त्रिदोष सन्निपात खड़ा करने का अच्छा अवसर मिल गया है । इस त्रिपुष्कर योग में यदि गाँठ सुलझेगी तो मालवीय जी के हाथ से । जो लोग काम कर रहे हैं उनकी चालों में आपस के इतने दांव-पेच और पालिसी के भीतर पालसियां खेली जा रही हैं कि धर्म का पवित्र धर्मत्व दूर जाकर केवल बनियों की ले-दे का व्यापार रह गया है । धर्म व्यवसाइयों और धर्मध्वजाधारियों की यह वणिक् अवस्था बहुत ही खेदजनक है । हम नहीं चाहते कि उन लोगों के घृणित कर्त्तव्यों पर से उपेक्षा का पर्दा उठाकर उन्हें प्रसिद्धि दें जिसके वे योग्य नहीं हैं और जिसके लिए वे 'घटं छित्वा पटं भित्वा' का मार्ग ले रहे हैं । परन्तु यदि कर्त्तव्यवश हमको उनके

रहस्यभेदन के लिए बाधित होना पड़ेगा, तो हम अभी से कहे देते हैं कि हम उससे न चूकेंगे। मालवीयजी अपने सत्यनिष्ठ धर्म-प्रेम से धर्मानुयायी हिन्दुओं के नेता बन गए हैं और वे जिधर ले जाना चाहेंगे उधर, वह मार्ग चाहे कण्टकाकीर्ण ही हो, हिन्दू जाने को तैयार हैं। मालवीयजी के-से लोकप्रिय नेता के कर्त्तव्यों को 'ग्रेजुएट' नीति कहकर उड़ाने वाले, डेढ़ पन्ने के अखबार लिखने वाले या डेढ़ सभाओं के प्रबन्धक हिन्दुओं के नेता बनेंगे या यह काम वे महाहिन्दू करेंगे जिनकी मङ्गल्या मनोहरा कथा न्यायालयों को पवित्र कर चुकी है? प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल इतिकर्त्तव्यताशून्य, उपेक्ष्य, और एकदेशी है। इसका प्रधान उद्देश्य मालवीयजी को अपदस्थ करना और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्त प्रान्त में बहुत-से लोगों की तिलक बनने की लालसा जाग पड़ी है परन्तु चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावैं, चाहे त्रिलोकी घूम आवैं, चाहे उन पर न्यायालयों में घृणित-से-घृणित अभियोग लग जावैं, वे तिलक की षोडशी कला को भी नहीं पा सकते। वर्षभर तक यार लोग चुप रहे। काशी में, सामाजिक परिषद् की स्वागतकारिणी में सुधाकरजी और राममिश्रजी दो महामहोपाध्याय भी चुने गए, वर्षभर कुछ विरोध नहीं किया। ये लोग भी ताने मारते अवसर तकते रहे। परन्तु जब पण्डित मालवीयजी के धर्ममहोत्सव का विज्ञापन निकला तो मनुष्य-दुर्बलता से सुलभ अभिमान जाग उठा और सामाजिक परिषद् का होना मालवीयजी के सिर रखा गया। क्या हिन्दुओं में मालवीयजी का मान ऐसे कच्चे तागे पर है जो यों कम हो सकता है? माना कि सामाजिक परिषद् हिन्दू-सिद्धान्तों की विघातक और इसीलिए निष्फल भी है, परन्तु उसके न कराने का यत्न क्या उस निन्दनीय जलाने बहाने के ज्वर के समान नहीं है जो डेढ़-दो वर्ष पहले हिन्दी साहित्य पर चढ़ा था? यदि विरोधियों का उत्तर उनका मुंह बन्द करना ही है तो क्यों 'बन्दे मातरं' गाने की मनाई के लिए मि० फुलर का शासन बदनाम किया जाता है? यह भी कथन विकृत है कि सामाजिक परिषद् के नेता 'अपनी विकृत वासनाओं को पूरी करने के लिए अपने सुधार या दुर्धार चाहते हैं।' उद्देश्य में भेद हो चाहे न हो, काम के ज्ञान और मार्ग में भेद है, इसलिए वासनाएं विकृत बताना बड़ी भारी भूल है। न्यायमूर्त्ति रानाड़े वा चन्द्रावर्कर प्रभृति के व्यक्तिगत आचरण इतने उज्ज्वल हैं कि छिद्रान्वेषी निगाह उनकी झलक से झंप जाती है और किसी भी समाज-सुधारक का चरित्र इतना कलुषित न होगा, जितना एक पंजाबी धर्मव्यवसायी का, सच्चे झूठे लोमहर्षण रीति से, प्रकट हुआ था! परन्तु स्वयं कुछ करना नहीं और, और लोग अग्रसर हों तो **सोश्यल कान्फ्रेन्स** न रोकने का दोष उनके मत्थे!

खण्डन करो, विरोध करो, परन्तु स्थान मात्र पर से कान्फ्रेन्स को हटाकर क्या तुम तिलक बन सकते हो ?

महामण्डल काशी में लल्लोपत्तो कर रहा है, 'श्रीमती सोश्यल कान्फ्रेन्स मौडल भगिनी' प्रभृति भद्दे मज़ाकों मात्र से अपनी गम्भीरता का परिचय दे रहा है, कांग्रेस से मण्डल एक दिन के लिए मांगकर सामाजिक परिषद् के उसे ले सकने के अधिकार का प्रबल प्रमाण दे रहा है, उससे कुछ कहना नहीं और वास्तव देशोपकारी काम में अग्रणी बनने के लिए मालवीयजी को उपालम्भ और ताने और उनको राजनैतिक क्षेत्र से उदासीन होने के लिए उकसाना ! राजनैतिक काम करनेवाले युवत प्रान्त में ढाई-तीन, उनमें मालवीयजी के पञ्चहज़ारी बोर्डिङ्, लक्खी पत्र और सौलक्खी यूनिवर्सिटी के काकदन्तगणना के स्कीम जिन से वे अपना 'ह्विप' पना छोड़कर मध्यस्थ वृत्ति पर आगे ही पड़े हैं, और तिस पर भी यह 'क्षते क्षारावसेचनम्' !!! "स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं दारुभूतो मुरारिः ।"

इधर भारतधर्म महामण्ल का अजब हाल है। यदि उसके नए कार्यकर्त्ता पुराने कर्मचारियों के आडम्बरपूर्ण और व्ययमय कार्यों की हँसी करें तो उतना निन्दनीय नहीं, परन्तु वे लोग जिनने पुराने वाचारम्भणों में खूब हाथ गर्म किये हैं अब किस मुंह से अपने अन्नदाताओं की निन्दा करते हैं ? महामण्डल का वर्तमान कर्म, प्राचीनों की निन्दा, आगे केवल लेखाडम्बर और पब्लिक के सामने अपना ब्यौरा देने से भागना—यही है। इधर 'अज्ञातवास का अन्त' हो जाने से धर्मपुत्र युधिष्ठिर के समान (मित्र लोग वृथा ही उनकी तिलक जैसे हीन पुरुष से तुलना करते हैं। कहां राजनीति—मात्रावलम्ब तिलक और कहां धर्म महोदधि को चुलुकित करने वाले पण्डित गोपीनाथ ?) पण्डित गोपीनाथ महामण्डल के कार्य्याध्यक्ष बने हैं और उन्हें 'निर्वाहमात्र के लिए (ता० १४ मई से १००) 'सौ रुपया माहवार' सहायता दी जाती है, इससे सिद्ध होता है कि वे हज़ार दो हज़ार मासिक की जीविका छोड़कर धर्म सेवार्थ श्री चरणों में आए हैं । अच्छा होता यदि पण्डित गोपीनाथ राजनीति या देवनागरी प्रचार के सार्वजनिक काम में अपनी पुष्पिता वाणी का व्यय करते और फिर महामण्डल में न आते क्योंकि "अतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमा नं जनरवः" परन्तु कदाचित् कुमारिल भट्ट के समान पण्डितजी ने भी अपनी सत्यानृत अप्रतिष्ठा का प्रायश्चित्त लोकप्रसिद्धि के तुषानल में करना विचारा हो। परन्तु वे सावधान रहें, "गतं न शोचामि" चाहै सनातनधर्मियों का सिद्धान्त है, परन्तु अब के काशी में जो आर्य्यसमाज का महाधिवेशन होगा उसकी टक्कर से पण्डितजी बचते रहें। कुछ लोगों की शोभा तभी तक होती है जब तक वे कुछ नहीं बोलते। आते ही आपने नई इंजील फर्माई है। 'निगमागम-

चन्द्रिका' के चैत्रादि श्रावणान्त संख्या के पृष्ठ १२५ में **उपदेशक महाशयों से आवश्यक निवेदन** छपा है। उसमें कहा गया है कि उपदेशकों की जो सुख्याति श्री भारतधर्म महामण्डल द्वारा हुई है वह किसी प्रकार होनी सम्भव न थी ! "यद्यपि उनमें बहुत से धुरन्दर विद्वान् और धर्मतत्त्ववेत्ता हैं।" तथापि, साफ बातों में, बहुत से ऐसे भी हैं जिन्हें महामण्डल ने ही रोटियों सिर लगाया है। आगे यह सिद्धान्त और भी स्पष्ट है—"यह कहना सत्य ही है कि श्री भारतधर्म महामण्डल ने सम्पूर्ण उपदेशक महोदयों के लिए **एक प्रकार की बड़ी भारी खेती** तैयार कर दी है जिसमें से अपने-अपने परिश्रम के अनुसार प्रत्येक महाशय जितना चाहें लाभ उठा सकते और उठा रहे हैं।" नारायण ! नारायण !! क्या यह उपदेशकों को साफ-साफ कहना नहीं है कि चाहे जहां थाली फेरो, लूटो और खाओ। परन्तु महामण्डल के विषय में उनका "कुछ विशेष कर्तव्य" यह है कि वे इसकी दल्लाली करें, याने मेम्बर बनावें। कौन कहता था कि पुराने मण्डल के उपदेशक लुटेरे हैं ? नया मण्डल उन्हें साफ कमाने-खाने और उनकी लूट में से साझा मांगने की तरग़ीब दे रहा है ! ! उसके लिए पुरस्कार और मेम्बर न बनाने का दण्ड भी नियत हो गया है ! ! बड़े-बड़े विद्यासागर उपदेशकों के जो कहीं पर जमकर धर्म सेवा कर रहे हैं, मन में अब यह डर लगा है कि नए-नए बच्चे उपदेशक अधिक मैम्बरों की दल्लाली करके उनसे ऊपर न बढ़ जायं। कितने ग्रामीणभाव से उपदेशकों को धन बटोरने और दल्लाली करने को कहा गया है ! प्रश्न है कि जो उपदेशक मेम्बर न बनाएंगे उनके नाम क्या यह 'फतवा' दिया जाएगा कि सभाएं उन्हें भेंट न दें ? अस्तु, जलसे प्रभृति का विज्ञापन छपा है,—वह सब हाथी के दिखाने के दाँत हैं, बिना सभाओं के पूछे घर-ही-घर में प्रावीजनल कमेटी को स्थायी कर लेना और यह किया वह किया छापना यही होना है। बड़े खेद की बात है कि हमारे तिलकं-मन्य मित्रों की तरह महामण्डल भी मालवीयजी से घबड़ाता है और उनका "लक्ष्य किसी और तरफ" बतलाता है। मालवीयजी को वह अपना प्रतिद्वन्द्वी मान बैठा है। रहे मालवीयजी, उनका धर्ममहोत्सव भविष्यत् की अपेक्षा करता है। अब के चाहे वे वाचारम्भण करें, परन्तु उनके धर्म पुस्तक और संस्कृत विद्यालय का दूरव्यापी परिणाम, उन्हीं के इष्ट देव "अकुण्ठं सर्वकार्येषु" पूरा करें। इस नूतन धर्मान्दोलन के पण्डे का पीठ भी वही त्रिवेणी की पवित्र भूमि है जो पुराने पण्डो के मुँह फाड़कर सुधार चाहने वाली कुरीतियों का लीलास्थल है। परन्तु पण्डों के 'दीयतां दीयतां' में और मालवीयजी के 'ह्रिया देयं, भिया देयं, श्रद्धया देयं, अश्रद्धया देयं' में बड़ा अन्तर है। क्या प्रयाग के पण्डे इस भीति से कि मालवीयजी उनकी भूमि में उन्हीं के अपदस्थ करने के लिए सभा भरते हैं उनकी सभा को त्रिवेणी तीर से हटाना नहीं चाहते ? इस विलक्षण क़र्तव्य में उनकी पुष्टि उनके और मणिकर्णिका के कुछ

अदूरदर्शी पड़ोसियों के उस आचरण से होगी जो उनने स्वयं कर्म से कान्फरेन्स के कलुषित कर्तव्यों का कर्तन न करके कपटी करतूतों से कर्मपरायण कृती मालवीयजी की महिमा पर मलिनता न्यास करने के निषिद्ध नियोग में किया है, और जिसका न्यक्कार नियति के नियम से नाति चिरकाल में होने वाला है। ऐसे लोगों के वास्तव कार्य जानने के लिए हम अपने विशेष प्रतिनिधि उनके उत्सवों में भेजना विचारते हैं जो निष्पक्ष भाव से उनकी पालिसियों की गुत्थी सुलझाने का उद्योग करेंगे। हम फिर दोहराते हैं कि उनके वास्तव भाव चाहे मालवीयजी को अपदस्थ करने के हों, परन्तु वे अपने ही लिए खाई खोद रहे हैं। श्रुति भगवती उन्हीं का वर्णन करती हैं—

'य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुमिन्नु तस्मात्।'

अर्थात् जो यों करता है, वह भी इसे नहीं जानता और जो त्यों देखता है उससे भी यह दूर है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

मध्याह्न में चाण्डाल

शुक्ल यजुर्वेद, अर्थात् माध्यन्दिन (वाजसनेयि) शाखा के पढ़नेवाले ब्राह्मणों को तैत्तिरीय (कृष्णयजुर्वेद) शाखा वाले कुछ घृणा से देखते हैं। इतिहास यों है कि शिष्य याज्ञवल्क्य ने गुरु की आज्ञा न मानकर उनके पढ़ाये यजु को वमन कर दिया और और शिष्यों ने उन ज्वलदंगार यजुर्मंत्रों को तित्तिरि बनकर उठा लिया। याज्ञवल्क्य ने सूर्य से शुक्लयजु पाया। इसके प्रातिशाख्य और शिक्षा में य को ज और ष को ख बोलने का जो निर्देश और प्रथा है उसे तैत्तिरीय शाखा वाले यों कहते हैं कि गुरु के शाप से इनसे अक्षर शुद्ध नहीं निकलता। अवश्य ही शुद्ध यजुर्वेदी इस शाप को नहीं मानते और इसे अपना गुरु परम्परागत उच्चारण कम मात्र मानते हैं। परन्तु एक और विलक्षण बात है। मद्रास प्रान्त में बहुत थोड़े,

बहुत ही थोड़े, शुक्लयजुर्वेदी हैं। उनका विश्वास है कि हम लोगों को मध्याह्न में चाण्डाल होने का शाप है जो याज्ञवल्क्य ने गुरु की अवज्ञा करके तैत्तिरीय संहिता का वमन करके पाया था। इससे वे घड़ीभर के लिए अपने को प्रतिमध्याह्न चाण्डाल मानते हैं। उस समय वे धोती लेकर ग्राम के बाहर कूप पर चले जाते हैं और मध्याह्न बीतने पर घर में स्नान करके प्रवेश करते हैं और प्रत्येक वस्तु को प्रोक्षण करते हैं। यह विलक्षण रीति बहुत ही कम कुटुम्बों में है, परन्तु धर्म के दृढ़ विश्वास की चरमदशा का अच्छा दृष्टान्त है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

□

भाषा

क्या संस्कृत हमारी भाषा थी ?

समय के फेर से यह प्रश्न भी अब विवाद का विषय हो गया है और बौद्धसाहित्य के प्रेमी और पक्षपाती सिद्ध करते हैं कि संस्कृत भारतवर्ष की भाषा (सर्व-साधारण की बोलचाल) कभी भी न हुई। गत दो महीनों से लण्डन की एशियाटिक सोसाइटी में इस विषय का अच्छा विवाद चल रहा है। अवश्य ही पुरैतिहासिक (Prehistoric) वैदिककाल की बात छोड़ देनी चाहिए, किन्तु यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में संस्कृत सबकी भाषा थी। आजकल यदि इंग्लैण्ड में समाचार-पत्र और रेल, तार न हों तो वहाँ भी कई प्रकार की 'प्राकृत' भाषाएं चल जायं और इनके होते भी 'टाइम्स' और 'रस्किन' की जो अंग्रेज़ी है, वह वेल्स और बार्डरलैंड की अंग्रेजी कभी नहीं है। रही यह बात कि चक्रवर्ती अशोक ने अपने लेख पाली में लिखवाए, नाटकों में सबको समझाने को विदूषक प्राकृत में मज़ाक करता है, और संस्कृत केवल ब्राह्मणों की भाषा थी, इस पर वक्तव्य यह है कि साधु भाषा और व्यवहार की भाषा सदा ब्राह्मणों की ही होती है, भेद इतना ही है कि इंग्लैण्ड में ब्राह्मण (साहित्य-सेवी) घृणा से नहीं देखे जाते, और सदा बदलते रहते हैं, और यहाँ ब्राह्मणत्व जन्म के अधीन है। आम्निबस हांकनेवालों की भाषा समाचारपत्रों की भाषा से भिन्न है, और 'भारत मित्र' की भाषा दिल्ली के कहारों की भाषा नहीं है। टेनिसन के 'ओल्ड रोआँ' (old rover) की भाषा देखकर क्या कह सकते हैं कि साधु अंग्रेज़ी केवल अंग्रेज ब्राह्मणों की भाषा है ? अशोक के काल में शिथिल होकर संस्कृत फिर प्रबल हो गई, क्योंकि पाली और मागधी ग्रंथों की टीकाएं संस्कृत में लिखी गई और जब बौद्धों का निर्वासन संस्कृत से ही हुआ तो अवश्य ही वह सर्वगम्य होगी। वर्तमानकाल में अवश्य ही संस्कृत का बुरा हाल है, और उसका भारतवर्ष की भाषा होना स्वप्न ही है। अब का भारतवर्ष संस्कृत के

भारतवर्ष से बड़ा है और अब वह केवल ब्राह्मण पुरुषों ही की भाषा रह गई है, अब्राह्मण और स्त्रियें इससे पृथक् हैं। पहिले पिक, तामरस, नेम आदि शब्द, और कई ज्यौतिष शब्द, संस्कृत ने यावनी भाषाओं से लिए थे, और भवभूति काल में पाली से भी शब्द लिए गए। अब भी यदि संस्कृत का व्यवहार हो तो उसका व्याकरण शिथिल करना पड़ैगा। किंतु पुरातत्त्व की खोज और धर्म के सम्बन्ध से उसकी चर्चा सदा विद्यमान रहेगी, इसमें सन्देह नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

जालहंस की सुभाषितमुक्तावली और चंद की पट्भाषा

सितम्बर सन् १९१९ की 'सरस्वती' में श्रीयुत शिवदास गुप्त का एक लेख छपा है। जान पड़ता है कि लेखक संस्कृत समझते हैं, और उसके रसिक भी हैं, तभी तो उन्हें कालिदास के 'मेघदूत' के जोड़ के पवनदूत का आनन्द आया और वह आनन्द अपने ही तक न रखकर, उन्होंने पाठकों को भी चखाया। जान पड़ता है कि वे हिन्दी के प्रेमी और सेवक भी हैं, तभी तो उन्होंने पवनदूत के चुने हुए पद्यों का रस हिन्दी में निचोड़ कर दिखाया। जान पड़ता है कि वे कुछ अंग्रेज़ी भी जानते हैं, तभी तो उन्होंने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री की खोज के परिश्रम की कद्र की और उसे सराहा। ऐसे प्रामाणिक लेखक के लेख से एक नया समाचार जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पवनदूत के श्लोकों और अनुवाद का स्वाद तो जो मिला सो मिला, एक और नया लोकोत्तर चमत्कार जान पड़ा। अब तक की संस्कृत-साहित्य की खोज में यह रत्न हाथ नहीं आया था। यश पुण्यों से मिलता है—देशी-विदेशी खोजियों को वह यश न मिला जो श्रीयुत शिवदास गुप्त को मिला। वह महत्व की खोज—बड़ी भारी नई बात—यह है कि लेखक ने एक नये ग्रंथ की सूचना दी है। दो जगह उस छोटे-से लेख में आप 'जालहंस की सुभाषितमुक्तावली' का उल्लेख करते हैं। यह जालहंस—वबजन राजहंस या कालहंस—संस्कृत-साहित्य में नया नाम है। सुभाषित संग्रहकार कई

सुने गए । पर इस कविकीर्ति-संग्रहकार का नाम कभी सुना न गया । शिवदासजी से प्रार्थना है कि इस जालहंस का और उसकी सुभाषितमुक्तावलि का कुछ और पता दें । इस परिचय के लिए हम तरस रहे हैं ।

हम तो शिवदास जी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं । क्या बात है । क्या बढ़की बात निकाली है ! इधर हमारे एक हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि 'जालहंस', 'बालहंस' कोई नहीं है—रोमनलिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जानने वालों की, अंगरेज़ी या बंगला सूंघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसापूर्ण करके पांचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है । जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' प्रसिद्ध है । कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है । अंगरेज़ी में रोमन लिपि में जल्हण की JALHANS (षठ्यन्त प्रयोग) लिखा हुआ था और पादरी नोल्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से जालहंस का जाल बिन जाने रचा गया । जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के राजस्थान में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अंगरेज़ी अक्षर और बंगालियों के गोल-मोल उच्चारण के भरोसे 'शनि-ग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चन्द्र, वंश की तरह शनिग्रह वंशी राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिन्दी में बंगला की वही साढ़ेसाती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दी, वैसे ही लेखक के मानस में जालहंस की किलोलें आरम्भ हो गईं !!

इस तर्क का उत्तर मेरे पास कुछ नहीं है । जालहंस के नीर-क्षीर-विवेक की प्रमाणस्वरूप सुभाषितमुक्तावली को कण्ठस्थ करने की मेरी इच्छा पर मित्र की समालोचना का सुदर्शनचक्र चल गया । मैंने केवल एक ही बात कही । मैंने कहा —"गीता के दर्शनशास्त्र को निचोड़ डालने वाले लेखक भी पारसी धर्म का हाल लिखते समय जरथुश्त को 'जरथुश्ता' और अहूर-मज्द को 'अहुरामज्दा' लिख देते हैं । जल्हंस को 'जालहंस' पढ़नेवाले ने पवनदूत के सुन्दर श्लोकों का स्वाद तो चखाया, आप जल्हण को जानते हैं, विल्हण को जानते हैं, कल्हण को जानते हैं —आपने हिन्दी में एक बिन्दी भी न लिखी । जो स्वयं कुछ लिखकर लोकज्ञान की मात्रा न बढ़ावे, उसके मुंह में जीभ कहां है कि अपनी समझ भर भला-बुरा लिखनेवालों पर नुक्ताचीनी करे ? "साझी का पूत न कमावे न कमाने दे ।"

मेरे मित्र कहने लगे—

"चंदवरदाई, या उसके नाम से पृथ्वीराजरासे के बहुत से अंशों को गढ़ने

वाला कोई सोलहवीं सदी का मेवाड़ी चारण, एक जगह लिख गया है—

षटभाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

इस पर हिन्दी भाषा के इतिहास के अंधकारमय गगन के त्रिशंकु नवरत्नों के पारखी, 'विनोदकार' श्रीयुत मिश्रबन्धु लिखते हैं (बहुवचन का प्रयोग यहीं सार्थक होता है)—"परन्तु अरबी और संस्कृत के अतिरिक्त चन्द ने किन छः भाषाओं के शब्द रक्खे हैं यह विचारना शेष है।" इस पर आप दर्जन से अधिक भाषाओं की परेड करके निर्णय करते हैं कि "प्राकृत और शौरसेनी के अतिरिक्त चन्द मागधी, अवधी, राजपूतानी और पंजाबी के शब्दों का भी प्रयोग करता है और यही छै भाषाएं हैं जिनका वह संस्कृत और अरबी के अतिरिक्त प्रयोग करता है।" वह भांग कुएं में ऐसी घुली की चन्द की छै भाषाएं पहेली बन गईं। लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोइ। जो हिन्दी-साहित्य के मन्यमान आदि कवि चन्द की बात करता है वही इस षट्भाषा पर सिर धुनने लगता है। अरे बाबा, षट्रस, सप्तद्वीप, पंचमकार की तरह षट्भाषा कवियों का टकसाली संकेत है। त्रयी कहने से तीन वेदों का ही ग्रहण होता है, तीनों मिश्रबन्धुओं का नहीं। षट्भाषा नियत है, रूढ़ है, परिचित है। मंख कवि लोष्टदेव की प्रशंसा करता है—"वदनाम्बुरुहे यस्य भाषाः षडधशरते", जयानक कवि पृथ्वीराज का यश सराहता है—"जयन्ति सोमेश्वर-नन्दनस्य षण्णांगिरां शक्तिमतो यशांसि।" संस्कृत-साहित्य में जगह-जगह छै भाषाओं का मुहाविरा है, कोई जाने और देखे तो! चन्द ने भी गतानुगतिक रीति से वही मुहारनी पढ़ दी है। 'षड्भाषाचन्द्रिका' नामक प्राकृतव्याकरण का नाम तो सुना होगा? प्रसिद्ध षड्दर्शन में जैसे अटकल की गुंजाइश नहीं कि ये छै कौन-कौन से हैं वैसे चन्द के कथन में भी नहीं। अब भी 'खड्दर्सन की जमात',—'खड्दर्सन का अखाड़ा', 'खड्दर्सन का भोजन' कहा जाता है। अवश्य ही साधुओं की जमात में पुराने षड्दर्शन के अनुयायी चाहे हों चाहे न हों, टकसाली नाम खड्दर्सन चल गया है, वैसे ही चंद की भाषा में छः भाषाओं के प्रयोग छांटने बैठना बाल की खाल निकालना है, चंद महाविरे से पुराने ढंग पर 'षट्भाषा' कह गया। जैसे खड़ी बोली वालों के बोलों से तंग आकर ब्रजभाषा की मिठास की दुहाई देते समय आगरे के सत्यनारायण कवि-रत्न (परमेश्वर उन्हें स्वर्ग दे, सच्चे मार्मिक कवि थे!) कह गये कि ब्रजभाषा को गंवारी कौन कह सकता है जिसमें हरि ने माखन-रोटी मांगी। उस समय कविरत्न यह सोचने को न ठहरे कि जब कृष्णरूप हरि माखन रोटी माँगते होंगे उस समय यहां की भाषा सूरदास की भाषा न थी। या जैसे अपने 'वीरमणि' में मिश्रबन्धु अपने पात्रों के मुँह से गुसाईं तुलसीदासजी की चौपाइयां कहलवाते

हैं। (यह द्विवचन है। हाय ! हिन्दी में द्विवचन है ही नहीं !) तो वे यह सोचने को नहीं ठहरते कि उनके उपन्यास की ऐतिहासिक पीठिका के लगभग दो सौ बरस पीछे गुंसाई जी रामायण लिखेंगे। यों ही चन्द पुराने कवियों की चाल पर छै भाषाओं की दुहाई दे गया है जैसे कि बूंदी के 'वंश-भास्कर' के कर्ता मीषण सूरजमल उन्नीसवीं सदी में भी छै भाषाओं की चर्चा करते हैं। चंद की षट्भाषा में अवधी, राजपूतानी और पंजाबी नहीं है और न मीषण सूरजमल की में राठ और डांग और मेवाड़ी। छै भाषाओं का पुराना श्लोक यह है—

"संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च ॥

मैंने फिर मित्र की बैखरी के प्रवाह को रोका। कहा—'यह तो अप्रसंग कथा है, आप पुराने फफोले फोड़ते हैं। आप यदि छः भाषा रूपी वारविलासिनियों के भुजंग हैं तो आप ही ने हिन्दी का इतिहास क्यों न लिखा ? जालहंस के होते हुए भी शिवदास गुप्त ने पवनदूत का स्वाद दिखाया (चखाया) और षट्भाषा न समझकर भी मिश्रत्रय ने हिन्दी का इतिहास तो बना दिया। आप काटने के लिए आरा ही हैं, गड़ने के लिए कुम्हार टोला नहीं।"

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : नवम्बर, १९१९ ई०]

बिरामण की, सरवण की

राजपूताने में माताएं बच्चों को बुरी दीठ या नज़र से बचाने के लिए दिए पर तकुला (तर्कु) गरम करके एक मंत्र-सा कहा करती हैं—'दादा की, दादी की,...नाई की, पड़ौसी की,...बिरामण की, सरवण की,...जिसकी नज़र बच्चे को लगी हो उसकी आँखों में जलता-जलता ताका (तकुला) !!' बौद्ध-श्रमण (भिक्षु) इस देश में अब नहीं रह गए किन्तु ब्राह्मणश्रमण का जोड़ा जो

अशोक के लेखों और पतंजलि के महाभाष्य में अत्यंत संयोग या शाश्वत विरोध के अर्थ में आता है अब तक जादू-टोने में चला जाता है। (श्रमण सरवण)।

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** : १९२२ ई०]

भाषा की भाषा

सरकार तो हिन्दी उर्दू में अक्षर मात्र का भेद रखना चाहती है ही, किन्तु युक्तप्रान्त के कई सुयोग्य मनुष्य भी उधर झुकते दिखाई देते हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने, चन्द्रकान्ताकार की तरह, शिवप्रसादी हिन्दी के झण्डे के नीचे खड़ा होना स्वीकार किया है। बाबू अयोध्याप्रसाद, पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र, और लाला सीताराम बी० ए० भी हिन्दी के मुन्शी स्टाइल की ओर झुके हुए हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' के विशेष अधिवेशन में सभापति के आसन से वाग्मिवर पण्डित मालवीय ने भी सरल, और ठेठ हिन्दी की बहुत ही स्तुति की। लोग इससे पण्डित जी को भी उर्दूमय हिन्दी का पक्षपाती न समझें, उनका यह कथन अर्थवाद ही था, क्योंकि उनके भाषण की भाषा असल और पवित्र हिन्दी थी। 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने अपने एड्रेस में भी अपने को "उच्च हिन्दी के पक्षपाती नहीं हैं" कहकर पालिसी चली है, किन्तु सरल हृदय लोगों के मन में इससे धोखा हो सकता है। लोग पालिसी में चाहे कुछ कह जायं, किन्तु अपनी लेखिनी की गति को नहीं बदल सकते। पवित्र हिन्दी के कुएं का सोता सदा संस्कृत ही रहैगा। एक बात और बड़ी मज़ेदार है। बङ्गभाषा के वैयाकरण संस्कृत की भरमार का सदा विरोध करते आए हैं। हिन्दी वाले भी ठेठ और तद्भव शब्दों के पक्षपाती रहे हैं। मराठी लेखक भी 'देशज' पदों की स्तुति किया करते हैं। फिर क्या कारण है कि तीनों भाषाएं संस्कृत से पेट भर शब्द लिए जाती हैं? इसका कारण ढूंढ़ने को दूर नहीं जाना होगा। इन भाषाओं की नैसर्गिक प्रवृत्ति संस्कृत की ओर है, और बच्चे को माता का दूध छुड़ाकर 'मैलन्स फूड' पर पालना कदापि ठीक नहीं होगा।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

राष्ट्र भाषा का प्रस्ताव

पं० बामनराव पेठे को हिन्दी को भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा बनाने के प्रस्ताव का उठाने वाला कहा जाता है। 'भारतमित्र' ने यह महत्त्व बंकिम बाबू को दिया है। संवत् १९२९ में (शाके १७९५ में) बम्बई निर्णय सागर प्रेस में बाबा किसनदास उदासी निरंजनी ने 'कबीरपद संग्रह' नामक ग्रंथ "छपाय के प्रसिद्ध किया"। उसकी 'सूचना' में बाबा जी लिखते हैं—"ए पुस्तक छापने को शुरू करने के अव्वल मेरे कितनेक मित्रों ने कहा के गुजराती अक्षरों में कबीरपद छपाओ तो अच्छा लेकिन मैंने सोचा के गुजराती लिपी जो है सो फ़कत मुठी भर गुजरातीयों के वास्ते है, लेकिन बालबोध लिपी जो है सो सारे हिन्दुस्तान वगैरः देशों के वास्ते है इस वास्ते मैंने बालबोध लिपी में छपाने का निश्चय कीया। भाइयो जब तक्के हिन्दुस्तान में एक लिपी, एक भाषा, एक धर्म न होगा तब तक्कें हिन्दुस्तान में पूर्ण सुधारना न होगी। लिपी तो बालबोध ही याने देवनागरी चाहिए। भाषा हिन्दुस्तानी या हिन्दी दोनों में से कोई भी होय तो हरकत नहीं है सबब साधारन हिन्दी और साधारन हिन्दुस्तानी हर कोई समझ सकते हैं। धर्म ऐसा चाहिए जिसमें एक ईश्वर की भक्ति, मनुष्य मात्र की एकता, स्वदेशाभिमान और नीति हो। ऐ मेरे स्वदेश हितचिन्तको जो हिन्दुस्तान में तुमारी पूर्ण सुधारना करने की इच्छा होय तो पहिले एक लिपी एक भाषा करने के वास्ते कमर बांधो और मैहेनत करना करो तब पूर्ण सुधारना होगी, ऐ मेरे स्वदेशाभिमानी मित्रो ए मेरी विनती पर विचार करो और करोगे ऐसी मैं उम्मेद रखता हूं। हाल इतना ही बस।"

राष्ट्रभाषा के प्रेमी लोग इस पर ध्यान दें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

संस्कृत-प्रेम

सन् १८७० में फ्रान्स और जर्मनी में बड़ी भारी लड़ाई हुई थी। उसमें सारे साम्राज्य कांप उठे थे। उन्हीं दिनों योरोप में संस्कृत के पढ़ने की चर्चा

खूब चल रही थी। जर्मन सेना के एक सवार ने, १ सितम्बर के युद्ध का वृत्तान्त, ता० २ सितम्बर को, अपने एक स्वदेशी मित्र को, संस्कृत में लिख भेजा। उसमें ऋग्वेद का एक अंश दृष्टान्त रूप से कुछ बदलकर लिखा है। जिस देश में संस्कृत के अभ्यास का यह प्रेम है, वह देश धन्य है; जो मनुष्य युद्ध-क्षेत्र में भी इस हमारी भाषा को नहीं छोड़ता था, वह मनुष्य धन्य है !! संस्कृत देववाणी ही है, और उसके चाहने वाले 'देव' और उपेक्षा करने वाले 'पशु' वन ही जाते हैं !!! पत्र यह है—

"ह्यो महायुद्धं अभवत्। शत्रवः सर्वे निर्जिताः। सर्वा तेषां सेना, महाराजश्च स्वयं, बद्धः। त्वष्टा नो वज्रं स्वयं ततक्ष, अहन्माहिं स्वबिले शिश्रियाणम् (ऋग्वेद १, ३२)। अहं सुकुशलोऽस्मि, युद्धे न महद्भयं गतोऽहम्, यद् एतस्मिन् क्षेत्रे सुपार्वते पदातय एव योद्धुं शक्नुवन्ति, तुरंगिणस्तु नार्हन्ति।

महत्यां सेवायां भवतः शिष्यः
जुरिस वौन थीलमान"

अर्थ—कल बड़ी लड़ाई हुई। शत्रु सब जीत लिये। सब उनकी सेना, महाराज भी, बांध लिए गए। इन्द्र ने हमारा दैवी वज्र बनाया, हमने अपने बिल में बैठे अहि (वृत्र, सर्प, मेघ) को मारा। मैं प्रसन्न हुं, युद्ध में मैं बहुत डरकों नहीं गया, क्योंकि इस पहाड़ी खेत में पैदल ही लड़ सकते हैं, घुड़सवार नहीं।

बड़ी सेवा में तुमारा शिष्य,
जुरिस वौन थीलमान

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : दिसम्बर, १९०३ ई०]

□

अत्र तत्र सर्वत्र : सम्पादकीय टिप्पणियां

गतवर्ष हिन्दी भाषा के लिए अच्छा नहीं बीता। दो प्रेसों के स्वामी, दो पत्रों के सम्पादक और दो पत्र अनन्त काल में लीन हुए। 'समालोचक' के ग्राहकों की संख्या भी अच्छी कहानी नहीं कहती। कई पत्र तथा काम सिसक रहे हैं तथापि 'हितवार्त्ता' का जन्म शुभ लक्षण है। हिन्दी-प्रेमी जान रक्खें कि उन्हें कितनी कड़ी मंज़िल तै करना है।

☐

आजकल एक और भी ऐसा विषय है जिस पर हिन्दी-प्रेमी टकटकी लगाए हैं। वह युक्तप्रदेश की सरकार का हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी बनाने का उद्योग है। शासनकर्त्ताओं के हाथ में भाषा बनाना इस ही देश में है। हम इस बात के पक्ष-पाती नहीं हैं कि व्यर्थ संस्कृत-शब्दों की भरती की जाय, किन्तु संस्कृत, आवश्यकता पर हिन्दी की (top root) प्रधान जड़ का काम दे, इसमें क्या आपत्ति है? सरकार के इन यत्नों के सामने सच्चे हिन्दी के प्रेमी याद रक्खें कि 'नार्मन' समय में अंगरेज़ी भाषा में 'फरांसीसी' शब्द बलात्कार से घुसेड़े गए थे किन्तु समय पाकर वे सब निकल गए और अब 'सैक्सन' ही की प्रधानता है।

☐

बम्बई के मासिक पत्र 'भारतधर्म' ने मराठी, गुजराती और हिन्दी तीन भाषाओं से अपना कलेवर भूषित किया है। राष्ट्रभाषा के प्रचार का यह बहुत अच्छा

उपाय है। क्या कई उत्साही बंगाली, गुजराती तथा मराठी पत्र अपने को हिन्दी मे द्वैभाषिक करके सार्वजनिक भाषा प्रचार नहीं आरम्भ करेंगे ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

जब प्रान्तिक सरकार ने भाषा के जटिल प्रश्न पर राय पूछी तो पण्डित लक्ष्मी-शंकर मिश्र फिसल गए और उर्दू मिश्र हिन्दी के पक्षपाती होकर सभापतिपने से इस्तीफा दे बैठे। यह बात उस समय 'ट्रिब्यून' में छपी थी और हम हिन्दी-पत्रों और 'सभा' को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इस छिपाने लायक लज्जा की बात का हल्ला न मचाया। अभी हमारे देश में ऐसे कर्मवीर बहुत कम हैं जो सरकार के पूछने या किसी सम्बन्धी के स्वार्थ के आगे अपने सिद्धान्त पर खड़े रहें। इसी सम्बन्ध में हिन्दी-कालिदास, लाला सीताराम बी० ए० ने जो 'सभा' को विद्या-सम्बन्धी उत्कर्ष का आदर्श नहीं माना है, वहां हम भी सहस्रजिह्व होकर कहते हैं कि डिपुटी साहब का यह कहना असम्बद्ध, अनावश्यक और असत्य है। इस घरऊ लड़ाई और बाहरी उपेक्षा के रहते भी 'सभा' ने जो कुछ किया है, वह स्तुत्य है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

भारतधर्म महामण्डल के संस्थापक पण्डित दीनदयालु के ओजस्वी और सुधामधुर व्याख्यान मद्रास में हुए। वह दिन हिन्दी के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से

लिखने योग्य है जिस दिन फ्रेंच आफ इण्डिया के वक्ता पण्डित जी को मद्रास में, दाक्षिणात्यों के बीच में, आनरेब्ल ला० गोविन्ददास ने एड्रेस दिया । यदि स्वामी दयानन्द की इसलिए स्तुति की जाए कि उन्होंने हिन्दी को अपनी धर्मभाषा बनाकर उसके साहित्य की पुष्टि कराई, की, तो पण्डित दीनदयालु को भी अटक से कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के अन्यतम प्रधान उपाय व्याख्यान में वर्तने के लिए धन्यवाद देने चाहियें । जब उक्त पण्डितजी अमृतसर पिंजरापोल के लिए लाख रुपया इकट्ठा कर सकते हैं, तो क्या वह उदार महात्मा अपने पांच-सात व्याख्यान 'नागरीप्रचारिणी सभा' को नहीं दे सकते जिससे सभा का सारा दारिद्र्य मिट जाय और हिन्दी की सर्वांग पुष्टि की नींव दृढ़ हो जाय ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

चार भाषाएं

प्रयाग की 'कायस्थ पाठशाला' के पृन्सिपल और 'प्रवासी' के सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय एक हिन्दी-बंगला-गुजराती-मराठी का पाक्षिक पत्र निकालेंगे । चारों भाषाएं देवनागरी अक्षरों में छपेंगी । हिन्दी अंश के सम्पादक बाबू राधाकृष्णदास चुने गए हैं । इस योजना से चारों भाषाओं की अङ्गपुष्टि ही नहीं, किन्तु राष्ट्रभाषा का प्रचार भी साधित होगा, इसीसे हम इसका अनुमोदन करते हैं और यथायोग्य सहायता के लिए उपस्थित हैं । 'नागरी प्रचारिणी सभा' से भी परामर्श ले लेना चाहिए ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

चतुर्भाषी

जिस पत्र की बात से हम पुलकित हुए थे, वह कदाचित् कथा शेष हो गया—

"दूर से आए थे साकी ! सुन के मैखाने की हम ।
बस तरसते ही चले अफसोस ! पैमाने को हम ।।"[1]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल १९०४ ई०]

सहयोगिसाहित्य—१

'भारतमित्र' में 'विलायती पार्लेमेण्ट', 'उर्दू अखबार', 'अपनी कहानी' बहुत अच्छे लेख हैं, और 'भारतमित्र' को ऊँचा आसन दिलाते हैं। उपहार का उद्देश्य भी उसका उपहार ही पूरा करता है। 'हितवार्त्ता' की राजनैतिक हितवार्त्ता अच्छी भी कुछ काम की नहीं क्योंकि भाषा में सुधार नहीं और उपहार का उपहास है। 'हिन्दी बङ्गवासी' के जाग उठने के लक्षण हैं, किन्तु अभी आँख भी नहीं मली गई। 'श्री वेङ्कटेश्वर' में रामजीवन नागर के शिल्प सम्बन्धी लेखों के अभाव से हम दुःखी हुए। यह पत्र भी उत्तम कक्षा का है, और वहीं रहने का यत्न करता है। 'प्रयागसमाचार' कम्पोजिटरों की बीमारी और सम्पादक की बदल से बदल (या बिगड़ ?) गया। 'भारत जीवन' का ढंग सुधर रहा है, किन्तु 'मोहिनी' क्यों ऊंघती है ? 'राजस्थानसमाचार' में कोई-कोई लेख बहुत अच्छा निकलता है किन्तु टूटा टाइप सब कुछ बिगाड़ देता है। 'राजपूत' अलवर के उत्सव में रंग गया। 'चित्तौर-चातकी' का गंगाप्रवाह हो गया; बाकी पुस्तकों पर पञ्चों की पञ्चायत हो रही है; इसी से 'भारतजीवन' का जीवन तङ्ग है। 'सरस्वती' की महिमा बढ़ती जाती है, आशा है कि योग्य सम्पादक उसकी कोटि सदा उच्च करते जायंगे। साहित्य-समाचारों को 'सरस्वती' न छोड़ें। इस वर्ष उसकी आर्थिक अवस्था भी दृढ़ हो जाय। 'सुदर्शन' फिर सो गया है, उसकी चोदना होनी चाहिए। 'आनन्द-कादम्बिनी' के प्रबन्ध से हम सन्तुष्ट नहीं। काशी की सभा की कृपा से 'हिन्दी-मनोविज्ञान' और नन्ददास जी की 'रासपञ्चाध्यायी' पढ़ने को मिली। फरवरी के मध्य में सभा का गृहप्रवेशोत्सव है। शुभचिन्तक ने लालमोहन घोष की जीवनी

१. 'चार भाषाएं' टिप्पणी पर यह दुःख प्रकट किया गया है। —सम्पादक

अच्छी लिखी है, किन्तु क्या छै तोले का नियम भी इसके जीर्ण दरिद्र कागज को न बदलेगा ? काशी के उपन्यास उसी ढंग से चले जाते हैं। 'विहार-बन्धु' कहीं 'सरयूपारी बन्धु' न हो जाय। देखें, 'सत्यवादी' क्या कहता है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

सहयोगिसाहित्य—२

'नागरी प्रचारिणी सभा' के एक पुराने अधिवेशन में बाबू श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा था कि यूनिवर्सिटी बिल पर हिन्दी-सम्पादकों ने अपनी स्वतन्त्र राय यों न लिखी कि कदाचित् उनमें से किसी को भी विश्वविद्यालय में पैर रखने का सौभाग्य न मिला हो। ऐसे सम्पादकों के लिए रूस, जापान का युद्ध मानो ईश्वर ने भेजा है, क्योंकि इधर-उधर से पत्र को भर कर पुरानी रुखास को पूरा करने का अच्छा मौका मिलेगा। 'हितवार्ता का आकार बदला, किन्तु भाषा नहीं। महामण्डल का विवाद कुछ ढीला पड़ा है, और उसका स्थान, मिसेज वेसन्ट के हिन्दू-कालेज की चर्चा ने ले लिया है। हर्ष की बात है कि 'वेङ्कटेश्वर' में एक तिब्बती परिव्राजक ने यात्रा लिखकर हमारे सिर का बोझ उतारा। 'सत्यवादी' का ढंग अच्छा है, यदि वह पायदारी करै और चटकै नहीं। डाक-विभाग का नया नियम रोचक, 'विहार बन्धु' को १६ पेज का क्यों नहीं कर देता ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

सहयोगिसाहित्य—३

'प्रयाग समाचार' में 'अबला बाला' का 'खून' हो गया और चाहे सम्पादक का अनुभव काम चलावै, किन्तु पुरानी महिमा नहीं आई। 'भारतभगिनी' औरों

के लेखों की नकल करके कब तक चलेगी ? 'सरस्वती' की नई संख्या बहुत अच्छी आई है और उसमें दो लेख अच्छे होने के सिवाय मौके के भी हैं—कोरिया और तिलक महाशय के ग्रन्थ का वर्णन। सरकार की पाली नई भाषा को बहुत ठीक मुखन्नस भाषा कहा है। हिन्दी वालों का सम्मिलित जीवन कितना है और कैसा है इसका पूरा पता उस लंगड़ी चाल से लगता है, जिससे, 'भारतमित्र' के सिवाय, हिन्दी-पत्रों ने काशी की सभा के उत्सव का हाल लिखा है। हम नहीं समझते कि 'भारतमित्र' की नैपोलियन की जीवनी साप्ताहिक पत्र में छपने लायक है। 'हिन्दी बङ्गवासी' होली पर तो अपने पुराने रूप पर आ गया, किन्तु अभी कुछ ठीक नहीं बना। ष्टैंड साहब के आदर्श दैनिक पत्र के सृष्टि, स्थिति, विनाश को देख हिन्दी के आदर्श पत्र वालों को अधिक दृढ़ होना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०]

सहयोगी साहित्य—४

'आरा' की 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने एक बहुत अच्छा काम किया है। उसने प्रायः २४ महाराजाओं को नागरी प्रचार के लिए मेमोरियल दिया है। भगवान् करे इसका अच्छा फल हो और यह न हो कि जहां नागरी अक्षरों की ओर उदासीनता ही है, वहां उनका प्रत्यक्ष विरोध ही खड़ा हो जाय। 'सत्यवादी' को जब यों बंद होना था, तो इतनी धूम से निकला ही क्यों ?

'अपनी आंखों में कौंध गई बिजली-सी,
हम न समझे कि यह आना है या जाना तेरा।'

'मोहिनी' साप्ताहिक होने चली है, किन्तु आकार कैसा होगा ? यह कोई सिद्धान्त नहीं कि बड़े आकार ही के पत्र अच्छे होते हैं। 'श्री वेंकटेश्वर' में तिब्बत में 'मैं' की तो 'मैं' हो गई, किंतु शिल्प के लेख लगातार निकलते रहे, और अब एक

अच्छा उपन्यास आरम्भ हुआ है। 'भारत मित्र' ने भी एक मनोविनोद का कालम गर्ग (महेन्दुलाल) महाशय को दिया है। यों experts को एक कालम देना नया प्रयोग है, और इसका फल अच्छा ही होगा। क्या हिन्दी के पत्रों के परिचायक कई विषयों के कई संपादक रखने का प्रवन्ध नहीं कर सकते? अभी तक राजनीति पर लिखने वाले महाशय ही को धर्म की व्यवस्था देनी पड़ती है, और साहित्य का अग्रणी वनना पड़ता है। 'भारत जीवन' में गोरक्षा के लेख अच्छे हुए हैं। बड़े हर्ष की बात है कि 'प्रयाग समाचार' में दत्त (रमेशचन्द) महोदय के इतिहास पर लिखा जाने लगा है किन्तु उसकी परिपाटी निन्द्य है। जिन बातों में दस कालम खर्चे गए हैं वे दो कालम में लिखी जातीं तो अधिक बलवती होतीं। लेखक को यह तो मालूम है कि गाली देने का नाम युक्ति और तर्क नहीं है, फिर जगह-जगह पर रमेश बाबू और काशी की सभा को अयुक्त वचनों का संपुट क्यों लगाया जाता है? अंग्रेजी में उस ग्रन्थ के होने से धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ, तो बेचारी हिंदी ने क्या पाप किया है? सभा की बहुत कुछ निन्दा हो रही है, उसे सम्हालना चाहिए। घर क्या बना, वह मानो घोड़े बेचकर सो गई है। 'काशी' के 'प्रसाद' से हमारी हिन्दी पर भी 'प्रयाग समाचार' ने आक्षेप किया है, जिसके लिए उसे अनेक धन्यवाद हैं—

"मुझे कोसें, बला से, गालियां दें,
मगर वह नाम लें हर बार मेरा।"

'राजपूत' में दो लेख अच्छे हुए हैं। 'वैश्योपकारक' पत्र बहुत अच्छा होगा, हम उसकी उन्नति चाहते हैं। 'चक्करदार चोरी' और 'हृदयहारिणी' पढ़ने योग्य हैं। 'गोस्वामी जी' के उपन्यास एक भद्दी लीक में पड़ते जाते हैं। वही दुःख में मिलन, परस्पर सहायता, प्रेम का उदय, छिपा प्रेम, पूरी कोर्टशिप, वियोग, मिलाप का आनन्द, विवाह और कोहबर की एक दिल्लगी वही बात, उसी ढांचे में! सबमें वही अधिकता से कर्णकटु एक तान! किंतु विवाह से पहिले का प्रणय और पूरी खुलावट फरासीसी है हिंदुस्थानी नहीं। 'समाजचित्र' में विवाहोत्तर के प्रणय का चित्र देना क्या असम्भव है? 'राजस्थान समाचार' के दैनिक रूप की आलोचना हम तब तक न करेंगे जब तक उसके स्वामी, लोगों के मुंह पर का रूमाल (कि अभी कुछ न कहिए) न हटा लें। जयपुर से 'संस्कृत रत्नाकर' पत्र अच्छा निकला है, किंतु उसमें नई बातें भी चाहिएं। काशी की 'मित्रगोष्ठी पत्रिका' में संस्कृत के द्वारा नवीन प्राचीन का मिलना शुभ है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक : मई, १९०४ ई०**]

सहयोगिसाहित्य—५

जब ऋषि मरने लगे, तब मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—"हमारा ऋषि कौन होगा ?" देवताओं ने उनको 'तर्क' ऋषि दिया।

—निरुक्त १३।१।१२

बंग महिला के तीव्र तथा सत्य लेखों पर जिन हिन्दी के पत्रों ने हल्ला मचाया है उनकी योग्यता का अच्छा परिचय मिल गया है। मनुष्यों के कामों के हिसाव में स्वार्थ का इतना हिस्सा होता है कि वही मनुष्य जो समालोचना का अगुआ बनता था, और समालोचना की चर्चा से आकाश-पाताल को एक करता था, वही, केवल इसलिए कि जैसे वह औरों को झूठ अपशब्द कहता था, वैसे कोई दूसरा भी उसे कुछ सच्ची बात सुना सकता है, कहता है कि समालोचना की अब हिन्दी में जरूरत ही नहीं। औरों की अवस्था पर कहने वाले स्वयं अपना मुंह तो दर्पण में देखें कि वे स्वयं भी जरद्गव नहीं हैं। जिनके हाथ कीच में सने हुए हैं उन्होंने अपने हाथों को शुद्ध बताने का दावा किया है, 'श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार' के-से निष्पक्षपात दर्शक ने अपना मत स्पष्ट और सत्य प्रकाश किया है। किन्तु उन हठी और सत्यभीरू लेखकों को हम क्या कहें, जिनने कदर्य, कुत्सित और जघन्य आक्रमणों से, बंग महिला के पूज्य स्त्रीत्व पर गर्हित आक्रमण किए हैं और दाढ़ी में तिनके की कहावत को चरितार्थ किया है। कहां हैं वे पुराने लोग जो कहते हैं कि स्त्रियों का हमारे यहां आदर है ? वे इन मर्यादारक्षक सम्पादकों की Chivalry देखकर प्रसन्न हों। इस दुःखदायक और उद्वेगजनक लेखप्रणाली से बड़ा खेद तो यह है कि अपने हृदय को खोजकर, अनुतापपूर्वक अपने अपराध स्वीकार करने के स्थान में वे गालियों के मुंह आए हैं किन्तु समालोचक जब सत्य कह रहा है, तो वह कभी इन गालियों से डरनेवाला नहीं है। बंग भाषा में चोरी की और अश्लील पुस्तकें हैं, तो किस तर्क से वे हिन्दी में भी होनी चाहिए ? एक पीरे मुर्शद हमारा हाथ चूमने चले थे कि किसी ने उनकी आँख फोड़ दी। ऐसे मौके पर एक ग्रामीण उपाय है कि वे अढ़ाई कदम उलटे पैरों चलें और अपनी समिति से मिलें। हमें अपना मरीज़ कहने को कई आगे बढ़ते हैं, किन्तु 'समालोचक' की तपस्या यों नहीं च्युत होती। 'सरस्वती' अपनी रोचकता रखती है किन्तु धर्म के विषय में बेपेंदे के लोटे की शोभा पाती है। जब 'सरस्वती' में माइकेल मधुसूदन दत्त का जीवनचरित निकला था तब एक महाशय ने कहा था कि 'सरस्वती' क्रस्तान बनने का उपदेश करती है। ठीक ऐसी ही उदारता और दूरदर्शिता 'प्रयाग समाचार' **'दत्त'** के इतिहास की आलोचना में दिखा रहा

है। 'हितवार्ता' के चित्र केवल श्याही के पुंज होते हैं और उसकी भाषा नहीं सुधरती। 'बंगवासी' अभी तक नहीं सुधरा। 'भारतमित्र' लोकप्रिय हो रहा है। 'वैश्योपकारक' और 'मित्र' ने अच्छी उन्नति की है। 'राजपूत' जी का जोश ठण्डा हो गया है। 'मोहिनी' नाम की भूखी है। 'सुदर्शन' के उठने की आशा नहीं। 'आनन्द कादम्बिनी' ने वर्ष पूरा किया, किन्तु पौने दो वर्ष में हैं। काशी संस्कृत यूनिवर्सिटी का काम उदारता से चलना चाहिए। इन्दौर और पञ्जाब में नागरी-प्रचार के लिए उपदेशक जाने के पहले, 'कः कालः कानि मित्राणि,' सोच लेना चाहिए। हम पत्र को समय पर न निकाल सकने की लज्जा को, हम अबके मिटाने का उद्योग करेंगे। केवल समालोचना साहित्य का पेट नहीं भरती, इससे और सर्वोत्तम लेखों को भी स्थान दिया जाता है। उच्च साहित्य की कमी से चाहे वहां समालोचना का अवकाश न हो, किन्तु उपन्यास Parasites के उच्चाटन की बड़ी आवश्यकता है। इस वर्ष इन लेखों के लिए लेखकों को इस प्रकार उपहार दिए गए —

सोहऽम्	एक सोने की अंगूठी
खेल भी शिक्षा है	एक बनारसी रेशमी थान
व्यय	लेख की १५० प्रति
लाखा फूलाणी	लेख की २० प्रति
हि	लेख की ३५ प्रति
हिन्दी के ग्रन्थकार	एक सांगानेरी साड़ी
भारतवर्ष के इतिहास की समालोचना	लेखकी की ७५ प्रति

'समालोचक' के ग्राहकों की संख्या कम है, बहुत ही कम है। उनके भरोसे और मनुष्य पत्र निकालने का साहस नहीं करता। पौने से अधिक ग्राहक जहां वी० पी० लौटावैं वहां क्या आशा हो सकती है? तथापि मातृभाषा की सेवा के आग्रह से और विद्वानों के परितोष के लिए सम्पादक और प्रकाशक 'समालोचक' को यथावत् चलाने में उद्यत होते हैं। जगदीश्वर से प्रार्थना है कि आगामी वर्ष भी अपने गुरुकर्तव्य के योग्य शक्ति सम्पादकों को मिलै और जान्सन साहब के पवित्र आसन को भूषित नहीं तो दूषित करने का मौका तो न मिले। अन्त मे सह-योगियों और सुयोग्य लेखकों से निवेदन है कि वे इस नौका को मझधार छोड़कर प्रकाशक को दुःखित न करें। गत वर्ष कर्तव्य के आवेग में, सत्य के पक्ष में वा मनुष्य के स्वाभाविक रागद्वेष से, यदि किसी को ज्ञात वा अज्ञात कुछ अनुचित कहा गया हो, तो वे मनुष्य जानकर क्षमा करें और आगामी वर्ष के लिए

'समालोचक' को आशीर्वाद देवें—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसिनजायताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्त मेषाम् ।
समानं मन्त्र-मभि मन्त्रये वः समाने न वोहविषा जुहोमि ।।
समानी व अकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।
ॐ शांतिः शांतिः शांति : ।।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जून-जुलाई, १९०४ ई०]

सहयोगिसाहित्य—६

आजकल समाचारपत्रों में रूस, जापान वा तिब्बत की लड़ाई के अतिरिक्त प्राय गंभीर लेख बहुत कम होते हैं। 'भारतमित्र' में 'उर्दू मासिक पत्रों' पर अच्छा लेख लिखा गया है और इसके लेख तथा भाषा से सब मनुष्य प्रसन्न हैं। 'हितवार्ता' के लेख अच्छे राजनैतिक होने पर भी सरल भाषा में न होने के कारण सर्वोपयोगी नहीं हैं। 'हिन्दी बंगवासी' में अब गंभीर लेखों का प्रायः अभाव रहता है। आजकल हमारे मित्र 'राय साहब' एक कथा के रूप में मिसेज वेसेण्ट की स्तुति कर रहे हैं, ठीक ही है। 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में, रामजीवन नागर के शिल्प और वाणिज्य के लेखों के स्थान में 'उपन्यास' छपने लगा था, ! ! ! 'वैश्योपकारक' तथा 'भारतजीवन,' सम्पादकों की 'बदली' से कुछ अधिक उन्नति कर सके ! क्या 'मोहिनी' ऐसे बढ़िया (!) चित्र छापकर 'मोहिनी' होने का अभिमान कर सकती है ? 'प्रयाग समाचार' की वर्तमान अवस्था तथा प्राचीन अवस्था में रात-दिन का भेद मालूम होता है। 'सुदर्शन' के लिए भक्त जन 'माधव' से प्रार्थना करते-करते थक गए हैं ! ! ! 'सरस्वती' में और लेखों के अतिरिक्त

'इंगलैण्ड की व्यापार नीती' लेख मि० सप्रे, बी० ए० का समयोपयोगी है। आनन्द है, मिस्टर सप्रे अब कुछ फिर लिखने लगे। 'राजपूत' जी क्या अब फिर 'जादूगर' आदि उपन्यासों के पीछे दोड़ेंगे ? 'आनन्द कादम्बिनी' का नया वर्ष प्रारम्भ हो गया है। चातक प्रसन्न हुए। अबके 'विवाह' पर उत्तम लेख लिखा गया है। 'जयपुर संस्कृत रत्नाकर' को 'मित्रगोष्ठी पत्रिका' का अनुकरण करना चाहिए, । बम्बई से 'जैन ग्रन्थरत्नाकर' अच्छा पत्र निकलने लगा है। 'जैनमित्र' ने अच्छी उन्नति की है। 'जैनगजट' को सावधान होना चाहिए। 'हिन्दी प्रदीप' का वह ही पुराना हाल है। लोग सहायता देने से मुँह मोड़ते हैं। आजकल लोग नया पत्र निकालने के लिए दौड़ते हैं किन्तु पुराने को सहायता करना 'पाप' समझते हैं। नागरी सभाओं को द्वेष से बचना चाहिए। काशी के उपन्यास एक ही धारा से वहे चले जाते हैं। 'भारतधर्म' मासिक से साप्ताहिक हो गया है। काशी की सभा का वार्षिक अधिवेशन हो गया। कुछ सभा के सभ्यों की कृपा से मिस्टर 'दत्त' का इतिहास पाठकों को पढ़ने को मिला होगा। आजकल आरा में 'पदक' बहुत मिल रहे हैं। इन्दौर में हिन्दी का प्रचार प्रायः हो गया है इसलिए 'हिन्दी-समाज' प्रसन्न हैं। अन्य देशों के लिए हिन्दी वालों को कुछ कठिन परिश्रम करना चाहिए। भगवान् ! एक दिन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०४ ई०]

पाठ्यपुस्तकों का सुधार

हिन्दी के पत्रों ने उपन्यासों पर बहुत कुछ लिखा। उपन्यास साधारणतः प्रौढ़ अवस्था वालों के लिए होते हैं। ऐसे लोग समय काटने के लिए पढ़ते हैं और उनपर किसी विशेष पुस्तक के पढ़ने का बलात्कार नहीं होता। इससे यदि वे जानबूझकर भद्दे उपन्यास पढ़ें, तो भारतेन्दु के शब्दों में—'उन्हें कौन जगा सकता है ?' किन्तु शिक्षा-विभाग की पुस्तकें भला-बुरा न जान सकने वाले कोमल बालकों को पढ़नी ही पड़ती हैं। उन्हें जो कुछ रटाया जाए, वह अशुद्ध भाषा में न हो

और बुरा न हो इस बात की सम्हाल शिक्षा-विभाग के सिवाय संवादपत्रों को भी करनी चाहिए। मध्य प्रदेश की पाठ्य पुस्तकें कदाचित् अच्छी हों, किन्तु बंग, बिहार, युक्तप्रान्त और पंजाब में पुस्तकों का रोना ही है। रसायनाचार्य पैडलर साहब के शासन में न मालूम किन रसायन प्रकारों से मैकमिलन कम्पनी पुस्तकें ढालती है और न मालूम किस कीमिया के बल से वे 'स्विकृत' हो ही जाती हैं। प्रयाग के 'इण्डियन पीपल' ने मैकमिलन जुगराफिया और 'सिटीजन आफ इण्डिया' के उर्दू अनुवाद की अच्छी कलई खोली है। 'लखनऊ एडवोकेट' के सम्पादक गंगाप्रसाद वर्मा 'नागरीप्रचारिणी सभा' के आनरेरी मेम्बर चुने गए हैं, उन्हें युक्तप्रान्त की हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों पर कुछ लिखना चाहिए। मैकमिलन की वैज्ञानिक रीडरों की समालोचना 'नागरीप्रचारिणी सभा' करनेवाली है। 'बिहार बन्धु' और 'प्रयाग समाचार' वृथा की बातों में न पड़कर इस आवश्यक विषय पर लिखें। मैकमिलन के इतिहास पर हमने एक प्राप्त लेख छापा था। लेखक ने अपने सिद्धांतों के विरुद्ध बातों पर बहुत जोर दिया है। जो हो, हमने उस पुस्तक में एक भी पृष्ठ निर्दोष न पाया और हमें पण्डित पाण्डेय की समालोचना पर कुछ नोट जोड़ने पड़े। मैकमिलन कम्पनी की ऐसी ही वैज्ञानिक और साधारण पुस्तकों के लिए युक्तप्रदेश का शिक्षा-विभाग भी स्वच्छन्द बिहार-क्षेत्र बनने वाला है। विद्यार्थियों और उनकी भाषा का ईश्वर ही रक्षक है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

सिटीज़न आफ़ इण्डिया

लीवार्नर साहब की यह पुस्तक बलात्कार से, सभी यूनिवर्सिटियों में कहीं मिडिल, कहीं एन्ट्रेन्स और कहीं एफ० ए० में घुसेड़ी गई। प्रयाग सीनेट में इसके विरुद्ध बड़े-बड़े विवाद हुए, सर्वसाधारण ने भी पत्रों में, सभाओं में, इस पुस्तक के मतों का विरोध किया। किन्तु पुस्तक है कि जोंक, हटती ही नहीं!! इसमें भारतवासियों की निन्दा है। पुस्तक बड़ी कठिन है, और Imperialism हठ-

वाद का खासा नमूना है। उसके हिन्दी-अनुवाद का नाम सुनकर हमने समझा था कि इसकी कीर्ति भी मैकमिलन की अन्य पुस्तकों से काहे को कम होगी, किन्तु यह जानकर सन्तोष हुआ कि यह अनुवाद लाला सीताराम बी० ए० ने किया है। सन्देह यही है कि इस अनुवाद में 'भूप' लेखिनी का कौन सा स्वरूप है? शुद्ध हिन्दी का स्वरूप है वा उस खिचड़ी उर्दूमय हिन्दी का स्वरूप है जिसकी हिमायत करती बार भूप साहब ने आत्मश्लाघा करते-करते 'नागरीप्रचारिणी सभा' की निन्दा की थी?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचन** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

यूनिवर्सिटीज़ बिल

पंडित बालगंगाधर तिलक ने, अपने नए ग्रंथ की भूमिका में, भट्ट मोक्षमूलर के ये वाक्य उद्धृत किए हैं—"मनुष्यों के ज्ञान के प्रत्येक विभाग का शाखा और प्रशाखाओं में दिन दिन बटते जाना, किसी विशेष विषय के शास्त्री को, चाहे वह चाहे, वा नहीं, अन्य शास्त्रों के सेवकों की बुद्धि और सहायता के अधिक-अधिक अधीन करता जाता है। आजकल के भूतत्ववेत्ताओं को उन प्रश्नों का निर्णय करना पड़ता है जिनका कि सम्बन्ध धातुवेत्ता, रसायनवेत्ता, पुरातत्ववेत्ता, व्याकरणवेत्ता और ज्योतिषवेत्ता लोगों से, सूखे भूतत्ववेत्ताओं की अपेक्षा अधिक है। जीवन बहुत थोड़ा होता है इससे उसे अपने साथियों की सहायता और सलाह लेने के सिवाय कोई उपाय नहीं रहता। विश्वविद्यालय जीवन का यह बड़ा भारी लाभ है कि यदि किसी को अपने विषय से बाहर की किसी बात का निर्णय करना हो तो वह अपने सहयोगियों से सबसे अच्छी मीमांसा पा सकता है। पेचीले प्रश्नों के सबसे अच्छे विचार और अत्युत्तम समाधान, इस स्वतन्त्र सहवास से, हमारे विद्याकेन्द्रों के इस 'लेन देन' से उत्पन्न हुए हैं। यदि खोजी इन सब विषयों पर जाने हुए अधिकारियों की सहायता न ले, तो वह अपनी समझ में बड़ी खोज कर बैठता है जो विषय को जाननेवाले के फूत्कार मात्र से उड़ जाती है, और कई बातों को छोड़ जाता है जो विशेषज्ञ के हाथ में पड़कर दूर व्यापी लाभों को पैदा करती हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में, जहां हर कोई अपने सहयोगियों से सबसे अच्छी सम्मति पा सकता है (चाहे वे उसे असम्भव कल्पनाओं से सावधान करें और चाहे ऐसे ग्रन्थ

की ओर उसका ध्यान खैंचें जिसमें उसकी जिज्ञासा की बात पूरी तौर से वर्णित है) प्रत्येक विज्ञान को, विचारों के स्वतन्त्र 'लेन-देन' से कितना लाभ होता है, इस बात को सर्वसाधारण नहीं जानते ।" यह लिखकर तिलक महाशय कहते हैं— "किन्तु हा ! ऐसी आबहवा में रहना हमारे भाग्य में नहीं है, और इसमें आश्चर्य नहीं कि भारतवासी ग्रेजुएट परीक्षा देने के सिवाय और किसी काम के नहीं होते । भारतवर्ष में एक भी ऐसी संस्था नहीं है, और यूनिवर्सिटी कमीशन के होने पर भी ऐसे संस्थान के होने की आशा भी नहीं है, जहां योरोप की तरह किसी विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त हो सके ।"

यूनिवर्सिटीज़ बिल से उच्च शिक्षा के विस्तार की आशा नहीं होती । सीनेटों के सभ्यों की संख्या कम कर दी गई है, प्राइवेट कालिजों की स्वतन्त्रता कई जटिल नियमों से बद्ध हो गई है, किन्तु पढ़ानेवाली यूनिवर्सिटियों के बारे में कोई विशेष चेष्टा नहीं की गई । विज्ञान की उच्च शिक्षा के प्रस्ताव नहीं हैं, देशी भाषाओं की पढ़ाई में गिनती की बात भी नहीं है । और सरकार केवल चार लाख रुपया वार्षिक ही शिक्षा-विस्तार में देना चाहती है । पाठकों को सर लायकर के व्याख्यान से स्मरण होगा कि शिक्षा-विस्तार सेना से कम आवश्यक नहीं है और सर लायकर कई सौ करोड़ रुपया इंगलेण्ड के विश्वविद्यालयों के बढ़ाने के लिए ही चाहते हैं । इस बिल में विलायत से योग्य अध्यापकों को बुलाने की भी चर्चा नहीं है । ग्रेजुएटों को फेलो चुनने का अधिकार दिया गया है, किन्तु प्रयाग और पंजाब के ग्रेजुएटों को नहीं । सम्वादपत्र, कांग्रेस, और सभी विश्वविद्यालयों ने इस बिल का पूरा विरोध किया है । इस बिल के विचार के लिए जो नये मेम्बर वरिष्ठ कौन्सिल में चुने गए हैं उनमें हिन्दुस्तानी एक ही हैं—और वे 'वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां' की अवस्था को पहुंचे हुए, बम्बई यूनिवर्सिटी के भूतपूर्व वायस चैन्सलर डाक्टर भाण्डारकर हैं । कोई नवयुवक स्वदेशी होते, तो क्या कहना था । वृद्ध रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर को अपनी उस पुरानी करेर को काम में लेना चाहिए, जिससे उनने पतञ्जलि के समय-निर्णय के रिप्लाई लिखे थे, और वियाना कांग्रेस में वेण्डाल का खन्डन किया था । उनका यह समय प्राचीन शिलालेख पढ़ने का नहीं है; और न डाक्टर मुखोपाध्याय के लिए प्रघातमापकों की माप का है । दोनों को 'यथा निर्दिष्टोस्मि तथा करोमि' से बचना चाहिये । गोपालकृष्ण गोखले ने अपनी महाराष्ट्र वीरता काम में ली है और इसी से वरिष्ठ कौंसिल के अधिवेशन रोचक बन गए हैं । जो होना है वह तो आक्सफोर्ड में कृतविद्य कर्जन महोदय ने सोच ही रक्खा है; तथापि देशी मेम्बरों का विरोध 'दन्तभंगोपिनागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे' तो होगा ही ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

हिन्दी प्रदीप

वड़े खेद का विषय है कि स्नेह के अभाव से हिन्दी प्रदीप बुझा ही चाहता है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने धनाभाव की आंधी से और बंगला बू के नए तेल से इसको बचाया भी, किन्तु कृतघ्न हिन्दी भाषा वाले जब इसके प्रकाश में काम ही न लें तो यह अनन्तता के अन्धकार में लीन न हो, तो क्या हो? 'समालोचक' के स्वामी को इस दुःसम्वाद को सुनकर बड़ा शोक हुआ है और वे एक प्रस्ताव उपस्थित करते हैं जिसे हिन्दी के प्रेमी और भट्टजी अपनी सम्मति से उपकृत करें। भट्टजी जितना लिख सकें वा लिखना चाहें (प्रति मास २० वा ३० पृष्ठ) उतना लिखकर हमें दे दिया करें। हम अपने पत्र का नाम 'समालोचक और हिन्दी प्रदीप' रख देंगे, और 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक भट्टजी ही कहलाएंगे। यों भट्टजी के लेखों को हम छाप देंगे, और भट्टजी का और उनके पत्र का नाम जीवित रह जायगा। अवश्य ही हानि-लाभ के हम किसी और को दायी नहीं हैं। भट्टजी को यही सन्तोष रहेगा कि उनकी मातृभाषा की सेवा चल रही है, और यदि उन्हें लाभ नहीं है, तो प्रतिवर्ष जो हानि होती थी, वह तो अब नहीं होगी।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

महर्षियों की वृष्टि

आजकल बरसाती मेंडकों की तरह सब ओर महर्षि, महात्मा, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, ग्रेजुएटर्षि, वैश्यऋषि की भरमार है। कहीं इन पदों की मान-रक्षा की बहस में 'राजर्षि भारतेन्दु', 'ब्रह्मर्षि अयोध्यानाथ' भी न लिखा जाने लगे। सचमुच भारतवर्ष इनकी कृपा से ऐसा आश्रम न बन जाए जहां द्वन्द्व, शोक, द्वेष दूर से ही किनारा करें। एक बार दो बंगाली सज्जन सेकण्ड क्लास में कश्मीर जा रहे थे। एक के चरणों में गेरुआ बूट, देह में रेशमी कम्बल और मुंह पर चिकनी दाढ़ी देख, एक यात्री ने पूछा—"आपका नाम क्या है?" पास के धार्मिक मुसाहब ने तपाक से उत्तर दिया महर्षि अमुकानन्द सरस्वती" और पूछने वाले का नाम पूछा। उनने गम्भीरता से कहा "अर्शी" तमुक। "अर्शी का क्या अर्थ है?" यह पूछने पर उत्तर

मिला कि मुझे अर्श रोग है, अतएव में अर्शी हुआ; तीर-चार मास में रोग बढ़ जाने पर 'महर्शी' कहलाऊंगा !!!''

यही नहीं, आजकल उपाधियों की बड़ी छीछालेदर हो रही है। ऐसे समय में, जब कि एक ओर 'जन्मना जायते शास्त्री' वाले दाक्षिणात्यों की, और दूसरी ओर चाहे संस्कृत में चार पंक्ति भी लिखना न आवे, व्याकरण वा काव्य के पांच-चार ग्रन्थ पढ़कर 'शास्त्री' और 'आचार्य' कहलाने का दावा रखने वाले कालेज-कूष्माण्डों की भरमार है, हम लोगों को अपनी उपाधियां लिखते भी लज्जा आनी चाहिए ! यही नहीं, पांच-सात समस्यापूर्ति करने से आप साहित्य-ज़मींकन्द, साहित्य-राजा, साहित्य-शम्बूक, और न मालूम क्या-क्या बन सकते हैं; भारत के भास्कर बनकर अपने कुकाव्य किरणों से उसे जला सकते हैं !! और पांच-छै रटे हुए व्याख्यान देकर मारवाडभूषण, अवधभूषण, और न जाने किस-किस अश्रुत विद्या के वारिधि बन सकते हैं !!! 'आनन्दकादम्बिनी' ने विज्ञानाचार्य जगदीश वसु को 'भारतमार्तण्ड' पद देने का प्रस्ताव किया है, वास्तव में इस पद के देने से भारत की प्रतिष्ठा है, न कि वसु महाशय की; किन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि कल ही कोई घरऊ-मुरऊ सभा जिसे-तिसे यह उपाधि देकर इस उपाधि की अप्रतिष्ठा न कर दे ? अपनी तरफ से हम तो डाक्टर वसु को सदा इसी पद से लिखेंगे।

[प्रथम प्रकाशन : **समाचोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

पण्डित-मण्डली का पत्र

इस भूगोल में, जिसकी शंकुच्छिन्न रूप-छाया चन्द्रमा को भी उलांघ जाती है और 'रात्रि' कहलाती है, ऐसी घटना कभी नहीं देखी गई थी, जैसी इन पत्रों में झलकती है। भला, पण्डित-मण्डली किसी से शुद्ध हिन्दी तो लिखवा लिया करे !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

काशी के पण्डित—१

प्रयाग विश्वविद्यालय के कन्वोकेशन में (जिसके बारे में 'प्रयाग समाचार' में एक पंक्ति न निकली और 'राजस्थान समाचार' ने कई कालम रंगे) छोटे लाट लाटूश साहब ने 'काशी संस्कृत कालेज' के पण्डितों की स्तुति की। उनका-सा सच्चा विद्या का प्रेम और जोश कहीं नहीं मिला। आजकल जब ब्राह्मणों को गालियां दी जाती हैं, भला यह बात जानी तो गई कि इनने पूछ न होने पर भी भीख मांग-मांगकर संस्कृत पढ़ना न छोड़ा। आजकल उत्तर भारतवर्ष में उच्च संस्कृत शिक्षा की दुर्दशा ही है। काश्मीर तो कई दिनों से विद्यापीठ नहीं रहा है। पंजाब में पण्डित जैसरामजी के पीछे चर्चा ही घट गई, और अब जो कुछ पण्डित और पाठशालाएं हैं वे ओरिएन्टल कालेज, धर्मसभा और आर्यसमाज की कृपा से हैं। रामगढ़ में कुछ काशी के पण्डित जमे थे, किन्तु 'रुद्री' और 'शीघ्र-बोध' में ही उनके यत्न पूरे हो जाते हैं। जयपुर में काशी और मिथिला के पण्डितों की अच्छी कलम लगाई गई थी, किन्तु उनके पुत्रों के सिवाय वहां की मरुभूमि में कलम टिकना ही मुश्किल है। पण्डित हरजसरायजी के स्वर्गवास से युक्तप्रान्त में काशी के सिवाय कहीं पण्डित न रहे। मैथिल पण्डितों की दीनता बढ़ती जाती है और बंगदेश की न्यायमय टोलों के आचार्य पण्डितों को अब छात्रों को रखने लायक 'बिदाया' नहीं मिलती। नए यत्नों की खोज में 'काशी-संस्कृत कालेज' पढ़ाता और उपाधियां देता है, कलकत्ता और लाहौर के कालेज भी ऐसा करते हैं। किन्तु कलकत्ता-परीक्षाओं से ही लोगों को प्रेम है। बिहार संस्कृत सञ्जीवन पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के काल में काम करके शिथिल हो गया है, और उड़ीसा में टोल ही बहुत कम है। प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान में दुभाषिएपने का काम पंजाब और प्रयाग के एम० ए० करते हैं। कलकत्ते में नदिया की प्रसिद्धि, प्रेमचन्द रायचन्द वृत्ति प्रभृति कई कारणों से कई एम० ए० संस्कृत के पूर्ण पण्डित हैं। स्वर्गीय बालन्टाइन साहब को पण्डितों को नई शिक्षा देनी इष्ट थी, उन्होंने काशी में एङ्गलो क्लास खोला और मिल, बैकन के ग्रन्थों को सूत्र, वृत्ति के रूप में लिखा। बर्कले प्रभृति के ग्रंथों का संस्कृतानुवाद कराया, किया। नैयायिकों के परमाणुवाद का खण्डन संस्कृत में लिखा। किन्तु उन्हें कुसंस्कार था कि पण्डितों का ज्ञान पश्चिमीय ज्ञान से हीन कक्षा का है। पण्डितों की उदारता देखिए कि उनने बाइबल के सिद्धांतों को सुनने और नए विज्ञानों को संस्कृत में लिखवाने में कोई आपत्ति न की। इनने और बङ्गदेश के एडमस साहब ने पण्डितों से विज्ञान संस्कृत में लिखवाने की व्यवस्था भी ले ली थी। इनमें से एक पर बड़े गुरुजी (पण्डित काकारामजी) के भी हस्ताक्षर हैं। संस्कृत के लिए

वर्तमान सरकारी सहायता बहुत कम है, और अब ग्रेजुएटों को संस्कृत पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति देने का जो प्रस्ताव है उसका हम स्वागत करते हैं; क्योंकि बड़े-बड़े पण्डित अपने पुत्रों को शास्त्र न पढ़ाकर ग्रेजुएट बनाना चाहते हैं । जो सात समुद्र पार की भाषा को 'चुलुकित' कर चुके हैं उनसे न केवल संस्कृत का उद्धार होगा, किन्तु कूपमण्डूकता का जो कलङ्क संस्कृत जानने वालों पर है, वह भी हट जाएगा। कश्मीरपाठशाला हिन्दुओं के हाथ से निकल गई है, दर्भङ्गापाठशाला भी बदली जाने वाली है, किन्तु काशी में अब भी संस्कृत यूनिवर्सिटी का सामान विद्यमान है । प्रत्येक पण्डित के घर में टीचिङ् यूनिवर्सिटी और प्रत्येक धर्मशाला बोर्डिङ् हाउस, प्रत्येक सत्र में छात्रवृत्ति और प्रत्येक सभा में इनाम, सब कुछ है, केवल काम नहीं, प्रबन्ध नहीं । सरकार को षट्शास्त्री ग्रेजुएटों को यजमानों पर ही न छोड़ना चाहिए, उन्हें भी डिपुटी कलेक्टरी मिलना उचित है। मथुरामण्डल का विद्याप्रचार-स्कीम कागजों में ही है, दर्भङ्गेश्वर संस्कृत यूनिवर्सिटी की प्रतिज्ञा भूल गए । अब यदि हिन्दू यत्न करें तो जो शक्ति अवच्छेदकता प्रकारता की चक्की में वा फर्माइशी व्यवस्था गढ़ने में, वा कागजी महामंडलों में, वृत्त रूप से खर्च होती है वही 'हिन्दू संस्कृत यूनिवर्सिटी' के रूप में, सरल रेखा में चलकर पहाड़ भी फोड़ सकती है ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

काशी के पण्डित–२

काशी में कितना अनुपयुक्त और दुरुपयुक्त सामान है, इसका जानना बहुत सहज है। आजकल जब सरकार और कृत विद्य देशियों की दृष्टि इस ओर है, तो 'हिन्दी हिन्दू-संस्कृत यूनिवर्सिटी' का प्रस्ताव उतना असम्भव नहीं मालूम पड़ता । सभाभवन खोलने के समय लाटूश साहब ने मध्यम परीक्षा पास करके आचार्य के लिए पढ़नेवाले अंग्रेजी जानने वाले छात्रों को २५) मासिक देना प्रतिश्रुत किया है । आचार्य-निपुण छात्रों को भी पांच वा तीन वर्ष विद्याभ्यास के लिए

१००) वा १५०) प्रतिमास देने की आशा दिलाई है। साथ ही एक अच्छे बोर्डिङ्ग की आवश्यकता भी जतलाई हैं। काशी में कई राजाओं के विशाल मकान खाली पड़े हैं जिन में प्रत्येक में ५०।६० छात्र रह सकते हैं और जिनमें नेपाल, दीघापटिया, दरभङ्गा, ग्वालियर, इन्दौर, मेवाड़ और जयपुर के भवन मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक को आक्सफोर्ड के होस्टलों के समान छात्रावास बनाकर एक धार्मिक ग्रेजुएट और एक षट्शास्त्री को उसका अध्यक्ष बनाया जाय। उन सत्रों को भी, जिनमें सहस्त्राधीश भी मुफ्त की खीर उड़ाते हैं, इनके अधीन किया जाय। विद्यार्थियों को लट्ठ चलाना और कुश्ती करना आवश्यक हो। अवश्य ही यात्रिय के हल्ले और 'रांड सांड सीड़ी संन्यासी' से इनमें रहने वाले छात्रों को विक्षेप पड़ेंगे, किन्तु जब तक विपुल धन-सम्पत्ति से गङ्गातट में हिन्दू यूनिवर्सिटी का शान्ताश्रम स्थापन न हो, तब तक इन स्थानों को भी कब्जे में लेना चाहिए। ये सब होस्टल आक्सफोर्ड के कालेजों की तरह काशी की पाठशालाओं को अन्त-भूर्त करके पढ़ावें भी, और संस्कृत कालेज से पढ़ें और पदवियां भी पावें। काशी की पण्डित मण्डली भी अब नई बातों से उतनी घृणा नहीं करती और प्रबन्ध से नहीं चिढ़ती। उनके द्वारा ही पूर्व-पश्चिम का सम्मिलन होना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

नागरी भवन का उत्सव

अभी हिन्दी की कान्फरैन्स का समय नहीं आया है तथापि सभा के उत्सव में जो सहानुभूति और प्रेम दिखाई दे रहा था, उससे भविष्यत् के लिए अच्छी आशाएं होती हैं। बड़े खेद की बात है कि सामयिक पत्रों ने उचित सहानुभूति नहीं दिखाई। सभा के कल्पित दोषों पर चटकने वाले पत्रों के प्रतिनिधि नहीं आए थे। पण्डित बद्रीनारायण चौधरी की सांवली सूरत और घुंघराले केशों में भक्तों को आलेख्य शेष हरिश्चन्द्रजी का दर्शन होता था। सभा के वार्षिक सम्मि-लन का विचार किया गया है, और परिश्रमी 'गोरे श्याम सांवरी राधे' की युगल मूर्ति ने इस उत्सव को अपने और हिन्दी के स्वरूप के योग्य बनाया।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

विश्वविद्यालय बिल

कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अध्यक्ष के भाषण में लाट साहब ने "अन्तिम विश्वविद्यालय के अन्तिम अध्यक्ष" बनकर विश्वविद्यालयों के मुँह में गंगाजल और तुलसी डाल ही दी है। कहा भी जाता है कि विश्वविद्यालयों ने काम किया है, तो भी उनके बदलने की जरूरत समझी जाती है। उनमें अभी प्राचीनता न होने से मिलित जीवन नहीं है, तो भी क्यों उन्हें और भी नवीन किया जाता है। उसी दिन रेल साहब ने स्पेन्सर की समालोचना करके वेलियल कालेज वालों के उथलेपन का प्रमाण दिया और कदाचित् कर्जनी यूनिवर्सिटियों के नए और बिरले ग्रेजुएट ऐसी ही अनभिज्ञ स्वयं संतुष्टता बतलावेंगे। सरकार ने अपनी शिक्षा-पालिसी पर भी बहुत कुछ लिखा है जिसकी बात आगे कहेंगे। गोपन विधि का-सा विरोध इसका होना ही नहीं और भाण्डारकर के भाण्डार की मोहर बन्द है, इससे आश्चर्य नहीं कि यह बिल अपने स्वरूप में इन टिप्पणियों के प्रकाश होने के पहले ही वज्रलेप हो जाय और बृटिश राज्य की सर्वप्रधान नियामत शिक्षा का मार्ग सकड़ा करने लगै।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०]

डिनामेनिशनल कालेज

यों तो हम लोग सभाओं और सम्वादपत्रों में जातीय भाव, सहानुभूति और योग्यता की डींग हांककर सरकार से अधिकार तक मांगने दौड़ते हैं, पर हम कापुरुष, कूपमण्डूक किसी लायक नहीं हैं। भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं है, भूगोल की पुस्तकों के सिवा भारतवर्ष कहीं कोई चीज़ ही नहीं है, और यह महाद्वीप एक दूसरे को काटने दौड़ती हुई बिल्लियों का पिटारा वा एक दूसरे से रगड़कर सुलगती आग जलाने वाले बांसों का सूखा वन है, और बृटिश सरकार का छत्र न होने से यहां दावाग्नि भड़क उठना असम्भव नहीं। मुहर्रम, बकरीद और गोरक्षा की गदरें इस बात की प्रभृत प्रमाण हैं। सारे 'इण्डिया' ने नेशनल कांग्रेस

की, किन्तु मुसलमान उसे छोड़ बैठे, पंजाब उसे छोड़ बैठा, और प्रत्येक उपजाति, शाखा, बिरादरी को अपनी-अपनी कानफरन्स करने का शौक चर्राया। इस मेंडकी के जुकाम के अन्दर भी जुकाम चले, क्योंकि वैश्य महासभा के भीतर खण्डेलवाल महासभा मौजूद है। जिस कुल्हिया में गुड़ फोड़ने की मूर्खता ने हमें पृथक् कर रक्खा है उसे हम दृढ़ करने लगे, अपनी बेड़ियां अपने चौतरफ जकड़ने लगे, और सनाढ्य महासभा, सरयूपारी महासभा प्रभृति का काम इसी में पूरा होने लगा कि उसी शाखा के लोग काम करें और सरकार से निवेदन किया जाय कि कुछ नौकरियां खास उन्हीं के लिए रक्खी जायं। यह कहने वाले किस मुँह से सरकार को कहते हैं कि यूरोपियन और एंग्लोइण्डियनों को अर्धचन्द्र दे दो? जिस दफ्तर में दस कायस्थ हैं वहां एक ब्राह्मण को देखकर नाक चढ़ाया जाता है; जहां पांच मुसलमान हैं वहां एक हिन्दू नहीं खटाता, जिस रियासत में दस बंगाली हैं वहां एक देसी का निबाह नहीं; और दस दक्षिणियों में एक रांगड़े देस-वाली की नहीं चलेगी। किन्तु इन भद्दे भेदों को दृढ़ करने के लिए, इन्हें वज्रलेप करने के लिए प्रजाति कालेज वा डिनामिनेशनल कालेजों की सृष्टि है। संसार में यदि कोई स्थान संकीर्णता को मिटाकर भाई-भाई को मिलाने का है, तो वह विद्यापीठ कालेज है। किन्तु यह तड़ेबन्दी वहां पहुंची है, और फर्गुसन् पचयप्पा, हिन्दू आदि कालेजों के दृष्टान्त को छोड़कर जाति विशेष के दानी अपनी जाति के लिए देने चले। यदि गंगाधर शास्त्री आगरा कालेज दक्षिणियों के लिए ही करते, यदि विद्यासागर का मेट्रोपोलिटन ब्राह्मणों ही के लिए होता, यदि प्रेमचन्द रायचन्द की बादशाही उदारता श्वेताम्बर जैनियों के लिए और टैगौर ला लेकचर की सम्पत्ति निराली बंगालियों के लिए ही होती, तो हमें करम ठोकने के सिवाय क्या बस रहता। पढ़ने से उपेक्षा करनेवालों को लासा लगाकर खैंचने के लिए अपने कालेज काम देते हैं, किंतु उनसे हानि बड़ी है। मुहमडन एंग्लोकालेज को यूनि-वर्सिटी बनाना चाहते हैं। वह बना कि इस मसखरों के देश में बिरादरी-बिरादरी की यूनिवर्सिटी बनी। एक फिरके की यूनिवर्सिटी भी क्या मज़ाक है! क्या मुसल-मानों के लिए और सायंस है और राजपूतों के लिए और? क्या केमिस्ट्री के जो भाग वे पढ़ेंगे उन्हें ये न पढ़ेंगे? अमृतसर में कोई अच्छा कालेज नहीं था तो सिक्खों की दानवीरता ने एक बढ़िया कालेज खोला तो सही पर सिक्खों ही के लिए! मारवाड़ियों को कलकत्ते में हिन्दी की पढ़ाई न होने से कालेज की जरूरत थी, किन्तु क्या किसी कालेज में हिन्दी की चेयर एण्डाउ (प्रदान) से काम न चलता? दो लाख रुपये में जो कालेज बनेगा, वह कलकत्ते के कालेजों के सामने अयोग्य न होगा? इधर '**राजपूत**' एक 'जातीय' (!) कालेज की दुहाई दे रहा है, और **दस हज़ार रुपया** (!) इकट्ठा कर चुका है! राजपूतों में पढ़ने की उपेक्षा नहीं

है, जो अधिक धनवान् हैं, वा जो बिल्कुल बुभुक्षित हैं उन्हें छोड़ और सब पढ़ सकते हैं और पढ़ते हैं। उपदेश और छात्रवृत्तियों से यह काम हो जाता। राजपूतों के निवास-स्थानों के आसपास दो दिल्ली में, अढ़ाई आगरे में, एक जयपुर में, एक जोधपुर में, एक अजमेर में, एक ग्वालियर में, एक इन्दौर में, इतने बढ़िया कालेज हैं। यदि इनके समान वा इनसे अच्छा कालेज राजपूत लोग बनावें (जिसकी राजपूतजी क्षमा करें हमें आशा नहीं है) तो उनका कालेज किसी काम का भी होगा, नहीं तो अधकचरा कालेज उनकी शिक्षा को रोकैगा। क्या यह भी नियम होगा कि उसी जाति के मनुष्य जाति मात्र से नौकर रक्खे जायं? जातीय कालेज इस वास्ते भी किया जाता है कि उनमें धर्मशिक्षा हुआ करेगी। किन्तु धर्मशिक्षा भी एक भकौआ है। यह बात साफ कहना अच्छा है कि जो धर्म बलात्कार से कराया जाय वह धर्म नहीं है, अधर्म है। अलीगढ़ में पञ्जगाना नमाज़ में न शरीक होने से दस आना जुर्माना देना पड़ता है इससे चाहे सभी मस्जिद में जायं, किन्तु नए मुसलमानों का धर्म उससे दृढ़ नहीं होता। देखा चाहिए, जबरदस्ती नाक पकड़कर सन्ध्या करानेवाले सेन्ट्रल कालेज के हिन्दू कैसे धर्मात्मा होंगे। केवल धर्म की लीक पीटना और सदाचार को भूलना, केवल चालों पर ज़ोर देना कदापि हित नहीं है। जब बालक चलने लगे, तो उसकी टांगें बांधनी नहीं चाहिएं। इस प्रक्रिया से ऐसे लोग पैदा होंगे, जो यन्त्रालय में बैठकर ग्रहण का गणित सिखाएंगे, किन्तु ग्रहण में दानव सूर्य को न खाय इससे दान करैंगे। जो शीतला के टीके का सिद्धान्त जान कर भी चैत्र कृष्ण अष्टमी को गधे की पूजा करेंगे! आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान, सबको एक भाव से चलावें, और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करै, किन्तु संकीर्ण धर्मशिक्षा और 'जातीय' कालेज (जैसे पन्द्रह जैनी विद्यार्थियों का मथुरा में एक जैन महाविद्यालय है) हमारी बीच की खाई को और भी चौड़ी बनाएंगे। अभी भारतवर्ष को बहुत दिन पश्चिम की शागिर्दी करना आवश्यक है, क्योंकि कितने आदमी ऐसे हैं जिन्हें यह देखकर लज्जा आती हो कि टाटा महाशय अपनी सारी सम्पत्ति भारतवर्ष को देते हैं, और इधर 'गली गली में' जातीयता फूट रही है। जितनी डफली उतने तान!!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

विचार-स्वातन्त्र्य

"यदि एक मनुष्य को छोड़कर सारे जगत् के मनुष्यों का एक मत हो और उस एक ही मनुष्य का मत जगत् से विरुद्ध हो, तो मनुष्य जाति को उसे चुप करने का उतना ही अधिकार नहीं है जितना उसे सामर्थ्य हो, तो मनुष्य जाति को चुप करने का। यदि मत किसी मनुष्य की घरू चीज़ हो तो उसे रोकना या दबाना केवल व्यक्तिगत हानि है जो थोड़े या अधिक मनुष्यों को पहुंचाए जाने से हानिकारक हुई। किन्तु किसी मत को प्रकाश न होने देने का परम पाप तो यह है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति को ऐसा करने से हानि पहुंचती है; वर्तमान सृष्टि और भावी सृष्टि को, उस मत के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों को, हानि हुई। यदि वह मत सच्चा है, तो भूल छोड़कर सत्य को पकड़ने का उनका अवसर छीना जाता है। यदि वह झूठ हो तो भूल से संघर्ष होने से सत्य को जो प्रबलता प्राप्त होती है वह खोई गई।"

यह मत जान स्टुअर्ट मिल का है। धर्म, राजनीति, प्राचीनता का पक्ष, सब इसके विरुद्ध हैं। विशेषत: भारतवर्ष में।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०४ ई०]

भिक्षा के कण

मान्यवर राय निहालचन्द ने युक्त प्रान्त की व्यवस्थापक सभा में गौरक्षा के कुछ विफल प्रश्न किए थे, किन्तु अब उनने भिक्षा-व्यवसायियों पर दृष्टि डाली है। दीन भारतवर्ष की दुरुपयुक्त भिक्षा पर प्रायः ५२ लाख हृष्टपुष्टों का निर्वाह होता है जिनमें से तीन चौथाई युक्त प्रान्त और पंजाब के वासी हैं। उनकी संख्या बढ़ती जाती है, वे उत्पादक नहीं हैं, भक्षक हैं और हिन्दू धर्म में अपात्र को दान देने का निषेध है। इन अठारह करोड़ रुपया प्रति वर्ष स्वाहा कर जानेवालों पर अपनी धर्म-नीति से सरकार कुछ न कह सकै, किन्तु हानिकारक धर्म-कलंकों को सरकार मिटाती रही है, इससे नाबालिगों को, माता-पिता की आज्ञा से, या उसके बिना, साधु बनानेवालों को दण्ड देने का बिल पास कराना राय साहब

का इष्ट है। जब देश इतना गरीब हो गया है कि भिक्षा के कणों पर बड़े-बड़े आदमियों की दृष्टि पड़ने लगी है, और जब भिक्षा कामों में लगाने का उपाय न होकर मुफ्तखोरों की जननी हो गई है, तो राय बहादुर का प्रस्ताव ठीक है। किन्तु जो माता-पिता बच्चे पालने के बोझ से, या दीनता से, या भ्रमात्मक धर्म से, सिखाए या बिना सिखाए, साधुओं को अपने बालक बेच या सौंप देते हैं, उन्हें भी दण्ड मिलना चाहिए। इस भिक्षुक समुद्र की वेला उल्लंघित हो चुकी है, और कई परिश्रमी ब्राह्मणों के घर इसने बहाए हैं; क्योंकि प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के साधुओं को दीन और परमुखप्रेक्षक ब्राह्मणों में ही नई शिकार मिलती है; यों ब्रह्मकुल का नाश हो रहा है और साधुओं के नाम मात्र के ब्रह्मचर्य से देश का सदाचार धूल में मिल रहा है!!!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०४ ई०]

लासा के लासा लग गया

वहां तिब्बत मिशन का महारास हो गया और हो रहा है। किन्तु कुछ आशा पूरी नहीं हुई। जिस नगर के मन्दिर का सोने का चूड़ा आठ-आठ मील से दिखाई देता था, और सूर्य के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता वर्णन किया जाता था, वहां मणिकुट्टिम नहीं पाए गए; किन्तु गन्दी गलियों में सूअर और कुत्ते बिचरते मिलें। वहां कोई थीबा का महल नहीं; और न पीरू की पुरानी निधि मिली। यह सभ्यता और प्राचीनता का संघर्ष पूरा हुआ। प्रश्न है कि तिब्बत मिशन के साथ-ही-साथ 'एशियाटिक सोसाइटी' के दूत क्यों न गए जो कवच पहने-पहने प्राचीन पुस्तकों को नोटिस कर लाते, और असभ्य लामाओं को रिवाल्वर के दर्शन भी करा आते। और थियासोफ़िस्टों के पृष्ठ-पोषक महात्मा अब कहां जायंगे? वे भी क्या दलायलामा की तरह अस्पृश्य सभ्यता से नहीं भागेंगे? क्या यह सम्भव नहीं कि वहां ब्रिटिश रेजिडेन्ट जल्दी जम जाय? हम तो जी-जान से यही चाहते हैं कि वहां रेजीडन्टी लगै, क्योंकि कुछ भारतवासियों की नौकरियां तो लगेंगी! चाहे बंगाली बाबुओं से अन्त को घृणा हो जाय, किन्तु पहले तो डाक, तार और शासन में कुछ देशियों की रोटी चलै।

लड़ाई के व्यय के बदले भारतवर्ष को कुछ नौकरियां ही मिलैं सही। मिशन के दूत तिब्बतियों की उदासीनता पर दुःखी हैं। तिब्बती उनकी उपेक्षा करते हैं मानो इंग्लेंड की सेना को रोज़ ही देखते हों। जब मिशन गया तो सड़कों में कोई न था। एक स्त्री ने आटा गूंधते सिर उठाकर देखा, एक ने खिड़की में से झांका, फिर सिर नीचा किया। बस ! औरों को कुछ पर्वाह ही नहीं। यह पुरानी असभ्यता है। भला क्यों नहीं वे मधुपर्क और पाद्य लेकर इन अतिथियों का आदर करने आए ? अतिथियों को यह पता नहीं कि उनके चरणारविन्द वहां से कब तक लौट सकेंगे ! तिब्बत बाई को हम बधाई देते हैं कि प्राचीन पड़दे को तुड़ाकर वह यंगहजबैण्ड (युवापति) से मिली। अब यंगहजबैण्ड की 'मुरादें' पूरी होनी चाहिएं। उसे अपने शीघ्र लौटनेवाले गुरुजन को अपनी नव वधू से प्रणाम कराने का मौका शीघ्र ही मिलै।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०४ ई०]

अनमेल

जिसे अंग्रेजी में Anamoly 'अनामली' कहते हैं उसे हम 'अनमेल' कहैं ता कुछ ठीक ही है। समय के परिवर्तन से जब पुरानी बोतलों में नया सुवास भरना पड़ता है, जब पुराने कपड़े नए अंगों पर ठीक फिट नहीं करते, किन्तु अंग सिकोड़-कर या पेबंद लगाकर लोगों को दिखाना चाहा जाता है कि वे ठीक आते हैं; जब वास्तव शरीर कपड़ों को छोड़ जाता है और दूर जाकर अपने लिए नए कपड़े बनाने बैठ जाता है और लोग पुराने कपड़े को ही सदेह वस्त्र माने रहते हैं या माने रहते हुए होने का मिस करते हैं उस समय कई अनमेल बातें हो जाती हैं। इंगलेण्ड के बादशाहों के राज्याभिषेक में एक ऐसी ही घटना धर्मपूर्वक की जाती है। इंगलेण्ड के राजा का हिमायती (Champion) शस्त्रों और कवचों से लदा हुआ, उठाया जाकर घोड़े पर बिठाया जाता है और वहां से भाला हिलाकर चारों दिशाओं से प्रश्न करता है कि कोई व्यक्ति इस राजा के अभिषेक का विरोधी होवे तो मेरे सामने आवै। चारों दिशाएं प्रतिध्वनि के मिस से हँसने के सिवा इसका उत्तर नहीं देतीं। जब हिमायती जी स्वयं उठाये जाकर घोड़े पर

चढ़ाए जाते हैं, तो वे उस समय की अनमेल छाया मात्र हैं तब राजा को लड़-झगड़-कर अपना ऊँचा आसन पाना पड़ता था। कार्लाइल ने रोम के पोपों के विषय में एक ऐसी अनमेल घटना का बहुत रोचक वर्णन दिया है। किसी पवित्र दिवस को कृस्तान धर्माचार्य 'पोप' का कर्त्तव्य था कि गाड़ी में घुटनों के बल खड़े हो, प्रार्थना करते हुए, नगर की प्रदक्षिणा करे। एक विलासी 'पोप' के मोटे शरीर में पीड़ा होती थी। उस बातग्रस्त पोप ने लकड़ी, कपड़े, पत्थर से, अपनी एक मूर्ति बनवाई, जो अवनितल विन्यस्त जानुमण्डल, कमल मुकुल की सी अञ्जलि को सिर पर रक्खे, पीछे एक कुर्सी पर छिपे पोप देव को बैठाए, नगर की प्रदक्षिणा कर आई। मानो पोप का काम ऐसा रह गया था जिसे निर्जीव लकड़ी की मूर्ति भी कर सकती थी। ''मेरे पास ठाकुरजी नृत्य करते हैं'' ऐसा कहकर एक धूर्त ने, चूहों के पैर में घुंघरू बांधकर, उन्हीं से देवदेव का काम निकाल लिया था। ऐसे समय में, जब कि केवल देह मात्र को छोड़कर आत्मा चला गया है और लोग देह ही में इत्र मलमलकर उसे उजला दिखाना चाहते हैं, परस्पर कई विरोध हो जाते हैं, जो शोचनीय हैं, दुःखदायी हैं और कष्टमय हैं। सनातन-धर्मी लोग आर्यसमाजियों को वेद-मन्त्रों के उलटे अर्थ करने को बुरा कहते हैं किन्तु 'अश्मा भवतु ते तनूः'' का स्वयं अण्ड-बण्ड अर्थ करते हैं। थियासोफ़िस्टों को हेतुवादी कहकर 'पतित' कहते हैं। किन्तु स्वयं वैश्यों के 'गुप्त' उपनाम का हेतु यह बताते हैं कि वे अपने सिद्धान्त गुप्त रखते हैं। क्या इस तर्क से मन्त्रों के गोप्ता और राजनीति के गोप्ता भी वैश्य नहीं कहला सकते? और छिपाने ही से व्यापार बढ़ता तो अमेरिका का प्रगट वाणिज्य क्यों जगत् को व्याप्त कर रहा है? मि० रमेशदत्त की ऋग्वेद-गवेषणा को 'अल्पश्रुत' का काम बताते हैं किन्तु अपनी फूटी आँख के शहतीर 'विद्यासागरों' को कुछ नहीं कहते जो गुरु से वेद न पढ़कर भी पुराने भाष्यकारों से टक्कर मारना चाहते हैं। इससे अधिक अनमेल क्या हो सकता है कि राजा के ईश्वरत्व का मण्डन करते भी कांग्रेस और प्रजातन्त्र का पक्षपात दिखाते हैं और श्री वेंकटेश्वर का-सा धार्मिक पत्र भी एक ऐसा वाक्य लिख सकता है जो हिन्दू राजाओं के राज्य में ईश्वर-द्रोह के तुल्य माना जाता— ''कितने ही राजा प्रजा के सेवक, प्रजा के रक्षक बनने के बदले, अपने आपको राज्य का, प्रजा का मालिक समझकर, प्रजोपकार के बदले, अपने आनन्द के कामों में मनमाना खर्च करते हैं?'' वही पत्र राजनैतिक मिष्टर तिलक की स्तुति करता हुआ उस पण्डित के जातिबहिष्कृत होने पर हर्ष करता है और उनके वैदिक प्राचीनता साधक ग्रन्थों को अर्वाचीनता-साधक कहकर उनके खण्डन की आशा रखता है। अवश्य ही वह यह सुनकर प्रसन्न न होगा कि डाक्टर थीवो उसका खण्डन करके वेदों को १२०० ख्रिष्ट पूर्वाब्द पर लाना चाहते हैं। यदि हमें

पाप न लगे तो हम कह सकते हैं कि 'जगद्गुरु' का वर्तमान अभिनय भी इसी 'अनमेलपन' से खाली नहीं है। जो गद्दी विद्याबल से और धर्मवीरता से भगवान् शंकरावतार की है, उसकी मर्यादा का, सोने-चाँदी के सिंहासन, दिन में जलती मशालों और बड़ी-बड़ी भेटों से, क्या सम्बन्ध है सो समझा नहीं जाता। और दिन में जलती मशालें बिजली की रोशनी के सामने ! मानो जगद्गुरु गद्दी के स्वामी शताब्दियों तक अचेत सोकर अब जाग पड़े हैं, और उन शताब्दियों की अपरिच्छेद्य भेटों का डकार लेते हुए, आँखें मलते-मलते, अब उस शैव-वैष्णवों के झगड़ों को बुझाना चाहते हैं जो स्वयं बुझ चुका है और जिसे उनके आसन्न अदूरदर्शी पूर्वजों ने चमकाया था। इतने सैकड़ों वर्षों के दान का प्रतिफल सौ प्रथम श्रेणी के कालेज, दसों अनाथालयों और बीसों प्रशस्त पुस्तकालय होने चाहिए जिनमें भक्तों का एक पैसा न लगकर सब धन गद्दी से ही मिले। क्या सैकड़ों 'ताताओं' का धन इन गद्दियों पर नहीं चढ़ाया जा चुका है ? और अब जगद्गुरु का काम कौन करता है ? जो लड़का आठ आने कालम पाकर आधे पेट, बारह बजे तक, आँखों का तेल जलाकर, झुकी कमर से, समाचारपत्र के कार्यालय की गन्दी काल-कोठड़ी में लिखता है, क्या वह जगद्गुरु का कायम-मुकाम नहीं है ? क्या यह कथा वाचने वा बेचनेवालों का उत्तराधिकारी नहीं है ? अथवा जो महोपदेशक व्याख्यान के पीछे थाली फेरते हैं उनका काम वह नहीं करता ? प्राचीन नवीन की संसृष्टि और अनमेल का अनमेलतम दृश्य जो शताब्दियों ने न देखा होगा वह जगद्गुरु का 'गुजराती' पत्र के सम्पादक को रुद्राक्ष माला देना और लेडी नार्थकोट अनाथालय में २५) बाँटना है। जैसे कोई सुपने से उठकर चिल्लावे—"भगवन्, क्या यह मेरा काम था ?" और काम, अपनी आँखों से उसके हृदय को चीरता हुआ बोले—'क्यों जी, मैं तो तुमारा काम था न ?"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १६०४ ई०]

शिक्षा का सुधार कैसे होगा ?

जैसे भारतवर्ष के सब प्रतिनिधियों के विरोध पर यूनिवर्सिटी एक्ट चल गया है, वैसे वेल्स के विरोध पर भी वहां की शिक्षा उस देश से अनभिज्ञ थोड़े से

पादरी और लाटों के अधीन करने वाला एजुकेशन एक्ट हो गया है। वेल्स के निवासी इस पर क्या करना चाहते हैं इसका आभास मिस्टर लीयड जार्ज एम. पी. ने विलियम स्टैड को एक भाषण में यों दिया है—"सरकार इस बिल से जगत् को और हम को सूचित करती है कि हम शिक्षा के प्रबन्ध के काम में विश्वास के पात्र नहीं हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है कि देश के मनुष्य शिक्षा के प्रत्येक काम से अपने को अयोग्य समझकर पृथक् हो जावें ? यों अपनी अयोग्यता के विषय में सरकारी आज्ञा का राजभक्तिपूर्वक पालन करते हुए सारा बोझ हम अफसरों और सरकारी मनुष्यों पर डाल देंगे। किन्तु उनके पास प्रत्येक काम को राई-रत्ती करने के लिए न मनुष्य हैं न धन हैं। उनने समझा था कि हम उनकी रागों के लिए रुपया देते जायंगे, और कुछ लोग जैसा हमारे रुपये को लुटाएंगे, और भला-बुरा जैसा हमें पढ़ाएंगे, वैसा हम सह लेंगे। किन्तु यह एक्ट हमारे यहां चलैगा नहीं। तीन महीने में सब अध्यापक, स्कूल और कमेटियां तोड़ दी जाएंगी और प्रत्येक गिरजाघर में एक स्कूल खोलकर पढ़ाई का काम जारी रखा जायगा। इससे यदि बालक पढ़ने वालों को किसी पढ़ाई में कमी भी होगी तो भी न्याय, स्वतन्त्रता और जातीयता के साथ शिक्षा पाने से वे लाभ ही उठाएंगे।"

यह प्रक्रिया ध्यान देने योग्य है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

रंग की दुरंगी

रंग की दुरंगी नए-नए रूप दिखाती जाती है। ट्रान्सवाल गवर्न्मेंट में भारतवासियों को दुःख मिलता है इसलिए बुड्ढे क्रूगर के विरुद्ध युद्ध किया गया था, किन्तु क्रूगर के उत्तराधिकारियों ने स्टेड साहब के शब्दों में —"वहां भारतवासियों को बिछुओं से मारना आरम्भ किया है जहां क्रूगर कोड़े मारता था।" मिस्टर लिटनटन और भावनगरी की दीन और दबी प्रार्थना पर केप गवर्न्मेंट ने अच्छा अंगूठा दिखाया है। उधर अमेरिका फिलीपाइन टापुओं के निवासियों को पूरी स्वाधीनता देकर इस वर्ष में वह बात कर दिखाएगी जो इंगलेण्ड ने दो सौ में नहीं की, ऐसा प्रवाद उड़ा था, किन्तु इस रमणीय चित्र का एक दूसरा पृष्ठ भी है। कुछ अमेरिका-

वासी पत्र कह रहे हैं कि फिलीपाइन को कुछ भी अधिकार देना स्वाधीनता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उधर एक नवजलधर श्याम काले हवशी ने अमेरिका के एक पत्र में 'अमेरिका के श्यामों का भविष्य' नामक लेख में वड़ी दूर की तुरही बजाई है। वह कहता है कि श्वेतों की सबसे बड़ी भूल अमेरिका में हमें स्वतन्त्रता का देना ही हुआ। हम बीस वर्ष की स्वतन्त्रता के उपयोग से उनसे अच्छे हो गए हैं। योग्यता में और वंश-परम्परा में हम उनसे सदा अच्छे हैं और धर्म-विचार भी हमारे उनके विचारों से बढ़े हुए हैं। वे घटते जाते हैं और हम बढ़ते जाते हैं। एक दिन अमेरिका हमारा हो जाएगा। लायोयांग की लड़ाई से भीषण संग्राम संसार के इतिहास में कभी नहीं हुआ, और कई पौराणिक संग्राम भी इसकी भीषणता से दब गए। तो भी योरोप और विशेषत: इंगलेण्ड के प्रजामत ने जापान के विजय को तुच्छ ठहराना चाहा है। सत्रह दिन तक तीन मील के चक्रव्यूह में लगातार लड़कर यदि वे कुरुपेटकिन को कैद न कर सके, तो तीन दिन भोजन न करने से उनकी योग्यता पर यह कलंक लगाना चाहिए कि वे सेन्टपीटर्सबर्ग तक जाकर जारपुत्र को ही न कैद कर लाए! इस युद्ध को पाश्चात्य मत ने बहुत लघु बना दिया है। किन्तु आस्ट्रेलिया ने जापानी विद्यार्थी और व्यापारियों के लिए अपना द्वार खोल दिया है। इधर 'ऐशिया के सीमोलंल्घन' पर एशिया वासी मग्नमना हो रहे हैं। कहीं इस रंग का भंग न हो जाय।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

कानपुरी राय

सरकार ने कुछ देशी ग्रेजुएटों को छात्रवृत्ति देकर विलायत में शिल्प शिक्षा के लिए भेजने का जो विचार किया था, कानपुर की 'अपर इण्डिया चेम्बर आफ कामर्स' उसके विरुद्ध है। "वे छात्र उच्च पदों के पाने की आशा करेंगे, अपने प्रवास में उन्हें विषयों में पल्लवग्राहि पाण्डित्य मात्र होगा, और इससे वे यूरोपियन निपुणों के स्थान में काम नहीं दे सकते। सरकार से वे चुने गए हैं; इस घमण्ड में वे हलका काम न करेंगे। हस्त-शिल्प की शिक्षा भारतवर्ष की मिलों में ही अच्छी हो सकती है, किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य काम करना नहीं चाहते। कानपुर में शिल्प-विद्यालय

के स्थापन की भी जरूरत नहीं है क्योंकि यदि परिश्रम और नियम से चलना चाहें तो वे फेक्टरियों में ही सीख सकते हैं। अतएव प्राइमरी शिक्षा मात्र में कुछ शिल्प की ओर गति करा दी जाय और शिक्षित लोगों को नीचे के काम कराने के लिए आसाम के कुली आईन की तरह बद्ध किया जाय क्योंकि कानपुर में काम करने वाले नहीं मिलते।" क्या इस विचार में यह नहीं झलकता कि भारतवासी हलके कामों के करने के लिए ही हैं ? किसी विषय का वर्णमाला-वेत्ता भी यहाँ आकर एक्सपर्ट कहलावै और यहां वाले वहां वर्षों रहकर भी स्थूल तत्व तक न सीखैं ? यदि स्वामी सेवकों को सन्तुष्ट कर सकते हैं, तो ऐतिहासिक कष्टों के देने वाले कुली आईन की क्या जरूरत है ? भारतवासी बात-बात में सरकार का मुँह न तकें, शिल्प-शिक्षा के लिए स्वयं उद्योग करके जापान, अमेरिका वा इङ्गलेण्ड में स्वच्छन्द जावें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

श्वेतकृष्ण

वर्णभेद का यह झगड़ा बढ़ता जाता है। आष्ट्रेलिया का बड़ा आग्रह है कि उस देश में श्याम पदार्पण न करने पावें। किन्तु उत्तरी आष्ट्रेलिया के उष्ण प्रान्तों में श्वेत काम नहीं कर सकते और शीतवातातपक्षम श्यामों को वहां काम नहीं करने देते, तो, वह भूमि वृथा पड़ी-पड़ी "घास में कुत्ते" का स्मरण दिलाती है। सारा इङ्गलेण्ड और उसकी कलोनियां जापान के विजय से तुष्ट हैं, किन्तु आष्ट्रेलिया को भय है कि जापान के विजय से उसका व्यापार जाएगा, और वहां पीतों का उपप्लव होगा, इससे वह रूस के पक्ष में है। जिज्ञासा यह है कि यदि फ्रान्स या जर्मनी रूस की ओर हो तो इङ्गलेण्ड को अवश्य जापान का पक्ष लेना पड़ेगा, तो आष्ट्रेलिया क्या इङ्गलेण्ड में अपना सम्बन्ध तोड़ैगी ! भारतवासी भी यह कब तक सहेंगे कि इङ्गलेण्ड एक ओर तो स्वतन्त्र कलोनियां बसा रहा है, और दूसरी ओर एक रंग के दूसरे पर प्रभुत्व के आधार पर साम्राज्य स्थापन करता है ? निपुण अंग्रेज भी होशियार होते ही भारतवासियों को अधिकार देने की चिन्ता में हैं। भारतवर्ष तो अपनी रक्षा के व्यय के अतिरिक्त दूर-दूर के युद्धों का व्यय देता है, किन्तु इङ्गलेण्ड के शान्त करदाता कब तक एक ऐसी कलोनी का व्यय भरेंगे जो उसके सिद्धान्तों को मानती ही नहीं किन्तु उसके ताज के

प्रधान रत्न के वासियों को घृणा करती है? ट्रान्सवाल में भारतवासियों का सूची-प्रवेश भी नहीं है और इस 'श्वेतकृष्ण' के जाति-भेद के परमार्थ का हम श्वेतकृष्ण कुछ नहीं जानते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

एकतन्त्र

समय की अनमेल घटनाओं में प्रधान, रूस में अब भी, इस स्वतन्त्रता के समय में, एकतन्त्र रहना है। एकतन्त्र प्रजा में या प्रधान वंश में जो कुछ अच्छे गुण होते हैं उन्हें खा जाता है, और उसका परिणाम पूर्णाधिकारों का फल पागल-पन है। शासन के लिए सदा 'चुना हुआ' मनुष्य चाहिए, किन्तु मनुष्यों के बदले का काम प्रकृति नहीं कर सकती और किसी वंश में जन्म लेने वाला ज्येष्ठ पुत्र सदा ही प्रजा में सबसे अच्छा हो, इसकी सम्भावना वृथा है। और जब पूरे सर्वाधिकार किसी वंश के अग्रज के मत्थे रख दिए जाते हैं, तो एक समय ऐसा आता है कि वह ईश्वरावतार स्वयं अयोग्य होकर अपने पास योग्य मनुष्यों को इकट्ठा करने की शक्ति और समझ नहीं रखता। अमेरिका में प्रेसिडेन्ट सदा अच्छे मिलेंगे, क्योंकि खेत से सभापति के आसन तक आने में योग्यता की परीक्षा होती है, इङ्गलेण्ड का नियत तन्त्र भी सदा चल सकता है क्योंकि राजा की अयोग्यता को प्रजा डांटती है, किन्तु एकतन्त्र भयानक है, अस्थायी है, नश्वर है, चाहे अयोग्य एकतन्त्र शासकों की मूर्खताओं से भी काम चल जाए, किन्तु सदा नहीं चल सकता, वर्तमान प्राच्यप्रतीच्य संग्राम में रूस के जार का कोई दोष नहीं है। न तो उनने परमेश्वर से प्रार्थना की थी कि हमें पृथ्वी के षष्ठांश का ईश्वर बना, और न उनमें सहायकों ने योग्यता के बीज बोए हैं। जिसे जन्म से सिखाया जाय कि तुम ईश्वर हो, सबसे अधिक बुद्धि तुम्हारी है, तुम्हारी सलाह को कोई काट नहीं सकता, उसका विचार दुर्बल न हो और सिर न फिर जाए तो क्या हो? रूस के शासक पर दया आती है, वैसी ही जैसे छै महीने के बच्चे के हाथ में चक्कू देखकर। उन्हें अपनी योग्यता का अभिमान है, वे अच्छे सलाहकार नहीं चुन सकते और सेनापतियों की झूठी रिपोर्ट और भ्रमात्मक धर्म से वे जापान और यहूदियों का वैर लेने में पड़े। वे दुर्बल एशिया से पराजित होने की लाञ्छना भोग सकते हैं, प्रजा उनके युद्ध की तरफ नहीं है और निराशता, 'दिशः शून्यता' मन्त्रियों का अभाव उन्हें उदास और दया-पात्र बना रहे हैं इसका कारण एकतन्त्र का नशा ही है। कभी-कभी भारतवर्ष में भी एकतन्त्रता के नशे

की मात्रा बढ़ जाती है, इसी से वायसरायों की अवधि नियत है। लार्ड कर्जन महादेव की तरह इस विष को पीकर भी अमर हैं इसीलिए उन्हें यहां फिर आना शुभ हो।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०]

मान्यवर गोखले

मान्यवर गोखले ने कांग्रेस के लिए मद्रास में व्याख्यान देते, ये शब्द कहे थे—

"महाशयो! स्मरण रक्खो कि जो हमारे विरुद्ध हैं और जिनके हाथ में शक्ति का ठेका है, उनके पीछे सरकार की सारी प्रबलता है, और देश के शासकों का नीति-धर्म बल तो उनके पीछे है ही। यह स्वीकार करना न्याय ही है कि वे चुने हुए मनुष्य हैं और मनुष्य मनुष्य की तुलना में, वे हमसे अच्छे मनुष्य हैं, इनमें कर्त्तव्य का उच्चतर आदर्श है, देशभक्ति के उच्चतर भाव हैं, परस्पर भक्ति के उच्चतर ज्ञान हैं, नियमबद्ध काम की उच्चतर कल्पना है।"

ये अपनी दुर्बलता के सूचक हैं। जब हम अपनी समानता सिद्ध करते हैं तो इतना क्लैब्य क्यों? सुना है गायकवाड़ गोखले को भी अपने यहां रखना चाहते हैं। बड़ोदा प्रान्त के लाभ के लिए भारत इस हानि को नहीं सह सकता और पूनावासियों को गोखले को कभी न जाने देना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०]

भारत धर्ममहामण्डल का उत्सव

प्रयाग के उत्सव के पीछे समझ में आया, क्यों पण्डित गोपीनाथ खासतौर से भारतधर्म महामण्डल में लाये गए थे। पुराने मण्डल के जानकार और प्रबन्ध-कर्त्ताओं में यद्यपि कई प्रबन्ध विषयों में पण्डित दीनदयालु के विरोधी रहे हों, तो भी वे सर्वसाधारण अधिवेशन में उनकी कूटनिन्दा करने पर कभी राजी न होते, जो कुछ लोगों को इष्ट था। पण्डित गोपीनाथ की भी पण्डित दीनदयालु ने ऐसी कोई हानि नहीं की थी जिससे वे इस मित्रद्रोह को धर्म समझकर दौड़े आते। हां, पण्डित दीनदयालु का यह अपराध तो अवश्य था कि जिस समय एक लाहोरी पत्र के सम्पादक के विरुद्ध दिशा प्रदिशाएं भी खड़ी हो रही थीं उस

समय सारा पञ्जाब दाँतों तले अंगुली काटकर कहता था कि दीनदयालु इसके चरित्र की रक्षा करना चाहते हैं, आश्चर्य की बात है। अस्तु, पण्डित गोपीनाथ आकर 'मण्डल-रहस्य' और 'रिपोर्ट' के लिखने में केवल बिल्ली के पञ्जे ही बने, या 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं' बने, इसका निर्णय मण्डल के पर्दे के भीतर रहने वाले ही कर सकते हैं। काशी के अधिवेशनों में बन्दरिया के बच्चे की तरह उस पुण्यपाठ के पत्रों को छाती से लगाये पंडित महाशय खड़े रहा करते थे और रोज़ पब्लिक को उसके सुनाने की धमकी दिया करते थे। या तो आकाश के चंदुए और घास की फर्श पर थोड़े से आदमियों को देखकर वे सहम जाते या जिन्हें वे उसे सुनाना चाहते थे उनके न आने से कार्यकर्त्ताओं का जी खट्टा पड़ गया, काशी में वह पारायण नहीं हुआ। प्रयाग में मौका मिला। महाराज दर्भङ्गा भी थे। पण्डित दीनदयालु और पण्डित मदनमोहन भी थे। सनातनधर्म सभा के साथ सन्धि होने से व्याख्यानलोलुप पब्लिक भी आ गई थी। आज वर्षों के 'चिन्दे' पूरे हुए। आज्ञानुसार पण्डित गोपीनाथ ने खड़े होकर जम्हाइयां लेती पब्लिक की पर्वाह न करके वह धर्मकथा सुना ही तो दी। सुनने वाले निश्चेष्ट निस्पन्द हो गए। दर्भङ्गा नरेश ने जो सभापति होने का फक्र करते हैं, वे बातें नहीं सुनी थीं! उनने अपने को इस बारे में बिलकुल अन्धेरे में बताया, और जिस समय मण्डल अपनी 'सफलता' पर प्रसन्न हो रहा था, पण्डित मालवीय ने यह कहकर कि 'रिपोर्ट पास नहीं समझी जाय,' रङ्ग में भङ्ग कर दिया। इस बाज़ाबता कार्रवाई के सदके जाना चाहिए कि सभापति को बिना दिखाए रिपोर्ट छपा भी ली गई और पब्लिक को विराट् अधिवेशन में सुना भी दी गई! क्या कोई धर्मावतार शरीरों से पूछेगा भी कि उनके मुंह में कै दाँत हैं? अच्छा गोपीनाथजी का मिशन पूरा हुआ। उनके पीछे बोलने का सौभाग्य पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र को मिला। उनके व्याख्यान को अधूरा छोड़कर थकी और विरक्त पब्लिक भाग गई, भाग जाय, विराट् धर्म पुरुषार्थ का फल मिल गया! हमने गताङ्क में जो पण्डित गोपीनाथ पर लिखा था उसे 'दिष्टहत मुद्गराघात' कहनेवालों से हम पूछते हैं कि इस अश्लील शीघ्रता से इस जघन्य 'नियमबद्ध' कार्रवाई की क्या जरूरत थी? क्यों पण्डित गोपीनाथ का एकान्तवास के पीछे रङ्गभूमि में प्रथम प्रवेश इसी भूमिका में कराया गया? अस्तु, जब भी महामण्डल-कम्बल उन्हें छोड़ दे, तो वे अपनी चिरप्रार्थित विस्मृति के मङ्गलमय मार्ग को पकड़ें।

•

'पञ्चों का कहना सिर माथे पर, पर यारों की मोरी तो इधर ही गिरैंगी'—इस कहावत में सूचित वज्रलेप टर्र का दृष्टान्त अबके प्रयाग में देखा गया है। जब

मालवीयजी के प्रस्ताव पर, सर्वसाधारण के विरोध पर और सभापति के अन-जान होने पर धर्म पुरुषार्थी शरीरों की रिपोर्ट दूषित ठहराई गई तो, 'राघवेन्द्र में' छपी रिपोर्ट के अनुसार, राय वरदाकान्त लाहिड़ी से कहलवाया गया कि 'न ब्रूयांत्सत्यमप्रियं' को मानकर यह रिपोर्ट छटाई-कटाई जाएगी। इन लोगों के सामने चाहे ढोल बजाकर कहा जाए कि आपने अनुचित किया है, और यह अप्रिय सत्य ही नहीं कुछ लोगों का प्रिय असत्य है, तो भी यारों की टर्र नहीं मिटैगी। यह संशोधन पण्डित माधवप्रसाद मिश्र करेंगे। क्या प्रयाग में रिपोर्ट सुनाए जाने पीछे ही पण्डित मिश्र ने इस काम को अपनी शोधक लेखिनी के योग्य समझा या मण्डल को इसके पहले पण्डित माधव मिश्र के महामण्डल की प्राचीन अवस्था से अभिज्ञ होने का ज्ञान न था? या वे पहले मण्डल के लिए दुर्भेद्य थे? आगे एक और मज़ेदार प्राविजो है—"यदि दो महिने तक पण्डित माधवप्रसाद मिश्र इस रिपोर्ट को ठीक न कर दें तो यही रिपोर्ट सही मानी जाए।" बलिहारी! दो महीने पीछे वह 'असत्य' 'अप्रिय' नहीं रहेगा, और दरभङ्गानरेश भी अपने न पूछे जाने के विस्मय को संवरण कर लेंगे!! इस विलक्षण प्राविजो के रहते क्या यह असम्भव है कि चतुरचूड़ामणि पण्डित माधव मिश्र को शोधन का अव-काश ही न दें और यही रिपोर्ट पत्थर की लकीर हो जाए! अब यह देखना है कि पं० माधव मिश्र अपनी चाल चलते हैं वा 'सबको प्रसन्न' करने की कथा के अनुसार रिपोर्ट की टांगें लट्ठ से बांध अपने कन्धे पर धरते हैं। दूसरा दृष्टान्त लीजिए। जब 'मण्डल' और 'महासभा' में सन्धि हुई तो इस बात पर बारम्बार जोर दिया गया था कि महासभा नैमितिक और आनुषङ्गिक मानी जाय, नित्य और स्थावर नहीं। मानो मण्डल मारे भय के कांप रहा था कि महासभा कहीं उसके स्वाधीन नरपतिगणों के पट्टे न छीन लेवे। जब 'महासभा' के शान्तिप्रिय नेता ने माण्डलिकों की इच्छानुसार विश्वविद्यालय और धर्मसंग्रह के काम को अपने हाथ में रखकर शेष काम अनैमित्तिक महामण्डल को दे दिए, तो एक वक्ता ने खड़े होकर उसी टर्र का नमूना दिखाया। उसने कहा कि ये सब उद्देश्य (और सारा माया-कल्पित जगत्) कमण्डलु के महोदर में पहले से ही हैं (उद्देश्य ही हैं, कर्म नहीं)। कोई यह न समझे कि महासभा ने मण्डल को नए सुझाए हैं (नहीं महाराज! सूझ के ठेकेदार तो आप लोग हैं। सच कहना प्रयाग-अधिवेशन किसने सुझाया?) केवल पण्डित मालवीयजी ने 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' किया है। इस निरर्थक, अरुन्तुद और दम्भपूर्ण वाक्य से वक्ता ने महासभा के सन्धिपत्र पर अच्छी मोहर लगा दी है और सबको स्पष्ट दिखा दिया है कि मण्डल का यत्न महासभा का साहाय्य करने का न था, उसे निगल जाने का था!

●

कुछ मास पहिले, जब राव महावीरप्रसाद नारायण सिंह बहादुर के पौत्र युगल का जन्म हुआ था तब 'राघवेन्द्र' (मासिक पत्र) ने उस जन्म को राघवेन्द्र (श्री रामचन्द्र ही अर्थ होना चाहिए) की कृपा का फल बतलाया था। परन्तु अब के महामण्डल के विराट् अधिवेशन में जिस 'भारत भूषण' की उपाधि से बरांवाधिपति शोभित किए गए हैं उसे 'राघवेन्द्र' मासिक पत्र की ही कृपा का फल मानना चाहिए। धन्य राघवेन्द्र ! लार्ड कर्जन के दिल्ली-दरबार की पृष्ठ पोषकता करके 'टाइम्स आफ इण्डिया' तो अपने स्वामी को ही सी० आइ० ई० दिला सका था, परन्तु तू 'महामण्डल' का एडवोकेट और लोगों का प्रतिपक्ष बनकर अपने स्वामी और सम्पादक दोनों को सुशोभित करा सका है !! त्रिवार धन्य ! इसका मुकाबला तब ठीक होता यदि मण्डल की उपाधि-वर्षा में अमृतलाल चक्रवर्ती भी पुजते और सेठ खेमराज भी, पण्डित गोपीनाथ भी अलंकृत होते और उनके पत्र के स्वामी भी ! अवश्य ही हम राव बहादुर की धार्मिकता, धनिता वा योग्यता से उन लोगों की तुलना नहीं कर रहे हैं, तुलना केवल महामण्डल के सम्बन्ध में इन तीन पत्रों के वर्तमान मत पक्ष से है।

•

मण्डल में उपाधि वितरण भी हुआ। बड़े शामयाने का छत्र भङ्ग हो जाने पर एक छोटे तम्बू में सौ डेढ़ सौ मनुष्य एकत्र हुए और यह अनभ्रा वृष्टि टूट पड़ी। उपाधियां किस-किसको और कितनी दी गईं, इसका पूरा पता नहीं चलता। न तो वे समाचार-पत्रों में छपी हैं और न मण्डल अपनी 'नामुकम्मिल' सूची किसी को भेजता है। केवल इतना पता गणित से लगा लीजिए कि एक जल्दी बोलने वाला पण्डित डेढ़ घण्टे में जितने नाम पढ़ सकता है, उतनों को उपाधि मिली। सुना है, बम्बई और मद्रास के लोगों की उपाधियां पीछे प्रकाशित होंगी। क्यों ? कदाचित् इसलिए कि वहां के लोगों से मण्डल अभी तक उतना ही अपरिचित है जितना पुराना मण्डल था जिसे ये नए मसीहा बात-बात में 'एकदेशी' कहा करते हैं। हमारा प्रश्न है कि उपाधि सुनाने का काम पण्डित मधुसूदन ओझा को क्यों दिया गया। जबकि महामण्डल के आधे दर्जन मन्त्री विद्यमान थे—शिवपुरीजी थे, पण्डित गोपीनाथ थे, जनरल सुपरिन्टेण्डेन्ट लाहिड़ी बाबू और बाबू तुलापति सिंह थे, तो एक ऐसे विद्वान् को जो तीन सप्ताह पहले ही मण्डल से अपरिचित थे, यह काम क्यों दिया ? क्या इसलिए कि वे मैथिल हैं और जयपुराधीश के अन्यतम पण्डित हैं और इसलिए लोग धोखे में आ जायं कि ये उपाधियां मिथिलेश और आमेरपति दे रहे हैं ! और पण्डितजी ने इस उपाधिपारायण में क्या महत्त्व माना ? जिन लोगों के उतने नाम पढ़े उनके दशमांश को भी क्या

वे जानते हैं ? यदि वे उनका नाम भर भी जानते होते, और उनके पीछे उठकर कोई उपाधियों का समर्थन करता, तो हम इसे उनका 'प्रस्ताव' मानकर समाधान कर सकते थे।

●

काशी में कई उपदेशक उपाधियों के लिए लालायित पाए गए थे। उन्हें समझाया जा रहा था कि मण्डल की उपाधि केवल विद्वानों के लिए नहीं है। उपाधियों में श्रीमान् काश्मीर नरेश को 'भारतधर्म-मार्तण्ड' या ऐसी ही कोई उपाधि दी गई है। यदि यह बात सत्य हो तो जिज्ञासा है, मण्डल की क्या सत्ता है और क्या अस्तित्व है जिससे वह एक प्रायः स्वाधीन नृपति को उपाधि देता है। और काश्मीरेश्वर इस उपाधि को क्या कुछ समझकर बर्तेंगे या रद्दी की टोकरी में डाल देंगे ! कल्याण है, काशी में जो मण्डल की उदयपुराधीश्वर को उपाधि देने की अफवाह थी, वह उड़ गई, नहीं तो मण्डल की हिमाकत, धृष्टता और दिल्लगी का कोई पार न रहता जब 'यावदार्यकुलकमलदिवाकर हिन्दुआ सूरज' को मण्डल की उपाधि अपने साथ चिपकाना पड़ती ! पण्डित दीनदयालु अपनी आस्तीन में हँसते होंगे कि जो उपाधि उनने निर्धन ब्राह्मण और विद्वान्, गट्टूलालजी और अम्बिकादत्तजी को दी थी उसी उपाधि से आज मण्डल धनकुबेर काश्मीरेश की खुशामद करता है। बड़ों की बड़ी बड़ाई पूछना ठीक नहीं, परन्तु हम पूछते हैं कि 'रणवीर धर्म-संग्रह' के कारयिता के वंशरत्न को किस कार्य के लिए मण्डल ने यह उपाधि दी ? अवश्य ही म्लेच्छभावापन्न देश में जो राजा दो घण्टे आसन पर बैठकर धर्मानुष्ठान कर सकने की हिम्मत रखता है यह पूजनीय है, परन्तु क्या मण्डल की एक मात्र आधार मासिक सहायता के भेजने का यह पारितोषिक है ? या रणवीर पाठशाला और सदाव्रत को 'एनीबेसेन्टसात्' कर देने का ? या वर्ष-भर में तीन दफ़ा—लार्ड एम्पथिल, लार्ड कर्जन, और युवराज-राजप्रतिनिधि का स्वागत करने का ? सैलाना नरेश अवश्य ही अपने सदाचार के कारण मध्य भारत के अन्धकार में 'भारत धर्मेन्दु' होने के लायक हैं, परन्तु यों राजाओं को उपाधि देने में मण्डल ही की क्या, उसके सभापति स्वामी दर्भङ्गापति की भी धृष्टता है। उपाधियों में एक रमणी को 'धर्मलक्ष्मी' की पदवी मिली है। हम माण्डलिक पण्डितों से पूछते हैं (क्योंकि उनमें बहुत से विद्यायादम्पति हैं) कि इसमें 'यूपाय दारु' की तरह चतुर्थीतत्पुरुष ही है या और कुछ ? क्या मण्डल के चन्दे में श्रीमती लक्ष्मीत्व दिखा चुकी है ?

●

जिनके पास धन है, वे धन देंगे, जिनके पास विद्याबुद्धि है वे उससे ही सेवा करते हैं। मण्डल ने पण्डित दीनदयालु जी को कोई उपाधि क्यों न दी ? अब वे

मण्डल का काम न करेंगे, और अब तक उनने भला-बुरा बहुत कुछ मण्डल का हित किया है। अब मण्डल से पृथक् होने के समय उन्हें क्या कुछ भी स्मरणार्थ कहना मण्डल को नहीं भाया ? "मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः। चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं न नुशुश्रुस।" बाबू तुलापति सिंह 'मिथिलाराजकुलभूषण' बनाये गए सुने जाते हैं। यदि वह सत्य हो, और दर्भङ्गेश्वर भी राजकुल में शरीक माने जायं, तो मण्डल ने अपने सभापति का खासा अपमान कर दिया है ! मज़ा होता यदि मण्डल स्वयं सभापति को उपाधि देता ! पण्डित माधवप्रसाद मिश्र को भी कोई उपाधि देकर उनसे निषेध करा लेना चाहिए था, क्योंकि वे उपाधि की व्याधि में नहीं फंसते। पण्डित गोपीनाथजी को भी उनके आत्मसमर्पण के लिए कोई पद दिया गया या नहीं ? राव महावीरप्रसाद नारायण सिंह बहादुर को 'भारतभूषण' की उपाधि मिली है। राव बहादुर की किसी प्रकार की अप्रतिष्ठा न करने का वचन देकर और क्षमा मांगकर, जिज्ञासा है कि मालवीयजी की सभा के 'कल्पित' उप सभापतित्व को छोड़कर मण्डल की महा अकल्पित स्वागतकारिणी सभा के सभापतित्व का ही क्या यह पारितोषक है ? या 'राघवेन्द्र' सदृश पत्र के स्वामी होने का इनाम है जो मण्डल की इतनी सेवा कर गया ? या 'स्मार्त-धर्म' नामक पुस्तक के प्रकाशन का व्यय उठाने का इनाम है। राघवेन्द्र साहब अकबरी धर्म के बड़े विरोधी हैं। अकबरी धर्म से उनका अभिप्राय सब सम्प्रदायों के सौमनस्य से है। ऐसे मेल-मिलाप को अच्छा कहने वालों को वे साम्प्रदायिक रहस्यों से अनभिज्ञ कहा करते हैं। साम्प्रदायिक रहस्यों से मुराद शायद उन पवित्र सत्यों से है जो स्मार्त-धर्म में उनके एक लेखक ने लिखे हैं और उनके स्वामी ने छपवाये हैं ! परन्तु वैसी पुस्तक महामण्डल के भी उद्देश्यों की विघातक है। हुआ करै, अट्ठारह वर्ष से मण्डल के साथ कभी जिनका नाम न सुना गया था, वे अबके मण्डल के 'भारतभूषण' बन गए !

•

बाकी जो उपाधियाँ हैं वे 'मृदङ्गो मुखलेपेन' के सदृश हैं। सुना गया है, मण्डल में एक महाशय ने पूछा था कि उपाधिधारियों का हमसे परिचय तो करा दीजिए ! छोटे-छोटे बालक, खड़े होकर व्याख्यान, अनुमोदन और प्रस्ताव कर रहे थे ! पण्डित मधुसूदन ओझा को 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि मिली है। चाहे पण्डित जी की योग्यता से अनभिज्ञ लोग इस पर आँखें फाड़ें और चाहे उन्हें अपनी श्रेणी में घसीटना चाहने वाले उपदेशक इस पद की ईर्षा करें, हमें तो यह उपाधि पढ़कर दुःख हुआ और हताशता आ गई। काशी में पचासों दफा—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुधावति।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति ॥

पण्डित गोपीनाथ उन्हें 'महामहोपाध्याय' कह चुके थे। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' वाला 'राघवेन्द्र' भी उन्हें एक दफा 'महामहोपाध्याय' छाप चुका था। शायद मण्डल को पीछे जान पड़ा कि उसे जैसे कल्पित एम० ए० और कल्पित राव बहादुर बनाना सहज है वैसे 'महामहोपाध्याय' पद देना उसके हाथ नहीं है। यदि यह जागृति हुई हो तो मण्डल को उचित था कि डेढ़ दर्जन स्वाधीन नरपतिगण में से किसी से सरकार के यहां पण्डित जी की महामहोपाध्यायता के लिए सिफारिश करवाती। उसमें न केवल पण्डित जी का मान होता, प्रत्युत उस उपाधि की भी शोभा होती। विद्यावाचस्पति से मिलती-जुलती उपाधियां नवद्वीप के विद्वान् औरों को भी दे दिया करते हैं, और पुराना और नया मण्डल विद्वत्ता के लिए नहीं, सेवा और गुप्त कार्यवाही के लिए कई लोगों को इससे मिलती उपाधियां दे चुका है—ऐसों को जिनकी विद्वत्ता पण्डित मधुसूदन जी की पण्डिताई के पासंग में भी नहीं चढ़ती। अतएव पण्डित ओझा को यह उपाधि भूषण नहीं माननी चाहिए।

•

अब हमें और विद्या सम्बन्धी उपाधियों पर कुछ कहना पड़ता है। पहले वृन्दावन के महामण्डल में केवल चार उपदेशकों को उपाधि दी गई थी, उनमें कुछ 'देशभूषण' के ढंग की थीं, और कुछ विद्या सम्बन्धी। इस पर उपदेशकों में बहुत कुछ दिलजली हुई। यहां विद्या की गणना नहीं है, यहां गणना है—'मुखमस्तीति वक्तव्यं' की और येनकेन प्रकारेण धर्मसभाओं को उलटे छुरे से मूंडने की! उस कलकल से डरकर दिल्ली के महामण्डल में इस फ़ैयाज़ी से उपाधियां बांटी गईं कि 'लघुकौमुदी' न पढ़ सकने वाले महोदधि बन बैठे। परन्तु पण्डित दीनदयालु ऐसा करने पर भी सबको सन्तुष्ट न कर सके, और उसी ईर्षाग्नि ने मण्डल के भविष्यत् 'दुःखशंकु' पैदा कर दिए, जिनका उपद्रव आज तक नहीं हटा। फिर यह कहा गया कि ये उपाधियां इनकी व्याख्यान-शक्ति की सूचिका हैं, विद्या की नहीं। अब फिर वही झमेला आ पड़ा है। विद्वानों को कौन उपाधियां दे रहा है? कार्यालय। वह विद्वानों के विषय में श्वेत कृष्ण क्या जान सकता है? वह एक परीक्षक विद्वानों की कमेटी बना दे जो विद्या का विद्यासम्बन्धी काम देख कर उपाधि दिया करे। उपदेश या मण्डल की सेवा के लिए विद्यासम्बन्धी उपाधि कभी न दी जानी चाहिए। परन्तु एक उपदेशक ने अबके दुहाई तिहाई

देकर विद्यासम्बन्धी उपाधि गिड़गिड़ाकर ले ही तो ली। उसने यह कहा कि जब मण्डल से सब उपदेशक किनारा कसते थे तो मेरा 'अयं भुजः' ही असहाय मण्डल का एकमात्र कर्णधार था। यदि मुझे विद्या सम्बन्धी उपाधि न मिलेगी तो मेरा राजदरबार में अपमान है। मान लीजिए 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' से मण्डल ने इस उपाधि-लोलुपता को 'विद्यानिधि' की उपाधि दी। यही उपाधि मण्डल के किसी प्रधान कार्यकर्त्ता ने अपनी प्राइवेट सेवा के लिए किसी को दिलवा दी। यही मण्डल ने किसी सम्भावित विद्वान् को गुण देखकर दी। यही किसी विद्वान् ने नवद्वीप की परीक्षा देकर बंगीय स्वनामधन्य विद्वानों से पाई। यही किसी को जगद्गुरु शंकराचार्यजी ने दी। अब कहिए इसमें उन तीनों विद्वानों का शुक्रवत् उपदेशकों से क्या भेदक रहा? क्या इसमें उनका अपमान नहीं है? क्या उन्हें 'मुबारक' कहने वाले उन्हें चिढ़ाते नहीं हैं? क्या यह दिल्लगी नहीं है? एक मुरादाबाद का भाषा-लेखक भी विद्यावारिधि और एक जयपुर का षट्शास्त्री पण्डित भी विद्यावारिधि! अहो न्यायः! मण्डल अपनी सेवा करने वालों की उपाधियां नियत कर ले और उन्हें विद्वान् होने का फ़तवा न दे। विद्या की उपाधियां वह ऐसी नियत कर ले जो नवद्वीप आदि के पदों से न टकरावें। और यदि कोई उसका अभागा उपदेशक नवद्वीप से या विद्वानों से पद पा लेवै तौ उस पद को चुलकयामास न करै, प्रत्युत उससे प्रसन्न हो। उसकी विशेष कृपा होगी यदि वह पुराने विद्वानों को अपने उपाधि के वडिश में न बांधे और कोकिलकण्ठ उपदेशकों पर ही उसे चरितार्थ करै। पुराने पण्डितों ने मण्डल की उपाधि के बिना ही राजसन्मान भी पाया, हजारों विद्यार्थी भी पढ़ाये, भरसक संस्कृत-शास्त्रों की सेवा में जन्म बिताया। मण्डल उन्हें माफ करै। वे यही नहीं सह सकते कि उनके स्वनामधन्य महामहोपाध्याय शिष्य प्रशिष्य मण्डल की कूटनीति में पड़कर रामायण की चौपाई गाने और थाली फेरने वाले उपदेशकों से, उपाधि की व्याधि-के कारण, अभिन्न हो गये। इस पर मण्डल अधिक चापल करके उन्हें उपाधि दान की धृष्टता न दिखावे। उसकी उपाधियां उसे और उसके 'मुखे पिण्डेन पूरित.' उपदेशकों को मुबारक रहें! हम इतना कदापि न लिखते परन्तु परमेश्वरवत् पूजनीय एक पदवाक्यप्रमाणपारावारीण विद्वान् के इस वाक्य पर हमें इतना कहना पड़ा कि—"जिह्मीमोनेनोपाधिना न नन्दामः। पत्रमवकरेऽक्षेपि।"

क्या महामण्डल की दृष्टि में वर्तमान आर्यसमाज में कोई विद्वान् है या नहीं? यदि है तो यतिप्रवर स्वामी दयानन्दजी के उस अनुयायी को मण्डल ने उपाधि दी है या नहीं? उपाधि पाने वालों में कोई थियासोफिस्ट हैं या नहीं। ब्राह्मो हैं या नहीं? यह प्रश्न हम इस द्विविधा में करते हैं कि महामण्डल सम्प्रदाय-भेद को नहीं मानता और उसका पिट्ठू 'राघवेन्द्र' अकबरीधर्म को साम्प्रदायिक

रहस्यों से अनभिज्ञों का बतलाता है। महामण्डल ने सोश्यल कान्फरैंस पर कान तक नहीं हिलाया था और 'राघवेन्द्र' ने आकाश-पाताल मिलाकर भले सज्जनों की निन्दा तक कर डाली ! इसी से पूछते हैं कि ब्रह्म सत्य है या माया ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

युवराज की पहुनई

जिस १६ अक्टूबर को मुगलसम्राट् अकबर को हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने वाली अनुकूल नीति का देहान्त हुआ था उसी १६ अक्टूबर को मान्यवर लार्ड कर्जन की प्रतिकूल नीति ने 'बन्देमातरं' और 'वन्देएमादरं' को ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष को सहानुभूति की राखी में बांध दिया है। बंग विभाग की वास्तव जलन एकदेशी होने पर भी इसका सर्वदेशी उपयोग इन प्रश्नों से प्रकट होता है। क्या और प्रान्तों का अप्रकट प्रजामत इससे भी बुरी तरह न कुचला जायगा ? क्या उनके भावों की ऐसी ही अवहेलना नहीं होती है ? राजनैतिक आन्दोलन ने इस बार अपनी सफलता दिखा दी है। राजनैतिक क्रोध और व्यावसायिक स्वदेशी आन्दोलन का संकर बहिष्कार योग (वायकाट) अपने कोलाहल के रूप को उलांघ चुका है। अब बंगदेश के नेताओं के समक्ष स्वदेशी पदार्थों के जुटाने का प्रश्न है। स्वदेशी आन्दोलन पर वृथा ही कुछ शासक बौखला उठे हैं। सबसे अधिक स्वदेशी मत के प्रचारक लार्ड कर्जन हैं जिनने दिल्ली दरबार में टाटनहाम कोर्ट के फर्नीचर का परिहास किया था, जिसने सेना में स्वदेशी वस्त्र, चाह, और देशी शस्त्रागारों का प्रचार किया। मैंचेस्टर की **लकी डे** की कृपा से रीती जेब, प्रजा का परमेश्वर की सहायता से विरोध करने का प्रोक्लेमेशन और भारतव्यापी स्वदेशी आन्दोलन—मान्यवर लार्ड कर्जन का पुण्य है। अब शिक्षा संशोधन के पुराने साथियों का अन्तिम व्याख्यान सुना—"नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ?" कहते हुए श्रीमान्, काश्मीर और इन्दौर का 'उपकृतं बहु नाम किं मुच्यते' सुनकर, आयुष्मान् युवराज और युवराज्ञी का स्वागत मात्र करके 'परिमीलिताक्षमिच्छाविलास वनवास महोत्स-

वानां' स्मरण करते हुए, स्वदेश को पधार जायंगे। अब स्वदेशी आन्दोलन को, विलायती जुलाहों की फटी जेब की पुकार से सहायता की आशा को गौण फल ही मानकर, देशी शिल्पों का पुनर्जीवन ही प्रधान फल लेना चाहिए। भारतवर्ष को भी विषाद और क्रोध की यमुना और सरस्वती को राजभक्ति की गंगा में छिपाकर, एक रीती और एक हँसती आँख से, दुर्भिक्ष से भूखे पेट और प्लेग से व्रणित गले को छिपाकर **युवराज की पहुनई** करनी होगी।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर, १९०५ ई०]

सरलादेवी घोषाल का विवाह

बंग देश की सुप्रसिद्ध राजनैतिक और सामाजिक नेत्री, भारती-सम्पादिका विदुषी श्रीमती सरलादेवी घोषाल का विवाह लाहौर के कृती चौधरी रामभज दत्त से होना बहुत ही अच्छा हुआ। 'ऋते कृशानोर्नहि मंत्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्' और नवीन बंगाली वसन्त की सर्वोत्तम मंजरी का प्रौढ़ पंजाब के प्रतिनिधि से योग, तडित्तोयदयोरिव, सदा मंगलदायक और अभिमान—कारक हो। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का कार्य कुछ अग्रसर हो रहा है। 'पाञ्चाल पण्डिता' के कार्य को 'हिन्दी भारती' अग्रसर करे! पंजाब के सुप्त वीरोचित गुणों को स्वदेशी व्यायाम जगावैं! कांग्रेस की सुलगती आग को यह दम्पति उत्साह के हवि से दीप्त करै! नवयुवक पंजाब अपनी इस कुलप्रतिष्ठा को विस्मित किन्तु प्रसन्न होकर स्वीकृत करै, और वृद्ध पंजाब के सठियाए कानों में भी ललित मञ्जीरों के झणत्कार का स्वर पहुंचै!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर, १९०५ ई०]

स्वदेशी वस्त्र

'राजस्थान समाचार' के सम्पादक बहुत काल से स्वयं स्वदेशी वस्तुओं को बरतते आते हैं। 'समालोचक' के सम्पादक और प्रकाशक भी इस काम में यत्नवान् हैं और पत्र-सम्पादकों से वा स्वदेशी वस्त्रों के व्यापारियों से निवेदन करते हैं कि स्वदेशी पदार्थों की सूची और मिलने के पते भेजकर समालोचक-कार्यालय को उपकृत करें। यह भी विचार है कि समालोचक-कार्यालय से सर्वसाधारण को स्वदेशी वस्त्रों के मिलने का पता बताकर इस काम में उत्तेजना दी जाय। और सभी संवादपत्रों के सम्पादकों से निवेदन है कि इन बातों का उपदेश बातों से नहीं, काम से करें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

देशी कपड़ा

मानव जाति का खाने से उपरान्त कपड़े के बिना भी निर्वाह होना कठिन है विशेषत: सभ्य देश को भोजनाच्छादन रोटी कपड़ा नानी नकफ इत्यादि शब्दों से ही सिद्ध है। इन दोनों बातों में यद्यपि खाने के बिना जीवन रक्षा ही असम्भव है पर कपड़े के बिना भी केवल प्रतिष्ठा नहीं, वरंच आरोग्य एवं असम्भव नहीं है कि प्राण पर भी बाधा आवे। पर खेद का विषय है कि हम अपने मुख्य निर्वाह की वस्तु के लिए भी परदेशियों ही का मुँह देखा करें। 'हमारी देश की कारीगरी लुप्त हुई जाती है', 'हमारा धन समुद्र पार बेचा जाता है' इत्यादि विषय बहुत सूक्ष्म हैं। उस पर जोर देने में लोग कहेंगे एडोटरोसन करे कविता अत्युक्ति है— "जिमि टिट्टिभ खग सुतं उताना" की बकड़ है, पर हमारे पाठक इतना देख लें कि जब हमको एक वस्तु उत्तम चिरस्वायिनी और अल्प मूल्य पर मिलती है तो बाहर से हम वह वस्तु क्यों लें? गृहस्थ का यह धर्म नहीं है कि जब एक रुपैया से काम निकलता है तब व्यर्थ डेढ़ उठावें। विलायती साधारण कपड़ा नैनसुख मलमल इत्यादि तीन आने से पांच आने गज मिलता है उसके दो अंगरखे साल भर बड़ी मुश्किल से चलते हैं उसके मुकाबले पर देशी कपड़ा (मुरादाबादी चार-

खाना काशगंजी गाढ़ा इत्यादि) तीन आने गज का कपड़ा यद्यपि अरज कम होने के कारण कुछ अधिक लगता है पर उसके दो अंगरखे तीन बरस हिलाये नहीं हिलते। बाबू लोग यह न समझें कि अंगरेजी फैशन का कपड़ा नहीं मिलता। नहीं बहुत से अच्छे अंगरेज भी अब यही पहनते हैं। शौकीन लोग यह भी न ख्याल करें कि देशी कपड़ें में नफासत नहीं होती नहीं। ढाके की मलमल, भागलपुरी तसर और मुर्शिदाबाद की गर्द अब भी अंगरेजी कपड़े को अपने आगे तुच्छ समझती हैं। अब ऐसा कोई तरह का कपड़ा नहीं है जो न बनता हो और कुछ ही दिन लोग उत्साह दिलावें तो न बन सके। प्रयागराज में केवल इसी की एक कोठी मौजूद है। हमारे कानपुर के सौभाग्य से श्रीयुत छोटेलाल गयाप्रसाद महोदय ने भी देशी तिजारत कम्पनी खोली है। यदि अब भी इस नगर और ज़िले के लोग देशी कपड़े को स्वयं पहनने और दूसरों को सलाह देने में कसर करें तो देश का अभाग्य समझना चाहिए। 'हम और हमारे सहयोगीगण लिखते-लिखते हार गए कि देशोन्नति करो पर यहां वालों का सिद्धान्त है कि अपना भला हो देश चाहै चूल्हे में जाय। यद्यपि जब देश चूल्हे में जायगा तो हम बच न रहेंगे पर समझना तो मुशकिल काम है ना, सो भाइयो! यह ती तुम्हारे मतलब की बात है आखिर कपड़ा पहनों होगे, एक बेर हमारे कहने से एक-एक जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय! देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उधार का फल अब भी न चेतो तो तुमसे ज्यादा भकुआ कौन? नहीं नहीं हम सबसे अधिक जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **वैश्योपकारक** : वर्ष २, संख्या ५,
भाद्रपद १९६२ वि०, १९०५ ई०]

'समालोचक' का प्रथम वर्ष

आज 'समालोचक' अपने जीवन के प्रथम वर्ष को पूरा करके द्वितीय वर्ष में पग धरता है। जगदीश्वर के धन्यवाद के उत्तर उन सहायक और हितैषियों का

भी धन्यवाद है जिनने अपना कर्त्तव्य-पालन किया। भगवान् हमें भविष्यत् में अपने कर्त्तव्य के योग्य काम करने की शक्ति दें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

'समालोचक' का तीसरा वर्ष

तीनों वेद जिसके विश्वास हैं, तीनों काण्ड जिसकी छाया को छूने का उद्योग करते हैं, तीनों लोक जिसकी लीला हैं, तीनों गुण जिसके नचाए नाचते हैं, तीन वर्ण, तीनों मनोराग, तीनों विशेषण और तीनों तरह की तल्लीनता जिसके जानने में लोटन कबूतर हो रहे हैं, ऐसा होने पर भी जो किसी का तीसरा नहीं है उस 'तत्सत्' परात्पर अनन्त शक्ति का भक्तिपूर्वक स्मरण करके, 'समालोचक' अपने तीसरे वर्ष में पैर रखता है। उसके अतिरिक्त कौन है जिसे हमारी चिन्ता है? उसके अतिरिक्त कौन है जो अशरणों का शरण, निराधरों का आधार, निरावलम्बों का अवलम्ब, अवनाथों का नाथ और असहायों का सहाय है? चाहे हमारे पापों की अधिकाई और दम्भ की मात्रा बढ़ने से, वह हमें—अपने प्यारे भारतवासियों को न भूल गया हो, किन्तु यदि वह क्षण भर भी किसी को भूलने की कल्पना करै तो उसका कहां पता ठिकाना रहै? उस अनन्त मन की अनन्त लीला के, जो अनन्त विश्व की अनन्त चालों के अनन्त परिवर्तनों को, अनन्त नेत्रों से, देखती है, सामने हम अपने किन गुणों के भरोसे दया के पात्र हैं? उसके नाम पर, उसके रूप-धर्म के नाम पर, हमने क्या-क्या अत्याचार न किए, क्या-क्या अधर्म न किए, क्या-क्या दुराचार न किए, और किस-किस के साथ, अपने स्वार्थ के लिए उसको न लपेटा? प्रभो! गत पन्द्रह शताब्दियों में हमने जो दुःख, क्लेश, मोह, शोक पाए हैं, वे हमारे पापों की तुलना में समुद्र में छींटे के समान भी नहीं हैं; यदि आप सूखा दण्ड देते, तो हमारा पता भी न रहता, किन्तु आपने हमारे बड़ों के गुणों की ओर या हमारे भविष्यत् की ओर, या अपनी दयालुता की ओर देखकर, न्याय की कड़ी दवाई में दया का मधु लपेटकर, अब लों बचाया, इसके लिए क्या

कृतज्ञ न हों ? भगवन् ! हमारी परीक्षा बहुत हो चुकी, हमने पूरी तरह पहचान लिया कि तुझे ताक में रखकर, तेरे नाम से पण्डिताई के घमड में सच्चे ग्रन्थों के झूंठे अर्थ करके, या कल कांटे की कलकल में काले बनकर हम सुखी नहीं हो सकते। हम जान गए कि हमारे भीतर एक अनन्त है जो सान्त से नहीं ढक सकता, एक जीव है जो पेट से नहीं ढक सकता। उसके लिए दया दिखा। उस अनन्त के आगे हम चाहे अण्डे को ऊपर के छोर से तोड़ें या नीचे से, कुछ भेद नहीं पड़ता, चाहे एकादशी दशमी विद्धा करैं, चाहे द्वादशी को भूखे रहैं, कुछ अन्तर नहीं आता। उस अनन्त सच्चिदानन्दमय ज्योति की लौ की एक झलक इस झुलसे देश पर भी डाल दो, जिससे श्वेत श्याम का भेद मिट जाय और सभी के मुंह से निकलै,—"तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः ?" हिन्द, हिन्दू हिन्दी इस पवित्र त्रयी की सेवा की योग्यता और सामर्थ्य सबको दे, और समालोचक' को दे, जिससे यह तीसरा वर्ष इन तीनों—हिन्द, हिन्दू, हिन्दी—के गौरव को जागरूक और वर्द्धमान देखै—

"ब्रज की तोहि लाज मुकुटवारे !"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०४ ई०]

'समालोचक' का चौथा वर्ष

चारों वेदों के वेद्य, चारों वर्णों के भरण करने वाले, चारों आश्रमों के आश्रय, चारों दिशाओं में अदृष्ट होकर भी व्याप्त, चतुर्वर्ग के देने वाले, चारों युगों के रूप से सारे काल में व्याप्त, चतुर्वदन, तथापि चतुरवदन, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह, चतुर्दंष्ट्र, चतुर्भुज, मन और वाणी, बुद्धि और इन्द्रियों से दूर, दिक्, काल, कार्यकारण भाव और अनुमानों से परे, परात्पर परमात्मा का परम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करके आज 'समालोचक' अपने जीवन के चतुर्थ वर्ष में प्रवेश करता है। उसी की परम कृपा का यह फल है कि नाना विघ्न-बाधाओं, विलम्बों और विपर्ययों को अपनी बाल्यावस्था में सहकर भी यह पत्र यथा-

चित् अपने चतुर्थ वर्ष तक आ लगा है। क्या उस जगन्नाटक सूत्रधार का यह अभिप्राय तो नहीं है कि वह इस पत्र के वाल्य अंकों को दुःख में रंगाकर ज्यों-ज्यों नाटक की प्रौढ़ता होती जाए त्यों-त्यों इसे सुखमय और सुखान्त बना देवे, क्योंकि प्रत्येक कुत्ते का भी दिन आता है, और शिशिर के शीत से ठिठरे हुए कमलों पर भी अन्त को वसन्त का सूर्य चमकता है? जन्म ही से दुर्बलेन्द्रिय इस पत्र को यथासमय निकालने के यत्नों में स्वामी और सम्पादक सफल नहीं हो सके हैं, तथापि, 'अपत कटीली डार' में 'वे फूल' की आशा में उरझकर वे इस वर्ष पहिले वर्षों की हतसफलता से शिक्षा लेकर भरपूर यत्न करेंगे कि अपनी दीर्घसूत्रता के कलङ्क को धोकर यह पत्र न केवल मातृभाषा हिन्दी की सेवा में अग्रसर हो, प्रत्युत उसके गौरव को अक्षुण्ण रखने में किसी प्रकार की कमी न रखकर अपने लिये हिन्दी के सर्वप्रधान मासिक पुस्तक का आसन पावे। परन्तु इस सम्पूर्ण आशा समुदाय पर तुषारपात न हो, और कार्यक्षेत्र में इसको लाने पर अदृष्टश्रुत विघ्न न आ जायं, इसलिए शिष्ट सम्प्रदायानुमोदित मंगलाचरण करने में उस परम मंगलमय की निष्काम भाव से स्मृति करते हैं। यदि कुछ हो सकता है, तो उसी की कृपा के लेश से क्योंकि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेँवेष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।

तथापि, जब हृदय में यह विचार उठता है कि क्या हम इस योग्य हैं कि वह हमें 'वृणुते तनूं स्वां' का पात्र समझे, तब हृदय में शून्यता आ जाती, सिर में चक्कर आता है और चारों दिशाओं में अन्धकार छा जाता है। जिस देश का आदर्श यह है कि मनुष्य का बड़प्पन इस से नहीं नापा जाता कि उसने इतने सच्चे काम इतने सच्चे आदमियों के सामने किए, प्रत्युत इससे कि कितने आदमियों को सफलतापूर्वक उसने धोखा दिया, कितने आदमी उसके बड़प्पन के घूंघट के भीतर दुराचार की भद्दी सूरत को न देख सकने में छले गए,—जहां का कर्मकाण्ड कटोरी मांजना और घण्टा बजाना, जहां भी भक्ति अगले दोनों पँर रस्सी से बांधकर विचरने वाले शीतलावाहनों की तरह चैत्र की चाँदनियों में रेंकना और बनारसी दुपट्टों के भीतर अपने दुराचार जनित कुष्ठों को छिपाना है, जहां का ज्ञान दिन-रात भूंकते रहना और वे समझी से मनुष्य मनुष्य के पवित्र सम्बन्धों का नाश करना है वहां के मनुष्य, वहां के वे मनुष्य, जिनके हाथ अपात्र-प्रतिग्रह से, मन परस्त्री-चिन्तन से, मुख परान्न से, और सम्पूर्ण वंश और भविष्यत्

आशा अशिक्षित दासीकृत और जीवन्मृत स्त्रियों की हाय से जलकर राख हो चुके हैं, किस प्रकार उस दैवी ज्योति के अलौकिक और शान्तिदायक प्रकाश की पवित्रता में अपने पापों को धो-छिपाने की आशा कर सकते हैं ? यही स्फिकस् की पहेली है, जिस का समाधान 'समय' करै तो करै, हम तुम नहीं कर सकते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

'समालोचक' का नया वर्ष

अस्तु, 'समालोचक' का नया वर्ष प्रारम्भ होता है। इस समय पिछले वर्ष की घटनाओं की ओर दृष्टिपात करना उचित है। इसके पहले कि हम उन बातों पर से भूत का पर्दा उठावें जो कुछ ही काल पहले वर्तमान थीं हमें एक प्रश्न पूछना चाहिये। क्या गतवर्ष में हिन्दुस्थानी राष्ट्र हिन्दी भाषा और हिन्दू-धर्म अपनी 'पङ्के गौरिव' अवस्था से एक पद भी आगे बढ़े हैं ? क्या धर्मसंस्कार, जो वास्तव में मनुष्यमात्र के जीवन का संस्कार होगा, एक पद भी अग्रसर हुआ है ? क्या समाज-सरोवर की दुराचाररूपिणी दुर्गन्धिमय काई हाथ, दो हाथ भी अलग की गई है ? क्या भाषा का पवित्र जल लाने वाली नहरों का मार्ग कुछ सरल बनाया गया है ? एक बात में क्या भारतवर्ष और भारतवासी, सर्वतोमुख उन्नति में, चारों ओर से बढ़कर शुभ परिणाम की ओर एक इंच भी बढ़ सके हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में किसी प्रकार की 'ननु नच' करके अपने आत्मा को धोखा नहीं देना चाहिये क्योंकि सबसे बड़ा पाप जो मनुष्य कभी कर सकता है अपने अन्तरात्मा को धोखा देकर उसकी संशोधक और मार्गदर्शक उपदेशवाणी का गला घोटना ही है। यद्यपि क्लैव्य एक बुरी चीज़ है परन्तु अपनी वास्तव दशा को न जान कर सदा सब्जी-ही-सब्जी देखते रहना या देखते रहने का बहाना करना शुतुर्मुर्ग की-सी पण्डिताई है जो पीछे शिकारी को आता देखकर अपना सिर बालू में छिपा लेता है और समझता है कि मेरा सारा देह ही छिप गया। अतएव हमारी समझ में उस प्रश्न का उत्तर नाक छिपाकर यही देना पड़ता है कि गतवर्ष में भारत और भारतवासी अपने पद से कुछ भी आगे न बढ़े। सन्देह यही है कि वे कुछ पीछे ही हट गए हैं। शताब्दियों के नासूरी अज्ञान और स्थितिस्थापक भाव की कृपा से आगे बढ़ना तो कठिन ही था, परन्तु राजकीय परिवर्तन

शालिनी नीति ने यदि हमें पीछे न ढकेल दिया हो, तो ही हमें परमेश्वर की असीम कृपा का आभार मानना चाहिये। स्पष्ट कहना उचित है कि गतवर्ष कार्य्य का वर्ष न था, और न चिन्ता का वर्ष था, वह केवल 'कोलाहल का संवत्सर' था। दीपमालिका के रात्रि शेष में हिन्दू एक रीति निबाहा करते हैं। रातभर दरवाजे खुले छोड़कर, हम लोग सवेरे सब जगह बुहारी देते हैं, और सूप या चलनी पर लकड़ी के आघात से विलक्षण बाजा बजाते हुए 'अलक्ष्मी' को अपने घर से निकाल दिया करते हैं। मालूम होता है, भारतवर्ष के सभी हितैषी —हम इस शब्द को चाहे किसी अर्थ में लें -- इस प्रकार अलक्ष्मी के निकालने के कोलाहल में वर्षभर बिता देते हैं, क्योंकि अलक्ष्मी की मौरूसी जायदाद और पूर्ण अधिकार यदि कहीं पर है तो भारतवर्ष में। कोलाहल का आरम्भ, मान्यवर वायसराय लार्ड कर्जन के छुट्टी जाने के समय से लेना चाहिए। भारतवासी कभी भी श्रीमान् का इस देश में फिर पधारना नहीं चाहते थे, और स्पष्ट रूप से उन्हें कह चुके थे—

अपाः सौम मस्तमिन्द्र प्रयाहि
कल्याणीर्जायाः सुरणं गृहं ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निदानं
निवेशनं वाजिनो दक्षिणावत्॥

और, श्रीमान् को भी उचित था कि उस समय अपनी सर्वतोभद्र प्रबल शक्तियों को विश्राम देते। परन्तु भारतवर्ष का राजभोग सदेह स्वर्ग में रहने के समान है जिसके लिये कमजोर हृदय के मनुष्य तो यह प्रार्थना तक करने को तैयार हो सकते हैं—"मरे पीछे भूत बनें तो भी भारतवर्ष में।" इधर भारतवर्ष में लार्ड एम्पथिल अपने पूर्वज के दिये हुए भारतवर्ष की फटी जेब को फाड़ने वाले वीतराग लामाओं के शिकार के निबाहने में लगे हुए थे, और उधर विलायत में मान्यवर महोदय भारतवर्ष के सूर्य की स्तुति, अपने चरणारविन्दों के पधारने को वृष्टि का कारण, और इटन कालेज के भारतवर्ष के वायसरायपने के ठेके की चर्चा कर रहे थे, इतने में जगदीश्वर की शक्ति ने सहृदया लेडी कर्जन को भयंकर कष्ट में भूतलशायिनी बना दिया। 'यदनेन तरुनं पातितः शमिता तद्विटपाश्रिता लताः।' परम प्रबल वायसराय पर भी इस तरह कोई बलवती शक्ति प्रभाव डालकर उनके समागम को रोक सकती है, इस ज्ञान के साथ देशदेशान्तरों की सहानुभूति का कोलाहल हो ही रहा था, इतने में श्रीमान् की वापसी पर स्वागत करने का व्यवहार साधना बम्बई के सामने आया। श्रीमान् की इस अनुपस्थिति में भारतवर्ष की दशा प्रोषितभर्तृका की-सी बिल्कुल न थी, जो 'मीलयित्वा दृशौ' वियोग

के दिनों को गिना करती है, प्रत्युत समस्त देश भयंकर स्वप्न में छाती पर चढ़े पत्थर तोड़ने वाले को देख, जागे मनुष्य के समान शान्ति के साथ विश्राम का श्वास ले रहा था। कलकत्ते जैसे जमीन्दार बहुल शहर में श्रीमान् का 'त्वमर्कस्त्व सोमः' स्वागत होना कठिन न था, परन्तु बम्बई में, अध्यवसायी पारसी और स्वतन्त्रचेता महाराष्ट्रों की बम्बई में ऐसा होना एक प्रकार असम्भव था। बम्बई के बिना मुकुट के राजा सर फिरोज़शाह मेहता के काम और भाषणों के कोलाहल ने श्रीमान् को सब से न्यून अधिक सम्मति से सूखा सन्मानपत्र दिलाया, और स्वागत के दिन राजभक्तों और सेवकों का स्वागत था, प्रजा का और देश का नहीं। यही दिखाने को कि बम्बई नीरस नहीं है, और स्वागत कर सकती है, और जिनका वह आदर करना चाहती है उन्हें अपना हृदय अर्पण कर सकती है, कुछ ही सप्ताह पीछे 'बम्बई और उसकी स्त्री' अपने मेले के वेश में वासकसज्जा बनकर अपनी पिछली उदासीनता को भुलाने लगी। पाठक, जानते हैं यह स्वागत किसके लिए था? यह किसी पत्थरफोड़ शासक के लिए बलात्कार से मुस्कुराते हुए होठों का स्वागत न था, परन्तु एक ओर शिक्षित भारतवर्ष के स्वार्थशून्य कर्मवीर प्रतिनिधियों का स्वागत था और दूसरी ओर 'तवैव वाहास्तव नृत्यगीते' कहकर स्वर्गीय सिविल सर्विस से पृथक् होने वाले, दुर्बलों के बल, सर हैनरी काटन का स्वागत था। इधर प्राचीन विद्वानों का पच्चाङ्गसंशोधन का कोलाहल था, और उधर नवीन राजनैतिकों का षाड्गुण्य राजनीति के सुधारने का कोलाहल था। उस समय को स्मरण करके, देशभर के भिन्नभाषी, भिन्नाचारी और भिन्नकर्मा सज्जनों के एक विचार और उद्देश्य से व्रती होना, अनमेल में, मेल का एक अपूर्व निदर्शन था। महाराष्ट्र और मद्रासी सज्जनों के व्याख्यानों का गम्भीर और विषय-गुरु स्वर, बंगाली वक्ताओं के चपल और वचनशूर भाषणों की तुलना में अच्छा जंचता था। सर हैनरी काटन-अहा! 'न त्वां कामा बहवो लोलुपन्तः-नैतां सृङ्कां वितमर्यामवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।' इस समस्त कोलाहल से यह बात अवश्य सिद्ध हो गई कि बम्बई, और बम्बई के माने सर फिरोजशाह, जिस काम को हाथ में लेंगे उसमें सफलता अवश्य होगी, यदि अधिकारी बीच में पड़कर भांजी न डाल दें। इस सिद्धांत के उत्तरार्ध को सिद्ध करने का मौका भी इस कोलाहल के कुछ ही पीछे एक दूसरे कोलाहल के रूप में आ पहुंचा। इसी कोलाहल में विलायत में जाकर आन्दोलन मचाने की कोलाहल-परम्परा का बीज बोया गया। बम्बई विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालयों को सरकारी कठपुतली बनाने के नियम से भी कुछ बातें बढ़कर की गई थीं, और जब भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्त बिना समझे ही इस नियमविरोध को पी गये थे, बम्बई के सदा जागरूक कांग्रेस नाइट की दृष्टि से वह न बच सका। इसके पीछे कैसे सर फिरोज़शाह की

सूचना की अवहेलना हुई, कैसे मामला हाईकोर्ट में पहुंचा और कैसे भारतव्यापी मुकद्दमों में सरकार की बरकारी बेआइनी कारवाई का पराजय होने के भय से झटपट कृतरक्षक बिल घुसेड़ी गई, ये सब बातें इतिहास में दुःख के साथ पढ़ी जायंगी। क्योंकि नियमों के पालन के बिना कर्तृपक्ष की उच्छृंखलता को कोई नहीं रोक सकता, और यदि कर्तृपक्ष के प्रत्येक स्वेच्छाचार पर एक कृतरक्षक नियम पास कर दिया जाया करेगा तो कार्यकर्त्ताओं की शक्ति ईश्वर के समान हुई या नहीं ? यद्यपि पीछे इस विषय में और प्रान्त भी जागे थे तथापि बम्बई की ओर से मि० गोखले ने इस समय कौन्सिल में जो स्पष्टवादिता और विरोध-कुशलता दिखाई उसे देखकर और कोई होता तो कह उठता —'त्वादृङ्नो भूयान्न-चिकेतः प्रष्टा !' परन्तु क्या कालिय पर नाचने वाले भगवान् कालिय का शिर उठाना पसन्द करते ? कर्जन महोदय ने गोखले के कथनों पर कटाक्ष किये, उनके मित्रों के विद्या-प्रेम पर संशय किये और 'सरकार के शत्रुओं' की इन कार्य्यवाहियों पर न मालूम किस पिशाच के प्रभाव से असत् आक्षेप किये। मालूम होता है, भारतवासियों का भूत उन्हें रात भर सताता रहा और दूसरे दिन कलिकाता विश्वविद्यालय में उनने भारतवासियों के सत्य के आदर्श, धर्म के आदर्श, खुशामद, परनिन्दा आदि की ऐसी बुरी टीका की कि देश भर मर्माहत हो गया। सारे देश में आग लग गई। लोग कोरिया में प्रचारित परम सत्य का स्मरण करके विस्मय करने लगे। इसके पीछे जो कोलाहल हुआ, प्रत्येक प्रधान नगर में और लण्डन में गम्भीरचेता शान्त-दान्तवृद्ध पुरुषों की अध्यक्षता में किस प्रकार बिना कोलाहल के कोलाहल से भारतवर्ष के सत्य की मान-रक्षा करके राजनैतिक आन्दोलन में एक पद आगे उठाया गया वह भारतवासियों का दोष नहीं है, क्योंकि अत्यन्त घर्षण से चन्दन से भी अग्नि उत्पन्न हो जाया करती है। इस आलर्क विष से मत्त होकर, और अपने प्रिय पुत्रों की इस कलङ्कपङ्कलेपना को न सहकर, भगवती भूतधात्री क्षमा से न रह गया और उस पवित्र देश में जहां पणिनि ने विपाशा के उत्तर के कूप तक गिनकर अपने सूत्रों द्वारा उनका उल्लेख किया था, और जहां सत्य के मार्गों को बताने वाले स्मृति और सूत्रों की रचना हुई थी, इस असत्य के भय से भगवती कांप उठी और अपने ऊपर कांगड़े के गजनवी के मान का गंजन करने वाले किले को गिराकर मानो उसने छाती पर मुक्का मारा। कई शताब्दियों से बकरों को काटने वाले पुजारी 'इष्टिपशुमारं' मारे गये। अग्नि की सातों जिह्वाओं में से 'मनोजवा' ज्वालामुखी 'कराली' बनकर अपने भक्तों ही को खा गई। कन्वोकेशन व्याख्यान की इस पृथ्वी की प्रोटेस्ट के साथ कोलाहल भूगर्भ में भी पहुंच गया। प्रोटेस् मीटिङ्ग के सम्बन्ध में एक बात और हो गई है जिस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। युक्त प्रान्त की नियम

बनाने वाली कौन्सिल के सब से युवा मेम्बर ने, जिन्हें, पायोनियर के शब्दों में —"वह भयंकर भाषण की शक्ति है जिससे वे सदा अपने को डिवेटिङ् सोसाइटी में ही समझते हैं।"

बजट के भाषण के दिन महाभारत प्रभृति के श्लोकों को उद्धृत करके भारत के सत्य का मण्डन और विरुद्ध पक्ष का खंडन शासकों के नाक के नीचे ही कर दिखाया। इधर पोर्ट आर्थर के पतन और सुशीमा के घोर पराजय से, जिनमें, घायल रूसियों के मिस से यूरोप की विजयलक्ष्मी के अश्रुबिन्दु पड़ गये, एक अद्भुत कोलाहल उत्पन्न हो गया जो रूस के आभ्यन्तर गदर और बखेड़ों से अपने रंग को बढ़ाता गया। इधर यह समझकर कि इतने कोलाहल से भारतवर्ष घबड़ाया नहीं है, युद्ध-विभाग से निकम्मे समझकर निकाले मि० ब्राडरिक ने सेना-संशोधन के विषय में लार्ड किचनर को कोरा कार्ड दे दिया, और कर्जन और उनके सहयोगियों के तर्कों का कर्तन करके उन्हें किचनर के बिल चुकाने मात्र का काम दिया। इस समय लार्ड कर्जन भारतवर्ष के धन के व्यय के पक्ष में थे और जब उनने जान लिया था कि विलायत वालों का प्रेम उनकी प्रतिमा के मट्टी के चरणों को छोड़कर किचनर पर लग गया है, तब उन्हें उचित था कि 'अति दीर्घे जीविते को रमेत' कहकर पृथक् हो जाते। परन्तु 'अयं लोको नास्ति पर इतिमानी' चेपाचेपी से 'रामाय स्वस्तिरावणाय स्वस्ति' करके किसी प्रकार उनने अपने समय को पूरा करना ही विचारा है। इसमें श्रीमान् का जो अपमान हुआ उसके प्रायश्चित्त की तरह बंगाल के अङ्गभङ्ग का विषय श्रीमान् की मधुर मन्शा पर छोड़ दिया गया। और श्रीमान् ने अब तक के बंगदेशियों के कोलाहल और विलाप को पर्याप्त न समझकर उन पर यह वज्रपात कर ही दिया ! यद्यपि बंगाल का अङ्गच्छेद एक निरपराध प्रबन्ध सम्बन्धी काम दिखाई देता है तो भी उपचीयमान बंगाली जाति और एकता पर नए पेड़ को चीरने के समान, इसका अन्तिम परिणाम बहुत बुरा होगा। यह आवश्यक बात नहीं है कि जब भारतवर्ष भी एकराष्ट्र हो जाएगा तब उसका शासन भी एक प्रान्त की तरह से होगा परन्तु पृथक् होना चाहने वाले बिहार को पृथक् न करके चाहने वाले बंगलियों के दो खण्ड करना उसी पालिसी का अंग है जो भारतवर्ष को शताब्दियों पीछे ढकेल रही है। यह मानो नए कोलाहल की साई है, क्योंकि बंगाली वह बला हैं कि चुपचाप इस 'कटु औषधि को आँख मूंदकर' नहीं पिएंगे। अब हमारे कथन की फिर आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्ष कोलाहल का वर्ष ही रहा है। जब यह धूम हट जाएगा, तब क्या वास्तव में नीचे कुछ अग्नि बच जाएगी या केवल वर्तमानों की आंख फोड़ने ही को यह धुआँ है, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु राक्षसी वाणी ने भारतवर्ष का बड़ा अपकार किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं—

ऋषयो राक्षसी माहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ।।
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्ति सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।
तां चाप्वेतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहु ।।

भगवान् करैं, द्वितीय प्रकार की वाणी का उपयोग करने वाले शासक और शासित इस देश में हों।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

समालोचक : कुछ टिप्पणियां

'समालोचक' के बदले में जो सहयोगी दर्शन देते रहे हैं, उन्हें सम्पादक और प्रकाशक हृदय से धन्यवाद देते हैं। सच तौ यह है कि इनकी कृपा के बिना हम अपना कर्त्तव्य नहीं कर सकते और सहयोगियों से भी निवेदन है कि 'समालोचक' को अपने बदले में स्वीकार कर उसका गौरव वढ़ाएं।

●

कई मित्रों की राय है कि 'समालोचक' में केवल समालोचना ही न निकला करें किन्तु साहित्य के भिन्न-भिन्न लेख भी छपा करें। गए ४।५ महीनों से 'समालोचक' तो वैसा ही निकालता है और यह संख्या भी वैसी ही प्रकाशित की जाती है। इस विषय में हम सहयोगियों, पाठकों तथा हिन्दी के प्रेमियों की सम्मति चाहते हैं, यदि वह चाहें तौ समालोचना ही समालोचना लिखी जाय; यदि वे चाहें तो साधारण उच्च कोटि के मासिकपत्र का काम लिया जाय। अवश्य ही समालोचना की प्रधानता (अति भी) रहा करेगी।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

'समालोचक' भला या बुरा, हिन्दी-साहित्य में नई चीज है। सभा को उचित था कि उस पर सलाह देती, दोषों को सुधारती और (यदि कुछ गुण हैं तो) उनका उल्लेख करती। किन्तु, शायद भूल से 'समालोचक' के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा गया है। यहां तक कि इसका और 'आनन्दकादम्बिनी' का (जिसका फिर निकलना हिन्दी के गौरव की बात है) प्राप्ति स्वीकार भी नहीं किया गया!! क्या यह पत्र सभा को नहीं मिलते थे?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक**: सितम्बर, १९०३ ई०]

आज के 'समालोचक' से डिपटीकलेक्टर पण्डित श्यामविहारी मिश्र एम. ए. और पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र बी. ए. का एक बड़ा लेख, 'व्यय' नामक प्रकाशित होता है। इस लेख को हम मिश्रबन्धुओं के बड़े आग्रह से स्थान देते हैं, और पहले ही कह देना चाहते हैं कि इसके सभी अंश हमारे मत के अनुकूल हों, सो बात नहीं है। कहीं-कहीं भाषा की तीव्रता होने पर भी जिन भावों से वह लेख लिखा गया है वे शुद्ध हैं, ईर्ष्या वा परनिन्दा से प्रसूत नहीं हैं। तथापि लेख को पढ़कर एक बेर तो कहना ही पड़ता है—

O Hamlet, speak no more,
Thou turnest my eyes into my very soul
And there I see such grained and black spots
As will not leave their tincts.

किन्तु क्या कों this damned custom has brassd it so that it is a proof and bulwork against sense.

[प्रथम प्रकाशन: **समालोचक**: अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

नागरी प्रचारिणी सभा : टिप्पणियां

इस वर्ष 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का काम कुछ ढीला ही दिखाई देता है। काशी के कई सज्जन सभा के कार्य को संशयित कहते हैं, भगवान् करें, यह झूठ

हो, किन्तु यदि सत्य हो तो हम सबको बड़ी लज्जा की बात है। आशा है कि इस वर्ष की रिपोर्ट उन चिन्ताओं को मिटा देगी, किन्तु सभा के नाक के नीचे रामनगर राज्य उर्दू का अड्डा बना हुआ है, यह कैसी लज्जा की बात है ?

•

नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट आई है, अच्छी आई है और अच्छे मौके पर आई है। सभा में ४५८ मेंबर हैं, १७ कार्यकर्त्ता हैं, २९७७ पुस्तकें हैं। सभा ने ३४२ पुस्तकों की खोज की है, जिनमें एक १२८७ का किया हुआ श्रीमद्-भागवत का अनुवाद है (चलो वोपदेव की बात तो उड़ी) पत्रिका तथा ग्रन्थमाला छपती रही, रामायण प्रकाशित हुआ ही चाहता है, देहाती स्कूलों की परीक्षा और इनाम बांटे गये, दत्त के इतिहास का प्रथम भाग बन गया, वैज्ञानिक कोश ता० २१ सितम्बर से दोहराया जाएगा, रासा के ग्राहक बहुत कम हैं तथापि वह छप रहा है, मनोविज्ञान के लेख के लिए पण्डित गणपत दुबे को पदक और अपने नगर के इतिहास के लिए लखनऊ के एक विद्यार्थी को एक मोहर दिए गए। सरकार और 'टेक्स्ट बुक कमेटी' के हिन्दी के वास्तव रूप को बिगाड़ने के विचार के विरुद्ध सभा कमर कसकर लड़ रही है। काशी की कचहरी में अपने व्यय से सभा ने एक अर्ज़ीनवीस रक्खा है।

•

एक विदेशी पादरी की सहायता से हिन्दी भाषियों की रायल सोसाइटी **नागरी प्रचारिणी सभा** का भवन काशी के बीच में बन रहा है। किन्तु अभी उसमें प्रायः ७००० रुपये की जरूरत है। यदि सभा-भवन का काम यहां रुक जाय, तौ हमारी आरम्भशूरता और कृतघ्नता का काला बिन्दा काशीजी पर खूब लगेगा। 'समालोचक' के ग्राहक यदि इसमें कुछ यत्न करैं तो हम चिर कृतज्ञ होंगे। यदि १०० आदमी स्वयं १००) दें वा अपने मित्रों से दिलवायें तो १०,०००) रुपया बात की बात में हो सकता है। और एक आदमी को १०० रुपया इकट्ठा करना मुश्किल नहीं है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

•

दो बातें बहुत ही सन्तोषजनक हुई हैं। एक तो विलायत के सिविल सर्विस रूपी अग्नि में तप्तकाञ्चनावत् उज्ज्वल महर्षिकुमार पाण्डुरङ्गराव का द्वितीय पद

पाना और दूसरे 'नागरी प्रचारिणी सभा' के विज्ञानकोश का दोहराया जाना। दाक्षिणात्य सारस्वतकुलमणि पाण्डुरङ्ग ने इस देश का मुख उज्ज्वल किया है। "वारशतानि बहौ" में गुणातिरेक पाने वाले प्रांजपे, चटर्जी, पाण्डुरङ्ग, बोस प्रभृति से इस हतभाग्य देश की नाक बची हुई है। भूसुर पाण्डुरङ्ग ने गौराङ्गों का शासन करना न चाहकर अपने भाइयों का ही शासन चाहा है। 'नागरी-प्रचारिणी सभा' के विज्ञानकोश को मध्य प्रदेश से २, काशी के ५, पंजाब और बिहार के एक-एक, सज्जनों की कमेटी ने दोहराया। ज्यौतिष और भूगोल की परिभाषाएं पूरी दोहरा ली गई हैं। अर्थशास्त्र और दर्शन के लिए सब कमेटियां बनी हैं। बड़े दिन की छुट्टियों में प्रा० गज्जर, बोस और प्रफुल्लराय काशी आकर शेष कोशों को दोहराने में सहायता देंगे। युक्त प्रान्त की सरकार ने भी अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा है और कोश-शोधन में सहायता देने वालों की इस सूची से युक्तप्रान्त वालों की भाषारसिकता का अच्छा परिचय मिलता है। धन्यवाद है—

बङ्गाली ८, पञ्जाबी ३, बिहारी १, राजपूताना (पञ्जाब-प्रवासी) १, दक्षिण और दाक्षिणात्य ८, मध्यप्रदेशवासी ७, युक्तप्रान्त वासी ९ (काशी ६ लखनऊ १ आगरा १ झांसी १)।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

निवेदन

'नागरीप्रचारिणी सभा' के विशेष अधिवेशन में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने चढ़ी व्रजभाषा की एक कविता पढ़ी थी, जिसके अन्त में यह था—

यहै राष्ट्रलिपि भारत की नागरी नवेली।
जाकी प्रभुवर श्यकडानल रोपी पर वेली॥
करि पल्लवित कलित[1] कुसुमित पुनि फलित भाव सों।
आदरनीय बिलोचनते इहि लखहु चाव सों॥
लिखिहै सदा नागरी प्रेमी नाम तुह्यारो।
स्वर्णाक्षर ते अरु करिहै जगमांहि उंजारो॥

१. क्या 'कलियों वाली' से मतलब है ? तो इस अर्ध जरती शब्द को मानने वाली कविता की निरंकुशता धन्य है!!

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सरल और ठेठ हिन्दी में बड़ी ही भावमय कविता पढ़ सुनाई थी। किन्तु इन दोनों से रोचक और विलक्षण एक प्रवासिनी बङ्गमहिला की 'निवेदन' नामक बङ्गला-कविता थी, जो देवनागरी अक्षरों में छापकर बांटी गई थी। मानो इस ऐतिहासिक अवसर पर बङ्गभाषा की सौभाग्य लक्ष्मी ने बङ्गमहिला के रूप में अपनी बहन हिन्दी का पद स्वीकार किया और "भारतेर श्रेष्ठ भाषा दुःखिनी नागरी हाय !" की आह सुनकर देवनागरी अक्षरों को स्वीकार किया। यह शुभ मिलाप नया होने पर भी, हम आशा करते हैं, चिर-स्थायी होगा। 'निवेदन' कविता इतनी रोचक थी कि उसमें से कुछ हम यहां उद्धृत करते हैं। मिर्ज़ापुर के बाबू काशीप्रसाद ने एक इण्डियन प्रेस की रामायण, और मि० जैनवैद्य ने एक सांगानेरी साड़ी बङ्गमहिला के लिए अर्पण की, और सबने इस कविता का साधुवाद किया—

पूर्व प्रभु म्यकडानल
सिंचिया उत्साह जल
करिलेन जे लतिका स्नेहभरे अंकुरित।
तुमी तारे करो प्रभु फल फूल सुशोभित॥

× × ×

सकलंक शशि नय, अकलंक 'सुधाकर'।
युगल मूर्तिद्वय 'श्याम' आर 'श्रीराधा'र॥
आर देव गण कतो
होये छेन एकत्रित
करिवारे स्वभाषार मलिनता विमोचन।
नाना रत्ने ओ वरांग करिवेन सुशोभन॥

× × ×

विजाति साहित्योद्याने सुगंधि प्रसून तूले।
गांथि परावेन माला निज मातृभाषा गले॥

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

अपनी बात

सहयोगियों ने हमारे नए सन्दर्भ की जिस उदारता से समालोचना की है उसके लिए हम उन्हें अनेक धन्यवाद देते हैं। 'समालोचक' के जो उद्देश्य हमने

प्रकाशित किए हैं, या जो हमने सोच रक्खे हैं, उन्हें पूरे कराना हमारे सहयोगियों के ही हाथ है। यह इज्जत उन्हीं की दी है, और उसका निभाना भी उन्हीं का कर्त्तव्य है। 'भारत मित्र' ने सम्पादक को कविता में कोरा कहा है। यदि 'मालती' को पढ़कर यह राय दी गई है तो रसिकता का अन्त है ! एसोसिएशन वाली कविता में कोई छन्दोभंग वा रसभंग बतावै तो हम 'कोरे' कहलाएंगे किन्तु 'भारत मित्र' के लौटाए लेख को छापने वाले किस तर्क से कोरे कहे गये ? आजकल 'सुदर्शन सम्पादक' 'हिन्दी बंगवासी' में जो लिख रहे हैं, उससे 'एसोसिएशन' ऐसा निर्दोष नहीं जान पड़ता कि भरतियाजी की कविता निकम्मी कही जाय ।। 'सरस्वती' ने अपने सिंहावलोकन में बहुत अच्छी तरह आक्षेपों का उत्तर दिया है। हम बड़े खेद से प्रकाश करते हैं कि हमें पांचवें हाथ वाले श्लोक पर कुछ कहना पड़ा था। 'सरस्वती' जैसी सर्वांगसुन्दर पत्रिका में इस कालिमा को हम न सह सके। द्विवेदी जी का संस्कृत-साहित्य पर बड़ा अधिकार है, वे स्थूलदृष्टि से भी ५०० । ६०० श्लोक निकाल लेंगे जिनमें पांचवें हाथ की-सी ग्लानि न उत्पन्न हो।

सुना है कि इण्डियन प्रेस के स्वामी वैसे श्लोकों को 'सरस्वती' में न छापेंगे। अस्तु, अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम्।

•

सहयोगियों से हमारा एक और निवेदन है कि 'समालोचक' के स्वामी और सम्पादक हिन्दी भाषा के सभी लेखकों के मित्र हैं, और उनके सेवक होने का नाम पाना चाहते हैं। 'समालोचक' में जो कुछ लिखा जाय, वह द्वेषमूलक और कुतर्क-मय न समझा जाय, यही हमारी हाथ जोड़कर प्रार्थना है। 'मेहरवान' मिस्टर जैन वैद्यजी और 'समालोचक' का सम्पादक (चाहे वह जयपुर का कोक-शास्त्र बेचने वाला हो चाहे तिब्बत का लामा) जो कहते हैं उससे उन पर विद्वेष, वा अरुचि न हो। इसी से वे सब मित्रों से क्षमा मांगते हैं और अपना व्यवहार यथावत् रखने का निवेदन करते हैं।

आगामि संस्थाओं से लेखों में, रंगरूप में, 'समालोचक' को हिन्दी का सर्व प्रधान मासिक पत्र बनाने की चेष्टा की जायगी। इसमें ऐसे-ऐसे महापुरुष लेख देंगे जिनके लिखने से हिन्दी भाषा का गौरव होगा। 'व्यय' के छप जाने पर विचार है कि एक फार्म सदा किसी ग्रन्थ का दिया जाया करै जिससे हमारे साहित्य में ग्रन्थों की भी पूर्ति होती जाय। ग्राहकों से भी निवेदन है कि आगामि मूल्य, वा वी. पी. भेजने की आज्ञा, दे दें, क्योंकि जनवरी का अंक कल्पित ग्राहकों को नहीं भेजा जायगा।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : दिसम्बर, १९०३ ई०]

□

जीवनचरित

हर्वर्ट स्पेन्सर

विलायत के वैज्ञानिक चूड़ामणि हर्वर्ट स्पेन्सर का 'ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' हो गया। उनके विषय में 'राजस्थान समाचार' में अच्छा लिखा गया है। भारतवर्ष, जापान और अमेरिका में उनकी शिक्षा का अधिक प्रभाव पड़ा है। जगत् के बड़े-वड़े शिक्षकों में, कपिल, कणाद, बुद्ध, शङ्कर प्रभृति के वराबर, उनका आसन है। उनके शव का अग्निदाह हुआ और श्यामजी कृष्ण वर्म्मा ने १००० पाउण्ड देकर उनका स्मारक नियत किया। भूखा भारत कृतज्ञ है। उनके अन्तिम ग्रंथ में 'अनन्तता' का जो वर्णन है, मृत्यु की संदिग्ध भविष्यत् का जो चित्र है, वह बड़ा भयावना और रोचक है। मराठी में उनके कई ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका है। उनके 'Education' का अनुवाद कोई कर दे तो हम छाप देंगे। आगामि संख्या में इस "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः" के चरित्र और सिद्धान्तों का कुछ वर्णन देने की इच्छा है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार

वैज्ञानिकों और लेखकों में बेन, हर्वर्ट स्पेन्सर, मोन्सेन, लीकी और लेस्लीष्टेफन को इस वर्ष जगत् खो चुका है। भारतवर्ष को एक ऐसे मनुष्य का भी शोक

है जो न केवल वैज्ञानिक ही था, किन्तु जिसके जीवन का परम यत्न इस अर्धशिक्षित देश में विज्ञान का प्रचार रहा। डाक्टर सरकार उस समय के मनुष्य थे, जब असन्तुष्ट बी०ए० से घृणा न थी। इससे उनने उचित सम्मान पाया। उनने विज्ञान की शिक्षा के विस्तार के लिए जो यन्त्रालय स्थापन किया है उसमें उपाधि के लोभियों ने चन्दा नहीं दिया, तो भी वह भारतवर्ष में प्रथम होकर भी जर्मनी के सबसे भद्दे यन्त्रालय से भी भद्दा है। कुछ वर्ष हुए, उनने बड़े हृदय-विदारक स्वर में अपने उद्योग की निष्फलता स्वीकार की थी। गत वर्ष जब विश्वविद्यालय कमीशन के उल्टे प्रस्तावों ने देश को हिला डाला था, उनने यह उद्‌गार निकाला था —

"मैंने कई बार कहा है कि बृटिश राज्य में हम अपने राज्य से स्वतन्त्रता, काम और विचार की स्वाधीनता, अधिक भोग रहे हैं। किन्तु हा ! बृटिश राज्य के सबसे बड़े बर इस स्वतन्त्रता को इस तरह टूटने की धमकी पाते हुए देखने को मैं जीता रहा ! यह कहते मेरा कलेजा फटता है कि कमीशन के प्रस्ताव साधारण शिक्षा की जड़ काटते और विज्ञान की शिक्षा को निरुत्साह देते दिखाई देते हैं।" भाग्यवान् थे कि कमीशन के यत्नों के फल को देखने के पहले ही वहां चले गए जहां सब विज्ञानों का विज्ञेय विराजता है और जहां की वैज्ञानिक शिक्षा को कोई नहीं धमका सकता। डाक्टर प्रफुलचन्द्र राय और जगदीश वसु को उनका चोगा उठाकर साइन्टिफिक एसोसिएशन को पूरा बनाने का यत्न करना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०]

हाहा ताता !!!

चार वर्ष हुए, जयपुर म्यूजियम में एक हँसमुख शान्तमूर्ति तेजोमय महापुरुष को देखकर जो स्वाभाविक भक्ति हुई थी, वह यह जानकर कई गुनी बढ़ी थी, कि यह 'मङ्गल्यामनोहरा' मूर्ति ऐतिहासिक उदारता के आधार 'ताता महाशय' की ही है जो प्रिन्सिपल मैकमिलन के साथ, वायसराय के बुलाए, शिमले जा

रहे हैं जहां उनके प्रस्तोष्यमाण गवेषणाविद्यालय के नियम बनाए जा रहे हैं। आज यह कहते हमारी जिह्वा के शत-शत खण्ड होते हैं कि वही स्वदेशशिल्पों के तात, देशी व्यापार के तात, और विदेशशिक्षित नवयुवकों के तात जमशेदजी नौशेरवांजी ताता जर्मनी में स्वर्गवासी हो गए ! न मालूम किस कर्म के घोर विपाक से ऐसे जगन्मङ्गल महात्मा का अनिष्ट सुनना और सुनाना पड़ा ! निज भुजोपार्जित तीस लाख रुपये की प्रशस्त सम्पत्ति को जिस दानवीर ने भारतवर्ष भर की वैज्ञानिक उन्नति के लिए, गवेषणाविद्यालय के लिए, सन्तानों के होते भी संकल्प किया था, वह अब नहीं है। सदा सावधान बृटिश गवर्मेन्ट के सिवाय इतना चतुर और कौन होता जो छै-छै वर्ष पर्यन्त नियमों की खटाई में इस दान के गहने को पड़ा रहने देता, और एक लौकिक कहावत का पात्र बनता कि 'दान के घोड़े के दाँत नहीं देखने चाहिए ?' ताता की स्वदेशी वस्त्रों की मिलें स्वतन्त्र हैं, उनका बम्बई का होटल प्रशस्त है और यदि जगदीश्वर उस कर्मवीर को आयु देता तो वह अपने इस अभिमान को सत्य कर दिखाता कि उनके मध्यप्रदेश के कारखाने के चल जाने पर भारतवर्ष को लोहे की एक सूई भी विदेश से न लेनी होगी। गवेषणाविद्यालय को वे मूर्तिमान् न देख सके और यदि वे दानपत्र न कर गए हों, तो न मालूम हमें उसके न खुलने के लिए दैव, ताता, उनके वंशज, सरकार, या अपने भाग्य, किसका ऋणी रहना पड़ेगा। अस्तु,

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याभिसम्भवाः ।
वैराज्ञा नाम ते लोकाः शाश्वताः सन्तुते शुभाः ॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १६०४ ई०]

□

समीक्षाएं

पुस्तकें

निबन्धमालादर्श

१. यह पुस्तक पं० विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूनकर जी के लिखे हुए कई एक मरहठी निबन्धों का अनुवाद है। इसके मूल लेखक तो बड़े प्रौढ़ विद्वान् और स्पष्टवक्ता थे ही, इसके अनुवादक पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री जी भी कृतविद्य और गवेषणाशाली पुरुष हैं। इससे उक्त आदर्श हिन्दी भाषा के लेखकों के लिए आदर्श ही है। पुस्तक **मुंशी नवल किशोर** (लखनऊ) के छापेखाने की छपी है। क्रय करनेवालों को छापेखाने के मैनेजर के निकट मूल्य और चिट्ठी भेजनी चाहिए। टाइटिल पेज पर मूल्य लिखा हुआ नहीं है किन्तु अनुमानतः ज्ञात होता है कि आठ आना मूल्य होगा क्योंकि उक्त प्रेस की पुस्तकों का मूल्य अधिक नहीं होता।

२. कुछ लोग मुझसे कहा करते हैं कि आप की आलोचना कड़ी होती है, उसमें दोष ही की अधिक चर्चा होती है और गुण की थोड़ी। जो झूठी प्रशंसा करने में असमर्थ है और अच्छी पुस्तक उसको नहीं मिलती उसे वाक्य-वाणों के लक्ष्य बनने में कुछ भी सन्देह नहीं। आज ऐसी पुस्तक की समालोचना का भार हम पर है जिसमें गुण-ही-गुण दिखाई पड़ता है। इस पुस्तक-पेटिका में पांच निबन्ध-रत्नों की माला रखी हुई है जो पाठक इन्हें कण्ठ में धारण करेगा वह अवश्य सभ्य समाज में गणमान्य समझा जायगा।

सबसे प्रथम **विद्वत्व और काव्यत्व** शीर्षक लेख में यह बातें प्रमाणित हुई हैं—

१. "कवि का प्रधान गुण सहृदयता है। हृदय की श्रृंगार, वीर, करुणादि जो वृतियां हैं, वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप से अनुभूत होनी चाहिए। उक्त भिन्न वृत्तियों का विषय इन्द्रियगोचर होते ही कवि का मन क्षुब्ध हो

जाता है और उस क्षुब्धता के आवेग में उसके मुख से जो बातें विनिसृत होती हैं वही यथार्थ कविता है···हमारे भाषा-काव्य के भण्डार में ऐसी सर्वांग सुन्दर कविता गोस्वामी तुलसीदास जी की ही पायी जाती है।"

२. "यदि हम सम्प्रति काव्य का लक्षण इतना ही समझ लें कि रमणीय अर्थ प्रकट करने वाला शब्द 'काव्य' कहाती है तो बस उक्त लक्षण को समझने से समस्त भ्रम दूर हो सकते हैं अर्थात् तत्क्षण ज्ञात हो जाता है कि काव्य के लिए पद्यरचना, यमक, प्रास, श्लेष सुतरां वर्ण माधुर्य्यादिकों की विशेष रूप से कोई आवश्यकता नहीं है।"

३. "कवित्व ईश्वरप्रदत्त गुण है। यदि कोई चाहे कि परिश्रम कर उसे प्राप्त कर ले, तो नहीं हो सकता। साधारण मनुष्य कवि हो सकता है, केवल विद्वान ही नहीं। विद्या से सुधार होता है वह कल्पना का बाधक है और कल्पना ही से कविता की सृष्टि है, अतएव बड़े-बड़े विद्वान कवि नहीं होते अथवा उनकी कविता अच्छी नहीं होती। स्वाभाविक कवि कभी-कभी विद्वान भी हो जाते हैं, जैसे—कालिदास प्रभृति।"

४. "काव्य के प्रधान गुण सहृदयता और तज्जन्य वस्तु के प्रकृतिसुलभ गुण वर्णन करने की शक्ति ईश्वरप्रदत्त गुण है। साधारण चौपाई में तुलसीदास ने क्या ही अपनी अपूर्व प्रतिभा दिखाई है! जैसे—

चौपाई

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥
बूंद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सहैं जैसे॥

इत्यादि।"

बड़े-बड़े कवि यथार्थ अभिमान करते थे, जैसे पं० जगन्नाथ उनकी अभिमानोक्ति से ग्रन्थ की शोभा बढ़ती है।

आजकल के नये समालोचक हर्ष कवि की दर्पोक्ति पर झुलस-से गये हैं।

समालोचना शीर्षक द्वितीय निबन्ध में वे बातें कही गई हैं जिनकी इस समय बड़ी आवश्यकता है। इसके शीर्ष स्थान में एक श्लोक 'भामिनी विलास' का लिखा हुआ है जो योग्य समालोचकों को समझा रहा है, ऐसा जान पड़ता है।

वह श्लोक अर्थ सहित यहां पर उद्‌धृत किया जाता है—

नीर क्षीर विवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्य: कुलव्रतंपालयिष्यति क: ॥[1]

भावार्थ—हे हंस ! जल और दूध को पृथक् करने के लिए यदि तू ही आलस्य करेगा तो संसार में तेरे उक्त, कुलव्रत का पालन कौन करेगा ? सच है, समालोचक यदि पुस्तकों के दोष-गुण विचार करने में आलस करे तो दूसरा इस काम को कौन करेगा ! जो जिस काम के करने में समर्थ होता है, वही उसे करता है अथवा उसी के ऊपर इस काम के करने का भार है।

इस निबन्ध में बहुत-सी समालोचना सम्बन्धी अच्छी बातें वर्णित हैं। उनमें से कई एक का उल्लेख किया जाता है। जिससे पाठक निबन्ध की उत्तमता समझ जाएं—

१. हिन्दी भाषा में पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है क्योंकि उपयोगी पुस्तकें बहुत ही कम प्रकाशित होती हैं। उसके प्रकाशक दो ही प्रकार के मनुष्य हैं—एक व्यापारी और दूसरा नाम चाहने वाले। व्यापारी जिस पुस्तक की बिक्री अधिक देखता है उसी को छपवाता है। उसके प्रयत्न से अच्छी पुस्तकों का प्रकाशित होना असम्भव अथवा दुर्घट है क्योंकि अच्छी पुस्तकों को चाहने वाले कम हैं। दैवात् किसी व्यापारी ने किसी अच्छी पुस्तक को प्रकाशित किया है, तो उसने हानि ही उठाई है। अतएव अच्छी पुस्तकों का दूसरा संस्करण होता ही नहीं। (यही कारण है कि इस 'निबन्धमालादर्श' का भी दूसरा संस्करण अभी तक नहीं हुआ)। नाम चाहनेवाले विना कुछ विचार किये टूटे-फूटे अशुद्ध शब्दों (जैसे पठित समाज, मनोकामना, स्यात् और अतिउत्सव आदि) की वाक्यावली से दो-चार पन्ने काले कर पुस्तक प्रकाशित करता है फिर ऐसी पुस्तक कैसे अच्छी हो सकती है। कभी-कभी लोग अच्छी पुस्तकों का आदर करना चाहते हैं किन्तु जिस प्रकार इंग्लैण्ड में बड़े आदमी ग्रन्थकर्त्ताओं की श्रेणी में पाये जाते हैं उस प्रकार हमारे देश में इस समय एक भी नहीं दिखाई पड़ते और वैसे लोग हमारे देश में कब उत्पन्न होंगे, इसकी ठीक-ठीक तर्कना भी नहीं हो सकती।

१. गुलेरी जी ने यह श्लोक 'समालोचक' के आदर्श वाक्य के रूप में अपनाकर अगस्त, १९०३ तथा इसके बाद के कुछ अंकों में मुखपृष्ठ पर छापना शुरू किया। मुखपृष्ठ पर इसका शुद्ध पाठ यों दिया है —

नीरक्षीर विवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्य: कुलव्रतं पालयिष्यति क: ।। —सम्पादक

२. जिस यूरप में इतिहास पदार्थ विद्वान और चिकित्सादि विषयों के ग्रन्थ मानो लड़कों के खेल हैं, वहां के लोगों के साथ पार्लीमेण्ट में बैठने की इच्छा करनेवाले तथा उनके समान अपने स्वत्व के प्रार्थी लोगों को मन में सोचना चाहिए कि वे साहब लोग इस देश की भाषा की स्थिति जानकर कितना हंसेंगे ! भाषा की वर्तमान स्थिति और ग्रन्थ प्रणेतृगण का आदर दोनों देश स्थिति के समीचीन सूचक हैं। जो लोग यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि देशभाषा का और उसमें उत्तमोत्तम ग्रन्थों की अधिकतादि का देशहित से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, उन्हें हमारा कथन ठीक जान पड़ेगा।

३. देश भाषा के सुधार के हेतु ग्रन्थों के यथार्थ परीक्षकों का होना अत्यावश्यक है क्योंकि उनके द्वारा भाषा को बहुत लाभ पहुंचता है। ग्रन्थ परीक्षकों में निम्नलिखित गुणों का रहना बहुत उचित है।

(१) मूल ग्रन्थ का ज्ञान, (२) सत्य प्रीति, (३) शान्त स्वभाव, (४) सहृदयता।

४. आजकल के समाचार-पत्रों के अग्र भाग में एक लम्बी-चौड़ी प्रतिज्ञा लिखी रहती है किन्तु उसके अनुसार काम होता दिखाई नहीं पड़ता। कूड़ा-कर्कट लेखों से समाचार-पत्रों का कलेवर भरा जाता है। देशभाषा के सुधार करने वाली समालोचना के विषय में यह लिखा रहता है कि अमुक ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ इसके लिए हम तद्रचयिता को धन्यवाद देते हैं। इसकी समालोचना आगामी अंक में प्रकाशित की जायगी। सम्पादक इस प्रकार रसीद लिखकर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं अथवा जिल्द, कागज और छपाई आदि अच्छे हैं—यह लिख डालते हैं। कसाई लोग जैसे पशुओं की परीक्षा उनका अंग स्पर्श करके किया करते हैं वही हिसाब ग्रन्थों का भी है।

५. प्रति वर्ष जो नवीन ग्रन्थ मुद्रित होते हैं, समाचार-पत्रों के द्वारा उनकी थोड़ी-बहुत चर्चा होती है और इसी (समालोचना) उद्देश से मासिक पत्रों की सृष्टि हुई है, क्योंकि इन पत्रों का मुख्यतम विषय भाषा और विद्या ही है। जितने नवीन ग्रन्थ प्रस्तुत हों उनमें से लाभदायक कौन और अपकारक कौन हैं, यह सूचित करना मासिक पत्र-सम्पादकों का प्रधान कर्तव्य है।

६. भले-बुरे की विवेचना न कर, मनमाना अन्न खाने से जैसे शरीर का पोषण होना तो एक ओर रहा पर उलटे उससे नाना प्रकार के रोग लग जाते हैं वैसे ही ग्रन्थों का पठन भी है। जो ग्रन्थ यथार्थ में पढ़ने योग्य हों अर्थात् जिनकी भाषा-प्रणाली उत्तम, विषय-प्रतिपादन प्रौढ़ एवं सुरस, जिनसे मनोरंजन वा उपदेश एक ही साथ प्राप्त होते हैं, उन्हें ही पढ़ना चाहिए। पर ऐसा होने के लिए उक्त प्रकार के ग्रन्थ कौन से हैं, पहले ही ज्ञात हो जाना कठिन अथवा असम्भव

है, जैसे डाक्टर लोगों की खाद्यवस्तुओं की परीक्षा कर उन्हें खाने देते हैं वैसे ही विज्ञ लोगों की आलोचना कर लेने पर उनकी सम्पत्ति से किसी ग्रन्थ को पढ़ना चाहिए। नहीं तो हानि की पूरी सम्भावना है।

७. जिसके ग्रन्थ की आलोचना द्वारा प्रशंसा नहीं हो उसको कुपित होना नहीं चाहिए क्योंकि जिसमें जो गुण नहीं हैं उसमें उन गुणों का निरूपण ही निन्दाजनक है।

इस निबन्ध की एक-एक बात आजकल के हिन्दी-रसिकों के जानने योग्य है। इस निबन्ध को पढ़कर यदि ग्रन्थकार और समालोचक ग्रन्थ-प्रणयन और समालोचना करें तो हिन्दी भाषा थोड़े ही दिनों में बंगला तथा मरहठी के सामने खड़ी होने के योग्य हो जाय और अपने सुपुत्रों को उन्नति के शिखर पर बिठाने में न चूके।

[हर्ष का विषय है कि आरा नागरी प्रचारिणी सभा ने इस कार्य्य के लिए अपनी 'प्रणेतृ समालोचक सभा' की पद्धति ठीक कर ली है।]

अभिमान शीर्षक तीसरे निबन्ध के प्रारम्भ में निम्नलिखित श्लोक अर्थ सहित लिखा हुआ है—

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थान यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषंगिकम्॥

भावार्थ—नश्वर प्राणपणा के चिरकाल तक रहने वाले यश की प्राप्ति की इच्छा करने वाला अभिमानी मनुष्य सम्पत्ति तृणप्रायः समझता है क्योंकि एक तो वह बिजली के समान चञ्चल और वह उसकी वीरता का आनुषङ्गिक फल है।

इस निबन्ध में निम्नोक्त कई एक आश्चर्यकारक बातों का वर्णन है—

१. यह मानस-शास्त्र का विषय है। अंग्रेजी भाषा में इसके ऊपर कई एक निबन्धमय ग्रन्थ हैं। मनोविकार विशेष को 'अभिमान' कहते हैं। इसकी निन्दा प्रायः सभी धर्म-ग्रंथों में पायी जाती है। कामादि छः विकारों में इसकी भी निन्दापूर्वक गणना है। महर्षिगण उसे नरक अथवा अनर्थ का मूल कहते हैं। सारांश यही है कि कोई इसकी प्रशंसा नहीं करता क्योंकि प्रसिद्ध है कि अभिमानी शीघ्र ही विनष्ट होता है।

२. यह सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य्य होगा कि अभिमान सर्वथा त्याज्य और हानिकारक नहीं है क्योंकि वह स्वयं अनर्थ का कारण नहीं है किन्तु उसकी भलाई-बुराई मनुष्य की भलाई-बुराई पर निर्भर रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अभिमान दो प्रकार का है—एक, चतुर विज्ञ पुरुष में तथा दूसरा, मूर्ख और

अवोध में पाया जाता है। अर्थात् विज्ञ पुरुष के अभिमान से भलाई और मूर्ख के अभिमान से बुराई होती है।

३. मूर्खों में से किसी को बल की, किसी को धन, किसी को वस्त्राभरण और किसी को अपने सौन्दर्यादि का अभिमान रहता है पर इससे उनकी अपनी भलाई भी नहीं होती और दूसरों की बुराई हो जाने की सम्भावना होती है। यथार्थ ज्ञान के अभाव से मनुष्य को अभिमानादि घेर लेता है क्योंकि भर्तृहरि जी ने लिखा है—"जब मैं यों ही थोड़ा-बहुत समझने-बूझने लगा था तब हाथी की नाईं मदांध (अभिमान और मदजल सेवक) हो गया था और यही समझता था कि मैं सर्वज्ञ हूं पर जैसे-जैसे मुझे पण्डित लोगों के संसर्ग से थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त होता गया वैसे-वैसे मुझे विश्वास होता गया कि मैं मूर्ख हूं।" इसी प्रकार का बल धनादि विषयक भी अभिमान है।

४. व्यक्ति विशेष में जो यथार्थ गुण हैं उनके विषय में यथायोग्य गर्व धारण करने से मनुष्य सर्वथा दोष-पात्र नहीं होता। इसके लिए उदाहरण लीजिए— प्रत्येक मनुष्य जो अपनी आय के अनुसार वस्त्रादि धारण करता है उसे कोई अभिमानी नहीं कहता। महाराज अपने सामर्थ्य के अनुसार ठाट से सब काम करते हैं। इससे उनकी प्रशंसा ही होती है। पण्डितराज जगन्नाथ, मिल्टर, वर्ड्-सवर्थ आदि कवियों की गर्वोक्ति पर रसिकजन न्यौछावर हो जाते हैं। अच्छी बात यह है कि जब कोई किसी को व्यर्थ में दबाया चाहे तब उसे उचित है कि उसके अज्ञान एवं दुराग्रहजन्य दूषणों का खण्डन कर अपनी साभिमान रक्षा करे। ऐसा करने से उसकी निज की भलाई होवेहीगी। इसके अतिरिक्त जग के और भी बड़े-बड़े उपकार होंगे।

सम्पत्ति का उपभोग शीर्षक चौथे निबंध में पहले यह बात दिखलायी गई है कि धन अनर्थ का मूल है। इसके लिए मनुष्य अत्यन्त नीच काम करता है। वह धन पाकर विषयासक्त हो जाता है और बड़ी भारी आपत्ति में फंसता है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष अपने को इसके फेर में डालते नहीं, इत्यादि। इस वर्णन के अनन्तर सिद्धान्त यह किया गया है कि मनुष्य कैसा ही परमतत्त्ववेत्ता क्यों न हो पर क्षुधादि की शान्ति के उपाय की शरण लिए विना उसका काम नहीं चलता अथवा दरिद्र पुरुष को सब तुच्छ समझते हैं और धनिक उस पर अत्याचार करते हैं, इत्यादि बातों को विचार कर मीमांसक कहते हैं कि न्याय से धन उपार्जित करना चाहिए और उसे अच्छे काम में व्यय करना चाहिए। यही धन की यथार्थ शोभा है। इस निबन्ध में मूल लेखक ने विलायती वस्तुओं पर लट्टू होने वालों को खूब फटकारा है।

वक्तृता शीर्षक पांचवें प्रबन्ध में निम्नलिखित अर्थ का एक श्लोक प्रारम्भ में लिखा हुआ है—

"सभा में उपस्थित हो वक्ता को ऐसी वक्तृता देनी चाहिए कि जिसे सुनकर श्रोताओं के अन्तःकरण प्रसन्न हों। कर्ण वचनमाधुरी से भर जायें, नेत्र आश्चर्य्य से विकसित हों तथा क्षुधा, निद्रा, श्रम, दुःख और समय का ज्ञान न रहे। अन्य सब कामों की विस्मृति हो, बराबर वक्रता सुनने के लिए उनका चित्त उत्कण्ठित होता रहे और उसकी समाप्ति पर उन्हें शोक हो।"

१. वक्तृता का आदि पीठ, जो ग्रीस देश है वहां उत्पन्न हो इसका प्रसार कैसे हुआ ? वहां इसने कहां लौं उन्नति-लाभ किया और वहां से अन्य देशों में इसका प्रचार कैसे हुआ और इसका उत्कर्ष कहां तक हुआ।

२. हमारे देश में यह वर्तमान रूप से थी वा नहीं आदि का निरूपण।

३. वक्तृता की उन्नति के लिए सम्प्रति जिन उपायों की शरण ली जाती है उनकी आलोचना।

उक्त विषय की विवेचना कर वक्ता के आवश्यक गुणों का निरूपण, वक्तृताजनित उपयोगितादिक की मीमांसा आदि।

इस निबंध में वक्तृता विषयक बातों का विचार उक्त रीति से चार भागों में बांटकर किया गया है।

इसके सभी निबन्ध अत्युत्तम हैं। उनमें से एक भी निन्दा-भाजन नहीं जान पड़ता।

३. दोष

इस ग्रन्थ की भाषा कुछ कठिन हो गयी है। कहीं-कहीं व्याकरण की भी अशुद्धियां हैं। पुनरुक्ति बहुत है अथवा ग्रन्थकार की ऐसी शैली है कि गूढ़ बात दुहरा भी जाती है। जया और इला से कुछ अंश उद्धृत करके प्रथम निबन्ध में लिखे गए हैं, वे दोषों के भण्डार हैं। इसमें 'चन्द्रकान्ता' की एक स्थान में प्रशंसा है, वह भी ठीक नहीं, इत्यादि।

स्वतन्त्र सम्मति—ऐसा ग्रन्थ हिन्दी में एक भी नहीं है। अभी बनने की सम्भावना भी नहीं है। जो विद्वान हिन्दीरसिक हैं उन्हें सौ काम छोड़कर यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिए। हिन्दी-लेखकों के लिए कोई पुरस्कार यदि नियत होता, तो अग्निहोत्री जी सबसे अधिक उसके योग्य समझे जाते। हिन्दी बोलनेवाले अपनी भाषा को यदि कुछ समझते तो पचासों संस्करण इसके हुए होते। अन्त में अग्निहोत्री जी और मुंशी नवलकिशोर (लखनऊ) प्रेस के अध्यक्ष अनाथा हिन्दी

की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रयत्न से यह असहाया कुछ-न-कुछ सस-हाया हुई है।

सूचना—इसमें अस्मच्छब्द का एकवचन आलोचक का और बहुवचन ग्रन्थ-कार का है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जून-जुलाई, १९०३ ई०]

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

(१) अब तक हम यही जानते थे कि पवित्र दम्पत्ति-प्रेम के उन चित्रों को, जिनका पर्दा लज्जा के मारे, पवित्रता के ख्याल से कोई मनुष्य वा लेखनी नहीं उघाड़ सकती, सरे बाज़ार रखने में पं० किशोरीलाल गोस्वामी revel करते हैं, मज़े लूटते हैं, किन्तु अब मालूम हुआ कि बलात्कार, पाशविक दुराचार, हत्या-काण्ड, विदूषण प्रभृति के उद्वेगजनक चित्रों में भी वह अधिक रुचि से wallow करते हैं !! लीलावती, लाडली और तारा की लज्जा यों उघाड़ी जाकर सही भी जा सकती थी, क्योंकि उसका उघाड़ना पवित्रता से सुवासित था, किन्तु देखते हैं, गोस्वामीजी को गन्दे चित्र उघाड़ने में भी मज़ा आता है। कलावती की गन्दी अठखेलियां खाली लीलावती के मुकाबिले के लिए ही नहीं बताई गईं, किन्तु उनके लेखक की रुचि झलकती है। जहानआरा और रोशनआरा का कल्पित व्यभिचार इसलिए नहीं लिखा गया कि उससे तारा के पवित्र चरित्र पर छाया पड़े, किन्तु इसलिए कि लेखक को इन वर्णनों में मज़ा आता है !! यों ही चपला को नंगे करने की कोई dramatic necessity न थी, कि उसके बिना नाटक ही अधूरा रह जाता। चपला को बाल बराबर बचाकर गोस्वामीजी रेनाल्ड की उस घृणित चतुराई की नकल (भद्दी नकल) कर रहे हैं जिसने Mary Price को कई दफ़ा पूरे सर्वनाश से बचा दिया। सम्भव है कि गोस्वामी जी इसी राह पर चलने Rosa Lambert की नकल करने की बहादुरी लूटकर हिन्दी-साहित्य को गन्दा करें और लीलावती की बहन का हाल देने की उनने प्रतिज्ञा भी की है। एक धर्माचार्य की लेखिनी से—उस लेखिनी से जो जुबिली का अभिनन्दन देती बेर

किसी वैष्णव समाज के प्रेसीडेन्ट की कलम बन जाती है—ऐसी घटनाएं निकलना हिन्दुओं के लिये, हिन्दी के लिये और साहित्यमात्र के लिये लज्जा की बात है ! जिन दिनों आजकल की ऐयारी की तरह Knight-hood का खब्त यूरोप को बरबाद कर रहा था, पादरी लोग उस स्रोत को रोकने के लिए उसके विरुद्ध धर्मात्माओं के चरित्राङ्कन करते थे ! क्या हमारे गोस्वामी जी पवित्र चरित्र लिख ही नहीं सकते ? क्या हिन्दी ऐसे कायरों की भाषा हो गई है जो मरे बादशाहों की बालाओं पर सच्चे-झूंठे कलङ्क मढ़ने और अबलाओं के कुछ कम धर्मनाश की कहानियां ही सुना करें ? हमारा स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की तरह भले ही सुना न जाए, किन्तु हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि हिन्दी-पाठकों को इन प्रपञ्चों के विरुद्ध अपील करें । इनके पक्षपाती कह सकते हैं कि अन्त में सच्चे का बोलबाला दिखाकर हम उपदेश करते हैं, किन्तु इसमें बड़ी भूल है, पुस्तकें आज-कल जो काम कर रही हैं वह बड़ा भारी है । जगद्गुरु गद्दी के स्वामी का जितना बल नहीं है उससे अधिक बल से पुस्तकें उपदेश कर सकती हैं । उदाहरण का फल भी बड़ा संक्रामक है । सौ पीछे ६० पाठकों के जी पर तो घटना बढ़ते ही वज्र लेप हो जाती है और वे परिणाम को नहीं देखते । मनुष्य की पापश्रवण-प्रकृति परिणाम से शिक्षा न लेकर यह कहती है—"अमुक पापी का पराजय अमुक चूक से हुआ, हमें उससे बचना चाहिये ।" अन्त की दो पंक्तियों में दौड़े-दौड़े पापी को मारने और बीच के अध्यायों में पाप-कथा लिखने का फल कब अच्छा होगा ? बीमारी का हाल जानना ही रोग है, बीमार ही रोग के वर्णन में रीझते हैं । पाप के मार्गों का जानना ही बुरा है, उस रहस्यों से परिचय होना ही पाप है । "मुख्यस्तू पाय एतेषा निदानं परिवर्जनम्" इलाज से रोकना अच्छा है । पोप कवि ने खूब कहा है—

दुरकर्म हैं एक महापिशाच,
कुरूप है ताकहं सर्व गात ।
निहारते मात्र घृणा अवश्य,
अत्यन्त ते ही करते मनुष्य ।
देखें जु ताको हम बारबारा,
तद्रूप से ह्वै परिचै हमारा ।
सहन करें तत्स्थिति को दया से,
सप्रेम आलिंगन दें हिया से ।

—Pope's Essay on Mars

गोस्वामीजी के ग्रन्थ सभ्यसमाज में कदापि अमर नहीं हो सकते, यदि वे इस रीति का यों ही अनुसरण करते रहें ।

'तारा' उपन्यास में स्थूल भूलें ही बहुत हैं। नायिका तारा विचारी अबोध बालिका है जो बात-बात में रम्भा के हाथ की गुड़िया बनी है। रम्भा के प्रौढ़ छलों में जिस भोलेपन से वह मिल गई है वही असम्भव और सन्देहजनक है। इस 'आओ बैल मुझे मारो' ढंग से म्लेच्छो में कूदना नई बात है। और फिर इस भोली कन्या से रसीले कवि ने वह पक्की चिट्ठी लिखाई है कि वाह !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

●

(2) 'समालोचक' होना सहज कथा नहीं है। जौन्सन साहब की कुर्सी पर बैठना कठिन कार्य है। समालोचक का चित्त उदार और माथा विद्या-बुद्धि का आगार चाहिये। —बिहारबन्धुः १५।८।०३

गत वार प० किशोरीलाल गोस्वामी जी के उपन्यासों पर जो नोट लिखा गया था उसमें एक भूल रह गई है। चपला की लज्जा नहीं बेची गई है, किन्तु उसकी वहन सौदामिनी और कामिनी का सतीत्व गन्दी तरह खतरे में लाया गया है। अब हम चपला के प्रकाशित दो भागों के चरित्रों की समीक्षा में कुछ लिखने में समर्थ हैं।

प्रथम तो यही पूछना है कि उपन्यास का नाम 'चपला' क्यों रक्खा गया ? चपला के विवाह की रात को उसका बर लापता हो गया और जब उस कुटुम्ब पर आपत्ति आई तो कोई चपला को उड़ा ले गया ! बस, इसके सिवाय चपला का उपन्यास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। दो भागों तक प्रधान नायिका back ground नेपथ्य में रखी गयी है, आगे भी हमें यह आशा नहीं होती कि दो भागों में गोस्वामी जी उसी-उसी की बात कहेंगे। और भी तो कई झमेले सुलझाने हैं। हां, उपन्यासों की नायिकाओं के लिये गोस्वामी जी ने नये नियम बनाये हों, तो क्या कहना !

अब, दुर्भाग्य के मारे शंकर प्रसाद और योगमाया को छोड़कर बाकी चरित्रों को तो जरा तोल देखिये।

हरप्रसाद : शंकर प्रसाद का ज्येष्ठ पुत्र, भला और योग्य, माई की नौकरी लगवाता है, किन्तु उस पर नोट चुराने का कलंक वा सन्देह होता है। बड़ा ही गम्भीर है, कर्ज़दारों को नहीं गिनता, किन्तु घर पर आपत्ति का पहाड़ टूटते ही सती स्त्री (जिस से वह कई बातें छिपा रहा था) और अनाथ वहनों को छोड़ भागता है। कैसा असम्वद्ध चरित्र है !

शिवप्रसाद : भाई की भक्ति से, उस पर नोट की चोरी का सन्देह होने पर भी, स्वयं आपत्ति ओढ़ता है, और इस निःस्वार्थता के कारण जेल जाता है !!

मालती : हरिप्रसाद की स्त्री आदर्श हिन्दू रमणी, पति को देवता मानकर विश्वास करने वाली। अपना गहना कील-कील बेच देती है, अनाथ ननदों को सम्भालती है, किन्तु पति का विश्वास नहीं पाती और क्षय रोग से पीड़ित होती है।

सौदामिनी : बालविधवा ननद शोहदों के द्वारा छेड़ी जाती है, चाचा के द्वारा बेइज्जत होती-होती बचती है, सत्यानाश करने वाले श्रीनाथ और कमलकिशोर को चकुमा देकर भागती है।

कामिनी : राक्षसी कन्या होने के कारण कुमारी। हरिनाथ के अंगप्रत्यङ्ग-चुम्बन को सहन करती है और श्रीनाथ कमलकिशोर के द्वारा नंगी की जाकर दैवी कला ही से हरिनाथ के द्वारा बचाई जाती है!

हरिनाथ : एक good for nothing निखट्टू, सिड़ी, धनी आदमी जिनके हृदय में दया है, किन्तु असभ्य देह में छिपी हुई। सन्देह होता है, उनकी दया स्वाभाविक न थी, किन्तु कामिनी के अंगप्रत्यंग-चुम्बन के खरीदने का उपाय था क्योंकि वे एक ब्राह्मण को लत्ताप्रहार कर चुके हैं। वे बड़ी पैरवी करते हैं असहाय कुटुम्ब के ईश्वर हैं, किन्तु सिड़ी की तरह विलायत भागते हैं। कामिनी को पाशविक अत्याचार से बचाते हैं।

श्रीनाथ : दुराचारी, लम्पट, नरपशु।

नवलकिशोर : नरपिशाच, उसका मित्र, तथैव च।

रमानाथ : शराबी, भ्रष्ट।

गुलाब : रमानाथ की स्त्री, रमानाथ के व्यभिचार का बदला लेने के लिए नौकर कमीने संभू से फंसती है। (सबसे गंदा अंश)

चमेली : गुलाब की ननद। दुराचारिणी, नेहर में रहकर बिगड़ी हुई, पति का स्पर्श उसे कांटे-सा मालूम होता है। योग्य पति को छोड़, औरत पुत्र को फैंक, एक शोहदे के साथ उड़ जाती है, जो उसका रेल ही में सर्वनाश कर देता है।

मदनमोहन : चमेली के पति। योग्य दयावान् किन्तु उनको गृहस्थ सुख नहीं है, घर छोड़ कर भागते हैं।
(उनकी बहन उनको चाहती है ! ! ! !)

ललिता : मदनमोहन की सम्बन्ध में बहन, किन्तु उसको अपना हृदय अर्पण कर चुकी है ।

बुधिया की मा : स्वामिभक्त किन्तु वाचाल ।

अब हम सबसे पूछते हैं कि इन चरित्रों में क्या कोई एक भी ऐसा है जिससे हमारे हृदय को आमोद मिले, जिससे मन प्राण ऊंचा उठे, जिनको दिखाकर गोस्वामी जी अपने कर्त्तव्य के अनुसार हमारे से मोरी के रेंगते कीड़ों को उन्नत करें ? कोई भी नहीं, हां दो तो रह ही गए—

कादम्बिनी : भोली भाली, शायद हत्यारे को प्रेम करती है ।

व्रजकिशोर : उदार राजा का पुत्र, किन्तु शायद नरहत्या करने वाला ।

हरप्रसाद एकान्तवासी होता है, मदनमोहन पिशाचिनी स्त्री से जोड़े जाकर भागते हैं, सती मालती मरी जाती है, विधवा सौदामिनी को दो दफ़ा ईश्वर बचाता है । यह क्या लीला है ? यह क्या ग्रन्थकार का कर्त्तव्य-पालन है ? एक भी चरित्र ऐसा नहीं है जिस पर हमारी नज़र टिके, जिसके सुवास में हम श्रीनाथ प्रभृति की दुर्गन्ध से अपना पिण्ड छुड़ावें ।

गुलाब का लम्प बुझाकर संभू को अपने पास लिटाना, बटुकप्रसाद का चकुमा, चमेली का रेल में सर्वनाश, कामिनी का नंगा किया जाना, ये चित्र बड़े ही गन्दे हैं । इनसे कौनसा Inspiration होता है ?

हां, क्या गोस्वामी जी यों चलते-चलते चारों बहनों को बचा देंगे, वा Requoted की तरह एक को किसी की खानगी बनाकर मानेंगे ।

गोसाईं जी ने एक टन्टा और छेड़ा है, ललिता का अपने भाई से प्रेम । यहां वह सब broken heart बगैर बातहें आ जाएंगी ।

एक और मज़ा देखिये—संसार का सबसे बड़ा जो रहस्य है, जिस तत्त्व पर ही ईश्वरवाद की जड़ है, उस 'यतो वाचो निवर्त्तन्से' विषय पर, अर्थात् पाप-पुण्य का बदला यहां क्यों नहीं मिलता, इसपर गोस्वामी जी एक जगह कहकहा लगाते हैं ।

किन्तु हा ! अजब संसार की रीति है ! जिन लोगों का धर्म और ईश्वर पर इतना अचल विश्वास है वे क्यों इतना दुःख उठाते हैं, इसका मर्म कुछ समझ में नहीं आता (चपला, भाग २ पृष्ठ ४५) चपला के अभी दो भाग और निकलने हैं, और हमें उनके बारे में और असम्बद्ध चरित्रों के बारे में बहुत कुछ कहना पड़ेगा क्योंकि भारतेन्दु के **नाटक** की तरह गोस्वामी जी एक उपन्यास का ग्रन्थ लिखने वाले हैं ! !

गोस्वामी जी महाराज से हमारा निवेदन है कि वे बुरा न मानें । हम जो कहते

हैं सो उनके ग्रन्थ पर, उनके लिए हमें आदर हैं। जब वह गम्भीर लेख लिखते हैं तो वसा लिखने वाले बहुत थोड़े मिलते हैं। किन्तु पाठको ! जिस कलम से लंका, कलिंगराज्य और गंगावतरण निकले थे, उसी कलम से यह सब निकलता देखकर हम कहते हैं—भली सूरत को छुपाते हो, बुरा करते हो !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

साधु संन्यासी

लाहौर के प्रोफैसर ओमेन ने इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखा है। पश्चिम में साधुत्व वा वैराग्य किसी काल में था, किन्तु भारतवर्ष में यह अस्थिज्वर की तरह जम गया है। इसका कारण यहां का जलवायु, मांस न खाना और जन्म से जाति मानने की प्रथा बताई गई है जिससे हिन्दू जाति भर का उत्साह लंगड़ा हो गया है। राजनैतिक परवशता के कारण से भी भारत में सदा से साधु-हैं। विदेशी चाहे उन्हें देखकर घृणा करैं, किन्तु वे प्राची के चिह्न स्वरूप हैं। पाश्चात्य, हीरे-मोती वाले राजाओं को ही भारतवर्ष का आदर्श मानें, किन्तु साधु-फकीर वा साध्वी ही भारतवर्ष के सच्चे आदर्श हैं और उनका यहां बड़ा आदर और प्रभाव है। अवश्य ही इनके होने से देश की उत्पादक शक्ति का विनाश करके मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ती है, किन्तु यह शान्ति का आदर्श भारतवर्ष की जड़ तक गया है और पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से मिट नहीं सकता। यद्यपि साधुत्व अच्छी बात नहीं है किन्तु क्या अमेरिका का हाय टका, हाय टका अच्छी बात है ? अतएव ग्रन्थकार को आशा है कि भारतवासी देह और मन की शक्ति से यूरोप के जीवन के अनुकरण में असमर्थ होकर इस शान्त, लघु भोजनी साधुत्व को न छोड़ेंगे (जिससे विदेशियों को यहां काम करने की किसी प्रकार की रुकावट नहीं मिले)।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

ग्लैडष्टोन का जीवन-चरित्र

जानमार्ले नामक विद्वान ने सुप्रसिद्ध राजनीति-विशारद **ग्लैडष्टोन का जीवन चरित्र** लिखा है। वह तीन जिल्दों में २००० से अधिक सूक्ष्म टाइप के पृष्ठों में छपा है और उस में दो तीन लाख ग्रन्थ, लेख, प्रभृति की सहायता ली गई है। मार्ले साहब ने बड़ा ही परिश्रम किया है। धन्य ! धन्य ! ! धन्य ! ! !

●

प्रवासी की शारदीय संख्या में गुजराती साहित्य पर एक बहुत अच्छा लेख है। बंगालियों को पंजाब के शीत प्रान्त में उपनिवेश बनाने का परामर्श दिया गया है। धन्य है सम्पादक को जिनने हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों पर कुछ लिखा। अनुवाद की आज्ञा लेने में बड़ी कठिनाइयां पड़ती हैं इनसे कई लोग बिना आज्ञा ही लिखना स्वीकार करते हैं। अवश्य ही यह लज्जा की बात है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

छपी हुई व्यवस्था

काशी से पण्डित केशव स्वामी ने हमारे पास एक **छपी हुई व्यवस्था** भेजी है। इसमें आपस्तत्व मदनरत्न के एक-एक वाक्य के सहारे से सिद्ध किया गया है कि जो द्विजाति उपनयन-संस्कार न होने से व्रात्य हो गए हैं, व्रात्यस्तोम के बजाय द्वादशवर्ष ब्रह्मचर्य महाव्रत वा उसका अनुकल्प ३९० गोदान करके पुनः संस्कार करा सकते हैं। इस पर काशी, वर्द्धमान, दरभंगा और बूंदी के कई पण्डितों के हस्ताक्षर हैं। प्रायः वर्ष भर होता आया, यही व्यवस्था 'प्रत्तिसम्मति पांच रुपया दक्षिणा' के साथ जयपुर के पण्डितों के पास भी आयी थी, किन्तु उनने इस पर सम्मति न मालूम क्यों न की। अच्छी बात है, यदि सुगम उपायों से भी व्रात्यों को उपनीत करने में ब्राह्मण समर्थ रहें। अन्त में लिखा है कि "इन दिनों व्यवस्था को भी लोगों ने जीविका बना रक्खा है, इस हेतु यह छपाई जाती है।" यदि इसके छपाने से (औरों को दक्षिणा से वंचित न करके) व्यवस्था को जीविका बनाना लोगों ने छोड़ दिया है तो ब्राह्मण-कुल का और काशी के कोविदों का गौरव ही है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

केनो

"हवाई नाव दी एलेक्ट्रिक एयर—केनो नामक अंगरेजी उपन्यास : बाबू गंगाप्रसाद गुप्त अनुवादित।"[1] भारतजीवन, ९६ पृष्ठ, चार आने।

पाम्प और वार्न नामक नौकरों के साथ, बिजली की हवाई नाव पर सवार होकर, जूम हीरों की घाटी को जाता है। राह में गुब्बारे को बचाकर, बिजली से एक शेर को वश कर, जंगलियों का धन्यवाद लेकर, वे पानी के लिए उतरते हैं और अज़दहों द्वारा नष्ट होने से शिकारियों के आक्रमण से बचाए जाते हैं। हीरों की घाटी में गुरिल्लों से लड़ना, जंगलियों के दगे में आकर उन्हें दगा देना, दो जंगली जातियों का लड़कर हीरों की घाटी को वहा देना, और हमारी पार्टी का थोड़े से हीरों में सन्तुष्ट होकर लौटना बताया गया है। राह में गुब्बारा टूट जाता है और वे कठिनाई से घर पहुंचते हैं।

कहानी अच्छी है। सरल भाषा में कही गई है। अमेरिका वाले डींगें मारने में बड़े निपुण होते हैं, किन्तु घटना उतनी असम्भव नहीं है।

प्रथम पृष्ठ में "कहानी दक्षिण अमेरिका देश की है।···रीड्स टाउन" कह कर रीड्स टाउन दक्षिण अमेरिका में बताया जान पड़ता है। पृ० २ में ब्रेजिल (अफ्रिका) लिखा है किन्तु (पृष्ठ ११) 'दक्षिण में' मैक्सिको की खाड़ी (कहां से ?) वेजुला प्रभृति से और पृष्ठ १७ से मालूम होता है कि वे उत्तरी अमेरिका से चले हैं और घटना दक्षिण अमेरिका में हुई है। यह तिलिस्म तो है ही नहीं कि मन में आया सो बक दिया। भाषा के कुछ नमूने यों ही चुनकर रख दिये जाते हैं—आश्चर्यप्रद चीज़ (२), हर एक कलों में (३), पहिया चर्चराकर घूमने लगी (४), चिड़िये की तरह (४), घातक लड़ाई (५), लुक्क की तरह (?) (६), सांघातक चीता नाखून और दन्तरहित हो गया (२८), चिड़ियां चुहचुहा रही थीं (३२), गुरिल्ले ने अपने निर्जीव प्रतिद्वंदी को अपने से बलिष्ठ पाया (५१), गली सर्दार (६०), उद्योगे सफलः कार्यः (७०) इत्यादि। कहीं-कहीं खिचड़ी भी है।

पृष्ठ ५८ "पहचान लिया कि ये खोपड़ियां ककेशिया देश के लोगों की हैं।" अनुवादकर्त्ता मूल को (जहां Caucasians होगा) नहीं समझे। मजूटे प्रभृति अमेरिकन नस्ल के हैं, यूरोपीय एशियायी काकेशस गिरि से जाने के कारण 'काकेशियन' कहाते हैं। उनकी नस्ल भिन्न होने के कारण यों लिखा गया है, न कि 'ककेशिया' कोई देश है जिसका वहां सम्बन्ध हो।

अनुवादकर्त्ता इस उपन्यास को बहुत काम का बना देते यदि पिकारी प्रभृति

१, अन्वय क्या है ?

जन्तुओं का सूक्ष्म वर्णन, बिजली की शक्ति के उपाय प्रभृति लिखकर 'खेल में सिखाना' शुरू करते ।

घड़ों (पृ० ३५) और बिजली की सनसनाहट का हाल कुछ बढ़ा देना था। बिजली का विचित्र प्रभाव (पृष्ठ २७) कुछ अतिरंजित जान पड़ता है। बिजली का current जाने से convulsion होकर muscles रुक जाते हैं, मृत्यु हो सकती है, किन्तु conductor कैंची से वेहोशी में नख कैसे काटे गए। किन्तु यह बात मूल की है, अनुवादकर्त्ता को कुछ नहीं कहना चाहिए। जिनके कि कदाचित् सारानुवाद ही किया है।

तिलिस्म की निर्जीव कथाओं के पढ़ने की अपेक्षा इन विचित्र उपन्यासों के पाठ से, विचित्र घटना जानने के सिवाय, यूरोपीय जातियों के साहस, उत्साह, अन्वेषण प्रभृति के जानने से हमारे मृत समाज की नसों में नई शक्ति प्रविष्ट हो सकती है। मान लीजिए कि यह यात्रा हवाई नाव में नहीं हुई, किन्तु ऐसी यात्राएं वैलून पर, रेल पर, नाव पर वा पैदल, ऐसे ही फलों के लिए होती हैं।

पत्रों ने बाबू गंगाप्रसाद गुप्त को होनहार नव-युवक लिखा है। उन्हें उचित है कि तिलिस्म में अपनी कलम को न बिगाड़ कर 'वैलून में चार मास' आर्टिक अन्टार्टिक समुद्रों की खोज, उत्तर दक्षिण ध्रुवों की खोज, समुद्र के नीचे ४०००० फुट, प्रभृति विषयों के ग्रन्थ लिखना शुरू करें। यह सब इतिहास होने पर भी उपन्यासों से कम रोचक नहीं हैं। उसके बाद जीव, जन्तु, तरु, पत्र, प्रभृति प्रकृति की सुन्दरता का वर्णन करके हिन्दी पाठकों को सच्ची विचित्र बातों में प्रेम कराया जाय। तब पाठकों की रुचि उपन्यासों से हटकर वैज्ञानिक वृतान्त और ग्रन्थों पर आ जायगी।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

कालनिर्णय

कालनिर्णय—श्रीनारायण पाण्डे बी० ए०, मुजफ्फरपुर रचित, पृष्ठ ४०, तीन आने।

यह वही ग्रन्थ है जो समाचारपत्रों में पं० नारायण पांडे और बाबू अयोध्या-प्रसाद में परस्पर लड़ाई का कारण कहा गया है। विचारा ग्रंथ वास्तव में इस

लड़ाई से निर्दोष है। पृथ्वी पर सब स्थानों में सूर्योदय, मध्याह्न वा सूर्यास्त एक साथ नहीं होता। इससे एक जगह का समय दूसरी जगह के समय से भिन्न होता है। इस ग्रन्थ में प्राय: ५५० नगरों के देशान्तरमान की सारणी दी गई है और उससे किसी एक स्थान का समय जानने से दूसरे स्थान का समय जानने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। देशान्तरमान पटने से किया गया है, यह बात नई किन्तु अनावश्यक है। पांडे जी का परिश्रम अच्छा है और उन्हें उचित है कि ऐसे सर्वोपयोगी वैज्ञानिक लेख लिखें। भाषा सरल है।

रही पांडे जी और बाबू साहब के झगड़े की बात, सो प्राइवेट होने के कारण हमें उससे कोई मतलब नहीं। किन्तु कहा जाता है कि यह समालोचना के कारण हुई है अतएव हमने इस बारे में कुछ कागज़ पढ़े। हम तो यह समझे —

बाबूसाहब—मेरी समालोचना से चिढ़कर पांडे जी ने हमारी भौजाई-भतीजे को बहकाकर मुकद्दमा चलाया।

पांडे जी महाराज—कालनिर्णय छपने से वर्ष भर पहले से बाबू साहब मेरी और मेरे भाई की बेइज्जती पर उतारू थे। उनने इन्सपेक्टर को मेरा डिप्लोमा छीनने ने लिए लिखा। दो बार मेरे भाई पर फौजदारी दायर की जो झूंठी सिद्ध हुई। स्वभाव इनका बहुत रूखा है। 'कालनिर्णय' प्रकाशित होने के दो दिन पूर्व ही इनके दीन भतीजे ने जज साहब से अपनी दुर्दशा कही और मुकद्दमा चला। मेरे भाई ने उसमें गवाही मात्र दी। हमारा इससे कोई सम्बन्ध नहीं।

बाबू साहब—१८ सितम्बर को फिर मुझ पर झूंठा मुकद्दमा दायर कराया गया।

पांडे जी—इससे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

सब लोग समझ जायं, इससे हमने इनकी बातों को संवाद रूप में रक्खा है। वास्तव बात क्या है सो हम न तो जान सके और न कह सकते हैं किन्तु बाबू अयोध्याप्रसाद ने ता० २८ जुलाई १८९७ में जो 'कालनिर्णय' की समालोचना की है उसमें कुछ शब्द बहुत बढ़िया हैं, जैसे—"बी० ए० बबुआ का अरबी में उसी कदर दखल है जिस कदर जलजन्तु का खुश्की में" —"आप तो हिन्दुस्तान में रहते ही नहीं हैं···देशी मुर्गी विलायती बोल"। फिर 'प्रयाग समाचार' और 'वेंकटेश्वर' की रायों को छपाकर बाबू साहब ने बंटवाया है, उनके चौतरफ यह सुन्दर कविता लिखी है—

अधिक लंठता अब तक किये। कलम काम लाठी से लिये।
छोड़ो ये अनुचित व्यवहार। चलो तनिक सा होश सम्हार॥

लिखने की शक्ति नहीं आई। झूंठे बी० ए० डिगरी पाई ।
नारायण करतूत विचार । धिक्कारे जग सौ सौ वार।।

उधर 'बिहारबन्धु' में बाबू साहब साफ-साफ 'कुसंग' कहकर सर्वसाधारण का मन फिराने का यत्न करते-से दिखाई देते हैं। ईश्वर जाने बात क्या है, किन्तु बाबू साहब का स्वभाव बहुत तेज़ है इसमें कोई सन्देह नहीं। यह तेज़ी समालोचना के पीछे अशिष्टता दिखाने वालों के कारण भी हो सकती है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

प्राचीन हिंदी पोथियों की खोज-रिपोर्ट

Annual Report on the Search for Hindi Manuscripts for the year 1900 by Syam Sunder Das B. A.
(Government press, Allahabad, 1903. Rs. 5.8 or 8s.)

सरकार (युक्त प्रदेश की) 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को प्रति वर्ष ५००) प्राचीन हिन्दी पोथियों की खोज के लिए देती है। उस सहायता से सभा ने सन् १९०० में नया काम किया, इसकी रिपोर्ट, खोज के सुपरिन्टेन्डेन्ट बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० की लिखी सरकार ने अब छपवाई है। इससे जान पड़ता है कि १६९ पोथियों की नोटिस की गई है, जिनमें १५७ पोथी ९० ग्रन्थ-कारों ने रची थीं। बाकी के कर्ताओं का पता नहीं। ज्ञात कर्त्ताओं में दो बारहवीं शताब्दी के, दो चौदहवीं, एक पन्द्रहवीं, बाईस, सोलवीं, अठारह-अठारह सत्रहवीं और अठारहवीं, और बारह उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। इस खोज से जो प्रधान बातें सिद्ध हुईं, वे ये हैं—१. तुलसीदास जी की 'रामायण' की १६४४ की लिखी एक प्रति मिली, जिसके आधार से इण्डियन प्रेस का नयनाभिराम संस्करण हुआ है। २. मोलिक मुहम्मद जायसी के मुकाबले में शेख कुतबन की 'मृगावती' के मिलने से सिद्ध हुआ कि प्राचीन हिन्दी कविता में देवचरित्र युग ही नहीं, उपाख्यान युग भी था। रासौ-युग (मारवाड़ी सदृश), उपाख्यान युग (जायसी और उर्दू से मिलता हुआ) और भक्ति-युग (वृज भाषा) की कई नई पोथियां मिली हैं। ३.

चन्द बरदाई के रासौ की कई प्रतियों और पृथ्वीराज के काल के पट्टों से उस भारतवर्ष के अन्तिम महाराज के समय-निर्णय की नई सामग्री मिली है। ४. 'बीसलदेव रासा' से बीसलदेव और विग्रहराज एक व्यक्ति नहीं थे, यह सिद्ध हुआ। बाबू साहब की भाषा बहुत सरस और प्रांजल है, और इस रिपोर्ट के स्वर को देखकर पूरी आशा होती है कि वे अच्छे ऐन्टिक्वेरियन (पुरातत्त्ववित्) बन जायंगे। इस रिपोर्ट में लिखे कई ग्रन्थों को 'नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला' में प्रकाशित करने का विचार है। विशेषतः पृथ्वीराज के काल-निर्णय में जो अनन्द सम्वत् वाली युक्ति दी गई है, उससे अन्तिम हिन्दू नरेश और प्रथम हिन्दी महाकवि के समय-निर्णय का मार्ग प्रायः निष्कण्टक ही हो गया है, और तब तक ऐसा रहेगा जब तक रासौ-कृत्रिमतावादी बाबू साहब के मत को खंडन न कर सकें। रासौ और बीसलदेव के कालनिर्णय के लेख 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में छप चुके हैं, और अंग्रेजी न जानने वाले इतिहास-प्रेमियों को वहीं से अवश्य पढ़ने चाहिए। सभा का यह कार्य बड़ा लाभदायी है। और, आशा है कि सरकार की सहायता से १०-१२ वर्ष का काम झटपट होकर हिन्दी-साहित्य के 'इतिहास' लिखने की सामग्री मिल सके। जब प्राचीन राजपूतानी भाषाओं को भी हिन्दी का प्राचीन रूप माना गया है, तो तिर्हुता और पुरानी बंगला की बृजभाषा सदृश कविताओं का अनुसन्धान क्यों नहीं किया जाता जिससे कर्म-क्षेत्र का विस्तार हो ? इस खोज में हम कोई दोष निकाल सकते हैं तो यही कि रिपोर्ट बड़ी देर से छपी है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १६०४ ई०]

चीन दर्पण

बैठ कर सैर मुल्क की करनी, यह तमाशा किताब में देखा।[1]

जिस समय बोअर युद्ध के होते-होते 'टाइम्स' ने उसका प्रकाण्ड इतिहास प्रस्तुत किया उस समय हम चुप रहे। उर्दू में स्पेन की मुसलमान बादशाहत

१. चीनदर्पण, डाक्टर पण्डित महेन्द्रलाल गर्ग लिखित। उससे...नं० पल्टन झेलम के पते से प्राप्तव्य। पृ० २७६, मूल्य : १।) सुखसेचारक प्रेस, मथुरा।

का हाल देखकर हमने नेत्र नीचे कर लिये किन्तु जब बंगला में ट्रान्सवाल युद्ध का वर्णन और पन्ना-नरेश की राज्यच्युति छपी, तो हम हाथ मल-मल के पछताने लगे और आंखें मल-मल के सोचने लगे कि जगत् का क्या होगा ! चीन में गत-वार जो वाक्सर-विद्रोह हुआ था, वह हमारे लिए अच्छा ही हुआ, क्योंकि वहां जाने से दो भारतवासियों ने हिन्दी भाषा को दो ग्रन्थरत्न उपहार देकर भाषा का कंकला मिटाया है। ठाकुर गदाधर सिंह ने 'चीन में तेरह मास' लिखे और डाक्टर महेन्द्रलाल गर्ग ने आँखों देख, कानों सुन और पुस्तकों में पढ़कर 'चीन दर्पण' लिखा। चीन की इस चर्चा के चतुर चितेरों ने बड़े चाव से अपने प्रवास का बदला अपनी जन्मभूमि और मातृभाषा को दिया, इसका हम उन्हें क्या प्रत्युपकार करें ? अब भी कई भारतवासी विदेश-यात्रा करते हैं, किन्तु अपनी रिपोर्ट देना उचित होकर भी नया काम है। बंग देश के एक संन्यासी स्वर्गवासी रामानन्द भारती ने हिमालय और तिब्बत की यात्रा का अपूर्व विवरण 'साहित्य' में छपवाया था। वह द्वन्द्वातीत व्यक्ति एषणात्रय के त्याग में भी, अपनी मातृभाषा को न भूला और उसके पास "एक खानि क्षुद्र नोट बुक छिलेन।" हिन्दी बोलने वालों में साधु, संन्यासी, कनफटे, भिखमंगों के काफिले मौजूद हैं, किन्तु उन्हें मुफ्त की भीख डकारने और न देने वाले को गाली देने के सिवा काम ही क्या है ? अस्तु।

'चीनदर्पण' वास्तव में चीनदर्पण है। इस ग्रन्थ के दोष हम पहले कह लें। छापे की भूलें रह गई हैं और छपाई साफ नहीं हुई। ग्रन्थकार ने भूमिका में कहा है कि "मेरे मिलने वालों में अपढ़ लोगों की संख्या अधिक है इसीलिए इसकी भाषा ऐसी सरल रक्खी है कि स्त्री और बच्चे तक समझ सकें।" उनका यह यत्न सफल न हुआ। 'खिजा के दिनों' (पृष्ठ १०) को कौन स्त्री और बच्चे समझेंगे ? सक्त (१२), खपा (१४), मश्शाक (२१), जिल्लत, (३२), तफावत (६५), परिश्तिण (५८), मखलूक (१८७), जबाल, तनज्जुली (१६८) प्रभृति शब्दों को जो बालक और स्त्रियां समझ सकें वे उनके पर्यायों को पहले समझ सकते। एक आध जगह वाक्य-रचना भी साफ नहीं है। यथा—"हाकिम इखितियार को पाकर मगरूर और रैयत को दुःख देते थे।" (पृष्ठ २४०)

किन्तु इससे कोई यह न समझै कि हम इस ग्रन्थ की निन्दा कर रहे हैं। हम सब लोगों को इस ग्रन्थ के पढ़ने और संग्रह करने की सम्मति देते हैं। इसमें चीन के सब दर्शनीय स्थानों का वर्णन है, सब विलक्षण रीतियों का वर्णन है, वहां का पूरा इतिहास है और इतनी सामग्री, है जिससे नेत्रों के सामने चीन का पूरा चित्र खिंच जाय। मनुष्य को मनुष्य का वृत्तान्त जानने की इच्छा होती है। चीनी केवल मनुष्य ही नहीं, हमारे परिचित हैं, सभ्यता में, रस्म-रिवाज़ में, धर्म

में, हमारा उनसे मेल-जोल है। और अब गर्ग महाशय के ग्रन्थ ने हमारी उनसे मित्रता करा दी है। इस ग्रन्थ के वर्णन का ढंग बहुत अच्छा है, भाषा सरल है और ऐसे वर्णनों का मुख्य गुण संक्षेप भी विद्यमान है। निर्जीव उपन्यासों के पढ़ने में जो आनन्द आता है उससे अधिक आनन्द इसे पढ़ने में होता है। इस रोचक पुस्तक को उपन्यासों के पढ़ने वाले भी पढ़ें, क्योंकि ऐसा आनन्द और कहीं मिलना कठिन है; गम्भीर लेखों के पढ़ने वाले भी पढ़ें क्योंकि ये सत्य घटनाएं, और तथ्य वृत्तान्त मनोरंजक ही नहीं; ज्ञानप्रद भी हैं। ग्रन्थकार को ऐसा उत्साह मिले जिससे वे ऐसे-ऐसे और भी नए ग्रन्थ लिखें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

भारतवर्ष का इतिहास

(मध्य हिन्दी। चित्र और छबि सहित। बंगाले के साधारण शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर स्विकृत, १९०२। चार आना)

जिस ग्रन्थ के टाइटल पेज पर इतनी अशुद्धियां विराजमान हैं उसे देखने की उत्कंठा को हम न रोक सके। सूची-पत्र से जाना कि इस ग्रन्थ में और और विषयों के सिवाय 'मुहम्मद गौरी', 'मुगुल शाहिनशाह', 'अकबर आजिम (महान्) और 'फ्रांसीसों (अः !) की अन्त्यम हार' का भी हाल है। स्पैलिंग तो शुरू हुआ। फिर "लार्ड कार्नबालिस और सरजान शोर दूसरा और तीसरा गवर्नर जनरल" वर्णित है वा हैं। नीचे "लार्ड मिंटो छटवां (छटा हुआ ?) गवर्नर जनरल" लिखा है। आगे क्या है सो जरा देखें --"मारहट्ठों की ताकत टुटन" (बवजन फिटन ?) फिर जाना जाता है कि इस ग्रन्थ-रत्न में "म्युनिसिपलिटियें" और "देसी रियासितें" भी वर्णित हैं। नकशों में अमुक तमुक के "समय की बृटिश इंडिया" भी है। टाइटल के चौथे पेज ने कहा कि "ऊपर लिखे हुए पुस्तकें मैकमिलन एण्ड को० लि० ७ ने नया चीना बाजार ष्ट्रीट कलकत्ते में मिलते हैं।"

इस पुस्तक में हमने कई चित्र ऐसे देखे जैसे कभी नहीं दिखाई पड़े थे। इसके लिए प्रकाशकों को धन्यवाद है। किन्तु कुछ आदमियों के नाम हम न समझ सके

जैसे—'मानसिघ', 'नुरजहां', 'गांव की सावधानता' (घास के बनाए एक ष्टेज पर कुछ आदमी बैठे हैं। पुस्तक कहती है कि यहां गांव की रक्षा के लिए बैठा—"मनुष्य द्वार पर की उड़ती हुई गर्द देखकर जान जाता था कि कोई लुटेरा आ रहा है" तो इस फिकरे का क्या अर्थ है ? गांवकतृर्क सावधानता, वा गांव के लिए सावधानता ?) शायद यह 'विलेज आउटलुक' का तर्जुमा है ! 'बाहादुरशाह', 'ड्यूप्ल', 'स्वार्ट क्लाइव' (रवसेआर्त्त ?), 'शाह आलम दिवानी क्लाइव को दे रहा है' (वहां दीवानी 'दे रहा है' का कर्म है, वा शाह आलम वा क्लाइब का विशेषण), 'रघुवा' (महाराष्ट्र इस सज्जन को 'राघव' कहते हैं और अंग्रेज 'रघोवा'। इस ग्रन्थ ने तीसरा नाम बताया है) 'फरंनवीस' (क्या किसी फिजी द्वीप वासी का नाम है ? इतिहास में फड़नबीस तो हुए हैं) 'टीपु' 'ठग मंडलि', 'सत्ती' (कितना भत्ता मिला ?) रंजीतासिंघ (पंजाब केसरी को दो घाव) 'डफरन'। चित्रों में भी यह स्पैलिङ की बहार हुई।

ग्रन्थ में कई जगह 'खांटी तरजुमा' (वङ्गालियों के 'अक्षरानुवाद' का नाम) विद्यमान है। ठीक जैसे मक्षिका स्थाने मक्षिका चिपकाई हो। आउटलुक की जगह 'सावधानता', 'मिडल बर्नाक्युलर' की जगह 'मध्य हिन्दी', 'जाइण्ट ईष्ट इण्डियन कम्पनी' की जगह 'मिली हुई पूर्वी हिन्दुस्तानी कम्पनी' तो पाठकों ने यहीं पढ़ा होगा। ये तर्जुमे ऐसे हैं जैसे कोई एलेगजैंडर पैडलर का तर्जुमा सिकन्दर विसाइती करैं।

ग्रन्थकारों का नियम है कि जिन विषयों पर मतभेद हो वहां दोनों पक्षों का कथन दिया करते हैं ! चाहे अपने मत को प्रधानता दिखावें, किन्तु विपक्ष मत को बिना दिये नहीं रहते। किन्तु वहां मानो हुक्म दिया जा रहा है कि आर्य मध्य एशिया से आए थे ! विधवा स्त्रियां विवाह कर लिया करती थीं ! उन हिन्दुस्तानी आर्यों के मूर्तियां न थीं ! ! ! अब तक हिन्दू हनुमान को बड़ा बन्दर-देवता समझकर पूजते हैं (पृ० ८)

प्रति पृष्ठ में स्पैलिङ की, भाषा की, भाव की गलती एक-न-एक मौजूद है। कयी (१८), इत्नी (१५), मस्हूर (१५), गलतियां हैं कि अपने यहां (३५), उनका चलन नहीं चाहिए।

"शाहजहांन् को उत्ना तुर्क नहीं कहना चाहिए जित्ना कि राजपूत" (२७-२८) नहीं समझे। लार्ड रिपन को देसी बहुत चाहते थे और वह भी इन पर बहुत मेहरबानी करता था (६०)।"

क्या इससे यह ध्वनि निकलती है कि अंग्रेज उन्हें नही चाहते थे ?

कुछ मुद्दत बाद कलकत्ते की गवर्नमेंट इण्डिया ने जब वह हाल सुना

(पृ० ५७) भिन्न टाईप के अक्षरों का क्या अर्थ है? क्या ऊँट के मण्ड में भी न्यारी गवर्नमेन्ट इण्डिया है ?

शिक्षा-विभाग को उचित है कि ऐसी पुस्तकों से किनारा कसै, नहीं तो इन्हें सुधरवा लेवैं ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

बाबू रामदीनसिंह की जीवनी

(जैनेन्द्रकिशोर लिखित, आरा नागरी प्रचारिणी सभा)

इस पुस्तक में हिन्दी के परम सहायक बाबू साहब का चित्र बहुत अच्छा है। जीवनी अति संक्षिप्त है। बिहारी सभा को बिहार के सर्वप्रधान हिन्दी हितैषी की ऐसी क्षुद्र जीवनी न लिखनी थी। रामदीनसिंह जी के सुयोग्य पुत्र इस कलंक को धोवैं कि भारतेन्दु जी की जीवनी कई बरसों तक न निकालने के पाप के प्रायश्चित्त में उनके पिता की जीवनी भी नहीं निकलती। इस पुस्तक से हमें मालूम हुआ कि यह आरा की सभा वैद्यक भी करती है, क्योंकि उसने बाबू साहब के इलाज में जान (!) तक लड़ा डाली और और नागरी प्रचारिणी सभाएं कमा खाने की (!) ठीकरा है, इस कारण से बाबू साहब की सहानुभूति उनसे हट गई थी। काशी की सभा से बाबू साहब की सहानुभूति कैसे हटी, यह सब जानते हैं और हमें बड़ा हर्ष हुआ कि आरा की सभा कमा खाने का ठीकरा नहीं है। कैसा ग्रामीण और अनर्गल कथन है ! क्या 'प्रणेतृ समालोचक गण' यों बड़ों को गाली दिया करेंगे ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

आरा नागरी प्रचारिणी सभा का द्वितीय वार्षिक विवरण

इस सभा की उचित क्रमोन्नति को देखकर हम बड़े प्रसन्न होते हैं सही, किन्तु कुछ बातें हमें पसन्द नहीं हैं। मैम्बर बढ़ रहे हैं, आर्थिक सहायता दृढ़ होती जाती है, बाबू सालिग्राम और पण्डित लक्ष्मीशंकर मिलाए गए हैं, यह सब अच्छी बातें हैं। सभा के आगे अच्छा भविष्य है। दिल्ली में हिन्दी की कानफरेन्स करने के Quixotic विलल्ले प्रस्ताव को नागरी प्रचारिणी सभा ने रोका, किन्तु आरा वाले अश्रुतपूर्व चार व्यक्तियों का नाम क्यों लेते हैं? काशी की सभा ने मैक-मिलन की पुस्तकों के शोधन का यत्न और उद्योग किया, तो आरावाले भी एक पत्र लिखकर पांचवें सवार की टांग क्यों अड़ाते हैं? सभा के नियत किए विषयों पर ही पदक क्यों देते हैं? लेख-प्रणाली नई क्यों चलाते हैं? उन्हें उचित है कि प्रच्छन्न रूप से सभा से प्रतियोगिता न करके या तो प्रादेशिक हित करें, वा बड़ी सभा के कार्य को शाखा बनकर वा यों ही Supplement पूरित करें। यह संघर्ष हमे बिलकुल नापसन्द है। यों आरा न चलाकर मिलजुलकर काम करना चाहिए, जिसमें 'हितवार्ता' के शङ्खध्वनि लेखक को अज्ञान से "काशी की सभा आरा की सभा का अनुकरण करें" न कहना पड़े।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

जैनमत समीक्षा (आर्यसमाज, लाहौर)

इस ग्रन्थ से क्षुब्ध होकर स्थान-स्थान के जैनियों ने सरकार को प्रतिकार की प्रार्थना की है। क्या जैनी इतनी शताब्दियों में भी ब्राह्मणों की उस सहनशीलता को न सीखे जिससे वे 'शिरः श्वाकाको वा द्रुपदतनयो वा स्पृशतुः तत्' कह सकते और जिसे उनके प्रभु का 'वीतराग' नाम सूचित करता है? सबसे बड़े असम्भव और करामात को मानना ईश्वरवाद ही है, और स्वयं ईश्वरवादी होकर औरों को गाली देना कदापि अच्छा नहीं है। अवश्य ही अब ऐसे लोग नहीं होंगे जो किसी धर्म विशेष को ईश्वर का फैंका हुआ मानते हैं। धर्ममात्र मनुष्य के सर्वोच्च भाव हैं और सभी सच्चे और सभी झूंठे हैं। विशेष करके जैनधर्म को मद्यपान

और मांसाहार के प्रचार के कारण कहकर कलंकित किया है। इन दो कर्मों से, सूर्य के नीचे, जैनों से अधिक दूर कोई कदाचित् ही हो। आजकल जब जातीय एकता की जरूरत है तो ऐसे ग्रंथों का निकलना कदापि हितकर नहीं है।

स्वामी दयानन्द जी की योग्यता की बात तो उनके साथ ही गई, किन्तु वर्तमान आर्य समाज की इस सब धर्मों की निन्दा की ऋणात्मक क्रिया से धनात्मक धर्म रह गया है, उसके विषय में कालाईल ने वाल्टेयर महाशय को जो वाक्य कहे हैं उन्हें उद्धृत करके हम इस पुस्तक की चर्चा को दूर करेंगे।

"चुप रहो, मान्यवर वाल्टेयर महाशय, अपनी मीठी बोली को बन्द कीजिए, क्योंकि जो काम आपके सुपुर्द था वह पूरा हो चुका मालूम पड़ता है। इस महान् या तुच्छ साध्य को आपने बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि क्रूस्तान-धर्म के पुराण इस समय वैसे नहीं मालूम देते जैसे छठी शताब्दी में मालूम होते थे। बस अब क्या आपके छै और तीस चौपेजी, और छै और तीस हजार चौपेजी और 'शतपेजी' कागजों की गड्डियां जो तब और पीछे उसी विषय पर लिखी गई हैं, हमको इतनी थोड़ी-सी बात समझाने को लिखी गईं? किन्तु और क्या? क्या आप हमें उस धर्म की देवीआत्मा को नए पुराण में, नए वाहन और वस्त्र में रखने में सहायता दे सकते हैं जिसमें हमारी आत्माएं, जो और तरह नष्ट होती है, बच जायं? बस, क्या आप में वैसी शक्ति नहीं है? जलाने को पलीता तो हैं! किन्तु गढ़ने का हथौड़ा नहीं? तो हमारे धन्यवाद लें, और अपने को यहां से दूर ले जावें।"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

दो जीवन-चरित्र[1]

इन दोनों जीवन चरित्रों की साथ लेने के कई कारण हैं, जिनमें सब से पहला यह

१. कर्नल जेम्स टाड का जीवन चरित्र : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : खड्गविलास प्रेस बांकीपूर। ४० पृष्ठ। मू० : चार आने।
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित : श्रीराधाकृष्ण दास। तारा प्रेस। स्वदेशवस्तु प्रचारक कम्पनी २१ नं० बुलानाला, काशी। १८७ पृष्ठ। मू० : छै आने।

है कि दोनों ही हिन्दी-साहित्य के भूषण हैं। यदि 'कर्नल टाड कुलीन बिन क्षत्रिय यश क्षय होत' तो भारतेन्दु बिना हिन्दी क्या और कैसी होती इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। उदयपुर-दरबार से दोनों का प्रेम था। दोनों ने परिश्रम से भारतवर्ष की सेवा की और दोनों ने अल्पायु पाई। (टाड: १७८२-१८३५, ३६ वर्ष) (भारतेन्दु: १८५०-१८८५, ३५ वर्ष) यदि टाड साहब भारत संबंधी इतिहास के पिता हैं (पृ. ३९) तो भारतेन्दु ने हिन्दी को हरिश्चन्द्री ढाल में ढाला। इन दोनों ग्रन्थों में ही 'खंगबिलास' प्रेस की शिकायत है, भारतेन्दु जी की 'कला' को पूरी न करने की और जीवन चरित्र बीस वर्ष तक न छापने की; और टाड के राजस्थान का अनुवाद न छापने की। किन्तु हमें यह लिखते हर्ष है कि स्वर्गीय रामदीनसिंह जी के पुत्र ने अपने पिता के इन दोनों कार्यों को पूरा करना विचारा है, और संकल्पमय भगवान् इस संकल्प को, हम अभागों के सम्बन्ध से तो नहीं, पर उन दो 'विभूतिमान्' जीवों के सम्बन्ध से पूरा करा देवें। दोनों ग्रन्थों के लेखक भी ऐसे कि जो अपने-अपने विषय के अधिकारी हैं, और जिनसे अच्छा लेखक, उस विषय का, नहीं मिलता। उदयपुर इतिहास कार्यालय के अध्यक्ष, और टाड की भूलों को पकड़ने वाले हिन्दुओं के टाड ओझाजी से अच्छा टाड-चरित्र और कौन लिखता? भारतेन्दु जी की मण्डली के रत्नों में से बचे हुए बिरलों में उनके फुफेरे भाई से अच्छा उनका स्तुतिकर्त्ता कौन हो सकता?

टाड साहब ने इतिहास को भूलें, संस्कृत की अनभिज्ञता से की है। उनका जीवनव्यापी परिश्रम और विदेशियों के इतिहास के लिए प्राणान्त यत्न उदाहरण योग्य है। उनने राजपूतों की स्तुति की है, और अपने ग्रन्थ के समर्पण में उनको शस्त्राधिकार और स्वतन्त्रता देने के भाव जताए हैं। आज तक कोई भी योरोपियन वा देशी शोधक ऐसा भाग्यशाली नहीं हुआ कि ऐतिहासिक सामग्री-संग्रह करने में और परिश्रम में उनकी बराबरी कर सके (पृ. ३२) टाड साहब को अपनी प्रसिद्धि की तृष्णा न थी (३७) और ऐसों को होती ही क्यों? ऐतिहासिक लोग रूखे होते हैं किन्तु ओझा जी को भी अन्त में जोश आ गया है और अपनी सीधी भाषा में वे उसे यों प्रकाश करते हैं—"१७ वर्ष की किशोर अवस्था ही से उन्होंने संसार रूपी विषम समुद्र में प्रवेश कर उसकी तरल तरङ्ग के अनेक धक्के सहने पर भी पूर्ण साहस और अथक परिश्रम के साथ ३६ वर्ष के अल्पकाल ही में अपने कर्तव्य रूप नौका को किस तरह पार पहुंचाया। जीवन के प्रत्येक विभाग में यश और प्रतिष्ठा ने उनका साथ दिया पश्चिमी भारत के प्रामाणिक मानचित्र उनने बनाए और भारत के क्षत्रियों के पुरुषार्थ और किसी को जो पहले अन्धकार में पड़े थे उन्हें अपने महान श्रम से प्रकाश में लाकर उनके यश का प्रवाह संसार में फैला दिया।" देशियों के धर्म सम्बन्धी विचारों का वे पूरा आदर करते थे किन्तु

दुर्गुणों की बुराई करते थे। इसमें भी वह निर्भीक और उच्छृङ्खल भारतेन्दु के मत—'हरि पद मत रहे उपधर्म छूटै' को याद दिलाते हैं।

भारतेन्दुजी के इतिहास प्रसिद्ध और ब्रह्मण्य वैष्णव कुल का वर्णन ४६ पृष्ठों में है। सत्य है—"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो भिजायते।" बंग देश पर अंगरेजों का अधिकार कराने वाले किन्तु कृतघ्नता के छले सेठ अमीचन्द, पुराने पण्डितों की कथाओं में प्रसिद्ध दानी 'काले हर्ष चन्द' और 'बुढवा मंगल के दूलहे', सुकवि वैष्ण गोपालचन्द जी का भक्तिमय चरित्र पढ़ने लायक है। 'सरस्वती' में जो गोपालचन्द्र जी का और हरिश्चन्द्र जी का जीवन-चरित्र निकला था उसी में कुछ बढ़ाकर यह पुस्तक प्रस्तुत हुई है। पहले तो हमें राधाकृष्ण दास जी की शिकायत क्रोध से करनी है कि 'प्रताप नाटक' के पीछे आज उनने पुस्तक निकाली और फिर अपना करम ठोकना है कि बीस वर्ष पीछे एक छोटी-सी जीवनी निकली और वह भी एक घर के मनुष्य की लिखी! अस्तु, अब 'खंगविलास' और 'भारत मित्र' सम्पादक से आशा होती है कि वे लोग भी जो भारतेन्दु जी के गोलोकवास के पीछे जन्मे हैं, उस प्रातःस्मरणीय मूर्ति को धुंधली न देखेंगे। कैसा विलक्षण चित्र है, जो दूर होने पर भी अपना ही है! कहां तदीय समाज की प्रतिज्ञाएं और कहां पुरी की तहकीकात! कहां 'मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कवि हरिश्चन्द्र' कहना और कहां अपने चौतरफ नारि के फन्दों को जकड़ना! कहां ऋणजाल में उलझना और कहां वह अलिफ लैला की-सी उदारता! कहां भारत-नक्षत्र को गुरु मानना और कहां कर्तव्यवश उनही की निन्दा! विरुद्ध धर्मों का एकत्र रहना परमेश्वरांश इसी मूर्ति में देखा!!!

"यह महाशय भाषा के उत्तम कवि थे इस प्रकार के वाक्य लिखकर जो लोग आपके बिछोड़े पर शोक करते हैं वह हमारे प्यारे हरिश्चन्द्र की हतक करते हैं हम से यह सहन नहीं हो सकता। हम कहते हैं कि जो लोग प्यारे भारतेन्दु के विषय में इतना ही जानते हैं वह चुप रहे हैं ऐसे फीके वाक्य कहकर भारतेन्दु के चकोरों को दुःख न दें।" (पृष्ठ १०६)

भारतेन्दु-चरित्र का एक और पृष्ठ है, जिसे बाबू राधाकृष्णदास अंकित नहीं कर सकते और न भक्तों से इसकी आशा करनी चाहिए। भारतेन्दु जी के चरित्र की विलासिता को यद्यपि उनके गुण सन्निपात में ही हमें देखना चाहिए, तथापि निर्दोष केवल ईश्वर है इससे किसी और की लेखनी से उस चित्र को पाने का हिन्दी भाषा को हक है।

'नागरी प्रचारिणी सभा' को भारतेन्दु जी के हस्तलेख, मुद्रा प्रभृति जो कुछ मिल सके उन्हें खोजकर एक ग्लासकेस में रखना चाहिए। भारतेन्दु जी के मित्रों से एक हमारा प्रश्न है। 'नारदभक्ति-सूत्र' के विषय में कई लोगों ने कहा है कि

वह ग्रन्थ भारतेन्दु जी का रचा हुआ है अर्थात् पहले यह ग्रन्थ नहीं था। क्या वे इस बात का प्रमाण दे सकते हैं कि भारतेन्दु जी ने अनुवाद ही किया है, वा मूल भी उन्होंने बनाया है?

बड़े खेद का विषय है कि इस पुस्तक में छापे की भूलें बहुत रह गई हैं जिससे बढ़िया कागज और छपाई छिप गई है।

दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी हैं।

गीतार्थपद्यावली

मराठी में गीता का कई छन्दों में तात्पर्यानुवाद। शिवचन्द बलदेव भरतिया। निर्णयसागर प्रेस; चार आणे।

इसमें प्रथम दो अध्यायों को एक कर दिया गया है। कहीं गीता के श्लोकों का अर्थ बढ़ाया है और कहीं एक पद्य में कई श्लोकों का तात्पर्य रक्खा गया है। अनुवाद सुरस और मूल का अनुयायी हुआ है। छन्दों की बहुतायत से दार्शनिक ग्रन्थ की कठिनता हट गई है। हिन्दी वालों को इतने अधिक छन्दों का प्रयोग अवश्य चलाना चाहिए किन्तु कठोर खड़ीबोली में यह जरा कठिन काम है।

सुरसती के संक्षेप से उदाहरण—

प्रपन्नकल्पवृक्षातं तोत्रयेत्रधरा सदा।
ज्ञानमुद्रा नमी कृष्णा, गीतामृत सुदोहका॥
आत्म्याला जो जाणतो मारणारा
किंवा जाणे भृत्यु ते पावणारा।
ते दोघेही जाणतीना अशानं
आत्मा भारी ना मरे तो कशाने॥
सकलते कलते हरिला गती
विसरुनी सरुनी पुसुंलागती
नरमती रमती वरि तत्पदां
सुरकते करते सुखसंपदा॥

ज्ञानकाण्ड को उचित प्रधानता दी गई है।

[प्रथम प्रकाशन : मार्च-अप्रैल १९०४ ई०]

ब्रजविलास

मनुष्य ईश्वर की कल्पना मनुष्य ही के रूप में कर सकता है, और अपने अच्छे गुणों को अनन्तता तक बढ़ाकर ईश्वर की मूर्ति बनाता है। यदि घोड़ा भी जगदीश्वर की कल्पना करैगा तो उसे घोड़ा ही मानेगा, यदि वृत्त ईश्वर की भावना कर सके तो वह उसे वृत्त ही समझेगा। यही सिद्धान्त बड़े उदार भाव से हिन्दुओं की अवतार-कल्पना में भरा हुआ है, और लोगों की रुचि के अनुसार, 'विष्णुपुराण' और 'महाभारत' के श्रीकृष्ण, 'भागवत' और 'ब्रजविलास' के श्रीकृष्ण में परिणत हो गए। अंग्रेजी पढ़े श्रीकृष्णभक्त 'मैट्रिक्युलेशन लीला' और 'नकटाई-लीला' के क्षेपक ब्रजविलास में जोड़ेंगे या नहीं, यह तो भविष्यत् के हाथ है, किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भक्तों ने लीलाएं बनाई हैं। हमारे सामने जो पुस्तक है वह श्रीकृष्ण-भक्तों और हिन्दी कविता के प्रेमियों के आदर की सामग्री ब्रजवासी दासजी कृत 'ब्रजविलास' का जेबी संस्करण है जिसे बम्बई के निर्णयसागर प्रेस ने "अनेक पुस्तकों से अति शुद्ध कराकर और मुख्य-मुख्य क्षेपकों से अलंकृत !" किया है।

जिल्द बहुत बढ़िया है, छपाई बहुत साफ है, आकार अच्छा है, मूल्य बारह आने है। क्षेपकों के प्रेमी पाठकों के लिए क्षेपक खूब रक्खे गए हैं; किन्तु भविष्यत् संस्करणों में यदि प्रकाशक क्षेपकों को अलग छाप दिया करें, वा भिन्न टाइप में दिया करें तो साहित्य-प्रेमी बड़े प्रसन्न होंगे। कठिन शब्दों पर टिप्पणी दी गई है। पृष्ठ ३१ में 'जात कर्म' को 'जाति कर्म' छापकर उसका अर्थ 'नान्दी श्राद्ध' लिखा गया है। क्या आजकल के वैश्यों के विवाह के एक दिन पहले गले में रस्सा डालने की चाल पर ब्रजविरह और नन्दलीला के पीछे और 'रुक्मिणी चरित्र' के पहिले 'यज्ञोपवीत लीला' लिखी गई है ? महारास भी और 'कुबिजा' गृहप्रवेश भी, और उसके पीछे जनेऊ ! यह भी यहीं पढ़ा कि श्रीकृष्ण और राधा की 'सगाई' नन्द जी ने की थी !

यह संस्करण सुन्दर और उपादेय है। कविता की समालोचना यहां नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

करपल्लवी और गुप्तलेख

करपल्लवी में हाथों से बात करने की विधि, और **गुप्त लेख** में अक्षरों के उलट-फेर से अपना अभिप्राय दूसरा न जान सके—ऐसे हिन्दी लिखने की रीति है। दोनों पुस्तकें रोचक हैं। दूसरी में साइन्स की भी बातें हैं। मूल्य प्रत्येक का एक आना। मिलने का पता : ग्रन्थकार बाबू शिवप्रसाद, कैरेज डीपार्टमेण्ट, ई. आइ. आर. प्रयागराज।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

त्रैभाषिक व्याकरणशब्दावली

इसमें अंग्रेजी **खालकबारी बल्लभकोष** के रचयिता पण्डित ब्रजबल्लभ मिश्र ने अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू व्याकरण के समानार्थ शब्दों का संग्रह करने का यत्न किया है। अंग्रेजी व्याकरण के शब्दों के जहां पूरे अनुवाद न मिल सके वहां नए शब्द गढ़े भी गए हैं। हिन्दी और उर्दू को एक करने वालों का यत्न यहां विफल होता है, क्योंकि किसी अंग्रेजी शब्द का समानार्थ शब्द संस्कृत में या अरबी में ही मिल सकता है। यत्न बहुत अच्छा है। मूल्य चार आना कुछ अधिक है। छपाई लहरी प्रेस की है। ग्रन्थकार के पास, सामोद नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी, जयपुर के पते से मिल सकती है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

परमापंच प्रकाश

यद्यपि कई शताब्दियों से हम फारसी और अरबी भाषा पढ़ते रहे हैं तो भी हमने उनके प्रचुर साहित्य से अपना उपकार न किया। जब दाराशिकोह ने उपनिषदों का अनुवाद कराया, तो कुरानशरीफ़ का संस्कृत में अनुवाद क्यों न हुआ ? हिन्दी-

साहित्य में भी फारसी का 'दिवान हाफ़िज़' नहीं है, हां, 'शाहनामा' है। शेख-सादी की 'करीमा' फारसीप्रेमी मात्र के आदर की वस्तु है, और उसकी सरल किन्तु भावमय उपदेशावली सभी को मोहित करती है। इस ग्रन्थ में व्रजभाषा के दोहा-चौपाइयों में 'करीमा' का अच्छा अनुवाद हुआ है।[1] यदि यह अनुवाद खड़ी-बोली कविता में होता तो बहुत अच्छा होता क्योंकि व्रजभाषा नौसिखुओं के हाथ में उच्छृङ्खलता की पराकाष्ठा को पहुंच जाती है।

"इक समरथ विपद विलीना। इक सजीव इक जीवन हीना॥
इक निरोग इक कृशतनु रोगी। स्थविर एक इक यौवन भोगी॥
धर्मी एक एक रत पापा। कोई शुभयुत कोई छल व्यापा॥
इक सुकाजरत शुभमति धारी। इक निमग्न अघ सरित मंझारी॥"

बस, यही अनुवाद का नमूना है। तुकान्त के लिए शब्द मरोड़े-तोड़े भी गए हैं। अन्त में ग्रन्थकार की संस्कृत-कविता 'जीवदुर्दशाविंशति', 'शोकविंशति' और 'सिद्धनाथ-प्रशस्ति' है। वे भी अच्छी हैं—

तुलनापदवीं न कश्चन (!) तव मृत्यो भुवि यातुमीश्वरः
करुणारहिते विधौ भवान् विधिना केवल मादृतः पुरा।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

मोजफ्फरपुर हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण (१९०४ ई०)

सभा के ६ अधिवेशनों में लेख पढ़े गए। पुस्तकालय में ४९५ ग्रन्थ हैं जिसके लिए मुकुटधारणोत्सव पर कुछ धन कलक्टर साहब ने भी दिलवाया है। सभा ने यूनिवर्सीटी कमीशन के काल में कलकत्ते की सिण्डिकेट में बिहारियों के होने के

१. बाबू परमानन्द, एसिस्टेन्ट हेड मास्टर, टाउन स्कूल, आरा। सच्चिदानन्द सिंह प्रेस, आरा। १६ पृष्ठ। चार आने।

बारे में मेमोरियल दिया, और मैकमिलनी पुस्तकों की हिन्दी पर लिखा-पढ़ी की। सभासद ४६, आय २३२॥-) व्यय २२६॥)। मन्त्री नारायण पाण्डे बी० ए० बी एल० हैं जो कचहरी कोश बना रहे हैं। सभा को अपने नगर में एक अच्छा पुस्तकालय बनाना चाहिए, और काम तो होते ही रहेंगे।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १६०४ ई०]

हिन्दी व्याकरण

(केशवराम भट्ट कृत। बिहारबन्धु छापाखाना, बांकीपुर। १६२ पृष्ठ। आठ आना।)

"हिन्दी व्याकरण पढ़ने से हिन्दी ठीक-ठीक बोलना और लिखना आ जाता है।" —इस परिभाषा से हिन्दी के पुराने लेखक भट्टजी ने अपने अच्छे व्याकरण का आरम्भ किया है। एक परिहासप्रिय मित्र ने, इसे देखकर, हिन्दी व्याकरण की यह परिभाषा बनाई कि "हिन्दी व्याकरण वह मृगतृष्णा है जिसके पीछे 'हिन्दी ठीक-ठीक लिखना और बोलना जान' कर ही अच्छे लेखक दौड़ने लगते हैं।" संस्कृत व्याकरण के जटिल और सुश्रृंखल नियमों की चाल पर हिन्दी-व्याकरण बनाने के पूर्व कई बातों का विचार करना चाहिए। संस्कृत का सबसे प्राचीन और नियमित व्याकरण (जिसे व्याकरण का आदर्श भी कह सकते हैं) पाणिनि का व्याकरण है। उस प्रायः पूरे व्याकरण में यदि समय-भेद से प्रयोग-भेद के कारण कुछ परिवर्तन हुए तो वे कात्यायन और पतञ्जलि ने बढ़ा दिए, और वेदों के विरुद्ध इसी शास्त्र में यह वाक्य चला कि "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं।" इस तिहरी जकड़न में संस्कृत-भाषा का अङ्ग-भङ्ग हो गया और पतञ्जलि के पीछे के वैयाकरणों का इतिहास उन्नति का नहीं, अवनति का है। कई वैयाकरणों का यत्न पाणिनि के संक्षेप सूत्रों को और भी संक्षिप्त करने में रहा, आधुनिक समय में न्याय की गोद लेकर नवीन वैयाकरणों ने बाल की खाल खैंचना आरम्भ किया और यदि कोई नए रूपों के लिए नए सूत्र बने तो केवल एक यही कि "निरंकुशाः कवयः"। भाषा की लहलहाती बेल को धूप और बरसात से बचाने के लिए जिस ग्लासकेस में बन्द किया था, उसने भाषा की सांस घोंट दी, वा यों कहिए कि

बुढ़िया संस्कृत भाषा व्याकरण की लाठी के इतनी अधीन हो गई कि स्वच्छन्दता से चल-फिर न सकी। भट्टजी ठीक कहते हैं कि यदि—"संस्कृत भी आज प्रचलित भाषा होती तो पाणिनीय व्याकरण भी कभी ऐसा पत्थर की लकीर न होता।" (भूमिका, ६) और, प्रचलित हिन्दी भाषा में कोई व्याकरण वैसा होने का दावा नहीं कर सकता। व्याकरण की जड़ पर भाषा बढ़ती है सही, किन्तु यदि उन जड़ों को गिनकर, नाप-तौलकर, जांचकर बढ़ने से रोका जाय और अन्धकार में से निकालकर सबकी उंगलियों के नीचे रक्खा जाय, तो वे न बढ़ेंगी और बेल के बढ़ने की भी आशा नहीं करनी चाहिए। भाषा वही जो बिना सीखे आवै, जो व्याकरण को अपना दास न बनाकर उसकी दासी बन गई, जिसने ठोकरों से न गिरूं यह विचारकर ली हुई लकड़ी को अपनी अनन्य आधारभूता बैसाखी बना ली, उसे भाषा नहीं कहा जा सकता। लैटिन, ग्रीक प्रभृति भाषाएं अपने अन्तकाल में व्याकरण के परवश बनी हैं, और इसके विरुद्ध अंग्रेजी, फ्रेंच प्रभृति भाषाएं व्याकरण को अपने साथ नचाती हैं। परिवर्तन संसार का नियम है, और हिन्दी भाषा अभी जितनी छोटी है उसके देखते जिन डेढ़ दर्जन देशी और विदेशी वैयाकरण सज्जनों के नाम भट्टजी ने अपने व्याकरण की भूमिका में दिए हैं, उनका होना कम नहीं मालूम देता। कहीं इससे वही बात न हो कि जैसे नायिका-भेद के लक्षणग्रन्थ हिन्दी में बीसियों होने पर भी कोई लक्ष्यग्रन्थ, महाकाव्य नहीं, जिसमें उनका समन्वय हो सकै, वैसे ही व्याकरण के नियमशास्त्र तो रहैं, किन्तु लक्ष्य के न होने से हमें भी "लक्षणैकचक्षुष्क" बनकर काना बनना पड़ै। और हुआ भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। भट्टजी लिखते हैं—"क्या करें, दिल्ली के प्रामाणिक कवि प्रायः सभी मुसल्मान हैं। हिन्दू कवियों को तो प्रायः खड़ीबोली भाती ही नहीं। दिल्ली का हिन्दू भला गद्य लेखक ही प्रसिद्ध और प्रामाणिक जो कोई होता तो उसी के लेख में दृष्टान्त उद्धृत किए होते अतएव क्षमा के पात्र हैं।" (भूमिका ५) अतएव भट्टजी इस अर्धनारीश्वर साहित्य का व्याकरण बनाती बेर 'जों जों काल बदलता जाता है···तों तों भाषा भी बड़ी उमंग के साथ रोज़-रोज़ अपना रंग बदलती जाती है और अन्धाधुन्ध (संज्ञा या क्रिया विशेषण ?) फैलती जाती है।" इस भाषा के जीवित होने के लक्षण को 'आपद्' न मानैं। जब बच्चा बढ़ने लगै तब उसकी टांगें न बांधनी चाहिए, या बढ़ते पैरों को लोहे के जूते में बन्द करके चीनी युवती की मण्डूकुल्पुति का अनुकरण न करना चाहिए।

एक बात और भी है। जब कात्यायन ने संस्कृत के शब्दार्थ सम्बन्ध को भी सिद्ध और लोकगम्य माना है, तो हिन्दी व्याकरण के प्रचार के लिए (external sanction) बाह्य रक्षा भी नहीं है। हिन्दी वालों को 'निष्कारण' वेदों की

रक्षा नहीं करनी है, उन्हें आहिताग्नि होकर अपशब्द बोलते ही प्रायश्चित्त करने नहीं दौड़ना पड़ता, और न उन्हें यह धमकी है कि यदि प्रणाम के उत्तर में वे प्लुत न बोलेंगे तो उन्हें स्त्रियों की तरह प्रणाम किया जायगा। उन्हें प्रयोग के लिए आप्त-वाक्य, व्यवहार, सान्निध्य आदि से शक्तिग्रह हो सकता है, और व्याकरण को वे उसका सहायक ही मानेंगे न कि एक मात्र अधिकारी। हां, विदेशियों को व्याकरण जानने की बड़ी फिक्र रहती है। "और और देशों के लिए जो हो सो हो पर बिहारियों के लिए तो बिना हिन्दी पढ़े कल्याण ही नहीं। क्योंकि इनकी मातृभाषा कहीं मगहिया, कहीं भोजपुरिया, कहीं तिर्हुतिया है, और यह हिन्दी उन्हें सीखकर अपनी-अपनी मातृभाषाओं से उल्था करके बोलना पड़ता है।" (भूमिका, १) आरा की सभा शायद इस बात को न मानैं।

भट्टजी ने बहुत ठीक हिन्दी उर्दू को एक भाषा माना है, किन्तु मौलवी शिबली नौमानी फरमाते हैं कि मौलवी फतह महम्मद ने जो उर्दू-व्याकरण लिखा है उसमें उर्दू का व्याकरण अरबी के सांचे में ढाला गया है। क्या यह बात सच है कि केवल इसीलिए कि उत्तर भारत के मुसलमान उर्दू को बोलते हैं, उस (उर्दू) आर्य घराने की कुलबाला को सिमियातिकी बुर्का और पजामा पिन्हाया जाता है? 'नागरी प्रचारिणी सभा' को मौलवी साहब को इस काम से रोकना चाहिए।

भट्टजी व्याकरण के साथ 'भाषा के इतिहास का लिखना भी अवश्य' नहीं समझते, और उनके मत में "छन्द को व्याकरण से ऐसा कुछ लगाव भी नहीं है" (पृ. ६ भू.) क्योंकि उनने 'पाणिनि' का ढर्रा यथासम्भव अवलम्बन किया है। किन्तु एक बात यह भी है कि हिन्दी भाषा का इतिहास लिखना आसान काम नहीं है, उसके कई भाग अभी ऐतिहासिक खोज की प्रतीक्षा में अन्धकार के कोने उदर में छिपे हुए हैं। यदि हिन्दी छन्द को भट्ट जी लिखते भी तो उसमें क्या-क्या लिखते। संस्कृत और प्राकृत का पूरा छन्दःशास्त्र, फारसी और अरबी के पूरे वज़न, और अंगरेज़ी के साधारण छन्दों को गिनकर भी पिण्ड नहीं छूटता, क्योंकि खड़ीबोली के नए छन्द बंगला और मराठी छन्दःशास्त्र तक के नहीं छोड़ते। पाणिनि ने (Punctuation) नहीं लिखा, यह भी अंग्रेज़ी व्याकरणों की चाल है। भट्ट जी ने उसे लिखा है (१८७-१९२)। उच्चारण के भेद पाणिनि ने शिक्षा[1] में लिखे हैं, किन्तु भट्ट जी ने इस व्याकरण में लिखे हैं। (पृष्ठ ४९)। शब्दों का निरुक्त, उनका भिन्न-भिन्न भाषाओं से आना, प्रभृति पाणिनीय में नहीं है तो भी भट्ट जी के व्याकरण के २१-३० पृष्ठों में निरुक्त का आनन्द आता

१. यथासौराष्ट्रिका नारी तक्रं इत्यभिभाषते। इत्यादि।

है। पद-परिचय के माने (Parsing) पार्जिग् और अन्वय का अर्थ (Analysis) अनालिसिस (१७०, १६६) पाणिनीय में नहीं जान पड़ते। सो भट्टजी के व्याकरण में शिक्षा है, व्याकरण है, निरुक्त है, पार्जिङ्ग है, अनेलिसिस है। तो फिर, छन्द और इतिहास के लिए पाणिनि की दुहाई देना ठीक नहीं।

ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। पहले में वर्ण-विचार है। छठे में वाक्य-विचार और सातवें में चिह्न-विचार होने से बाकी में शब्द-विचार है। दूसरे अध्याय में संस्कृत, फारसी और अरबी धातुओं का, उनसे बने शब्दों की पहिचान का, अच्छा उल्लेख है। ठेठ हिन्दी के [तत्सम और तद्भव] धातु भी खूब छांटे हैं। तीसरे अध्याय में संज्ञा के सम्बन्ध में लिङ्ग, वचन, कारक, विभक्ति का विचार है। चौथे में धातु, क्रिया, उनके रूप और वाच्य का विचार है। पांचवें में व्यौत्पत्तिक और अव्यौत्पत्तिक (सी ! व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न क्यों नहीं ?) अव्यय, कृत, तद्धित आदि का विचार है। छठे में महावरे का भी दिग्दर्शन कराया गया है। क्या क्रम में, क्या विषय में, क्या उदाहरणों की चुनावट में, ग्रन्थ बहुत अच्छा बना है, और आज तक के हिन्दी व्याकरणों के देखते, पढ़ने-पढ़ाने योग्य है।

९ पृष्ठ से 'अक्षरों के हेरफेर' के नाम से संस्कृत की सन्धियां, यत्व, णत्व के नियम दिए गए हैं। हिन्दी में कोई सन्धि नहीं करता। संस्कृत में जुड़े-जुड़ाये पद ले लिए जाते हैं। हिन्दी वाले 'विवक्सा' से 'विवक्षा' नहीं बनाते। अतएव हिन्दी में संस्कृत की सन्धियां Phonetic परिवर्तन माननी चाहिएं, और सिद्ध शब्द ले लेने चाहिएं।

"और और भाषाओं से आये हुए और विशेषतः देशज शब्दों की व्युत्पत्ति··· विषय कोष का है, व्याकरण का नहीं।" (पृ० १७) नहीं, यह व्याकरण का ही विषय है। यदि कोष का अर्थ आधुनिक Dictionary हो तो व्याकरण उसके पेट में आ जाता है। पृष्ठ २७ वज़न बहुत अच्छे हैं, किन्तु थोड़े हैं।

भट्टजी ने एक शून्य प्रत्यय (पृ. ३५) और बुझक्कड़ गवइया प्रभृति में अक्खड़प् और वइयाय् प्रत्यय (पृ.४६) बनाए हैं। यह विलक्षणता बिना प्रयोजन मालूम होती है। संस्कृत व्याकरण की तरह 'पित्व' का क्या फल माना गया ? विभक्तियां पांच मानी गई हैं—कर्त्ता, का, से, का, में। उनके प्रयोगों का वर्णन पूरा है। वाच्य, धातु, और अव्ययों में कई नई बातें हैं। एनेलिसिज़ और पार्जिङ्ग बालकों को बड़े उपयोगी होंगे, क्योंकि उनसे वाक्यों की गठन जल्दी समझ में आती है।

रोज़मर्रा और वाग्धारा के अध्याय कुछ बड़े होने चाहिए थे। इन्हीं पर जीवित भाषा का व्याकरण निर्भर है। "मुहावरा मानो मनुष्य के शरीर में कोई

सुन्दर अङ्ग है और रोजमर्रे को ऐसा जानना चाहिए जैसे अङ्गों का तारतम्य मनुष्य के शरीर में।" (पृ. १८४)

भाष्यकार ने लिखा है कि जैसे घड़े की जरूरत पड़ने पर कुम्हार के यहां जाना होता है, वैसे वैयाकरण को यह कोई नहीं कहता कि हमें शब्द बना दीजिए हमें उनका प्रयोग करना है। साधारण व्यवहार का मार्ग दिखाने ही भर के लिए व्याकरण की आवश्यकता है, और हिन्दी की वर्तमान दशा में भट्टजी का व्याकरण प्रायः इस काम के लिए योग्य है। मतभेद तो सदा ही रहते हैं।

भट्टजी इसका मूल्य ।।) बतलाते हैं, किन्तु वे कहते हैं कि पाठ्यपुस्तक होने पर इसका मूल्य कम भी हो सकता है। हम इस पुस्तक का मङ्गल चाहते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मई, १९०४ ई०]

अर्धांगिनी

सुप्रसिद्ध विद्वान जान स्टुअर्ट मिल, अपने 'स्वतंत्रता' विषयक ग्रन्थ के समर्पण में अपनी पत्नी के विषय में लिखते हैं—"मैं इस ग्रन्थ को उसके प्रिय और शोचनीय स्मरण को समर्पण करता हूं, जो मेरे ग्रन्थों में जो कुछ सर्वोत्तम है उसकी किसी अंश में रचनेवाली और प्रेरण करनेवाली थी, जिस मित्र और पत्नी का सत्य और न्याय का उच्च विचार मेरा सब से प्रबल प्रेरक था, और जिसका साधुवाद मेरा प्रधान पारितोषक था। कई वर्षों से मैंने जो कुछ लिखा है, उसके समान यह ग्रन्थ जैसा मेरा है वैसा उसका भी है, किन्तु जिस रूप में यह ग्रन्थ अब है, उसमें बहुत ही अपूर्ण रूप से उसकी आवृत्ति का अमूल्य लाभ पहुंचा है, कुछ सबसे प्रधान अंश अधिक सावधानी से पुनरावृत्ति के लिए रख छोड़े थे, जो उनके भाग्य में कभी नहीं थी। उसकी समाधि में जो बड़े विचार और उदार-भाव गड़े हैं उसका यदि मैं आधा भी जगत् को समझा सकता, तो जगत् को अधिक लाभ पहुंचता, उसकी अपेक्षा जो उसकी अद्वितीय बुद्धि की प्रेरणा और

सहायता के विना जो कुछ मैं लिखूं उससे कभी हो सकेगा।''

इस चित्र के सामने 'आनन्द कादम्बिनी' के 'विवाह' लेख के कुत्सित चित्र को रखकर हम किस मुख से अपने देश की असार स्तुति किया करते हैं ? यदि 'मिल' की मनभावनी साधारण न हो तो भी 'कादम्बिनी' की कलहप्रिया या धूमावती देश भर में व्याप्त है; विशेषतः विद्वानों पर उनकी अपार कृपा है !!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०४ ई०]

उपन्यास

मासिक पुस्तक के साथ एक छपा पत्र बांटा गया है। उसमें पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपने ग्राहकों से ग्राहक बढ़ाने की प्रार्थना करते हैं और प्रार्थना की नींव बांधते हैं अपनी स्त्री के मरने और अपने ब्राह्मणत्व पर ! एक स्वर्गीया नारी और पवित्र वंश को यों नीचे खैंचना अच्छा नहीं। क्या वे भिक्षा मांगते हैं ? उपन्यास के ग्राहक बढ़ाने के लिए आप उनसे कहैं, किन्तु ब्राह्मणत्व को क्यों दूषित करते हैं ?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०४ ई०]

वृहद्देवता

ऋग्वेद के किस मंत्र का कौन ऋषि है, कौन छन्द है, कौन देवता है और क्या काम उस मंत्र से लिया जाता है, ये सब बातें 'सर्वानुक्रमणी' नामक पुस्तक

में लिखी हैं। शौनक मुनि के नाम से 'वृहद्देवता' नामक एक ग्रन्थ और भी प्रचलित है जिसमें भी ये सब बातें लिखी हुई हैं। उसमें केवल यही नहीं है परन्तु छोटे-छोटे छन्दों में कई वैदिक उपाख्यान भी लिखे हैं जिनका सम्बन्ध कई मन्त्रों से है। इससे वैदिक पढ़ाई में यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसका एक संस्करण कलकत्ते की 'बिब्लोथिका इण्डिका' में डाक्टर राजा राजेन्द्रलाल मित्र का शोधा हुआ छपा था। दूसरा अभी अमेरिका में छपा है। वहां हर्बर्ड युनिवर्सिटी एक 'प्राच्य पुस्तकमाला' निकालती है। जिसमें अब तक 'जातकमाला', 'सांख्य प्रवचन-भाष्य', 'बौद्धधर्म के तर्जुमे', 'कर्पूरमंजरी' और 'अथर्ववेद संहिता' इतने ग्रन्थ छप चुके हैं। 'वृहद्देवता' उसी माला में, दो भागों में, छपी है। एक में सम्पादक की भूमिका और खूब शोधा हुआ मूल पाठ है। उसके पीछे बहुत ही सुन्दर सूची और अनुक्रमणी हैं। दूसरे भाग में प्रतिश्लोक अनुवाद और पाठान्तर लिखे गये हैं। इसके सम्पादक मैक डानल साहब हैं जो आक्सफोर्ड में वोडन संस्कृता-ध्यापक हैं। इस संस्करण में मूल पाठ के बनाने में बड़ा परिश्रम किया गया है। यूरोप में जितने 'वृहद्देवता' के पुस्तक मिल सके, वे सब मिलाये गए हैं और डाक्टर मित्र के संस्करण की भी पूरी सहायता ली गई है। अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है। परन्तु डाक्टर मित्र के संस्करण की भूमिका में बहुत ही निन्दा की गई है। कहा गया है कि उसमें कई श्लोक बार-बार लिख दिए गए हैं, अच्छे पाठ नोटों में दिए गए हैं, और प्रति पंक्ति पाठ में एक भूल के हिसाब से पुस्तक में भूलें हैं, कहीं-कहीं सात-सात भूलें तक एक-एक पंक्ति में हैं। एक जगह एक कथा लिखकर भारतवर्ष के प्रूफ-संशोधन और पाठान्तर-विवेचन की दिल्लगी उड़ाई गई है। कहा गया है कि बिब्लोथिका में पुस्तक छापने के नियमों में एक यह भी है कि कम-से-कम तीन पुस्तकों में पाठ न मिलाकर न छापा जाय। एक विद्वान् किसी पुस्तक का संस्करण छापना चाहते थे, परन्तु उनके पास एक ही प्रति थी। अतएव, उनने अपने पण्डितों को काम में लगाया, और तीन प्रति तैयार होकर यह पुस्तक छाप दी गई! हम भी कहते हैं कि प्रूफ देखने और पाठांतर जांचने की प्रवृत्ति भारतवर्ष के विद्वानों में बहुत ही कम है। यही नहीं, ज्यों-ज्यों सम्पादक की प्राचीन ढंग की पण्डिताई की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनकी पाठांतर शोधने की ओर उपेक्षा बढ़ती जाती है। सब से शुद्ध संस्करण, भारतवर्ष में, 'निर्णयसागर प्रेस' के होते हैं, और बिब्लोथिका में संस्कृत पुस्तक यदि किसी एम० ए०, बी०ए० का सम्पादित है, तब तो खैर, नहीं यदि किसी न्याय पञ्चानन्न के हाथ पड़ गए, तब तो खूब ही पाठों की हत्या होती है। शोधने में जितने उदासीन, अनपेक्ष और अनभिज्ञ काशी के विद्वान् हैं इतने और कहीं के नहीं। परन्तु डाक्टर मित्र पर यह कलंक मेकडानल साहब ने

ठीक नहीं लगाया है । उनकी विद्वत्ता के आगे कई पश्चिमी पुरातत्त्ववेत्ताओं का ज्ञान पानी भरता था । क्या मैकडानल साहब को यह नहीं मालूम है कि डाक्टर मित्र ने 'बृहद्देवता' का संशोधन हाथ में ही लिया था, परन्तु उसे वह पूरा न कर सके ? सम्भव है उनके सहकारी पण्डितों के संशोधन को दोहराने का उन्हें समय ही न मिला हो । यह संस्करण उनकी मृत्यु के पीछे प्रकाशित हुआ है । एक जगह स्पष्ट लिखा है कि डाक्टर मित्र ने यहीं तक शोधा है, आगे का भाग उनके शोधन का लाभ न उठा सका । मैकडानल साहब का संस्करण अवश्य डा० मित्र के संस्करण से अच्छा है, बहुत अच्छा है, परन्तु वह बना है उसी के आधार पर जिस वृक्ष के सहारे टहनी पर, चढ़ गए, उसी वृक्ष को काटने लगना, हम नहीं जानते, क्या आक्सफोर्ड में पण्डिताई गिनी जाती है ? यह तो हो नहीं सकता कि जान-बूझकर मेकडानल साहब के सदृश विद्वान् सत्य का अपलाप करें, और डाक्टर मित्र के संस्करण को उनने इतना अधिक काम में लिया है कि यह 'स्पष्ट लिखी' बात उनकी दृष्टि में न आई हो । अतएव यह हमारा ही दोष है कि डाक्टर मित्र के संस्करण को पढ़ते समय हमारी दृष्टि उस नोट पर पड़ गई थी, और मैकडानल के संस्करण को पढ़ते उनकी तीन प्रतियों वाली आख्यायिका पर ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

राघवेन्द्र

अश्विन के 'राघवेन्द्र' में 'हमारा वस्ता' कहता है—"दी विशिष्टाद्वैतन पत्र का उदय उचित समय पर हुआ है।" पत्र का नाम शायद 'विशिष्टाद्वैतिन्' है, परन्तु बहुत सोचकर भी हम न जान सके, कि रूस-जापान की सन्धि, बंगाल का स्वदेशी आन्दोलन, लार्ड कर्ज़न का इस्तीफ़ा या कोई-सी सामायिक घटना इस 'राघवेन्द्र' के भाई के लिए 'उचित समय' क्योंकर है । आगे चलकर एक वाक्य है—"इसके एक-दो लेखों का भाषा अनुवाद हम कभी अपने पाठकों को भेंट करेंगे।" इससे ही कदाचित् उस पुण्यवान् पत्र के लिए 'उचित समय' है ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

श्री भारतधर्ममहामण्डल रहस्य

महामण्डल के शास्त्रप्रकाश-विभाग द्वारा **'श्री भारतधर्ममहामण्डल रहस्य'** नामक उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें २१६ पृष्ठ हैं। इसका मूल्य १।।) अधिक है। उत्तम पुस्तकों के प्रचार का उपाय उन्हें बांटना और कम मूल्य पर बेचना ही है। इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि आत्मश्लाघा और व्यर्थ आडम्बर के पृष्ठों को छोड़कर एक भी ऐसा पुस्तक महामण्डल प्रतिवर्ष निकाल दिया करै, तो वह अपने कर्त्तव्य के मार्ग में आ सकता है, कागज़ी घोड़ों और पालिसियों से नहीं। भूमिका में 'ग्रन्थकार की आज्ञानुसार' पण्डित गोपीनाथ ने 'यह ग्रन्थरत्न श्री भारनधर्ममहामण्डल के श्रद्धास्पद संरक्षक महोदय, माननीय प्रतिनिधि महाशय, वन्दनीय व्यवस्थापक महोदय, श्लाघनीय सहायक महाशय और प्रशंसनीय साधारण सभ्य महोदयों के अर्थ' समर्पण किया। बेचारे उपदेशक लोग कहां गए? बकौल कल्लू अल्हइत के उनका—"सरगौ नरक ठेकाना नाहिं।"

इस ग्रन्थरत्न के नाम के पाठ करने से कोई महाशय ऐसा न समझें कि यह ग्रन्थ **महामण्डल का अनुशासन** ग्रन्थ है; (इतनी सावधानी क्यों? क्या मधुसूदन-संहिता विभ्राट् के पीछे मण्डल फूंक-फूंककर पैर रखता! मोटे टाइप में छपे अंशों का पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी यह अर्थ करेंगे—पहले महामण्डल, पीछे उसका शासन) वास्तव में इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशित करने का प्रथम उद्देश्य यह है कि जिन्होंने असाधारण यत्न द्वारा भारतवर्ष की अनेकानेक धर्मसभाओं के सम्मेलन से जो इस नियमवद्ध विराट सभा की स्थापना की हैं उनका आन्तरिक तात्पर्य विदित हो (यह काम तो पण्डित दीनदयालु ने किया था परन्तु उनका यह ग्रन्थरत्न हो नहीं सकता)। दूसरा उद्देश्य यह है कि जिन्होंने आर्यजाति के कल्याणार्थ और सनातनधर्म के पुनरभ्युदय के अर्थ बहुत काल तक बहुत कुछ चिन्ता की है उनकी चिन्ता का यथासम्भव लाभ (याने बहुत कुछ लाभ) श्री भारतधर्ममहामण्डल के सभ्य महोदयगण और विशेषत: कार्य्यकर्त्ता गण उठा सकें। (इससे सिद्ध हुआ कि महामण्डल के गणपाठ के कार्यकर्त्ता गण में इसके कर्त्ता नहीं हैं, या हैं तो उस गण में गिने और लोग उनकी चिन्ता से अनभिज्ञ हैं। अस्तु, चाहै ग्रन्थकार अपने पवित्र नाम को छिपाना पसन्द करें, परन्तु जिसे इसे पढ़कर उनके विज्ञान का आनन्द मिलेगा वह शतमुख से उनके उदारभाव और हितचिन्तन की स्तुति करेगा।

ग्यारह पृष्ठों के शुद्धिपत्र के पीछे ग्रन्थ का आरम्भ है। प्रथम टिप्पणी में भारत का, अर्थात् बृटिश इण्डिया का, परिमाण नए श्लोकों में दिया गया है

जिनका प्रमाण नहीं लिखा गया। ऐसे ही अमूलक (अर्थात् और प्रमाणों की तरह जिनका मूल नहीं लिखा गया) धर्म के लक्षण श्लोकों में 'सुभगे' पद से अनु. मान होता है कि मंगलाचरण के फुटनोट का मंगलाचरण शायद मधुसूदन संहिता में से किया गया है। आगे 'महामण्डल' शब्द का तात्पर्य महासभा से है। सनातनधर्म-सम्बन्धी जहां कहीं जो कुछ व्यष्टिरूप से सभा धर्म्मालय आदि का पुरुषार्थ हो रहा है सबका समष्टि रूपी विराट् धर्मसभा यह महामण्डल है, यों समझाया गया है। (इसी से तो मुम्बई का पंचांगशोधन कमंडलु में लीन हो गया है और इसी से 'स्वदेशबन्धु' नामक नवजात लाहौरी पत्र की द्वितीय संख्या में कहा गया था कि मण्डल के पुरुषार्थ से ग्वालियर में हिन्दी का प्रचार हो गया है)। 'जब तक इस भारतभूमि में पूज्यपाद त्रिकालदर्शी आर्य ऋषिगणों का प्रकाश रहा तब तक इस पवित्र धर्ममार्ग में किसी प्रकार का परिवर्तन नही दिखाई दिया' (पृ० ३) परन्तु 'अविद्या बढ़ने से प्रजा की धर्मशिक्षा जितनी न्यून होती रही उतना ही प्रजागण सनातनधर्म का सार्वभौम—भाव भूलते रहे और क्रमशः आपस में विरोध बढ़ता रहा और सम्प्रदाएं अपना-अपना लक्ष्य छोड़ धर्म से ही अधर्म की उत्पत्ति करने लगीं। उसी समय जीवों की दुर्गति देख × × **दया अवतार श्री भगवान् बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ** (पृ० ५) बौद्धधर्म के अत्याचारों से पीड़ित होकर आर्यगणों ने पुनः मस्तक उठाया। उसी समय दार्शनिक शिरोमणि कुमारिल भट्ट आदि ऋषि तुल्य आचार्यों का जन्म होने से बौद्धधर्म हीनबल होने लगा। तब सुअवसर जान श्री भगवान् शंकराचार्य प्रकट भये और अपनी पूर्वलीला में जो-जो अभाव रक्खे थे उनको पूर्ण कर दिये।" (पृ० ६) [हिन्दी चिन्त्य है। पूर्वलीला माने बुद्धावतार ?]

पीछे मुसलमानी राजत्वकाल में "वैष्णव धर्म का आविर्भाव हुआ और राजा यवन रहने पर भी एक बार समस्त भारतवर्ष में धर्मप्रवाह बहने लगा और उससे मलिनता बहुत कुछ धुलकर सनातन धर्म की श्रेष्ठता स्थापन हुई और उसी स्रोत से बहुत जीवों का कल्याण हुआ" (पृ० ९)। इस स्रोत में "विशिष्टाद्वैतमतप्रवर्तक पूजनीय श्रीरामानुजाचार्य, शुद्धाद्वैत सम्प्रदायप्रवर्तक श्रद्धास्पद श्री विष्णु स्वामी, तथा श्रद्धास्पद श्री वल्लभाचार्य, द्वैताद्वैत सम्प्रदाय प्रवर्तक माननीय श्री निम्बार्काचार्य, द्वैतमत प्रवर्तक आराध्य श्री माध्वाचार्य तथा यतिवर श्री चैतन्याचार्य प्रभृति और धर्मसंस्थाकों में ऋषि तुल्य श्री मधुसूदनाचार्यजी, सिद्धवर श्री नानक जी, भक्ताग्रगण्य श्री तुलसीदासजी, कविवर श्री सूरदास जी, यतिवर श्री रामदास स्वामी आदि महात्मागणों ने धर्म की रक्षा करने में पूर्ण सहायता की।" (पृ० ९)।

यद्यपि यवन राज्य नाश होने पर मरहठा और सिख राज्य स्थापित हुआ —

"परन्तु अधर्म के द्वारा धर्म की रक्षा नहीं हो सकती, हिन्दुओं को दासत्व करते हुए बहुत काल बीत गया था, वे राज धर्मरक्षा न कर सके।" (पृ० १०), "ईसाई-धर्म प्रचारकों द्वारा पुनः हिन्दूधर्म हृदय पर बहुत ही धक्के लगे, तो पुनः तमोगुण प्राप्त हुए सनातन धर्म ने करवट ली।" (पृ० १०), 'इस बात को अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि पंडितवर राजा राममोहनराय जी का प्रतिष्ठित ब्रह्मसमाज और यतिवर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का प्रतिष्ठित आर्य समाज इन दोनों मतों से ससातन धर्म को उसके आपत्काल में बहुत ही सहायता मिली (पृ० ११) फिर, 'असाधारण बुद्धिमती परम विदुषी श्रीमती मैडम ब्लैभस्की उत्पन्न हुई।" (पृ० १२)

विशेषतः श्रीमती उसी जाति की थी कि जिसके द्वारा आर्यप्रजा की श्रद्धा का नाश हुआ था, इसी कारण जब उसी जाति की एक असाधारण तेज और शक्तिसम्पन्ना विदुषी के द्वारा अपने आर्य विज्ञान के अनुकूल उपदेश आर्यप्रजा को मिलने लगे तो तुरत ही वे अपने भूले हुए स्वरूप को जानने में समर्थ होने लगे। वास्तव में श्रीमती की असाधारण शक्ति प्रतिभा और पुरुषार्थ के द्वारा तथा उनके शिष्य परम्पराय (बवजन सांपराय ?) द्वारा इस समय के धर्मप्रवाह की उन्नति करने में बहुत ही सहायता मिली (पृ० १४)। वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ स्थानीय हैं, और आश्रम में संन्यास शीर्ष स्थानीय है अतः ब्राह्मणों के भी गुरु 'संन्यासी' ही कहाते हैं (पृ० १५) [यह पूजा पकाना है] धर्म परुषार्थ में दोनों गुरु ही लगे। "जिनमें से धर्मप्रचार कार्य में शारदा मठाधीश परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्री स्वामी मद्रा (?) जराजेश्वर शंकराश्रम शंकराचार्य जी महाराज ने और विद्या प्रचार के विषय में परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद श्रीमान् स्वामी ब्रह्मनाथ आश्रमजी महाराज ने [वज़न खूब बराबर मिलाया है] बहुत कुछ कार्य किया [प्रथम ने तो उपदेश-यात्रा की और दूसरे ने ?]। 'संस्कृत ग्रंथों के अनुसन्धान करने में इटावा नगरस्थ पुस्तकोन्नतिसभा' के 'असाधारण कार्य' [हैं !] और पंजाब की धर्म-सभाओं और बंगाल की हरि-सभाओं के बहुत कुछ सत्पुरुषार्थ को शाबासी देकर लिखा गया है—

'प्रथम हरिद्वार तीर्थ के महाकुम्भ मेले के समय वर्ण गुरु ब्राह्मणों के द्वारा [नाम तो दिया होता ?] भारतधर्ममहामण्डल नामक महासभा का जन्म हुआ। तदन्तर त्रिवेणी तीर्थ के महाकुम्भ के मेले के समय आश्रमगुरु संन्यासीगणों के द्वारा निगमागम मण्डली नामक दूसरी महासभा की सृष्टि हुई, एक ने प्रचारकार्य और दूसरी ने प्रबन्ध कार्य (सच्चे ही ?) में सफलता प्राप्त की। और तत्पश्चात् कलेर्गताब्दाः ५००१ से दोनों का पुरुषार्थ एक होकर कार्य करने का सुअवसर हुआ' तो 'उक्त दोनों सभाओं के सम्मेलन से कलेर्गताब्दाः ५००२ में श्री मथुरा-

पुरी के महाअधिवेशन में नियमबद्ध विराट् सभा श्री भारतधर्ममहामण्डल का जन्म हुआ (पृ० १७)। परम आनन्द परिपूर्ण कैलाशकानन में शिवशक्ति सम्मेलन से जिस प्रकार परमपद रूपी मुक्तिफल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार भारत कानन में इस धर्ममण्डल व धर्ममण्डली के सम्मेलन द्वारा मानो त्रिताप से तापित आर्य-जाति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी फलों की प्राप्ति कराने के लिए श्री भारत-धर्म महामण्डल की उत्पत्ति हुई है।' (पृ० १८) [यह तो किसी रसिक ने लिखा है] 'निरपेक्ष विचार द्वारा यह मानना ही पड़ेगा कि पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षि-गणों के तिरोभाव के अनन्तर राजकीय सार्वभौम सुशासन के विचार से स्थायी सुअवसर आर्यजाति को अभी मिला है।' (पृ० १९) 'सनातन धर्मावलम्बी समाज में धर्मानुशासन का **यथा देशकाल और यथा सम्भव अधिकार** प्रवृत्त कराकर धर्म का पुनरभ्युदय और सद्विद्या का विस्तार करने के अर्थ ही सर्वशक्तिमान् श्री हरिः की अपार कृपा से इस विराट् सभा की उत्पत्ति हुई है।' (२०) इस वंशावली और प्रतिज्ञा से प्रथम अध्याय 'आर्यजाति की दशा का परिवर्तन' बताकर समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय में **चिन्ता का कारण** वर्णित है। वैज्ञानिक युवितयों के सहारे सृष्टि जाति और ब्रह्म का विचार करके जरायुज जाति की चार संज्ञा की हैं—यथा—आर्य जाति, अनार्यजाति, उन्नत पशुजाति और निकृष्ट पशुजाति।' (पृ० २४)। त्रिगुण-विभाग से वर्णचतुष्टय के भेद को समझाकर, मानसिक सृष्टि का वर्णन करके, महाभारत के (शान्तिपर्व : अध्याय १८८); श्लोक उद्धृत करके चातुर्वर्ण्य का निम्नगामी स्रोत समझाया गया है—

असृजत् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥
न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणाः पूर्वसृष्टा हि कर्मभिर्वर्णतां गताः॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तगांस्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥

यों जाति-भेद-हीन-काल का उल्लेख करके पूर्वकथित जड़प्रवाह और चेतन-प्रवाह के जीव सम्बन्धी विज्ञान की आलोचना द्वारा सिद्ध किया है कि "कोई जाति अपने कर्मों को उन्नत करने पर एकाएक उन्नत नहीं हो सकती क्योंकि आदि

में पूर्ण मानव की उत्पत्ति हुई है और मनुष्य के अन्तःकरण की स्वाभाविक गति अधोमुखी है।" (पृ० ३५), 'तमोगुण पक्षपातिनी एशिया वा अफ्रिका की विशेष विशेष जातियां' रजोगुणपक्षपातिनी वर्तमान यूरोप और अमेरिका की विशेष विशेष जातियां, और सत्वगुणपक्षपातिनी आर्यजाति के वहिःआचारों में बहुत ही अन्तर देख' (पृ० ३७) कर साभिमान कहा गया है कि 'अपने जातीय भाव की रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत जीवन तभी रह सकता है जब तक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन, भाषा और सदाचार में दृढ़ और तत्पर रहती है। पृथिवी भर में केवल आर्य जाति ही तेजस्वितापूर्वक कह सकती है कि हम ही अपने क्षेत्र की पवित्रता की रक्षा करने में समर्थ हैं।' (पृ० ३८); बारम्बार पराजित होने पर भी आर्यजाति स्वरूप को बिलकुल न भूल सकी, क्योंकि 'किसी जाति की शक्ति लघु होने पर ही वह दूसरी जाति से नाश को प्राप्त हुआ करती है।···आज तक जितनी विदेशीय जातियों ने इस भूमि को जय किया है वे सब ही आध्यात्मिक विचाररूप सात्विक शक्ति के विचार से इस आर्यजाति से लघु ही रही हैं। इसी कारण राजसिक अवनति की पूर्णता को प्राप्त करने पर भी···यह मृतप्राय होने पर भी अभी तक जीवित ही है।' (पृ० ४१, ४२), 'धर्मप्राण आर्यजाति को अपने (?) राजसिक शक्ति के नाश का विशेष विचार नहीं है। यदिच बुद्धिमान् गणों को अभी तक इस प्रकार का भय तो नहीं उत्पन्न हुआ है कि आर्यजाति में से सात्विक शक्ति भी जाती रही है, तथापि दूरदर्शी पुरुषगण अब बहुत कुछ सन्देह करने लगे हैं। सदाचार-पालन की ओर से आर्यजाति की प्रकृति दिन प्रतिदिन तीव्र वेग के साथ घटती जाती है। हिन्दूधर्म समाज से विषय-वैराग्य का प्रवाह घटकर दिन प्रतिदिन विषय-तृष्णा का प्रबल वेग होता जाता है' (पृ० ४२), 'अन्तःशुद्धि जो सनातनधर्म का प्रधान लक्ष्य था उसका लोप होकर बाह्याडम्बर की ओर इस जाति का अधिक लक्ष्य पड़ने लगा है। परोपकार-प्रवृत्ति, स्वजाति अनुराग, स्वदेश-प्रेम, उत्साह, न्याय-दृष्टि, सरलता, पवित्रता, ऐक्य, आस्तिकता, शौर्य, पुरुषार्थ, शक्ति आदि मनुष्य-जाति की उन्नत गुणावली का अभाव इस जाति में दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। गुण-परीक्षा की शक्ति समाज में से बिलकुल ही जाती रही है, समाज में यहां तक लघुता आ गई है कि जो महापुरुष देश के लिए, जाति के लिए और अपने प्रिय सनातन धर्म के लिए कदाचित् आत्मोत्सर्ग करते हैं **उसी** को लोग स्वार्थी, प्रवंचक और कपटी समझकर उसके साथ दुर्व्यवहार करने में प्रवृत्त होते हैं और बाह्याडम्बरयुक्त स्वार्थी लोग धर्मसेवी माने जाते हैं।' (पृ० ४३), [यह वाक्य शायद 'राघवेन्द्र' साहब की नज़र से भी गुजरना चाहिए] इसलिए 'इस निम्नगामी स्रोत को रोकने के लिए प्रबल यत्न होना उचित है।'

व्याधि निर्णय नामक तृतीय अध्याय भारतवर्ष की पूर्ण ओजस्विनी स्तुति से आरम्भ होता है। 'मुसलमान साम्राज्य के समय में आर्यजाति बहुत ही अधः-पतित हो जाने पर भी अपने स्वजातिभाव को विस्मृत नहीं हुई थी। उस समय का इतिहास-पाठ करने से यही प्रतीत होता है कि उस घोरतर आपदकाल में भी यह आर्यजाति अपनी रीति, नीति, धर्म, कर्म, शिल्प, वाणिज्य, वेश, भाषा और सदाचार आदि आर्यभावों को विस्मृत नहीं हुई थी।' (४६); अंगरेज राज्य ने कुछ सैन्यबल लेकर भारतवर्ष को जय नहीं किया है, किन्तु 'गुण प्रभाव के कारण आलस्य तथा प्रमाद पक्षपाती भारतवासियों ने कर्मठ और बुद्धिमान् अंग्रेज-जाति को अपना रक्षक करके मान लिया है।' (पृ० ५३); यों 'अति प्राचीनकाल से जो जाति जगद्गुरु नाम से प्रसिद्ध थी उसी आर्यजाति की वर्तमान हीनावस्था देखकर पृथ्वी के अन्यान्य जातिगण उपहासपूर्वक अंगुली उठाने लगे हैं।

अनुकरण शून्यता और एकता के न होने से जातीय भाव की उन्नति नहीं हो सकती, एवं बिना जातीय भाव की रक्षा के कोई जाति चिरकाल पर्यन्त जीवित नहीं रह सकती (पृ० ५५); सूक्ष्म विचार द्वारा यह अनुमान में आ सकता है कि नाना प्रकार से लांछित और पीड़ित होने पर भी मुसलमान साम्राज्य के समय इस आर्यजाति के सात्विक तेज की इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी अब इस नवीन समय में प्रतीत होती है, (पृ० ६३) क्योंकि, 'इस वर्तमान शान्ति-युक्त साम्राज्य में अभी तक जातीयभाव की कोई भी उन्नति नहीं दीख पड़ती। इस बीच में ऐसे कोई धर्मोद्धारक नही प्रकट हुए' (५६); और शिल्प-वाणिज्य, और मातृभाषा का नाश होकर सब में विदेशीय भाव की ज्वाला लग गई है। इस प्रमादवृत्ति की अपूर्व लीला देखकर कभी तो चित्त में हास्यरस का उदय होता है, कभी घोरतर करुणा से हृदय विदीर्ण होने लगता है (६१); यों 'कर्म-भ्रष्ट, तपोभ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट, और शक्तिभ्रष्ट' (६२) होने का कारण यह है कि 'जाति में जातिगत पुरस्कार अथवा जातिगत तिरस्कार दोनों प्रकारों ही की रीति एक बार ही लुप्त हो गई है।' (पृ० ६४); [सत्य है, परन्तु क्या लेखक को यह नहीं सूझा कि जिनके हाथ में जातिगत पुरस्कार वा तिरस्कार है या जिनके हाथ में वे इसको देना चाहते हैं, वे उसके मुन्सिफ बनने में अपनी अयोग्यता सिद्ध कर चुके हैं, और उनकी अयोग्यता ही जातिबन्धन की शिथिलता की जड़ है और बिना उन्हें पूरी तौर से हिलाए वा गिराए '**जाति की सात्विक शक्ति**' नया जीवन नहीं पा सकेगी ?]

'सफलता का बीजमन्त्र नियम है। अनुशासन के द्वारा ही नियम की रक्षा हुआ करती है।' (पृ० ६७)। यह **औषणि प्रयोग** नामक चौथे अध्याय का आरम्भ है। इस अनुशासन को 'योगानुशासन, राजानुशासन और शब्दानुशासन' में

बांटा है, जिसमें राजानुशासन गौण माना गया है, और प्रथम को वर्तमान समय के अनुपयुक्त बताया गया है। शब्दानुशासन के आचार्याज्ञा और शस्त्राज्ञा दो भेद किये गए हैं, और 'तथापि लोक हितार्थ आचार्यानुशासन को ही प्रधान अवलम्बन समझ सकते हैं।' (पृ० ७२); गुरु और आचार्य एक ही भावप्रकाशक हैं (पृ० ७३) और 'अज्ञानयुक्त कलियुग में मनुष्यों की बुद्धि बहुत ही मलिन हो गई है, अतएव आचार्यानुशासन की और भी दृढ़ता होना उचित है। (पृ० ७४)

प्रत्यक्ष दण्ड की बड़ी भारी आवश्यकता है, परन्तु आचार्यानुशासन अधिक हितकारी हो सकने पर भी राजदण्ड के आश्रय से चल सकता है (७६) परन्तु सम्राट् अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण सामाजिक अनुशासन ही से आर्यजाति का कल्याण हो सकता है। (७७); इस समय सामाजिक अनुशासन की बहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिका के मनुष्य समाज में देखने में आती है। (७८); 'राजनीति विचार में यदिच्च आज दिन यूरोपीय जाति ने नाना नूतन आविष्कार कर दिखाये हैं परन्तु उनका राजनीतिक विज्ञान सदा परिवर्तनशील ही देखने में आता है, किन्तु आर्य राजनीति अपरिवर्तनशील तथा दृढ़ है;' 'प्रजातन्त्र भाव को तो सनातन धर्मावलम्बी स्वीकार ही नहीं कर सकते, उनकी दृष्टि में प्रजातन्त्र भाव तो अधर्म का भावी पर अनुमान होता है।' (पृ० ७९); [लेखक महात्मा जो घबरा रहे हैं कि कहीं प्रजातन्त्र का नाम भी पसन्द हो जायगा तो हमारी लाठी पर कोई न नाचेगा। प्रजातन्त्र ही संसार का भविष्य है, और 'संगच्छध्वं संवदध्वं' आदि श्रुति और 'संघशक्तिः कलौयुगे' आदि स्मृति से वह भारतवासियों के धर्मानुकूल है। यदि आचार्य वास्तव में 'आचारं ग्राहयति' के योग्य हो तो लोग उनका चरण धोवेंगे और वे नेता ही रहेंगे। परन्तु यदि आजकल की तरह जिस किसी काषायाम्बरधर को वा तिलकावृत्तभाल को पोप वा जगद्गुरु बनाना ही महामण्डल का एकमात्र औषधि प्रयोग है, तो उसे दूर ही से प्रणाम है।

धर्माचार्य बहुत पुज चुके और बहुत खा चुके। उस पन्द्रहवीं शताब्दी मरी परिपाटी को क्यों जगाया जाता है? इससे ही राजभक्ति की दुहाई दी जाती है। इसी से पुण्यश्लोक लक्ष्मीश्वर सिंह (जिनने कांग्रेस के आपतकाल में विशाल प्रासाद देकर उसकी प्राणरक्षा की थी) के अनुज सुरेन्द्र बाबू और 'वन्दे मातरं' के सम्बन्ध से स्वदेशी यूनिवर्सिटी से भागते हैं? अप्रसङ्ग तो है, पर प्रश्न है कि सारी हिन्दू जाति की तरफ से मण्डल युवराज को जो मङ्गलकामनापूर्वक एड्रेस देना चाहता था और जो काशी और प्रयाग के उत्सवों का प्रधान उद्देश्य बनाया गया था, वह एड्रेस क्या हुआ? युवराज तो भारतवर्ष से विदा भी हुए पर उस विराट् एड्रेस की सफलता नहीं सुनी गई। धर्माचार्यों और मठाधीशों की

अभ्रान्तता और योग्यता अब स्वप्न हो गई है, मण्डल उसे फिर क्यों जगाना चाहता है ? जिस दिन आचार्य महापुरुष बन जाएंगे, या समय के भूमिकम्प से महापुरुष आचार्य बन जाएंगे, उस दिन उनके अनुशासन, नैपोलियन की तरह, पुज जायंगे। मण्डल उस वाञ्छित परिवर्तन का मार्ग सुगम करै, 'चारों मठों की श्रीवृद्धि तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक आचार्य स्थानों की उन्नति करते हुए आचार्य मर्यादा की पुनः स्थापना' (पृ० ८४); आचार्यों की योग्यता के पहले क्यों करता है ? इसके पीछे मण्डल और प्रान्तीय धर्मसमाजों की बनावट और प्रबन्ध का स्कीम है।

प्रान्तीय वा प्रधान सभापति के अनुशासन (जैसे पोप के बुल ?), देशभर में अकीर्ति विस्तार, तिरस्कार और पुरस्कार को कार्यक्रम मानकर 'आर्य जाति की पुनरुन्नति तथा सनातनधर्म का पुनरभ्युदय होना निश्चय' कहा गया। (पृ० ८६) खैर, इस कागजी कल्पना के बाद 'वर्णों के नेता ब्राह्मण, और वर्णों के गुरु तथा आश्रमों के नेता संन्यासियों के वर्तमान आचार-विचारों का संस्कार अवश्य ही होना उचित' माना गया है। 'सांसारिक लोग प्रायः ऐसा विचार करते हैं कि ज्ञानवान् होने पर ही, संन्यास आश्रमधारी होने पर ही, जड़वत् निश्चेष्ट हो जाना उचित है।' (९२)। इस पूर्वपक्ष को उठाकर, युक्ति से, गीता के वाक्यों का प्रकृतानुग अर्थ देकर, सिद्ध किया है कि 'जो पुरुष कर्मफल की इच्छा न रखकर अवश्य कर्त्तव्य समझते हुए विहित कर्म किया करते हैं वे ही संन्यासी हैं; और निष्काम पुरुषार्थ की पूर्णावस्था ही संन्यासपद वाच्य है। (पृ० ९४); निष्काम कर्म योग की बहुत कुछ स्तुति की गई है। [इस हिसाब से कई 'उदर निमित्तं बहुकृत-वेशः' की अपेक्षा श्रीमान् गोखले और तिलक ही 'निष्काम कर्म में जो कर्म का न होना मानते हैं और बलपूर्वक कर्म-त्याग में जो कर्म का होना अनुभव करते हैं मनुष्यगण में वे ही यथार्थ में बुद्धिमान् हैं और पुरुषार्थकारी होने पर भी वे ही ब्रह्म में युक्त अर्थात् जीवन्मुक्त हैं।' (पृ० ९८)

यदि आलस्यकलहपरायण वर्तमान काषायवस्त्रधारी मनुष्यों में मण्डल यह भाव फैला देवे, तो क्या ही कहना। उपसंहार में, 'ब्रह्मचर्य आश्रम की पुनः प्रतिष्ठा करके निष्काम व्रतपरायण मनुष्य उत्पन्न करने पड़ेंगे, प्रत्येक गृहस्थ को यथासंभव निष्काम कर्म की प्रतिज्ञा करके गृहस्थ आश्रम में प्रवृत्त होना पड़ेगा, कर्मयोगी वानप्रस्थ आश्रमधारी पुरुषगण जब दिन और रात लोकहित में प्रवृत्त होंगे और संन्यास आश्रम का एक मात्र अवलम्बन जब श्रीगीतोपनिषद् का विज्ञान हो जाएगा, उसी समय इस घोर रोग की शान्ति होगी। अनुशासनाभाव रूपी क्षय-रोग के साथ स्वार्थपरता रूपी वीर्यभङ्ग रोग की उत्पत्ति से आर्य जाति की दशा अब बहुत ही कठिन और शोचनीय हो गई है।' (पृ० ९९)

सुपथ्य सेवन नामक पञ्चमाध्याय का आरम्भ 'प्रकृतिपुरुष-विज्ञान के

सिद्धान्त' से यह सिद्ध करने से होता है कि 'यदि सृष्टिकर्त्ता आदिपुरुष और सृष्टिकर्त्री मूलप्रकृति के साथ नर और नारी देह का समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध विज्ञान सिद्ध है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि उसी आदि नियम के अनुसार नारी शरीर की शारीरिक और मानसिक चेष्टाएं निजपति के सम्पूर्ण अधीन रहना स्वभाव अनुकूल है। (पृष्ठ १०२); पृ० १०४, ५ में विज्ञान के नाम से बहुपत्नी विवाह और पुरुषों के दुराचार को सहारा दिया गया है। 'धर्माधर्म से अतीत कोई भी स्थान अथवा वस्तु नहीं है।' (पृ० १०७); इससे मनुष्य समाज में नर और नारी दोनों का कदापि समान अधिकार नहीं हो सकता। (पृ० १०५); पीछे कन्या विवाहकाल-निर्णय करते समय, 'सृष्टि क्रिया में नारी देह ही प्रधान है', 'बालक और बालिका इन दोनों के शरीर की प्रकृति को जब देखते हैं तो यही सिद्धान्त होता है कि अष्टवर्ष का बालक परमहंसवत् निर्द्वन्द्व ही रहता है, परन्तु अष्टवर्ष की कन्या अपने आपको नारी शरीर मानकर लज्जा, शीलता, संकोच आदि गुणों से युक्त हो जाती है। (पृ० १०६); [क्या बालक में यह शताब्दियों के अज्ञान और पराधीनत्व का फल नहीं है और कन्याओं में शताब्दियों की जड़ता, दासत्व और श्वश्रू और माता के दबाव का निवारणार्ह परिणाम नहीं है?] 'स्त्री-प्रकृति स्वभावतः मोहमयी और चञ्चला है। उसका पूर्णरूपेण शुद्ध रहना तभी सम्भव है कि नारी-शरीर अपनी चंचलता को प्राप्त करने से पूर्व ही विवाह-संस्कार द्वारा पतिकेन्द्र स्थापनपूर्वक सीमाबद्ध हो जाए, तो उस अन्तःकरण में पुनः चंचलता होने पर भी अन्य अधर्म संस्कार पड़ न सकेंगे, (पृ०१११) 'धर्मशास्त्र विरुद्ध लोक अकीर्तिकर और पापजनक विधवा-विवाह का सिद्ध होना तो सम्भव ही' नहीं सिद्ध किया है। (पृ०१११); नारी जाति की पवित्रता वृद्धि और उसकी आध्यात्मिक उन्नति जितनी की जायगी उतनी वर्तमान सामाजिक रोग की शान्ति होगी, । (पृ० ११२)

इसके आगे शिक्षा की समीक्षा चली है। मातृभाषा को शिक्षा का प्रधान आश्रय बताया है। संस्कृत की प्राचीन शिक्षा पूर्ण परन्तु एकदेशीय होने के कारण एवं नवीन संस्कृत शिक्षा विस्तृत परन्तु असम्पूर्ण रहने के कारण वर्तमान दोनों प्रकार की संस्कृत शिक्षाप्रणाली ही भारतवर्ष के सर्वसाधारण जनों को पूर्ण फल-दायी नहीं हो सकती हैं।' (पृ० ११८); 'फलतः आजकल केवल मुख से जो धर्म-धर्म कहने की रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्म से भारत का कल्याण होना सर्वथा असम्भव है। (पृ. ११६); इसीलिए शिक्षाप्रचार आवश्यक है। 'लौकिक शिक्षा के प्रचार करने में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्म के क्रिया सिद्धांश शिक्षा देने में और वेद तथा वैदिक विज्ञान के शिक्षा देने में अवश्य ही वर्णाश्रम अधिकार का विचार रखना कर्त्तव्य है। परन्तु आर्यजाति के पुनरभ्युदय के अर्थ जब तक सार्वजनिक शिक्षा का विचार

न किया जाएगा तब तक सफलता की सम्भावना नहीं है।' (पृ० १२१); यहां से शारदामण्डल का कागज़ी स्कीम आरम्भ होता है। 'विशुद्ध हिन्दी भाषा ही को' ···'थोड़ा-सा यत्न करने पर ही'···'सर्वसाधारण भारतवासियों के लिए केन्द्र रूपेण स्थापित करना' और 'परम विशुद्ध स्वर्गीय संस्कृत भाषा को पितृस्थानीय और इस हिन्दी भाषा को मातृस्थानीय करके ज्ञान-राज्य में लालित पालित करने की' (पृ० १२४) सम्मति दी गई है। 'ब्राह्मण धर्म्मोन्नतिकारी शिक्षाविस्तार ही के साथ शिल्प, वाणिज्य और कृषि की उन्नति के (!) उपयोगी शिक्षा का भी विस्तार होना उचित है।' (पृ० १२८); इसमें तो सन्देह नहीं कि जब तक संन्यास आश्रम की पुनःप्रतिष्ठा नहीं होगी, जब तक संन्यासीगण निष्काम व्रत की पराकाष्ठा को पहुंचते हुए सदा लोक-हित कार्यों में रत न रहेंगे तब तक आर्य्य जाति की उन्नति असम्भव है (पृ० १२८); इससे गृहस्थ-आश्रम में एक निवृत्ति-मार्ग की श्रेणी बनाकर शिखासूत्र की रक्षा करवाते हुए कर्म-संन्यासियों और निष्काम कर्मयोग परायण कुल कामिनीगण को, वर्तमान सामाजिक घोर रोग का शान्ति-कारक पथ्य बताकर यह अध्याय समाप्त होता है।

बीज रक्षा छठे अध्याय का नाम है। धर्म के कुछ तत्त्वों का वर्णन करके कहा है कि 'सनातनधर्म के इन अङ्गों में से किसी एक को भी पूर्णरूपेण सात्विक रीति से साधन करने से मुक्ति पद तक पहुंचना होता है।' (पृ० १३५); और इसका दृष्टान्त बौद्धधर्म और जापान की उन्नति से दिया गया है। 'सनातनधर्म ही बहु-पुत्रवान् पिता की न्याईं पृथिवी के वैदिक अथवा अवैदिक सब धर्मसम्प्रदायों का प्रतिपालक है।' (पृ० १३६); प्राचीन सम्प्रदाय-भेद का वर्णन करके, आधुनिक 'पन्थों के आचार्यों ने आर्य शास्त्रानुशासन के अतिरिक्त कुछ नवीनता भी कर ली है। इन सब पन्थों में एक विलक्षणता यह है कि वास्तव में चार वर्ण और चार आश्रम के स्थान पर इन्होने केवल दो आश्रम (गृहस्थ और विरक्त) और दो वर्ण (दीक्षित और अदीक्षित) ही नियत रक्खे हैं।' (पृ० १३८); यह कहकर वर्णाश्रम-धर्म की जन्ममूलकता पर कुठाराघात किया है। 'इस काल में चतुर्थाश्रम नाम से कितना प्रपंच हो रहा है सो आश्चर्य्यजनक है, प्राचीनकाल में चतुर्थाश्रम में बहुत अल्पसंख्यक तत्त्वदर्शी ब्राह्मण की पहुंचा करते थे, परन्तु अब नीच-से-नीच जाति पर्यन्त इम आश्रम के वेश और नाम को धारण करके वर्ण और आश्रम-धर्म का नाश कर रहे हैं। इस प्रकार के पंथाई अनाचारों से सनातनधर्म को बहुत कुछ हानि पहुंची है किन्तु [इतना ही स्वतन्त्रता से कह दिया सो बहुत किया]··· सम्प्रदाय और पंथसमूह सब ही वेदानुयायी कहे जा सकते हैं।' (१३९); पीछे आर्य्यसमाज और ब्रह्मसमाज को किंचित् वेदानुयायी कहा है और 'दूरदर्शी पुरुषों का यही विचार है कि अपने निज कुल की ही होने पर भी कालान्तर में सनातन-

धर्म के साथ विरोध की न्यूनता करके ये उसके एक पन्थ ही बन जाएंगे।' (पृ० १४०); आगे नैकटच सम्बन्ध के विचार से बौद्धधर्म जैनधर्म, और पारसी धर्म को लेकर बौद्धधर्म को 'वैज्ञानिक भावों की उन्नति के विचार से उत्तम' कहा है और 'उनमें जितने दोष हैं वे अधिदैव सम्बन्ध से दूर हो सकते थे, इसी कारण सनातनधर्म रूपी पिता की ताड़ना है, नहीं तो सनातनधर्म अन्य धर्ममतों के साथ विरुद्धाचरण करना जानता ही नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथिवी भर के सब वैदिक और अवैदिक धर्म मत समूह ही समदर्शी सनातनधर्म के निकट पुष्टि और तुष्टि के योग्य हैं, केवल आचार के तारतम्य से ही धर्ममतों को वैदिक और अवैदिक संज्ञा में विभक्त किया जाता है।' (१४२)

इस निरपेक्ष और सार्वभौम दृष्टि (पृ० १४२) से यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मों के आचार्यों की सनातनधर्म के गम्भीर सिद्धान्तों को समझने की योग्यता थी अथवा न थी, इसके विषय में विचार करने की विशेष आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उनके पशुवत् देशवासीगण उस समय सनातनधर्म के सिद्धान्तों के समझने की योग्यता नहीं रखते थे' (पृ० १४३); 'यद्यपि शास्त्रों में अभ्युदय का अर्थ 'स्वर्ग' और निःश्रेयस का अर्थ 'मोक्ष' कहा गया है परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि जिससे जीवों की क्रमोन्नति हो उसीको 'अभ्युदय' कहते हैं। (१४४) बाइबल आदि ग्रन्थों के पाठ से उन्हें 'शास्त्रीय ग्रन्थों के छाया से अनुवादित' कहा है और 'उन धर्ममतों की ईश्वरभक्ति, दान, तप आदि धर्माङ्गों का स्थूल अवलम्बन, उनकी स्वर्ग सुख भोग की सद्भावना, उनकी उपासना विधि में स्तुति और जप साधन का अस्तित्व आदि धर्माङ्ग और उपाङ्ग सनातनधर्म मूलक हैं।' (१४५); बहुपुत्रवान् स्नेहमय पिता के सदृश सनातनधर्म ही ज्ञान ज्योति की सहायता देकर पुत्ररूपेण उनकी रक्षा कर रहा है।' परन्तु 'काल दुरत्यय है' काल के जिस विभाग में जिस प्रकार के गुण का परिणाम हुआ करता है सो अवश्य ही होगा। (पृ० १४७); जिस युग में मनुष्यों की जैसी उत्पत्ति और उनके जैसे-जैसे गुणकर्म स्वभाव होना निश्चय है सो अवश्य ही होगा। (पृ० १४६); जिस प्रकार एक ऋतु में उत्पन्न होने वाले अन्नों के बीज की रक्षा अति सावधानतापूर्वक दूसरे ऋतुओं में इस विचार से कृषिजीवीगण किया करते हैं कि जिससे उक्त अन्नों की उत्पत्ति का जब पुनः ऋतु आवै तो उस सुरक्षित बीज से पुनः अन्न उत्पन्न हो सके, उसी प्रकार इस घोरतम प्रधान कलियुग में अन्य युगों के अन्तर्भाव होते समय धर्म और सद्विद्या की बीजरक्षा होना विज्ञानसिद्ध है। (पृ० १४६); [यह निराशा का मूल मन्त्र है। यदि यह टूटी कमर ही महामण्डल की आशा की लकड़ी है तो कुछ नहीं होगा। पुरुषार्थी का लक्ष्य बृहत् और सदाशामय चाहिए। बीजरक्षार्थी

पेड़ों को सुखाकर बीज रखते हैं।] आजकल 'जब सब वर्ण तथा उनकी क्षुद्र क्षुद्रशाएं अपनी-अपनी अढ़ाई चावल की खिचड़ी अलग-अलग पकाने में यत्नवान् हैं।' (पृ० १५०); जब पक्षपाती आचार्यों में परस्पर विरोध करना ही साधनाङ्ग समझा जाता है। (पृ० १५१); जब धर्मविरुद्ध, स्तुति, निन्दा, ईर्ष्या, प्रमाद, खण्डन विग्रह, वाचालता, दम्भ दोषदृष्टि, प्रेमराहित्य, वितण्डा और जल्प आदि की वृत्तियां उसके आचार्य उपदेशक और साधकों में दृष्टिगोचर होती हैं (पृ० १५२), तब महाशा में न फंसकर माया को तरते हुए अपौरुषेय वेदों का अधिकार सर्वोपरि रखकर यथा देश, काल, पात्र, भारतवर्ष के सब प्रान्तों में बीजरक्षा रूप से वैदिक कर्मकाण्ड के सब अंगों के क्रिया सिद्धांश की रक्षा करना सर्वथा हितकारी हैं।' (पृ० १६०); 'जगदीश्वर की नित्य शक्तियों के विभागानुसार ऋषि, देवता और पितर उनकी साक्षात् विभूति हैं और इन तीनों की पूजा जिस जाति में जितनी अधिक रहती है वह जाति उतनी ही उन्नत हो जाया करती है और इनकी पूजा लोप होने के साथ-साथ जातियां नष्ट-भ्रष्ट हो जाया करती हैं।' (पृ० १६०), अन्यान्य जातियां 'पूज्यपाद महर्षियों के प्रीतिकर ऐसे अनेक कर्म करते हैं जैसे नियमित शास्त्राभ्यास की प्रवृत्ति, विद्या और विद्वानों पर श्रद्धा। स्वार्थत्याग, स्वदेशानुराग आदि धर्मसाधन द्वारा वे देवताओं के प्रति सम्पादन करने में स्वतः ही समर्थ हो रहे हैं। मातृसेवा की असाधारण प्रवृत्ति, अपने पूर्वजों की कीर्ति और सन्मानरक्षा आदि धर्मवृत्तियों से वे बिना पितृ यज्ञसाधन किये भी पितरों के आशीर्वाद के भाजन हुआ करते हैं।' (पृ० १६२); [प्रश्न उठ सकता है कि हम गन्धाक्षत छोड़कर उन्हीं की-सी पूजा स्वीकार क्यों न कर लें? या तो जिसे हम पूजा कहते हैं, वह पूजा ही नहीं और या अब देवता, पितर और ऋषि दूसरी तरह की पूजा चाहकर तदनुसार प्रसन्न होने लग गए हैं।] बीजरक्षा में एक आदर्शप्रदेश बनाए रखने का परामर्श दिया गया है जहां शास्त्रों की पूर्ण मर्यादा की कालोनी उसी तरह रहै, जैसे म्यूजियम में 'फोसिल्स' पड़े रहते हैं। योग युक्त होकर समाधि दशा में शरीर त्याग करना और धर्म युक्त होकर युद्ध में शरीर त्याग करना ये दोनों अभ्युदय कर हैं। इन दोनों संस्कारों की बीजरक्षा अवश्य कर्त्तव्य है। (पृ० १६५); संन्यास-आश्रम सब आश्रमों का गुरु स्थानीय है परन्तु उसकी बीजरक्षा में असुविधा यह है कि इस आश्रम पर अन्य किसी का भी आधिपत्य नहीं है, संन्यासाश्रम स्वाधीन और प्रबल है। (पृ० १६५); इससे उसके पीठाध्यक्ष भी उसे सुधारें [हाथ जोड़कर निवेदन है कि जो धर्म की मारी खलकत इन्हें रोटियां खिलाती है वह क्यों न कुछ कहै? सब आश्रम गृहस्थ का उपजीवन करते हैं। हिन्दू-समाज के संशोधकों को यह मालूम होता है कि ब्राह्मणों या नाम मात्र ब्राह्मणों का अत्यधिक और दुरुपयुक्त प्राबल्य भी हिन्दू-

धर्म का अधिक अवनति कारक है। समाज उस बन्धन को ढीला करने के लिए छटपटा रहा है जिससे योरोप में हिन्दू-धर्म की परिभाषा ब्राह्मणों का रोटियां खा सकने का एकच्छत्र स्वाधीनत्व हो गई है। उस पर यह नया निगड़ डाला जाएगा क्या ?]

अस्तु, सनातनधर्म के उन अङ्गों की बीजरक्षा सब तरह से कर्त्तव्य है जिनके द्वारा सनातन धर्म के महत्व का विकास बना रहे, प्रजा में ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज की बीजरक्षा हो, वर्णाश्रमधर्म नष्ट हो सकें, सतीत्व का तीव्र संस्कार[1] आर्य नारियों में से विलुप्त न होने पावे, आर्य प्रजा में ज्ञानशक्ति और अर्थशक्ति बनी रहै और साथ-ही-साथ जाति का लौकिक अभ्युदय भी होता जाय। (पृ० १७३) तथास्तु।

सातवें अध्याय का आरम्भ कुछ खैंच-खांच से सिद्ध करता है कि 'श्री भारत-धर्ममहामण्डल' का विराट् धर्म-कार्य साधारणतः सर्वलोकहितकर और विशेषतः आर्यजाति का पुनरभ्युदयकारी होने से महायज्ञपदवाच्य है इसमें सन्देह नहीं। (पृ० १८०); उसके ठीक चलानें के लिए वेदव्यासजी के अनुसार—

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च संघशक्तिः कलौ युगे॥

नियमबद्ध प्रबन्धशक्ति की उचित प्रधानता दिखाई गई है (टट्टी की ओट में पुतलियों का नाच न कराया जाय तो यही आदर्श है)। सुकौशल पूर्ण कर्म को 'योग' कहते हैं। (पृ० १९१); और तदनुसार प्रतिनिधि के चुनाव करने का अधिकार देकर समझाया गया है कि ऐसे नियम द्वारा प्रजा की प्रतिनिधि चुनने की योग्यता बढ़ैगी। (पृ० १९३); (क्या यह प्रजातन्त्र नहीं है ?) बड़ा सुन्दर प्रोग्राम और प्रोस्पेक्टस देकर पश्चिम शिक्षा से विकृत मस्तिष्क मनुष्यों के धर्म-हीन उन्नति के उन्माद का यों खण्डन किया गया है। "यह अति प्राचीन जाति अपने अति प्राचीन संस्कारों से इस प्रकार आबद्ध है तथा सर्व मनुष्य जाति की पितामह रूपी आर्य्यजाति अपने एक अलौकिक धर्मसिद्धान्त और वैज्ञानिक भाव समूह के तीव्र संस्कारों से ऐसी ओतप्रोत है कि उनके बिना इस जाति की स्थिति और उन्नति असम्भव है। (पृ० २०४); वस्तुतः सनातनधर्म भिन्नेष्वभिन्नं कई

१. माघ मेले पर न मालूम क्यों 'राघवेन्द्र' साहब डेली हुए थे। न उनने माघ मेले का इतिहास दिया न समाचार। इधर-उधर के कटाक्ष और प्रलापों में उनका 'द्विर्नाभि-भाषते' हो गया। उनने दर्भंगा-नरेश की राजभक्तिमय वक्तृता के तर्जुमे में जो "तीक्ष्ण-स्वार्थ' का फिकरा सूपयुक्त किया है उसीके वजन का यह तीव्र संस्कार है।

बाजों का मिला हुआ वाद्य है जो भिन्न-भिन्न होने पर भी एक मधुर स्वर देते हैं। (पृ० २०८); [यदि कोई असहिष्णु कर्णकटु तान छेड़कर स्वारस्य को न बिगाड़े तो] 'काल पितारूप है। पितृसेवा द्वारा जिस प्रकार पुत्र को सब प्रकार के कल्याण के साथ-ही-साथ उसको (?) समग्र पैतृक विभूति प्राप्त हो जाया करती है उसी प्रकार काल के अनुसार प्राकृतिक प्रवाह के अनुकूल चलने पर मनुष्य को सब प्रकार का अभ्युदय प्राप्त हुआ करता है और काल के विरुद्ध चलने पर विपत्ति और विफलता का होना अवश्य सम्भवी है। अस्तु, आर्य जाति को भी अपने सदाचार अपने सद्भाव और अपने धर्म की रक्षा करते हुए काल-प्रवाह के अनुकूल आत्मोन्नति करना कर्त्तव्य है। (पृ० २०८); जिस प्रकार अन्य धर्ममतों के नेतागण पदार्थ विद्या आदि ज्ञान की वृद्धि से भयभीत हुआ करते हैं उसी प्रकार सनातन धर्म के नेताओं को भयभीत होने का कुछ कारण नहीं है। (पृ० २०९); कालवादी, प्रारब्ध पक्षपाती और पुरुषार्थहीन व्यक्तिगण की इस दुःशंका का, कि काल के विरुद्ध कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, यों समाधान किया गया है कि एक काल विशेष में उत्पन्न हुए जीव समष्टि के कर्मों के द्वारा ही काल का स्वरूप भासमान होने लगता है, नहीं तो यथार्थ में काल निर्लिप्त और निर्विकार है (२११)। कर्म का फल अवश्य सम्भावी है। (पृ० २१३); इसके पीछे परात्पर परमेश्वर की स्तुति से लेखिनी पवित्र करके लेखक अपनी इस रचना को समाप्त करता है।

इस पुस्तक को पढ़कर हृदय में यह भाव उठता है कि वर्तमान व्यवहार में जो धर्म का अर्थ लिया जाता है, उस अर्थ में यह धर्म की पुस्तक नहीं है। आजकल वह सार्वजनिक प्रीतिभाव 'जातीयता' के नाम से कहा जाने लगा है। यद्यपि नाम में कुछ नहीं है, और समाज के धारण की शक्ति रखनेवाला विचार और उदार भाव ही कर्म, जातीयता, धर्मपरम, धर्म, ड्यूटी, सत्य वा राइट (ऋत) कहलाया करता है, तो भी यह पुस्तक जातीयता वा नैशनेलटी बना सकती है, और यदि यह महामण्डल का अनुशासन ग्रन्थ है, तो महामण्डल पहले जातीयभाव को रखकर धर्मभाव को उस पर चिपकाना चाहता है; न कि धर्मविहीन उन्नति को दुर्गति कह कर दुर्गति सहित धर्मान्धता को ही परमोन्नति मानता है। महामण्डल का वास्तव में जन्म खण्डन-मण्डन में हुआ था। समय प्रभाव से उसके सिद्धान्तों में इस प्रकार की सार्वभौमता आ गई कि विधवा-विवाह के आनुषङ्गिक खंडन के सिवा उसमें कोई भी सीधा या तिरछा आक्षेप औरों पर नहीं है। या यों कहो कि **यह एक अकबरी धर्म की पुस्तक है**। हमारे एक मित्र से, हमें सखेद निवेदन करना पड़ता है कि यह पुस्तक अकबरी धर्म की ही है। उनने एक महापुरुष के देशोपकारी कार्यों का अनुमोदन करने वाले एक मनुष्य को आत्मघात

करने की सलाह दी है। यह मनुष्य चाहै आतमघात करे, चाहे न करे, हम एक दूसरे मनुष्य के कई आतमघात देख चुके हैं। एक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में से कृष्णपरीक्षा आदि पुस्तकों के न निकाले जाने पर हुआ, एक रमेशचन्द्र दत्त ने इतिहास के छप जाने पर त्रिवेणी में झम्पा हुई और एक प्रयाग में महासभा के सफलता से हो जाने पर हुआ होगा। शायद चौथा इस पुस्तक को पढ़ने पर होगा, क्योंकि यह खासा अकबरी धर्म है जो साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष को बुरा मानता है, थियासाफी के नाम पर ही नहीं चिढ़ता, और जापान और बौद्धधर्म तक को अपने उदार वक्षःस्थल से प्रेमपूर्वक लगाता है। अब वे लोग क्या कहेंगे जो राजनीति और देशप्रेम के फैलाने वालों को राममोहन राय का अनुयायी कहते हैं, जब महामण्डल ही स्वदेश के अभ्युदय को कर्त्तव्य कोटि में आगे रखता है जैसा हमारे दिए विपुल अवतरणों से स्पष्ट हो गया होगा? परन्तु जिनका मत औरों के काम में दोष मात्र देखने और स्वयं कुछ भी न कर सकने या दाँत पीसने का ही मतवालापन है उन्हें इससे क्या शिक्षा मिल सकती है? दूसरे का अभ्युदय देखकर, दूसरे की योग्यता और ख्याति सुनकर, औरों का यश और परोपकार सुनकर, जिन्हें पुराना दाह याद आ जाता है या जो पुराने घावों के हरे हो जाने से ईर्ष्या के चक्र में पिसने लगते हैं, उन्हें ईश्वर ही सुमति दे! खैर—

परनिन्दासु पाण्डित्यं स्वेषु कार्येष्वनुद्यमः।
षिद्वेषश्च गुणज्ञेषु पन्थानो आपदां त्रयः॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च १९०६ ई०]

'भारतमित्र' की उपहार पुस्तकें

भारतमित्र-सम्पादक से हम क्षमा मांगते हैं कि उनके इस वर्ष के उपहार की हम अब तक समीक्षा न कर सके और आज भी और विषयों में अधिक समय दे चुकने पर अपना वक्तव्य संक्षेप से कहते हैं। हिन्दी के पत्रों में सबसे अच्छा उपहार 'भारतमित्र' का होता है जो न केवल पत्र के लिये ग्राहकों और पाठकों

को खेंचता है, प्रत्युत भाषासाहित्य में उन अमूल्य ग्रन्थों को भी छाप देता है जिनका प्रकाशन और तरह असम्भव होता। इसका दृष्टान्त इस वर्ष के उपहार की प्रधान पुस्तक **जहांगीरनामा** है।

मुन्शी देवीप्रसाद जी ने इस उपयोगी इतिहास को शोधा ही नहीं, परन्तु सरल और रोचक भी बना दिया है। संवत् १६६३ में, संवत् १६६३ का जहांगीर का राजपूताने का दौरा पढ़कर आश्चर्य होता है कि वह फलसस्य सम्पन्न जलमय देश क्या यही मरुस्थल है और तीन सौ वर्ष की भारतवर्ष की आर्थिक अवनति का अस्थिमय चित्र आंख के सामने अंकित हो जाता है। अच्छा होता यदि भिन्न रुचि के पाठकों का प्रसाद उतना प्रधान न होता तो, यही ग्रन्थ उपहार में एक भाग न दिया जाकर समग्र दिया जाता। अभी 'राजतरङ्गिणी' का ऋण 'भारतमित्र' पर है।

शिवशम्भू का चिट्ठा उपहार की दूसरी पुस्तक है जिसने अच्छी प्रसिद्धि पाई है। सरल भाषा में राजनैतिक परिहास के साथ निशाने की चोट विरल ही होती है।

दशकुमारचरित का हिन्दी छायानुवाद छोटा और संक्षिप्त होने पर भी पठनीय है। भूमिका में विप्रचन्द' कहते हैं—" दशकुमारचरित' भाषा और साहित्य के गुण से खूब प्रशंसा के योग्य है किन्तु मनुष्य-चरित्र के जो आदर्श इसमें दिखाये गये हैं उनके कारण निन्दा के योग्य है।"

हमारी दृष्टि में इस उपहार की प्रधान और अवेक्षणीय पुस्तक बाबू बाल-मुकुन्द गुप्त की **स्फुट कविता** है। इसमें हिन्दी के नश्वर सामयिक पत्र-साहित्य के रसांश को अमर करने का यत्न किया है जो हम आशा करते हैं सफल और अनुकरणीय होगा। पं० प्रभुदयालु पांडे की ऐसी कविताओं का संग्रह करना भी हम उनके प्राचीन सखा भारतमित्र-सम्पादक का ही कर्त्तव्य समझते हैं। जो कविताएं पहले कभी राग-द्वेष या अखबारी लड़ाई के समय में लिखी वा पढ़ी गई थी, उन्हें अब झगड़े की आग बुझ जाने पर यों पढ़ने में एक अपूर्व भाव का उदय होता है। 'भूमिका' में क्या चोट के वाक्य लिखे गए हैं—"भारत में अब कवि भी नहीं हैं, कविता भी नहीं है। कारण यह कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश देश था और यहां के लोग स्वाधीन थे तब यहां कविता भी होती थी। उस समय की जो कुछ बची-खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिये अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौन दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहां ? फिर हमारी कविता क्या और

उसका गुरुत्व क्या ? इससे उसे 'तुकबन्दी' ही कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हँसी होती है, वही दोनों बातें इस तुकबन्दी में हैं।"

चाहे गुरुजी इसे तुकबन्दी कहैं, और हँसी-दिल्लगी की मात्रा अधिक होने से, चाहै यह वैसी कहला भी सके परन्तु शोभा और श्रद्धा में कहीं-कहीं कवि को कवि के स्वर्गीय मनोराज्य की छटा का दर्शन हो गया है। और क्यों न हो—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
सदा करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।

विशेष बात यह है कि यह कवि भारतवर्ष का कवि है, दुःखी रोगी, भूखे भारत का तुकबन्द है। दिल्लगी के दालान में, श्रद्धा शोभा के शृंगार में, वा स्तुति के सुमनोराज्य में, वह भारतवर्ष से भाग कर आकाश में जाकर नहीं टंक जाता। यहां तक कि लक्ष्मी-स्तुति में भी वह कहता है—

गज, रथ, तुरग, विहीन भये ताको डर नाहीं,
चंवर छत्र को चाव नाहिं हमरे उर मांहीं।
सिंहासन अरु राजपाट को नाहिं उरहनो,
ना हम चाहत अस्त्र वस्त्र सुन्दर पट गहनो।
पै हाथ जोरि हम आज यह, रोय रोय विनती करें।
या भूखे पापी पेट कहं, मात कहो कैसे भरें?

यही रंग सर सैयद के बुढ़ापे के पंखेवाले में है और यही मेघागमन में—

'तेरे बल जो दाने निकसे परबत फार,
बिन तो सो होय गये जरि बरि के छार।'

इसी लेखक ने अपनी पहली तुकबन्दी 'भैंस का स्वर्ग' नामक में वह 'दिव्य-अस्थान' ऐसा बनाया है—

कच्चे तालाबों में आधा कीचड़ आधा पानी है।
वहाँ नहीं है मनुष्य कोई बन्धन तांडव करने को॥
है सब विधि सुविधा स्वच्छन्द विचरने को और चरने को॥
वहां करै है भैंस हमारी क्रीड़ केलि किलोल।
पूंछ उठाये भ्यां-भ्यां रिडके मधुर मनोहर बोल॥

कभी मस्त होकर लोटे है तालाबों के बीच।
देह डबोये थूथन काढ़े तन लपटाये कीच॥
कभी वेग से फदड़क-फदड़क करके दौड़ी जाती है।
हलकी क्षीण कटी को सबको नाजुकपन दिखलाती है॥
सींग अड़ाकर टीले में करती है रेत उछाल।
देखते ही बन आता है बस उस शोभा का हाल॥

परन्तु कवि ने यह ठीक नहीं किया 'जहां न पहुंचे रवि, वहां जाय कवि'— उसकी आत्मा तो वहां पहुंच गई और उसने सुख के परममूल तत्व 'वहां नहीं है मनुष्य कोई बन्धन ताड़न करने को' को स्मर्तव्यशेष कर दिया ! अब स्वच्छन्द विचरना, चरना और रोंथना नहीं हो सकता !! यह भैंस भवानी की सेवा करने के अभ्यास का फल है !! अस्तु स्वर्ग का ध्यान टूट जाने से रुष्ट भैंस चाहै पंछ उठाकर टांग उछाले, परन्तु—

सर्वथा व्यवहर्तव्ये कुतो ह्यवचनीयता ?
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

धर्मसंग्रह

सुना गया है कि पण्डित बुलाकीरामजी शास्त्री विद्यासागर (यह उपाधि महामण्डल की नहीं है, बंगदेश की है) एक धर्मसंग्रह की क्रमिक पुस्तकमाला बना रहे हैं। इधर मान्यवर पण्डित मदनमोहन मालवीयजी का 'धर्मसंग्रह' सान्तःपत्र होकर विद्वानों में बांटा जा रहा है। विशुद्धानन्द विद्यालय की ऋजुस्तवमञ्जूषा की भी बहुत स्तुति हो रही है। मद्रास में भी एक जातीय भाव का पोषक संग्रह ग्रन्थ छपा है। कलकत्ते में शिक्षाविभाग के एक सज्जन ने बंगला में धर्म के मूलतत्वों और प्रमाणों का छोटा-सा संग्रह छापा है। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है और समाज

'अपास्य फल्गु' संक्षिप्त धर्मनियमों में अपवाद और उत्सर्ग का नियम प्रवृत्त करना चाहता है ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

नवीन भारत - १

हमको यह प्रकाशित करते बड़ा हर्ष होता है कि श्रीमान् भारतहितैषी सर हैनरी काटन के बनाए **न्यू इण्डिया** नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होना ही चाहता है । अभी उस दिन एक विलायती पत्र में पढ़ा था कि जापानियों को भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति बताने के वास्ते वह पुस्तक स्वीकृत हुई है और उसका जापानी भाषा में अनुवाद हो गया है । मान्यवर सर हैनरी काटन का-सा स्वार्थत्यागी और सत्यप्रेमी मनुष्य विरला ही होगा जिसने भारत सरकार के उच्च पदों का लोभ न करके विचारे कुलियों की हिमायत की, अपनी जाति का कोप सहा, और इस अमूल्य पुस्तक में अपने उदार सिद्धान्त निर्भीक होकर प्रकाशित किये । अब पैंशन पाए पीछे भी वे जातीय महासभा के सभापति बनने के लिए भारतवर्ष में आए और पूरी नमकख्वारी के साथ भारतवर्ष के हित का उदार पक्ष ऐसी दृढ़ता से लेते हैं मानो वे भारतवर्ष के वकील हों । कलकत्ते में उन्हें विदा करने को जो सभा भरी थी उसमें यह प्रस्ताव हुआ था कि 'न्यू इण्डिया' सब लोग पढ़ें और भारतवर्ष की देशी भाषाओं में यह गौरव हिंन्दी भाषा को ही शीघ्र प्राप्त होने वाला है कि ऐसे अमूल्य ग्रन्थ का इसमें अनुवाद छपा । राजस्थान के कुछ कृतविद्य सज्जनों ने इसके अनुवाद में बहुत ही परिश्रम किया है और मनीषि समर्थदानजी इसको इस शीघ्रता से प्रकाशित कर रहे हैं कि काशी की जातीय महासभा में समवेत भारतहितैषियों को यह कदाचित् मिल सकैगी । हमैं जो इसके एडवान्स शीट्स मिले हैं उनसे अनुमान होता है कि पुस्तक डिमाई २५० पेज से कम की न होगी और मूल्य एक रुपये से अधिक न होगा । वर्त्तमान राष्ट्रीय आंदोलन और जागरण के समय में इस पुस्तक का श्रेयस्कर प्रचार जितना अधिक हो उतना ही अच्छा । आजकल स्वदेशीय आन्दोलन

जो छिड़ रहा है उसके विषय में, अपने ग्रन्थ में, सर हैनरी काटन ने जो कुछ भारतवर्ष का इकॉनामिक प्राब्लेम पर लिखा है, वह अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। उसमें से कुछ वाक्य यहां पर उद्धृत किये जाते हैं—"भारतवर्ष के इतिहासकर्त्ता प्रोफैसर हेरिस हेमन बिलसन साहब का निम्नलिखित कथन और भी प्रबलतर है :—

सन् १८१३ ई० में यह वर्णन किया गया था कि उस समय तक भारत का सूती ओर रेशमी माल इंगलैण्ड के बाजार में वहां के बने हुए माल की अपेक्षा पचास से साठ प्रति सैंकड़े कम कीमत पर बेचा जा सकता था। इसलिए भारतीय माल की कीमत पर सत्तर या अस्सी सैंकड़ा कर लगाकर अथवा प्रकाश्य रूप से उसकी आमद को रोककर इंग्लैण्ड के माल की रक्षा करना आवश्यक समझा गया। यदि ऐसा नहीं किया जाता, यदि ऐसा भारी कर लगाकर भारतीय माल का प्रचार इंगलैण्ड में न रोका जाता, तो पेसली और मेनचेष्टर के कारखाने प्रारम्भ ही में बन्द हो गये होते और वे फिर वाष्पयंत्र के बल से भी कदाचित् ही जारी हो सकते। भारत के कारखानों की बलि चढ़ाकर ही इन कारखानों का जन्म इंङ्गलैंड में हो सकता था। यदि भारतवर्ष स्वतंत्र राज्य होता तो वह निस्संदेह यथोचित उत्तर देता, इंगलैंड से आने वाले माल पर बहुत भारी और हानिकर कर लगाकर अपना बदला लेता, और अपनी लाभदायक कारीगरी को भी नष्ट होने से बचा लेता। उसको अपनी आत्मरक्षा करने की आज्ञा इसलिए नहीं मिली कि वह विदेशियों की अधीनता में था। जो अंग्ररेजी माल भारतवर्ष में आता था उस पर कुछ भी कर नहीं लगाया जाता था और यही कारण है कि विदेशीय कारीगर पक्षपात और अन्याय द्वारा अपने प्रतिद्वंद्वी भारत के कारीगरों को दबाकर अन्य उनका सर्वनाश करने में समर्थ हुए; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वे लोग भारतवर्ष के कारीगरों की समता कदापि नहीं कर सकते थे।"

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर १९०५ ई०]

नवीन भारत–२

ता० २७ दिसम्बर १९०५ को सर हेनरी काटन के **नयू इण्डिया** का हिन्दी अनुवाद काशी में प्रकाशित हो गया। इस **नवीन भारत** के अनुवादकर्ता श्री गणेश-

नारायण सोमाणी हैं, 'प्रकाशक' मनीषि समर्थदान, राजस्थान-समाचार यन्त्रालय, अजमेर हैं। पुस्तक में प्रायः ३०० पृष्ठ हो गए हैं और मूल्य डेढ़ रुपया है। पहले हम लिख चुके हैं कि इसका हिन्दी में प्रकाशित होना हिन्दी का एक प्रकार से सौभाग्य मानना चाहिए। राजनीति विषयों की कोई भी पुस्तक हिन्दी में इतना बड़ी नहीं थी, और हम आशा करते हैं कि इसका इतना प्रचार होगा कि साधारण अंग्रेज़ी न जानने वाले मनुष्य भी इसके पढ़ने से सामयिक राजनीति में अच्छी योग्यता पाने का अवसर न चूकेंगे। इसके दशों अध्यायों में भारतवर्ष की सरकार और प्रजा के सम्बन्ध प्रबल प्रमाणों से दिखलाये गए हैं। 'ज्यों-ज्यों भारतवासी सुशिक्षित, स्वतंत्रता प्रिय, और देशभक्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों यह बात और भी स्पष्टरूप से प्रकट होती जाती है। जो योग्य और साहसी भारत-वासी हमसे ही विद्या प्राप्त करके सभ्य हो गए हैं, वे अपने विस्तृत होते हुए नए विचारों के कारण आत्मोन्नति की इच्छाग्नि से प्रदीप्त होकर हमसे ऐसी-ऐसी बातें मांगने लगे हैं जो सर्वथा उचित हैं और जिनका अस्वीकार करना बहुत कठिन है। भारतवासियों की उन्नति के महासागर की लहरें अग्रेज़ों के पक्षपात रूपी बन्धे से टकराती हैं। (भूमिका : पृ० १)

मैं जिस नीति का समर्थन करता हूं उसकी सफलता में बहुत से वर्ष ही क्या, बहुत-सी पीढ़ियां भी व्यतीत हो सकती हैं। परन्तु यह वह नीति है कि जिसे हमको सदैव दृष्टि में रखना चाहिए और जिसे पूरा करने के लिए हमारा सदैव प्रयन्न रहना चाहिए। कभी-न-कभी (शीघ्र हो या देर में) भारतवर्ष पूर्वीय राष्ट्रों में अपनी पुरानी योग्यता को अवश्य पावेगा। इसलिए हमको चाहिए कि उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग को सुगम करें। (पृ० २०३)।

इंगलैण्ड की वास्तविक राजनीति की यही कुंजी है कि वह अपने बड़े-बड़े उपनिवेशों को अपने राज्य में नहीं मिलाता, बल्कि उनको आत्मशासन का स्वत्व प्रदान करता है। भारतवर्ष के भावी भाग्य की भी यही कुंजी होनी चाहिए। रूस की दशा से हमारी दशा बिलकुल नहीं मिलती। (पृ० २०५)

अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है और छपाई भी खासी है। वास्तव में पुस्तक तो यह ऐसी अच्छी है और ऐसे सुन्दर विचारों से भरी है कि हम और कुछ न कहकर हिन्दी पढ़ने वाली पब्लिक से निवेदन करते हैं कि आगामी कांग्रेस तक इसका कम-से-कम द्वितीय संस्करण करने के लिए प्रकाशकों को उत्साहित करें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च १९०६ ई०]

पंचगीत

मथुरा के सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार ने कृपापूर्वक हमें अपनी **पंचगीत** नामक पुस्तक भेजी है। इसमें उनने 'रचना अनुपम रसखान मनोहर मञ्जु मधुर अति सुधा समान' भागवत के वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत और महिषीगीत का समश्लोकी अनुवाद किया है। जैसी छपाई-सफाई सुन्दर हैं, वैसी ही कविता की सरसता और सुखपाठ्यता भी है। 'भूमिका' में सेठ साहब 'संस्कृत जैसी सर्वोच्च श्रेणी की भाषा का यथार्थभाव और रोचकता' भाषान्तर में लाना नितान्त कठिन मानकर भी कहते हैं कि 'समश्लोकी अनुवाद प्रायः इस अभाव की पूर्त्ति कर सकता है।'

हमारे गत में समश्लोकी अनुवाद का पक्षपाती संस्कृत जैसी समासबहुल और संक्षेपसह भाषा को विस्तारभार भरित हिन्दी में लाने की कठिनाई के साथ-साथ संस्कृत की तुकान्तहीन कविता में तुकान्त बैठाने की दिक्कत के भी परवश हो जाता है। तो भी सेठ साहब का अनुवाद प्राञ्जल है, सरस है, श्रवणमधुर है। पण्डित लेले ने मराठी में जो 'मेघदूत' का समश्लोकी अनुवाद किया है, उतना मधुर यह न हो सका। लेलेजी ने समश्लोकी के पक्षपाती होकर भी चार ही चरणों में पूरे मूल को जकड़ना उचित न समझा, प्रत्युत आवश्यकतानुसार डेढ़, अढ़ाई वा तीन श्लोक तक अर्थ को फैलाया है। 'अपिवत हृतचेता उत्तमश्लोक-जल्पैः' का अनुवाद है—'सुनि रुचिर बड़ाई सांच ही वो ठगाई।' राधाचरण गोस्वामीजी ने इसी को यों बनाया था—'अहह ! मन हरो है उत्तमश्लोकवाणी।' गोस्वामी जी ने ब्रजभाषा ही से काम लिया है। सेठ साहब ने आधुनिक हिन्दी कविता के सभी रूपों को काम में लिया है, इसीलिए कीयो, प्रीय प्रभृति भी उन्हें काम में लेने पड़े हैं। अनुवाद की मनोहरता का एक नमूना दे देते हैं—

भ्रमरगीत

मधुप ! कितवबन्धो ! मा स्पृशांघ्रि सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः।
बहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं,
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥

सेठ कन्हैयालाल का अनुवाद—

मधुप ! पद हमारे नाँ छुओ धूर्त प्यारे !
सँवत कुचन-माला कुंकु मूछें लगा रे !

धरहु मधुपती उन मानिनी के प्रसादू,
हँसत यदु सभा जो दूत ऐसा बना तू।[1]

'गोपीगीत' और 'युगलगीत' का पाठ बहुत ही आनन्ददायक मालूम हुआ। सेठ जी की अच्छी शक्ति के सदुपयोग का हम और भी नमूना देखना चाहते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

मनोविनोद

पण्डित श्रीधर पाठक की स्फुट कविताओं का दूसरा संग्रह **मनोविनोद** चार आने में पं० गिरिधर पाठक : नं ४, पश्चिम खुसरोबाग, इलाहाबाद से मिलता है। इसमें ३० विषय हैं और—

योग्यता उपेक्षित रहती है, विज्ञता अनादृत रोती है।
आपस का नेह नस जाने शिष्टता भ्रष्ट पद होती है॥

—इसका सिद्धान्त वाक्य है। कुछ कविताएं तो इसमें अधूरी होने पर भी इतनी मनोहारिणी हैं कि पाठक जी के सुकवित्व की मर्यादा की ठीक रक्षा करती हैं। इस संग्रह में एडविन अञ्जलेना, ग्रीष्मवर्णन, वर्षावर्णन, स्फुटपद, और चिन्तय मातरं, बहुत ही सुन्दर जान पड़े। 'मनोविनोद' के प्रथम खण्ड की 'भूमिका' में प्रकाशक ने लिखा था कि अपने बालकपन की कविता श्रीधर जी को अब पसन्द नहीं। फिर आत्मन्यप्रत्ययं चेतः' होने पर भी प्रकाशकों ने इसे प्रकाशित कर दिया है। यद्यपि माधुर्य और विषय-बाहुल्य में यह मनोविनोद के प्रथम खण्ड को नहीं पाता, तो

१. गोस्वामी राधाचरण का अनुवाद—

मधुप! कितवबन्धो! छू न पा सौतिनी के,
कुचविलुलितमालाकेसरी मुच्छ से मो।
बहतु मधुपती वा मानिनी के प्रसादै,
यदुसभहि बिगोयो जासु को दूत ऐसो॥

भी संग्रह के योग्य है । क्या इसके प्रकाशकों को पाठक जी की कविता के अमरत्व में इतना विश्वास है कि उनके पत्रों में से साधारण श्लोक और आगरा कालेज की मासिक परीक्षाओं में अनुवाद के छन्दोबद्ध उत्तर तक छाप दिए और भूल जाने योग्य नहीं माने गए ? यों तो पं० श्रीधर जी सुकवि हैं, सम्भव है कि उनने पोप कवि की तरह पिता की ताड़ना का भी उत्तर कविता में दिया हो और उनका बालकपन का गुनगुनाना भी अकवियों की कल्पना से खरा माना जाय, परन्तु 'उजाड़ गाम' के कर्त्ता का महत्त्व इन पत्रों और परीक्षानुवादों के छापने से कहां तक बढ़ा है ? खैर, ''सत्सूत्रं सर्वदामोघं सूक्तयः सर्वदाऽनघाः ।''

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च १९०६ ई०]

धर्मसंगीत

पण्डित राधाकृष्ण मिश्र ने सात भागों में **धर्मसंगीत** नामक उपादेय संग्रह निकालना आरम्भ किया है। इनमें पहला 'जातीय संदर्भ' श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में छप गया है और तीन आने में 'श्रीभारतधर्ममहामण्डल-कार्यालय' से मिलता है । 'भूमिका' में संगीत और ऐसे संग्रह की आवश्यकता अच्छी तरह बताई गई है और संग्रह में बहुत ही सुन्दर-सुन्दर पद हैं। हिन्दी के कई प्रसिद्ध लेखकों के प्रायः लुप्त पदों को यों फिर व्यवहार में लाने के लिए हम सम्पादक के कृतज्ञ हैं। यदि धर्म-सभाओं की मण्डलियां कलहमय गीत न गाकर इसका उपयोग करें तो धर्मभाव के साथ-साथ जातीय भाव भी बढ़ै । इस में से 'जय भारतभूमि' समालोचक की इस संख्या में उद्धृत किया है । हम चाहते हैं यह सातों भागों का संग्रह शीघ्र पूरा छपे और एक क्रन्दमान अभाव की पूर्ति करै ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

समुद्रयात्रा पर व्यवस्थाएं

आजकल विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा के बारे में बहुत कुछ लिखा-पढ़ी पत्रों में हो रही है। काशी सनातन हिन्दूधर्म का किला मानी जाती है। वहीं के महा-महोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी और काशी-नरेश ने व्यवस्था दे दी है कि विदेशयात्रा करने में कोई दोष नहीं है।

इस विषय की दो पुस्तकें मेरे सामने आज आई हैं। एक का नाम है—**द्वीपान्तरगमन-विचार** यानी दूसरी **विलायतों में जाने का निर्णय,** जिसको नेपाल देश के प्रसिद्ध मंत्री महाराजा सर जंगबहादुर की प्रार्थना से राजकीय मुख्य पाठशालाध्यापक, काशी के प्रसिद्ध विद्वच्छिरोमणि श्रीबाल शास्त्री जी के शिष्य पंडित रमानाथ शास्त्री ने बनाया। संवत् १९३७; सन् १८८० काशी में छपा।

दूसरी के टाइटल पेज़ पर लिखा है— **खण्डान्तर पर्यटन निर्णय** अर्थात् समुद्र-पार टापुओं में जाने का विचार जिसकी; सर टी० माधव राव की प्रार्थना से दक्खिन देश के प्रसिद्ध पण्डित श्री राजू शास्त्री के शिष्य वेंकटेश शास्त्री ने बनाया था जिसका उल्था हिन्दी में पण्डित रामकृष्ण शास्त्री ने किया और सम्वत् १९३९ में छपा, इन्दोर।' प्रत्येक का मूल्य चार आने है, परन्तु दोनों साथ लेने से छः आने में मिल सकती हैं। मिलने का पता : मुंशी देवीप्रसाद जी, जोधपुर राजपूताना।

इन दोनों पुस्तकों में तर्क इस चाल पर चलाया गया है कि धर्म का मूल या तो वेद है या पुराने शिष्यों का आचार, अर्थात् जो काम पुराने महात्माओं ने, शिष्टों ने अच्छा समझकर किया कोई उसके लिए उनमें दोष या प्रायश्चित्त नहीं माना तो वह काम करने में दोष नहीं है। इसी प्रमाण पर इनमें पंचपण्डित राम, लक्ष्मण, विक्रम, भास्कराचार्य आदि के उदाहरण पुराण-इतिहास आदि से दिखाए हैं कि ये लोग परयन्त देशों में समुद्र को तैरकर गये परन्तु प्रायश्चित्तादि कुछ नहीं किया। इससे विद्या के लिए, युद्ध के लिए, धन कमाने के लिए विदेशयात्रा में कोई दोष नहीं और न किसी प्रायश्चित्त की जरूरत है। हाँ, न करने से करना भला है। इस नियम के अनुसार गायत्री जप, ब्राह्मण भोजन, दान आदि करना चाहिये। यही इन पुस्तकों का सार है। एक में वैदिक राजा भुज्यु की सौ डांड़ वाली नौका का भी उल्लेख है।

दोनों पुस्तकें इस विषय के खोजियों के पढ़ने योग्य हैं। इस विषय पर लिखने वाले और भी कई हैं जिन्होंने समुद्रयात्रा को कलियुग में वर्जित और पातक ठहराकर उसके प्रायश्चित्त कहे हैं परन्तु इन दोनों में शिष्टाचार को प्रमाण

देकर विदेशयात्रा न अधर्म था न अधर्म है और उसके लिए प्रायश्चित्त की जरूरी नहीं, ऐसा कहा है। विशेषकर विद्योपार्जन के लिए विदेश-यात्रा का स्पष्ट उल्लेख किया है। यह व्यवस्थाएं तीस-पैंतीस वर्ष पहले कभी थीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि तीस वर्ष पहले की व्यवस्थाओं पर लोग चले क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि हिन्दू-धर्म के कर्णधार बनने वाले अनेक पंडित आचार्य और पञ्च मुँहदेखी बात करते हैं, शास्त्र और धर्म देखकर नहीं चलते। धर्म सबके लिए एक सार नहीं माना जाता: जितना मेल होता है उतना व्याख्यान किया जाता है यदि कोई राजा महाराजा वा मंत्री विदेश जाता है वा किसी को भेजता है तो उसकी मनचाही व्यवस्था मिल जाती है और उसके लिए पातक नहीं रहता परन्तु यदि कोई विद्यार्थी या व्यापारी या देश-हितैषी जाता है जिससे 'शाकाय वा स्यातलवणाय वा स्यात्' की आशा नहीं होती तब बिरादरी के पंच धड़े बांधते हैं और जात-बाहर निकाल देते हैं और अपनी तरफ पंडितों को खैंच लाने के लिए आय करते हैं। उस समय पंडित लोग निष्पक्षपात न्यायाधीश का आसन छोड़कर एक पक्ष के वकील की तरह एक ही ओर झुक जाते हैं। इसलिए नई उमर के लोगों का विश्वास पंडितों और धर्म-शास्त्र की व्यवस्थाओं पर से उठता जाता है। शास्त्र का प्रमाण सबके लिए एक प्रकार का होना चाहिए लम्बी थैली वाले के लिए और, और दीन विद्यार्थियों के लिए और नहीं। पूजनीय विद्वान एक बार निर्णय कर दें कि विदेश यात्रा और समुद्र-यात्रा पाप हैं या नहीं। यदि हैं तो उनका प्रायश्चित नियत कर दें और यदि नहीं हैं तो साफ कह दें कि संसर्गादि का क्या प्रायश्चित्त है और क्या नहीं। और यह व्यवस्था बारम्वार बदली न जाय जिससे द्वेषमूलक कार्रवाई का मौका न मिले और विद्या जौर देशहित के लिए, जाने वालों को क्लेश न उठाना पड़े। नहीं तो लोग व्यवस्था और पंडितों के बिना पूछे भी जाते ही रहे हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **वेंकटेश्वर** : २८ अक्तूबर, १९१० ई०]

खूब तमाशा

मध्यप्रदेश (छत्तीसगढ़) के राजा राजसिंह के यहां एक कवि गोपालचन्द्र मिश्र था। उसने 'खूब तमाशा' नामक कविता का ग्रंथ लिखा है जिसमें कलियुग की

अद्‌भुत बातों का वर्णन देकर प्रति छंद के अन्त में 'खूब तमाशा' समस्या की पूर्ति की है। उसका समय इस छंद में लिखा है जो उसी के अन्त में है—

संवत् सत्रह सें षट चालीस पावस ऋतु हितकारी।
महाराज श्रीराजसिंह नृप जिन यह सुमति विचारी॥

(पांडेय लोचनप्रसाद का लेख, शारदा, सं० १६७७ आश्विन इस 'खूब तमाशा' का वर्णन कई अवतरणों सहित काशी के 'इंदु' में कई वर्ष पहले छप चुका है।)

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की, खोज, जिल्द-१ को देखने से प्रतीत होता है कि सं० १७४४ में अजमेर (जयपुर) में कवि नन्दराम ने इसी विषय पर 'पचीसी' नामक एक काव्य रचा था। उसका परिचय और आदि अन्त के अंश उसी रिपोर्ट से यहां दिए जाते हैं। राजपूताने का कवि पहले का है, मध्यप्रदेश का पिछला। संभव है कि पहले कवि की छाया दूसरे ने ली हो, यह भी संभव है कि दोनों स्वतंत्र हों।

आदि—॥ अथैं नन्दराम पचीसी लिख्यते ॥

गनपति को जय मनाय हों, रिधि सिधि के हेत।
बाक बादनी मात तस्, सुभ अक्षर बही देत॥ १॥
कछुअक चाहत हो कहयो, तुम्हरे पुन्य प्रताप।
ताहि सूनैं सुष उपजैं, किरपा करो अब आप॥ २॥
कीनो प्रथम प्रकाश ही, तुम्हरो हुकुम जपाय।
कलि व्यवहार वर्णन करूँ, सुनो चतुर मन लाय॥ ३॥
नीति राज की असी होती, दौलति षोस लीजैं।
गज सिका अर तोल मोल की चढ़ती दिन-दिन कीजैं॥ ४॥
अब पैसा कमी-कमी जग मोहि, रुपया है नौ मासा।
नंदराम कछु दुनिया माही देख्या अजब तमासा॥ ५॥

अंत—**नाटिका चेटक जामैं देखि, जाकी करै न सेवा।**
भूत···से···ल दिषावे ताकु मानै देवा॥
अन्तरज़ामी नाहिन भजिए, भजिए धूलि धमासा।
नन्दराम॥ २३॥

कलि व्यवहार पचीसी वरणी, जथा जोगि मति मोरी।
कलियुग की जवानि गो, एहै और बात बहुतेरी।
राखो राम नाम या कुल में नन्द नंदन सूष रासा।
॥ नंदराम॥ २४॥

नन्दराम षंडेलवाल है अंबावति के वासी।
सूत बलिराम गोत है रावत मन है ऋसन उपासी ॥
संवत सत्रह सै चौवाला कातिक चन्द्रप्रकासा।
नन्दराम कछु दुनिया माही देख्या अजब तमासा ॥ २५ ॥

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** : १९२२ ई०]

पत्र-पत्रिकाएं

सुदर्शन की सुदृष्टि

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहायमहामायाप्रयच्छति ॥ (दुर्गापाठ)

तो क्या गद्यकाव्य के विषय में अनिष्णात आरम्भकर्त्ताओं की ही सब नकल करते जायं?

(गद्यकाव्य-मीमांसा : पृष्ठ १९)

'सुदर्शन' की सुदृष्टि अब उपन्यासों पर हुई है। उसकी तीन संख्याओं में उपन्यासों की प्रतिष्ठा पर लेखक की आस्था की अवस्था अच्छी तरह दिखाई गई है। यह तो कोई बात नहीं कि पं० माधवप्रसाद ने किसी बात की हिमायत कर दी तो फिर उसकी न्याय्यता में सन्देह भी न करना।[1] तथापि, जबसे यह विषय छिड़ा है 'सुदर्शन' और 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' अपने मतों को बहुत कुछ सुधारते-सुधारते एक दूसरे के पास ले आए हैं, यहां तक कि अब उनका मिलना बहुत ही सुकर है। सम्भव है कि 'सुदर्शन' से बातचीत करना हमारे ही पत्र का मानवर्धक हो, इसलिए, "मित्रं स्पष्टतया वदेत्" के अनुसार हम कुछ बातें कह देते हैं।

१. "हमारी समझ में यह बात सर्वांगपूर्ण न होने पर भी निर्मूल नहीं कही जा सकती" कि अपनी पुस्तकों के न बिकने से 'समालोचक' काशी के उपन्यासों की निन्दा करते हैं। 'अथ समालोचकः सुहृद्भूत्वाह'—क्यों जी! तो वे तुलसी कृत 'रामायण' की निन्दा क्यों नहीं करते जो काशी के उपन्यासों से कई गुने अधिक

१. ए अभिमानी मुरलिया! करी सुहागिन श्याम।
अरी चलाये सवन पै भले चाम के दाम ॥

बिकती है और जिसे छापकर कोई प्रेस भूखा न रहा ? "काशी वालों की पुस्तकों की ओर लोग ऐसे टूटे कि हाथोंहाथ सब प्रतियां उठ जायं।" इसके मोटी बुद्धि से यही कारण हो सकते हैं—

१. काशी वालों से अच्छा लेखक और कोई नहीं।
२. काशी वाले उपन्यासों से अच्छे उपन्यास ही नहीं।
३. लोगों की रुचि कलुषित है।

पहले दो कारण व्याप्तिग्रस्त हैं, यह तो वह भी कह सकता है जो हिन्दी-साहित्य में चार दिन का भी निष्णात हो। इससे कारण '३' शेष रहता है इसी-लिए समालोचना का जन्म है। विशेष समय पर विशेष व्यक्ति लक्ष्यच्युत हो जाय तौ दूसरी बात है।

२. हिन्दूधर्म पर व्याख्यान देनेवालों से तुलना (बैसाख, पृ० २६), इसके क्या माने? साहब ! मूर्ख धर्मोपदेशकों की जो अन्धाधुन्ध स्तुति की जाती है, क्या वैसे ही मूर्ख उपन्यासकारों की भी अन्धाधुन्ध स्तुति की जाय ? उस धूम-धड़क्के का परिणाम न सोचें ? सहयोगी का यह खयाल होगा कि उसने ऐसे वक्ताओं को चूरणवालों से एक वेर उपमा दी है तो भद्दे उपन्यासों की भी वही निन्दा करे और पत्र, जो उपदेशकों की स्तुति करते हैं, क्यों निन्दा करें ? तो हम 'सुदर्शन' को बधाई देते हैं कि उसे converts मिले। धर्मोपदेश, अयोग्यमुख से निकलने पर भी लाभ पहुंचता है, उपन्यास सुयोग्य विद्वान से लिखा जाने पर भी विलास मात्र ही है।

३. एयारीवाले उपन्यासों के पहले आपके भण्डार में कौन से उपन्यास थे ? मान लीजिए कोई नहीं, तौ फिर ? गद्यकाव्य-मीमांसा का ऊपर लिखा टुकड़ा पढ़िए।

४. असम्भव का अर्थ—साधारण दृष्टि से जो बात सम्भव न दिखाई दे, उसे असम्भव मानना होता है। विज्ञान के प्रचार के पूर्व जल को एक समूचा द्रव्य माना जाता था, किन्तु अब अवश्लेषण ने जो उद्जान और क्षारजान का फल सिद्ध कर दिया, तो 'असम्भव' 'सम्भव' हो गया। सम्भव असम्भव की कल्पना सापेक्ष है सही, निरपेक्ष absolute नहीं हो सकती तथापि इस सापेक्ष जगत् में हम जिस प्रकार मात्रास्पर्श द्वन्द्वों के भेद को मिटा नहीं सकते, वैसे ही सम्भव असम्भव के भेद को भी नहीं मिटा सकते। यदि असम्भव शशशृंग बन्ध्यापुत्र प्रभृति तीन ही चार अर्थों में रूढ़ हो तो हमने (८) में जो बात लिखी है वह पं० मिश्र के लक्षण से मिलने के कारण सम्भव है। अशशशृंग अबन्ध्या पुत्र वा अकारण कार्य क्या सभी सम्भव हैं ? क्या **सम्भव**/१ **असम्भव**/२ में जो सम्बन्ध है,

वही बन्ध्यापुत्र अबन्ध्यापुत्र में है ? विभाज्यतावच्छेदक तो परस्पर व्यधिकरण होने चाहियें, सम्भव है कि अबन्ध्यापुत्र भी कोई पदार्थ असम्भव हो। 'चन्द्र-कान्ता' वेदान्तियों के पढ़ने के लिए नहीं बनी है, बनी है युष्मदस्मद् भेद को न मिटा सकने वाले अध्यासलिप्तों के लिए। इसीलिए उनकी दृष्टि में सम्भव असम्भव का भेद नहीं मिट सकता। 'कृपा करके कोई' हमें बतलावें कि छोटे आदमी का बड़ा बनना और लम्बे का ठिगना बनना शशविषाण सदृश है वा नहीं ?

(५) (६) (७) **कादम्बरी, मैकवैथ और मेरीप्राइस वा फौष्ट ?**

स्मरण रहे, जगत् के सब व्यवहारों में कोई-न-कोई बात ऐसी रह जाती है जिसको हम बिना दैवी प्रभाव माने समझ नहीं सकते। कोई घटना साधारण पंक्तियों पर चली जा रही है अचानक घटनाक्रम का बदल जाना वा रुक जाना और तद्द्वारा अच्छे वा बुरे फल का उत्पन्न होना, यह जगत् में विरला नहीं है। निरीश्वरवादी इसे प्रकृति की खिलवाड़ मानते हैं और ईश्वरवादी इसे परमेश्वर की निर्णायक शक्ति वा design का परिचय मानते हैं। यदि नाटक और उपन्यास mirror of nature प्रकृति के आईने का काम देते हैं तो उनमें अवश्य प्रधानतया मानुष-भावों का चित्रण आवश्यक हुआ। किन्तु मानुष-भावों में presentiment, telepathy, पूर्वनिश्चय भाव-संवाद प्रभृति होते हैं। किसी मनुष्य की प्रेयसी मरती है उसी काल में अज्ञात कारणों से उसको दुःख उत्पन्न हुआ। किसी काम में विघ्न होना है उसमें पहले ही से अनुत्साह जी विराजमान हैं। इन घटनाओं का क्या किया जाय ? इन्हें दिखाने के लिए नाटकों में divine machinery वा Dieux et machina दैवी कला प्रविष्ट की जाती है जो dramatic unity नाटकीय एकता के विरुद्ध नहीं होती। 'कादम्बरी' में जो नायिका का तीन जन्म तक जीवित रहना है यह उपन्यास के परिणाम के लिए आवश्यक है, वह उपन्यास के चरम वर्णों में अनुस्यूत है उसे पृथक् करने से कई बातों की जान मारी जायगी बेशक, किन्तु उसे अलग भी कर सकते हैं। मैकवैथ में यह आवश्यक है कि मैक-वैथ को उसके भावी जीवन की सूचना मिल जाय, और उसकी मानसिक अशान्ति का बीज वाप हो। साथ-ही-साथ उसके हाथ से नृशंस कर्म भी कराए जाएं यह सूचना और आगे चलकर उसका धोखा खाना नाटक के निभाने के लिए आवश्यक है। उसे चाहे भूतनियां करैं वा आकाशवाणी करै, किन्तु यह ग्रन्थ से निकाली भी जा सकती है मेरीप्राइस में न मालूम स्वप्न-विचार कहां कहा गया है, किन्तु यदि हमें छैं वर्ष की बात याद हो तो वह वहां है जहां मेरीप्राइस की स्वामिनी का कहीं विवाह होने वाला है और मेरीप्राइस अपने

बाग्दत्त की चिट्ठी से स्वामिनी के पति के मुमूर्ष होकर बचने की बात जतलाती है और स्वामिनी के विवाहान्तर में भांजी मारती है । वहां भी उसकी dramatic necessity है । लेखक और पाठक घबरा रहे होंगे कि इस काकदन्त गणना से हम क्या फल निकालेंगे, किन्तु हमारा अभिप्राय सिद्ध हो गया । इन सब ग्रन्थों में असम्भव घटना गौणरूप से प्रवेश की गई है, उसे निकाल दें तो ग्रन्थ के एक वा दो अंगों के अतिरिक्त और सबको कोई क्षति नहीं पहुंचती । 'चन्द्रकान्ता' में से तो जरा ऐयारी को निकाल दीजिए, क्या रहता है ? सूखी खाल और हड्डियां और देवकीनन्दन जी की भद्दी भाषा ! यदि शब्दों के मज़ाक को क्षमा किया जाय तो, हम कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में विचित्र घटना कथा की सहायता करती है किन्तु 'चन्द्रकान्ता' में कथा विचित्र घटना की सहायता करती है । फौष्ट और वेहर वुल्फ की बात कुछ न्यारी है किन्तु उनके लिए भी यही बात समष्टि रूप से लगती है । प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में विचित्र घटना गौण रूप से बीच में डाली जाती है, किन्तु फौष्ट सरीखों में उससे आरम्भ होता है । फौष्ट और नेको-सेन्सर में आत्मा का वेचना और वेहर वुल्फ में भेड़िया बनना प्रथम से assumed है, शेष घटनाएं सब प्राकृतिक हैं । 'हां', बीच-बीच में आदि सूत्र से मिलान कर दिया जाता है । 'चन्द्रकान्ता' इन सबसे भी एक कदम बढ़ गई है । उसका वा 'सन्तति' का कोई अध्याय उठा लीजिए, देखिएगा कि असम्भव घटना को निकाले बाद उसमें कुछ नहीं है—it is too empty to be looked upon !!

आषाढ़ के 'सुदर्शन' में ऐयारी की पुष्टि के लिए 'मुद्राराक्षस' नाटक का भी नाम लिया गया है और 'चन्द्रकान्ता' छपती वेर रामायण के सीताहरण को भी 'ऐयारी' कहा गया था । यों तो इन्द्रवृत्र के युद्ध को वा सरमा और पणियों की बात-चीत को ऐयारों की चालें बताकर 'वेदभगवान् को भी चन्द्रकान्ता का वकील बना सकते हैं और उस दिन एक मित्र के निवेदन करने पर हमने अद्वैतब्रह्मपरक श्रुतियों को फ्री ट्रेड जौर प्राटेक्शन पर घटा दिया था किन्तु 'मुद्राराक्षस' की बात भी मैकवैथ और मेरीप्राइस में अन्तर्भूत हो गई । वहां भी विचित्र कलाएं गौण-तथा प्रधान कथा की सहायता करती हैं और प्रधान कथा विचित्र कलाओं के साथ नाचती नहीं फिरती । एक और मज़े की बात देखिए । 'कादम्बरी', 'मैकवैथ', 'मेरीप्राइस', 'फाष्ट' वा 'मुद्राराक्षस' पढ़ने पर क्या स्मरण रहता है ? नाटक पात्रों की सजीवता, उनकी चेष्टाएं उनका चरित्रांकन, उनका व्यवहार, कथा-परिणाम प्रभृति । विचित्र घटनाओं का टांका अपना काम कर चुका और सारी पोशाक में टांकों की तरह वह अब दिखाई नहीं देता । 'चन्द्रकान्ता' के प्रेमियों को उसी की शपथ है, उसका पारायण किए बाद क्या याद रहता है ? कथा भाड़ में गई, चरित्रांकन की बात ही नहीं, चरित्रों में सजीवता की बात कहां, भाषा भी

नहीं, केवल ऐयारी देवी और तिलिस्म जी महाराज ! और साथ ही गुण्डे शोधे ऐयार villains of the play.

८. उपन्यास का मुख्यगुण विचित्र घटना है ! सच्चे ही; तो फिर इससे अच्छा उपन्यास कौन है कि "एक हाथी के पीछे एक गीदड़ दौड़ा। हाथी डाल-डाल तो गीदड़ पात-पात, हाथी वृक्ष पर चढ़ा कि उसने कहा—हट 'हट', पर चढ़ के गीदड़ भी ऊपर चढ़ आया। सामने नदी के दूसरे पार धोबी कपड़े धो रहा था उसने छींका तो उस छींक पर सवार होकर हाथी पार चला गया।" उत्तरोत्तर संगत और कौतूहलवर्धक हो सही किन्तु हो विचित्र ! भरपेट ही, जायकेदार हो, किन्तु हो चटनी ही !! कमर कसकर समाधान करने तो बैठ गए, किन्तु यह न सोचा कि जब रोगी पित्तज्वर से अभिभूत होता है तो उसे अनारदाने की चटनी ही अच्छी लगती है। और कोई भी भोजन उसे अच्छा नहीं मालूम होता। किन्तु स्वस्थ आदमी ही जानते हैं कि दाल-रोटी में क्या स्वाद है। अतएव हमने कहा था कि ऐसे उपन्यास बीमारी के दिन के उपन्यासों (Romances) की नकल हैं। बीमार की रुचि खोलने का काम इस चटनी ने दे दिया अब क्या जन्म भर इसे ही खाया करोगे ? पेट तो दाल-रोटी से ही भरेगा।

९. 'चन्द्रकान्ता' में कोई दोष नहीं है, यह दावा नहीं है।

१०. इसके गुणों पर भी ध्यान देना उचित है।

११. 'गद्यकाव्य मीमांसा' की दुहाई शायद इसलिए दी गई है कि उसमें घटना के संभवासंभव होने से, वा ऐतिहासिक, कल्पित और मिश्र भेद से (पृ० ५२, ५०) उपन्यासों के भेद माने गए हैं। (कारिका : ५२ और ६५); किन्तु पं० व्यास के उनचास अर्बुद, छै करोड़, एकतालिस लाख, अठानवे हज़ार चार सौ उपन्यासों में इन चार घटकों को छोड़ बाकी क्या हुए ? 'गद्यकाव्य-मीमांसा' में से एक टुकड़ा ऊपर दिया गया है। एक और सुन लीजिए। "देशकाल आदि के वर्णन में स्वभाव सिद्ध वर्णन करै, अस्वाभाविक बहुत ऊटपटांग न हांके।" (पृ० ३८) एक और भी बात है। चाहे गद्यकाव्य का सूत्रपात हमारे प्राचीन आचार्यों ने कर दिया हो, किन्तु वर्तमान उपन्यासों की सृष्टि पश्चिमी नमूनों पर हुई है। यद्यपि 'पंचतन्त्र' प्रभृति से हमने ही पश्चिम को कथा-प्रबन्ध सिखलाया था, किन्तु वर्तमान उपन्यासों की रचना और जीवन में यूरोपीय उपन्यास बड़ा भारी भाग ले चुके हैं। साहित्याचार्य का लेख प्राचीनों की भूल पकड़ने और पण्डिताई से नए-नए विभाग करके कुछ दिग्दर्शन दिखा सकता है, किन्तु यूरोप का भी इस विषय में सुने जाने का अधिकार है। पाश्चात्य देशों में उपन्यास की उत्पत्ति और उन्नति तो हम एक स्वतन्त्र लेख में दिखावेंगे, किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि यूरोप के सभी देशों में विचित्र वर्णनकारी रोमेन्सों की रचना मारी गई हैं।

अब के उपन्यासों में "चरित्रों का दार्शनिक अध्ययन, राजनैतिक और सामाजिक काकु, बृटिश गृहचर्या का उदार और समालोचना पूर्ण चित्र, वर्तमान दुराचारों के विरुद्ध प्रबल जिहाद" पाया जाता है।[1] "उपन्यासों की अधिक बिक्री और अधकचरे मनुष्यों की उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति से यद्यपि ठीक उपन्यासों की चाल नहीं पाई जाती तथापि यह प्रत्यक्ष है कि अंग्रेजी औपन्यासिकों की कल्पना छोड़ गई है। यही नहीं कि इंगलैण्ड प्राकृतिक प्रवृत्तियों वाला हो गया है, किन्तु वहां व्यापारी उपन्यास, जहाज़ी उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, साम्राज्योपन्यास भी फैल गए हैं। अयोग्य ग्रन्थ ५० वर्ष तक लोगों की स्तुति के पात्र न रह सकेंगे। उपन्यासों की साहित्य शक्ति के कम होने से तब तक थकावट और रुकावट जारी रहेगी जब तक सारा Romantic mode रोमेन्स काल का प्रभाव मिटकर और अच्छे साहित्य को स्थान न दे देगा।"

१२. 'महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः आहोपुरुषिका मात्रं हि खलु भवामाह।' जितना प्रयोग ऊस, तेर, चक्र, पेश, आदि शब्दों का है उतना ही इन उपन्यासों का भी रहने दीजिए, अस्ति भवति, वा "गौः ग्मा ज्या" की तरह इनका प्रयोग थोड़ा ही है ? इसलिए इतना ही प्रयोग का विषय है, कहना असम्बद्ध नहीं है, स्थूल दृष्टि से ठीक है।

१३. "क्या सम्भव है और क्या असम्भव है, यह जानना ही मनुष्य के लिए असम्भव है।" खैर, एक बात तो असम्भव निकली ! धन्यवाद !! इस बैशाख की संख्या का उत्तर देते हुए सहयोगी 'वेंकटेश्वर' ने बहुत कुछ इधर-उधर जाना चाहा है। कई बेर अप्रासंगिक बातें कहकर प्रासंगिक बातों को टाला और अपने सहयोगिगों को आगे करके स्वयं निकल भागना चाहा है। इन सब बातों की आलोचना यहां करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु 'श्रीवेंकटेश्वर' की शान्ति और सौम्यता की जो स्तुति की जाय वह थोड़ी है। बिना विवाद के किसी बात का पूरा निश्चय नहीं होता, शायद इसीलिए 'सुदर्शन' ने ज्येष्ठ की संख्या में इस बारे में फिर लिखा। उसका अधिकांश यद्यपि शुष्कविवाद पर ही झूमता है, तथापि उसकी कुछ बातों पर थोड़ा-बहुत लिखकर इस लेख को, और इस विषय को हम समाप्त करेंगे।

ज्येष्ठ का 'सुदर्शन' पृ० २० प्रभृति—

१. "सब जानते हैं कि जोधपुर और जयपुर के नरेशों ने मुगल बादशाहों को लड़कियां दी थीं, इस कारण उन्होंने उस समय मुसलमानों की प्रसन्नता के

1. Cf. the Encyclopaedia Brittanica, Tenth Edition. Supplementary Volumes, under. "English Literature."

लिए कुछ न उठा रक्खा ।'' प्रथम साध्य से द्वितीय सिद्ध किया गया है, वा दोनों अनुमानों में अभेद है वा दूसरे से प्रथम सिद्ध किया जाता है। यदि इन नरेशों ने लड़कियां दी थीं इस बात को सब लोग झूंठ जानते हों तो?

२. निज के प्रेस में चाहे जो अनाप-शनाप छापे इत्यादि (पृ० २१); पत्र-सम्पादक और यन्त्रालय-चालक के कर्तव्य को एक कर दिया गया है। यों motive चिपकाना ठीक नहीं। पत्र-सम्पादन और दृष्टि से होता है, वा और व्यक्ति से होता है, ग्रन्थ-मुद्रण और से।

३. यद्यपि सनातन धर्म दीपक के लिए हमें 'सुदर्शन' का-सा ही दुःख हुआ है और उस विषय में हमारे विचार उससे मिलते-जुलते ही हैं तथापि यह दोष 'वेंकटेश्वर' पत्र का नहीं है और न यह कहना ठीक है कि "क्या मारवाड़ियों की बहू-बेटियों के लिए 'श्रीवेंकटेश्वर' का महाप्रसाद रसिक छ००" जैसा ही होना चाहिए?

४. भ्रम किसका है?

१. " 'चन्द्रकान्ता' में असम्भव बातें नहीं हैं और वैसी आश्चर्यमयी घटना उपन्यास में दोषावह होने के बदले गुणावह ही है।" यदि ('सुदर्शन' को जोड़ना चाहिए) ऐसी घटना गौण रूप से प्रधान कथा की सहायता करै और प्रधान कथा को बाजीगर की बंदरिया की तरह नचाती और बिगाड़ती न फिरै, जैसा कि उसने 'चन्द्रकान्ता' में भरपेट किया है।

२. नैयायिक धुरन्धरों की अपेक्षा उसकी बुद्धि चमत्कारिणी है। इसलिए कि सम्भव और सम्भवाभाव, और असम्भव और असम्भवाभाव को परस्परा-समानाधिकरण मानता है। और, 'सुदर्शन' की तरह उन्हें परस्पर संकीर्ण नहीं कर देता। भाष्यकार ने भी लिखा है—"भवनं भावः शब्दैरेव शब्दानाचष्टे" तो 'वेंकटेश्वर' का लक्षण बुरा क्यों है?

३. उनके प्रतिष्ठित पत्र का सिद्धान्त—सम्पादक विशेष की रुचि से उद्देश्य विशेष का समर्थन होता है, साथ ही पाठकों में भी अधिकारी भेद होता है। पाठक उपन्यास शून्य होना नहीं चाहते, उनके लिए "कई वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" करना पड़ता होगा। यहां हम 'वेंकटेश्वर' का पक्ष नहीं ले रहे हैं, केवल वक्तव्य कह रहे हैं।

४. असम्भव का लक्षण बनाकर समन्वय करना—"लक्ष्यतावच्छेदकासामानाधिकरन्यं, सम्भवाभावो वा असम्भव:।" इस लक्षण का 'सुदर्शन' ने खण्डन कम किया है। "उछाय ह्रासवृद्धिसमर्थत्वं" भी लक्ष्य से समानाधिकरण नहीं है।

५. पुस्तक प्रकाश कामना से सत्य का मुकुट, गोरी चमड़ी वाले जो लिखें

सो सम्भव है, अच्छा इसलिए कहा कि 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ था, यह तीनों उक्तियां उत्तर के योग्य ही नहीं।

'राजपूत को नेक सलाह' लेख के वीर लेखक का हम इसलिए उत्तर नहीं देते कि उसने अपने नाम को छिपाकर धर्मग्रन्थों तक पर आक्षेप किया है तथापि पृष्ठ ३८ के उसके कथन पर हमें एक वाक्य कहना है। "अंग्रेज़ समाज का यथावत् चित्र उतारने वाला रिनाल्ड के समान धुरन्धर उपन्यास लेखक कोई न हुआ, न है।" "जैसा कि 'कलावती' और चपला' में हिन्दू समाज का यथावत् चित्र उतारने वाला पं० किशोरीलाल गोस्वामी वा देवकीनन्दन के समान धुरंधर उपन्यास लेखक कोई न हुआ, न है।"

आषाढ़ का 'सुदर्शन' देखकर सुदर्शन का पक्ष करने की इच्छा होती है। वास्तव में बहुत बकवाद करने के लिए सम्बद्ध पत्रों पर अग्नि पर भीगे कम्बल की जरूरत है। प्रेरित पत्रों के लिए विचारे सम्पादक दायी बने हैं। और साहित्यसेवी के लेख का खंडन उनने अच्छा किया है। यद्यपि उस लेख में प्राचीन आर्यराजाओं के विरुद्ध बहुत कुछ अपावन असाध्य विषय है और इसी से उस विषय पर बहुत कुछ कहना भी उचित नहीं, तथापि दो एक बातें कहे देते हैं—

१. पृष्ठ २७ आश्रयदातृ बंगभाषा, प्रभृति— यदि बंगभाषा ने हमें शब्द और ग्रन्थ दिए तो उनके दोष न देखना—यह कहां का न्याय है? बुद्धिमान् बंगालियों ने यदि नवजात उपन्यासादि शब्दों पर विवाद न किया तो क्या हम भी रक्तबीज की तरह फैलते उपन्यासों पर कुछ न कहें?

२. "प्रातःस्मरणीय महाराणाओं के उत्कर्ष के लिए बंगालियों ने जो कल्पना की है।" यथा – अश्रुमती का सलीम से प्रेम! क्यों? दुर्बल बंगाली अपनी जातीय दुर्बलता के सामने विशुद्ध रुधिर वीर राजपुत्रों का क्या उत्कर्ष करेंगे?

३. जगन्नाथ जी की मूर्ति—किन्तु यदि कोई व्रज में न जाकर जगन्नाथ जी की मूर्ति को ही देखकर विचार बांधे तो हिन्दुओं को असभ्य जातियों के सदृश पूजक कहेगा न! वही बात उन निपुणता की हानि वाले उपन्यासों की है।

४. 'मेघनादवध' और नवीनचन्द्र के ग्रन्थों में त्रुटियां नहीं हैं। माइकल मधु ने तो इच्छापूर्वक मिल्टन के अनुकरण से, रावण से सहानुभूति दिखाई है और देवरामचरित्र को मनुष्यरामचरित्र में परिणत किया है। प्रभास रैवतक आदि में आर्य-अनार्यों का कल्पित झगड़ा बनाकर ब्राह्मणों को अनार्य पक्षपाती दिखाया गया है। इस ग्रन्थ पर 'ऊनविंश शताब्दीर महाभारत' देखिए।

५. 'उसी शैली का' जिससे अश्रुमती के द्वारा महाराणाओं की प्रशंसा की गई है।

६. 'स्वतन्त्रचेता आर्य्यकवि' 'भारतवर्षीय कवि किसी के दास नहीं होते' ठीक है ! और उनकी स्वतन्त्रता कुछ रुपया न मिलने से अपने मित्र के जानी-दुश्मन बन जाने में वा एक-एक रुपये में स्वार्थान्धप्रकाशिका पर सम्मति करने में शेष होती है । इस स्वतन्त्रता का उपयोग क्षत्रियों पर ही होना चाहिये ।

७. "म्लेच्छों के अपवित्र उत्संग में दुहिता अर्पण की" धीरे-धीरे । यह बात असत्य हो, यह असम्भव नहीं है ।

८. 'नागरी प्रचारिणी सभा' के वार्षिकोत्सव पर ऐसी पुस्तकों पर विचार हो जाय—नहीं ! कदापि नहीं !! जिन लोगों को लड़ने का स्वभाव है, वह किसी का फैसला क्यों मानेंगे ? फिर जिस पक्ष की जीत होगी उसे motives लगाने में प्रवीण लोग स्वार्थी और अन्यायी न कहेंगे ? और दूसरा पक्ष 'नागरी-प्रचारिणी सभा' का शत्रु न बन जायगा ? पं० मिश्र ने महामण्डल की वर्षों की लड़ाई मिटाकर तो क्या कर लिया और इस लड़ाई को दिनों के विचार में मिटाने की उनकी लालसा है ! सभा की सौम्य कार्य्यवाही में यह पचड़ा डाला ही न जाय । हिन्दी-पत्रों की भेड़ियाधसान स्वयं ही चुप हो जायगी, नहीं तो सभा में भी क्या होगा—

उच्चैरुद्घोष्य जेतव्यस्मधस्थश्चेदपण्डितः ।
पण्डितो यदि तत्रैव पक्षपातो निवेश्यताम् ॥

९. जो लोग न्यायालय में राजपूतों को ले जाकर कलह का सूत्रपात्र कराया चाहते हैं, वे कदापि उनके या हिन्दी भाषा के हितैषी नहीं हैं । अवश्य ।

१०. सवाया मान—क्या उसी कारण हुआ है ? कारणान्तर नहीं ? धन्यवाद के लेख में यह पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ कि सुदर्शन-सम्पादक की चले तो 'चन्द्रकान्ता' के बदले तुलसी-रामायण पढ़वावे । भगवान् करे उनकी चलै । किन्तु उनके मत में धर्म और नीति और वस्तु है, और काव्य-साहित्य और । हम यह नहीं मानेंगे । यदि निर्जीव आख्यायिकाएं असम्भव और अद्भुत घटना मात्र का उल्लेख न करके मनुष्यजाति के उपादेय वा गर्हणीय चरित्र का अंकन करके विलास में भी उपदेश दें तो क्या हानि है ? यदि नीति और काव्य—क्षुरस्य धारा और विलास के बीच में पुल बंध जाय तो क्या हानि है ? मनुष्यजाति के लिए मनुष्यजाति चर्चा से अच्छा विश्वविद्यालय नहीं है मनुष्य कड़वी दवाई (धर्म-शास्त्र) रज़ामन्दी से नहीं पीयेंगे, उन्हें आख्यायिका की शक्कर में लपेटकर तत्व दिये जायं । सहयोगी क्षमा करें "गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार" तो तिलिस्म की विलल्ली घटना के 'निर्जीव' शृंगारकों ने किया है, मनुष्यजाति की सम्भव घट-नाओं की आख्यायिकाएं उतनी ही सजीव हैं जितनी मनुष्यजाति और मनुष्यजाति

का इतिहास। 'चलता पुर्ज़ा' और 'विज्ञान और बाज़ीगरी' विलास होने पर भी ज्ञान है, सच्ची और होनेवाली बातों की जानकारी है। क्या यही शब्द 'चन्द्र-कान्ता' के विषय में कहे जा सकते हैं? उससे समय वृथा नष्ट होने के साथ जान-कारी क्या हुई? हां, हमने कई मनुष्य ऐसे देखे हैं जो 'चन्द्रकान्ता' के दो तीन परायण किये बाद तेजसिंह बन जाते हैं, पागलों की तरह पहेलियों में बातें करते हैं, पत्ता हिलता देख कांप उठते हैं, किसी गली का मोड़ देख चौंक उठते हैं, प्रत्येक वृक्ष को तिलिस्म और प्रत्येक खण्डहर को कैदखाना मानकर मित्रों के साथ बाग़ जाने में भी हिचकते हैं। सहयोगी हँसे नहीं, यह भयानक सत्य है। घर-घर में Den quixote की घटना की आवृत्ति हो रही है।

हमें भय है कि हमारा सहयोगी इतनी अधिक बातों से अप्रसन्न न हो जाय, इससे हम उसे सांजलिबन्ध क्षमा मांगते हैं और हमारा वक्तव्य यही है कि हमने अपने हृदय के शुद्ध भाव, भले मन से, भलाई के लिए, उसके सामने रक्खे हैं। कई लोग हमें यह कहेंगे कि 'सुदर्शन' आपसे अप्रसन्न हो गए—"समानमिस्मे कवयश्चिदाहुरयंह तुभ्यं वरुणो हृणीते", (७।८६।३ ऋक्) परन्तु हम इसी में संतुष्ट हैं कि 'सुदर्शन' की कृपा से हम—

'अतारिष्म तमसः पारमस्य।'

इस लेख में हमने 'सुदर्शन' के ही मतों का विवाद इसलिए किया है कि वे ही विवाद के योग्य हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि और पत्रों के विचार सब सत्य हैं, नहीं-नहीं, कहीं-कहीं तो वे इतने उद्देश्यभ्रष्ट हैं कि उनपर कुछ कहना ही ठीक नहीं। 'सुदर्शन' के विरुद्ध कुछ कहने में हम अपना सौभाग्य समझते हैं। किन्तु असल बात जो है वह 'सुदर्शन' समझ ले। यह उपन्यास—उर्वशी हिन्दी पाठक पुरूरवा को सुधारने आई थी। जब देखा कि पुरूरवा हातिमताई के किस्से और बुलबुल हज़ार दास्तां ही में उलझा हुआ है तो इन्द्र ने यह उर्वशी इसको दी। उर्वशी ने अपना काम कर दिया है और अब जब राजा ने राजकार्य छोड़ा है तो उर्वशी आती है। तिलिस्म का स्थान तो विज्ञानचर्चा ले लेगी और ऐयारी का स्थान गवेषणा। अपने पुत्र आयु को पिता के पास छोड़कर अब उर्वशी चली। पुरूरवा भले कितना ही कहै—"हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे! वचांसि मिश्रा कृणावहै नु"[1]; "निवर्तस्व हृदयं तप्यते मे"[2] तो भी वह तो यही

१. हे प्रिये! ज़रा ठहरो, मिलकर बातें करें।
२. लौट आ, मेरा जी जलता है।

कहती जायगी कि "प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव "[1]; "दुरापना वात इवाहमस्मि ।"[2] यहां तक कि वियोग में पुरूरवा यह कह बैठेगा—"सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ । अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ।।"[3]

तो उर्वशी यही कहैगी—

"पुरूरवो मा मृथा मा प्रतप्तो मात्वा वृकासो अशिवास उक्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति सालावृकाणां हृदयान्येता ।।[4]"[5]

यही अनादिसंगर का अविनाशी नियम है । अन्धकार मिटाने को उषा आई, सूर्य के आते ही वह चली गई । उसका काम हो चुका । ओम् ।

[प्रथम प्रकाशन : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

समीक्षात्मक सम्पादकीय टिप्पणियां

बंगला में उपेन्द्र किशोरराय चौधरी बी० ए० ने प्राचीनकाल के अद्भुत और अब अप्राप्य जन्तुओं का बहुत अच्छा सचित्र वर्णन लिखा है । उसका अनुवाद हिन्दी में भी होना चाहिए । क्या कोई हिन्दी-प्रेमी यत्न करेगा ?

●

१. पहली उषा की तरह मैं हट गई ।
२. मैं वायु की तरह पकड़ी नहीं जा सकती ।
३. आज मैं सदा के लिए रवाना होता हूं और सुदर से न लौटने को (मरने को) तैयार हूं । प्रकाशमान् मैं मृत्यु की गोद में सोऊंगा, और भले ही भयंकर भेड़िये मुझे खा जायं ।
४. पुरुरवा ! मत मरो, मत नष्ट हो, अमंगल भेड़िये भी तुझे न खाएं । स्त्रियों से कभी सदा की मित्रता नहीं होती, इनके हृदय तो जरख़ के हृदय से कठोर होते हैं ।
५. ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९५ ऐल सम्वाद ।

प्रयाग का बंगाली सहयोगी **प्रवासी** 'सरस्वती' से एक वर्ष पीछे निकला था, किन्तु उसकी आशातीत उन्नति और 'सरस्वती' का रूप कहलाता है कि—

"सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।
एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया ।।"

चित्रों के प्रकाशन में यह पत्र अद्वितीय है । हिन्दी प्रेमियो ! जरा इसके लेखकों की सूची में एम० ए०; बी० ए० प्रभृति के नाम देखकर डरिये और मुंह तो छिपाइए । इसने रवि वर्मा, धुरन्धर, छात्र, अवनीन्द्रनाथ प्रभृति के चित्र छापकर खूब नाम पाया है । देशों के ऐतिहासिक विवरण भी इसमें बहुत अच्छे निकलते हैं ।

•

चैत्र के **प्रवासी** में डाक्टर सतीशचन्द्र ने प्रवासी बंगालियों के कर्त्तव्य पर एक लेख लिखा है, उसमें कहा है कि युक्तप्रदेश के वासियों की अपने ज्ञानदाता, पूज्य बंगालियों पर से श्रद्धा हटती जाती है, किन्तु जहां तक हम जानते हैं यह बंगालियों का ही दोष है । वे गर्व में आकर अपने को यहां वालों से अलग मसाले का बना मान बैठते हैं और कभी-कभी पक्षपात से योग्य देशियों को भी पददलित करना चाहते हैं। बंगालियों को जानना चाहिए कि अधिक शिक्षित होने के कारण जातीयता उत्पन्न करने का बोझा उन्हीं पर है और संकीर्णता से अन्य प्रान्त वालों का दिल खट्टा करना बुरा ही है ।

•

आषाढ़ के **प्रवासी** में रवि वर्मा कृत 'अज विलाप' का चित्र तीन रंगों में बहुत सुन्दर है । 'अज विलाप' का रघुवंश के अष्टम् सर्ग के छन्द में ही हिन्दी-अनुवाद पण्डित सरयूप्रसाद ने भी किया था ।

•

'सरस्वती' के साथ जन्म लेने वाले **सुदर्शन** ने जैसे कैसे अपना वर्ष ३ का अंक २ (वैशाख १९६०) अब दिखाया है । ऐसी उच्च कोटि का पत्र क्या हिन्दी में बिना सांस घुटे निकल ही नहीं सकता ? क्या इसके सुयोग्य सम्पादक अपनी बीमारी और 'बहुकारिता' के आगे इसे सम्हाल ही नहीं सकते ?

•

सुदर्शन में इस ही वैशाख की संख्या में **उपन्यास और समालोचक** नामक लेख यद्यपि लेखक की 'नमकहलाली' दिखाता है तथापि सन्देह होता है कि किसी ने सरलहृदय पं० माधवप्रसाद को अपना 'शिखण्डी' बनाया है। कोई भाषा उपन्यासों के भरोसे नहीं जी सकी। चिन्तित चित्त को शान्ति देने के लिए इनका उतना ही उपयोग है जितना भोजन में चटनी का; किन्तु क्या हम चटनी से अपना पेट भर सकते हैं ? अधिक मिर्चों वाली चटनी चटनी का काम दे भी देगी, किन्तु भोजन का काम 'चन्द्रकान्ता' में एक असम्भव बात को सम्भव मानकर क्या-क्या बिलल्ली बातें बन सकती हैं, उनका अच्छा नमूना है, किन्तु उसकी कैसी-कैसी भद्दी नकलें हो रही हैं ? 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में तो बाबू देवकीनन्दन ने स्वयं तिलिस्म लिखने की अरुचि प्रकट की है। ऐसे उपन्यासों के नायक और नायिका खाली बदमाशों के हाथ की गुड़िया हैं; न उनमें जान है, न शक्ति। सभ्यसमाजनिराकृत रेनेल्ड के नाविलों की दुहाई देती बेर लेखक ने यह नहीं सोचा कि असम्भव घटना प्रभावशालिनी लेखिनी ने चरित्राकंन करने की बहादुरी ली है, उसकी तुलना में हमारे लेखकम्मन्य कीड़े नहीं तो क्या है ? हां ! जिन रेनेल्ड के नाविलों के लिए हम उर्दू को दुदकारते थे, उन्हीं के भरोसे हिन्दी-उपन्यासों की हिमायत की जाती है !! विलायत में सैंकड़ों सम्भव और समाजोपकारक और सत्य उपन्यास हैं, उनकी ओर तो यह देखा भी नहीं जाता और पुराने भद्दे रोमान्सेज़ (Romances) की नकल की जाती है। यह योरोप की बीमारी के दिनों के ग्रन्थ हैं और हमें भी बीमार करने में कसर न करेंगे। तिलिस्म' उतना ही सम्भव है, जितना 'हुमा' वा 'सात मुख का घोड़ा'। उस पर एक-आध अच्छा उपन्यास भी बन सकता है, किन्तु काशी का-सा तूफान ! **वाह !!**

उपन्यास मात्र पर कोई छुरी नहीं फेरता; यह भी भाषा की सत्ता में अपना पार्ट खेल रहे हैं। 'वेंकटेश्वर समाचार' ने इस विषय में लिखा ही है और आवश्यकता होगी तो हम भी कलम उठावेंगे।

आजकल हिन्दी में क्षत्रियों की निन्दा करने वाले उपन्यासों पर भी 'राजपूत-महासभा' और कुछ पत्र खंगहस्त हैं! किन्तु उनके कोप का निशाना 'भारत जीवन' के माननीय सम्पादक ही हैं ! ठीक है—"दैवो दुर्बलघातक:।" काशी के एक भद्दे उपन्यास 'जादूगर' में एक राजपूत बाला के माता-पिता और चाचा उसके भडुए बनाए गए हैं और मुसलमान बादशाह से उसे व्याहने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। यह रनेल्ड के वैसे ही बिलल्ले उपन्यासों में से एक का अनुवाद है जिनको 'सुदर्शन' ने उदाहरण रूप खड़ा किया है। किन्तु यों नाम बदलकर विदेशी बनने को मन्दिर की झारी बनाने की क्या ज़रूरत थी ? क्या उधर किसी का ध्यान

नहीं गया ?[१] बंग भाषा में ऐसे करोड़ों उपन्यास बिकते हैं किन्तु क्षत्रियों का कुठार अपने साहित्य पर ही चलता है। नहीं नहीं, बंगला-उपन्यासों पर सहयोगी 'भारतमित्र' के लेखों का सिलसिला जल्द ही शुरू होगा। सीधी बात तो यह है कि यदि 'राजपूत' सच्चे ही कुछ काम करना चाहते हैं तो उन्हें उचित है कि पुराने लेख पढ़ें और अपने (Archives) गुप्तकोशों से इस कलंक-कथा को झूंठ सिद्ध कर दें, नहीं तो उपन्यासों के गंगाप्रवाह और दाह होने पर भी फारसी और अंग्रेज़ी इतिहासों में यह बात काली स्याही से लिखी ही रहेगी।

•

मेघों के प्यारे पं० बदरीनारायणजी की मेघमय **आनन्द कादम्बिनी** निकलती तो है कि संवत् ५७ की कादम्बिनी की तरह !! दो-तीन अंक ही साथ निकलते हैं। यों आधे आकार से यदि यह पत्र न निकले तो 'सोने में सुगन्ध' है। भाषा-भाव आदि की क्या स्तुति की जाये ? इस ना कदरी के उपन्यासमय जमाने में भी 'चौधरी जी' और 'हिन्दी प्रदीप' के पं० बालकृष्णजी भट्ट हिन्दी को नहीं भूले हैं। यह उनका स्तुत्य महत्त्व है। 'प्रेमघन जी' अपने सब काव्यों की एक सूची भी प्रकाशित कर दें तौ हिन्दी-पाठकों को सुभीता हो।

•

बड़े हर्ष की बात है कि कुछ दिनों से **राजस्थान समाचार** ने उन्नति आरम्भ की है। बरसों की घिस-घिस के बाद आज उस में 'मूलधन' और 'पुराण' दो लेख अच्छे लिखे हैं। समर्थदानजी को उचित है कि वीरता से अपने पत्र की उन्नति करके उसे उच्च कोटि के मराठी पत्रों की तुलना पर ले जायं। 'भारतमित्र' का पंजाबी तथा 'वेंकटेश्वर' का मराठी, गुजराती सहयोगी उचित आदर करते हैं। बंगालियों तथा गुजरातियों में हिन्दी की सत्ता जानने के लिए उचित है कि—

'हित वार्त्ता' और 'राजस्थान समाचार' सन्नद्ध हो जायं, जिससे हिन्दी सब भाषाओं तथा उनके भाषकों से स्पर्श करती रहै।

•

सरस्वती में शूरवीर 'समालोचक' का चित्र अब बिलकुल बेमौके है क्योंकि पं० महावीर प्रसाद ने समालोचना की कलम ही तोड़ दी।

•

१. इस उपन्यास की समालोचना 'समालोचक' में निकलेगी।

कलकत्ता रिव्यू नामी प्रभावशाली पत्र में मौजा बांगड़ा जिला सारन के वर्नाक्यूलर स्कूल के गुरु का एक पत्र छपा है। उसके विषय से हमें कोई सम्बन्ध नहीं, तो भी हम उसे नकल करते हैं—

"जिस अवरत् की किसी वजह से लड़का नहीं होता है वह किसी वोझा या वरम्ह के कहने से दो रास्ता के बीच में अस्नान् करति है। अवर वहां अपने बराबर मुत् वो खर्ह् धरके उसी पर नहान्ति है इसके वारे अकीन् उन्को होता है कि जो इसको पहले लंघेगा उसिको इह दोख जिसमें हमको लड़का नहीं होता है वह लागेगा"

आरा की नागरी प्रचारिणी सभा को उचित है कि संस्कृत की छात्रवृत्तियों के लिए दौड़ने के पहले इन अपनी देशियों को हिन्दी लिखना सिखावे !!!

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

यदि **प्रयाग समाचार** की छापी सभा की रिपोर्ट के एक वाक्य का कुछ अर्थ हो सकता है तो वह यह है कि सभा राजस्थान (Todd ?) का अनुवाद अपनी ग्रन्थ-माला में छापेगी। यानी महामण्डल की भाषा में, प्रतिवर्ष ४ संख्या के आशातीत प्रकाशन में ३२ विराट् पत्रों में इस ग्रन्थ के प्रकाशन की विराट् सफलता होगी। सभा ने क्या राजस्थान का अनुवाद किया है ? कब ? छपाने की भी ऐसी जलदी ? तो इस क्रम से कै दशाब्दियों में हिन्दी वाले पूरा राजस्थान पाएंगे ? क्या हम सभा की सहायता करके उसकी ग्रन्थमाला को मासिक नहीं करा सकते ? राजस्थान के समर्थदान जी बहुत दिनों से टाड छापने को उत्सुक हैं, सभा यदि उनसे बात-चीत करे तो वह ग्रन्थ को छापेंगे भी और सम्पादकीय व्यय भी दे सकेंगे। हम इस बात को समझे नहीं।

•

'राजस्थान' में बाबू सन्नूलाल ने हिन्दी भाषा पर एक अच्छा लेख लिखा है। रैडियम पर 'हिन्दी बंगवासी' भी पढ़ने लायक है।

•

'श्री भारतधर्ममहामण्डल' के धार्मिक उद्देश्यों से तौ 'समालोचक' का कुछ सम्बन्ध नहीं है, तथापि इस खयाल से कि 'महामण्डल' का कार्य हिन्दी में आरम्भ हुआ था, और हिन्दी में हो रहा है और अब भी महामण्डल हिन्दी की हिमायत की शपथ करता है।[1] हम समझते हैं कि हमें कुछ कहने का अधिकार है। हम देखते हैं कि महामण्डल की मछली ने हिन्दी अखबारनवीसी के तालाब को गन्दा कर रक्खा है। हिन्दी के सम्पादक ही ठाले और निकम्मे थे, जिन्हें बैठे-बैठे एक शगूफा हाथ आ गया। यहां तक कि तिलक केस और 'नागरी प्रचारिणी सभा' की रिपोर्ट पर लिखने को स्थान नहीं और मण्डल के सच्चे-झूठे पचड़े पर चार-चार कालम !!

जो हो, **प्रयाग समाचार**, **भारतधर्म** प्रभृति में केशव स्वामी प्रभृति के नाम से, वा सम्पादकीय ढंग से जो लेख निकाले जाते हैं वह हमें बहुत बुरे मालूम दिए हैं और उनसे हिन्दी अखबारनवीसी में बट्टा लगता है। मान लीजिए कि एक बङ्गाली ने ब्रजमण्डल में रहकर लोगों को धोखा दिया तो बंगाली मात्र को 'चीमड़' और ब्रजवासी मात्र को 'कुवाच्य' कहने का कौन मौका है ? जैसे यदि कोई-कोई काशी के पण्डित दूर-दूर व्यवस्थाओं की नोटिस देकर गाहक जुटाते हैं (हमें इस बात की सत्यता की चिट्ठयां मिली हैं) वा एक रुपया लेकर स्वार्थान्धप्रकाशिका पर सम्मति कर देते हैं, तो काशी के पण्डित मात्र को व्यवस्था और धर्म का बेचने वाला कौन कह सकता है ? केशव स्वामी और निरपेक्ष की इस क्षुद्र बहस ने एक क्षत्रिय के द्वारा उन मान्य पण्डित की उपाधियों पर चर्चा उठा दी है जिनके कि केशवस्वामी प्राइवेट सेक्रेटरी बनते हैं। शायद कलियुग के भय से सारा धर्म हिन्दी-अखबारों ही के शरण आ गया है और भाषाओं के पत्रों पर धर्म की कृपा नहीं है।

•

निगमागमचन्द्रिका के अष्टम् भाग के नं० १, २ (चैत्र-वैशाख) अब निकले हैं। जब तिहाई दर्जन पत्रों के सम्पादक इसमें ज्वाइन्ट बने हैं तो हम आशा करते हैं कि इसमें शुष्क विवाद और हिसाब की भरती ही न रहा करेगी। पण्डित चक्रवर्त्ती शायद अंग्रेज़ी के दार्शनिक और धार्मिक मासिक पुस्तकों से परिचित होंगे, उन्हें उचित है कि उनकी चाल पकड़ें। महामण्डल के प्रबन्ध में, पहले और अब,

1. to spread the study of Hindi, which the Mahamandal aims at making the 'tinqua franca' of India.

यही अन्तर है कि पहले महामण्डल के कर्त्ता स्वतन्त्र थे और सरे बाज़ार एक और स्वतन्त्र बने हुए थे, वर्तमान प्रबन्धक भी एक हैं, किन्तु टट्टी की ओट में लगाम पकड़ना चाहते हैं। स्वामी जी की सम्मति पर ज़ोर क्यों? वही इने-गिने नरपतिगण क्यों? इत्यादि कई प्रश्न प्रत्येक निष्पक्षपाती को सूझते हैं। और वही कई रूपों में पूछे जा रहे हैं। प्रायः आठ पृष्ठ की स्वर्णजिह्व वकालत के बाद सम्पादक चक्रवर्ती ने जो सिद्ध किया है और जो महामण्डल की वर्तमान पालिसी दिखाई देती है, वह यह है—

"जब ऐसे पुरुषरत्न की अधीनता में भारतधर्ममहामण्डल स्वामी जी की सम्मति के अनुसार प्रबन्ध से (क्यों? क्यों? क्यों?) परिचालित होने लगेगा, तो भारत में हिन्दू-जीवन के लिए मानो एक बार ही नवीन युग उपस्थित होगा। (जैसा कि 'मधुसूदनसंहिता' के प्रचार से होता-होता रह गया।)

●

सहयोगी **वेंकटेश्वर, भारतमित्र** और **प्रयाग समाचार** को उनकी उदार समालोचना के लिए धन्यवाद है। 'प्रयाग समाचार' से निवेदन है कि (१) सम्पादक नया है, यह रहस्य तो नहीं छिप सकता तथापि उनका पता सूंघने में आपने भूल की है। 'हमारी ओर के देहाती' यह पद सम्पादक द्विवेदी के हैं, हमारे नहीं। (२) प्रकाशक सम्पादकीय Personality व्यक्तिगत मतों में हाथ नहीं डाल सकते। (३) डरने और मुंह छिपाने वाली बात को आप समझकर भी न समझे। (४) परिवर्तन की ज़रूरत कई मित्रों ने सुझाई है मुबलिगान के लिये।

●

बंगला उपन्यासों में क्षत्रियों के चरित्र पर अपने लेखों का सिलसिला बहुत जल्द (???) शुरू करने की 'भारतमित्र' की प्रतिज्ञा कब पूरी होगी? शायद उसीका पहला अंश बंगालियों की हिन्दी पर अब निकलता है। खैर, याद तो रही और 'ऋ', 'लृ' के फैसले की तरह 'जल्द' पूरा करने में २ वर्ष तो नहीं लगे।

●

बिना मंगाये वी० पी० भेजने का जो जघन्य उपाय पं० द्विवेदी ने **वेंकटेश्वर** में लिखा है, 'समालोचक' के प्रकाशक भी उसके भुक्तभोगी victim हैं। यद्यपि उन्होंने उदारता से वी० पी० नहीं लौटाये तथापि यदि यह सिलसिला रहा तो

उन्हें इसकी अधिकारियों को सूचना देनी होगी और 'समालोचक' में उन उपन्यास-समुद्रों का नाम प्रकाश करना पड़ेगा। यह कलङ्क हिन्दी ही में क्यों ?

•

जो लोग फूल का नाम लेकर जन्मभर की बात कहने वाले ज्योतिषियों से ठगाए गए हों, वह यदि 'समालोचक' में प्रबल प्रमाण भेजें तो बड़ी कृपा हो। हमें ऐसे कई प्रमाण मिले हैं किन्तु हम नहीं जानते कि इस विषय में हम क्या कर सकते हैं। एक ही जगह से ऐसे ४।५ विज्ञापन निकलते हैं। ऐसे दैवज्ञों का विराजना देश के अहोभाग्य से ही होता है !!!

•

हम भारतेन्दु के 'कहां करुणानिधि केशव सोए' पद को गुनगुनाते हुए यहां पहुंचे थे कि—

प्रलय काल सम जौन सुदर्शन असुर प्रान संहारी।
ताकी धार भई अब कुण्ठित हमरी बेर मुरारी॥

इतने में ही ज्येष्ठ का **सुदर्शन** मिला। खैर, अब हिन्दी मासिक पुस्तकों की यह दशा समझ लें।

सितम्बर १९०३—आश्विन १९६०

'सरस्वती' (सितम्बर १९०३), 'सुदर्शन' (ज्येष्ठ १९६०), 'हिन्दी प्रदीप' (मार्च-अप्रैल १९०३), 'जासूस' (सितम्बर), 'उपन्यास' (अगस्त), 'आनन्द-कादम्बिनी' (फाल्गुन १९५९), निगमागमचन्द्रिका (चैत्र-वैशाख १९६०)

•

सुदर्शन में अबके हाफटोन चित्र के बजाय एक लेथो का कार्टून है जिसमें दरभङ्गा-नरेश को 'मधुसूदनसंहिता' के बारे में 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' का पार्ट दिया गया है। कार्टून अच्छा है। 'हिन्दी बंगवासी' के पंच के बिगड़ जाने से हिन्दी में उपहास-साहित्य का अभाव-सा हो गया है जिसे 'सरस्वती' के 'साहित्य-समाचार' वर्षभर से मिटा रहे हैं। 'भारतमित्र' के लेख भी एक अंग में कुछ काम करते हैं। 'सुदर्शन' भी चलै।

ज्येष्ठ के '**सुदर्शन**' में बहुत कुछ पाठ्य और उपादेय है। पण्डित मिश्र जो

कुछ लिखते हैं वह शुद्ध हृदय का उद्‌गार होता है, दम्भ का नहीं। सारे लेखों में उनकी व्यक्तिसत्ता का एक तार है जो कहीं-कहीं दूषण होने पर भी भूषण ही है। प्रार्थना का भाव उच्च है तो भी 'संसार सेती तरें' खटकता है।

•

मारवाड़ी विशुद्धानन्द विद्यालय की रिपोर्ट पर (जो कि सम्पादक मिश्र के आन्दोलन का फल है) 'सुदर्शन' ब्राह्मणों की उपेक्षा, कुछ रुपयों की गड़बड़, संस्कृत शिक्षा की ओर उदासीनता, मारवाड़ियों की जातीयता का नष्ट होना प्रभृति दोष दिखाकर सलाहें देता है। हम भी कहते हैं कि विद्यासागर एकेडमि की तरह यहां भी स्मर्तव्य विशुद्धानन्द जी की छवि वा प्रतिकृति होनी चाहिए, और मारवाड़ियों को संस्कृत और हिन्दी-शिक्षा पर जोर देना चाहिए। रामचन्द्र वेदान्ती के संन्यास-ग्रहण का भावपूर्ण वर्णन इसलिए असन्तोषदायक है कि वेदान्ती जी के स्वर्गवास के इतने दिनों बाद निकलने पर भी उसमें अभी उनके संन्यास का ही वर्णन है।

•

स्वयं आदर्श के लेख में **सुदर्शन** कहता है कि कुएं में भांग पड़ी है किन्तु हम उसके 'चिराग तले अंधेरा' और 'भ्रम किसका है' लेखों को पढ़कर कहते हैं कि कुएं में भांग छानी गई है और 'सुदर्शन' भी उसके भक्त हैं। मालूम होता है, हिन्दी वालों को अपने साहित्य का अजीर्ण हो गया है। अभी तुम्हारे यहां है ही क्या, जो तुम यों ग्रन्थों को जलाने-बहाने पर उतारू हुए हो ? हो तो जाय मज़ा ही—'सुदर्शन' सारे नागरी प्रचारिणी के लेख, मधुसूदनसंहिता और सनातन धर्म विरुद्ध सब लेखों को मिटा दे, नागरी प्रचारिणी सभा अश्लील किताबों को जला दे, आर्यसमाज पुराणों को फिकवा दे, आरा की सभा उपन्यासों की होली कर दे, राजपूत-महासभा वेद के अश्वमेध प्रकरण से लेकर ऐतिहासिक (!) उपन्यासों तक को गङ्गाप्रवाह कर दे, पण्डित महावीर प्रसाद, सीताराम बी० ए० के काव्यों को कटिङ् मैशीन में दे दें—बस, न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी, हम भी 'समालोचक' को रद्दी के भाव बेचकर बैठ जाएं। टण्टा मिटे। हिन्दी ! तेरे सपूतों ने तेरी चरम पूजा कर दी है, अब तेरे विसर्जन की देरी है; सो गङ्गासागर में वा ज्ञानवापी में वा बूलानाले में हो जाता है। आज दो महीने से जलाने-बहाने की धूम है—'प्रयाग समाचार' क्षत्रियों को गाली देता है, 'स्वार्थान्ध प्रकाशिका' ने ब्राह्मणों को बुरा कहा है, 'भारतमित्र' वैश्य और शूद्रों को गाली दे डाले और हम अपने

ही को गाली देते-देते अयोगोलक वाले यादवों की तरह अपना साहित्य संहार कर डालें।

•

भला कोई बात है? उपन्यासों की हिमायत होने लगी तो इतनी कि 'चन्द्रकान्ता' ही सब कुछ; और 'समालोचक समिति' का पचड़ा छिड़ा तो ऐसा कि सब कुछ; बुरे उपन्यास जलाए जाने लगे तो बाबू रामकृष्ण ही पहले अपराधी; और 'सुदर्शन' ने उनकी हिमायत की तो उन ऊंचे सुरों में और अब (इसलिए कि 'वेंकटेश्वर' ने पण्डित माधवप्रसाद को चितौर-चातकिनी का समर्थक कहा।) वेंकटेश्वर प्रेस में 'सुदर्शन' के मत के विरुद्ध ग्रंथ कैसे छप जायं। "किमाग आसीत वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् ?"

•

पण्डित मिश्र में एक यह स्वाभाविक गुण है कि वे बहुत जल्दी Motives attribute करते हैं, उद्देश्यान्तर चिपकाते हैं। सम्पादक मेहता ने 'चन्द्रकान्ता' के तिलिस्म को 'बिलल्ला' कहा और स्वयं 'विचित्र स्त्री-चरित्र' नामक अद्भुत घटना का अनुवाद किया इससे पण्डित मिश्र फरमाते हैं—"गोरी चमड़ी वाले जो लिखें सो सब सम्भव है और विचारे कृष्णकाय लिखें सो सब असम्भव ?" यह एक ऐसी लम्बी छलाङ्ग है जिसे लम्बे से लम्बा आदमी भी नहीं भर सकता। नैयायिक मिश्र ही कहें कि यह अनुमान सत्प्रतिपक्ष (दोनों तरह) है या नहीं ?

•

सहयोगी **वेंकटेश्वर** से हमारा निवेदन है कि वह इस बीड़े को उठा ले। पण्डित मिश्र बिना किसी Excitement अभिनिवेश के लिख नहीं सकते और यदि हमें उनके लेख पाने हैं तो सदा एक-न-एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें। अब के 'चपला' ने हमारा बहुत स्थान ले लिया है। खैर, आगामी बार इस विषय को हम कुछ समझेंगे तब तक दोनों पक्षों में कुछ और भी अमृत-वर्षा हो ही जायगी। 'प्रयाग समाचार' इस विषय पर लिख ही रहा है।

•

समुद्र का मन्थन करने से विष निकलता है और **राजपूत** की उपन्यास-नाश की चर्चा ने एक आलर्क विष निकाला है जो 'राजपूत की नेक सलाह' के नाम से **सुदर्शन** में एक साहित्यसेवी ने दिया है। 'राजपूत' की राजपूत-आँखें भी उस लेख के संयुक्तिक तर्कवाद और गम्भीर काकु को देखकर झेंपे बिना नहीं रह सकती। हमने गतवार जो कहा था उसे हम यहां फिर उद्धृत करते हैं—

"सीधी बात तो यह है कि यदि 'राजपूत' सच्चे ही कुछ काम करना चाहते हैं तो उन्हें उचित है कि पुराने लेख-पट्टे और अपने archives से इस कलंककथा को झूंठ सिद्ध कर दे, नहीं तो उपन्यासों के गंगाप्रवाह और दाह होने पर भी फ़ारसी और अंग्रेजी इतिहासों में यह बात काली स्याही से लिखी रहेगी।"

एक बात और है। हम लोग काम करना नहीं जानते। क्रोंवेल नामक स्वार्थ-त्यागी देशभक्त के चरित्र को अंग्रेज लोग प्रायः दो सौ वर्ष तक नहीं समझ सके उसकी हड्डियां कब्र से निकालकर फांसी पर लटकाई गईं, उसके मनुष्यत्व में सन्देह रहा। कार्लाइल ने उस धर्मातमा सत्पुरुष के चरित्र की विवेचना करके उसे वह आसन दिलाया जो बड़े-बड़े राजाओं को नहीं मिला है। राजपूतों को चाहिए कि अपने कार्लाइल उत्पन्न करें। प्रकृति में survival of the Fittest सत्तमों के अवशेष का नियम बड़ा प्रबल है, वही साहित्य में चलता है। यदि 'राजपूत' राजपूतों के उदात्त चरित्र पर ५० जीवनचरित्र और ५० निर्दोष उप-न्यास बना दें तो हम कहते हैं कि १० वर्ष में भद्दे उपन्यास सब भाग जाएंगे। 'राजपूतों' को उचित है कि ऐतिहासिक चित्रों पर सच्चा और नया रंग चढ़ावें। यों तो अभी हमारे एक मित्र ने लिखकर पूछा है कि राजपूतों ने हिन्दी के लिए किया ही क्या है जो उनके ग्रन्थों का नाश कराते हैं? किन्तु हम जानते हैं कि राजपूत हिन्दी की बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं और वह सहायता केवल ग्रन्थों के नाश से नहीं होगी। यद्यपि हिन्दी के लेखक फारसी आदि के मूल ग्रन्थों पर सारा इलज़ाम थोपकर पृथक् नहीं हो सकते, क्योंकि पाप का अनुसरण वा अनुकरण भी तो पाप ही है और 'सुदर्शन' की हिमायत कृत्रिम ही है तथापि देखना चाहिए कि और भाषाओं वाले 'राजपूत' से कैसे पेश आते हैं। हिन्दी वालों को तो बाबू राम-कृष्ण की-सी उदारता वा कायरपन (बकौल 'सुदर्शन' के) दिखाना ही चाहिए।

●

सुदर्शन ने पांडे प्रभुदयाल का जो मार्सिया लिखा है यह बड़ा भावपूर्ण है और सतसय्या को टीको (!) कार के योग्य है। अब के 'सुदर्शन' में देवव्रत के प्रति जाह्नवी का टुकड़ा नहीं आया, अस्तु 'पुनर्दर्शनमस्तु वा।'

●

'भारत मित्र' में पं० दुर्गादास मिश्र के अनुज ने कुछ अमित्राक्षर पयार छन्दों का नमूना दिया है। यह छन्द हिन्दी में नया नहीं है, भारतेन्दु और राधाचरण गोस्वामी इसे प्रयोग कर चुके हैं। सम्भव है कि हमको कविता सुनना न आता हो, किन्तु हमारी दृष्टि में उचित है कि होनहार नवकवि वासुदेव कोई और छन्द चुनें। पयार, बंगालियों की तरह बिना हिलते-हिलते पढ़ने और 'अ' को 'ओ' बोलने के, सीधी चाल से पढ़ने से अच्छा मालूम देता।

•

सितम्बर की **सरस्वती** में पं० सापूदेव जी का जीवन-चरित्र अच्छा है। सार्वदेशिक भाषा का प्रस्ताव भी (हमारे मिस्टर फड़के के लेख के आधार पर) अच्छा उठाया गया है। कविता अच्छी है। बिहारी विद्वान पुस्तकों को आलोचना सम्पादक द्विवेद्वी को ही करनी पड़ी, बिहारी क्या कानमें तेल डालकर सो रहे है? आरा की सभा तो दिल्ली में हिन्दी की कान्फ्रेंस करती थी न? काशी की सभा के निवेदन पर बंगाल के डाइरेक्टर ने उन रीडरों का दोहराना तो विचारा है।

•

ता० ११ सितम्बर के **पायनियर** में कांगड़ा (पंजाब) में एक अंग्रेज़ की चिट्ठी छपी है। उसमें लिखा है कि यद्यपि कांगड़े के आदमी बुद्धिमान्, विद्यारसिक, गुणी और योग्य होते हैं, तथापि उनकी शिक्षा का कुछ प्रबन्ध नहीं है। एन्ट्रेन्स की परीक्षा देने भी उन्हें १५० मील अमृतसर जाना होता है और वहां जाकर वे दुराचार के एन्ट्रेन्स में तो पास हो ही जाते हैं।

उक्त साहब ने कांगड़े में परीक्षा का केन्द्र कायम करने के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी को दो बार लिखा, क्लक्टर साहब ने परीक्षा के हाल के लिए अपना दफ्तर तक भी देना कहा, किन्तु अंग्रेज मेम्बरों की सम्मति होने पर भी पंजाबी मेंम्बरों के विरोध से यह स्वीकृत न हुई। याने पंजाबी (यदि साहब ठीक कहते हैं तो) अपने देशी भाइयों को उन अधिकारों को नहीं देना चाहते जो सबका समान स्वत्व है—

"स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव !"

•

इंगलैण्ड में यूनिवर्सिटियां परीक्षा लेकर ही कृतकार्य नहीं होतीं, अपनी ओर से पढ़ाती हैं, ग्रन्थ छपाती हैं और पुस्तकालय खोलती हैं। १२ आगष्ट को

यूनिवर्सिटी विस्तार सभा के वार्षिकोत्सव में लाट ओश्चेन ने सभापति के आसन से जो भाषण किया, वह बहुत अच्छा था। उन्होंने कहा कि "कई पुस्तकालयों में सैकड़ों प्रति ८० उपन्यास पढ़े जाते हैं, किन्तु सप्ताह में दो उपन्यास पढ़ने के स्थान एक इतिहास वा जीवनचरित्र पढ़ना अधिक लाभकारी है। पुस्तकालयों का बड़ा उपयोग works of reference प्रमाणग्रन्थों के देने में है। इससे पुस्तकालयों में प्रमाणग्रन्थ बढ़ाए जायं, और सब पुस्तकालय और विश्वविद्यालय एक मत से काम करें।"

भारत में यूनिवर्सिटियों में कलकत्ते की लाइब्रेरी कुछ है, और सब की नाममात्र है। एशियाटिक सोसाइटी बंगाल अब की शरद् में २।३ व्याख्यान सर्वसाधारण को दिलवाएगी। क्या यूनिवर्सिटी कमीशन की प्रेरणा से यूनिवर्सिटियां भी अध्यापन-कर्म पकड़ेंगी वा परीक्षा मात्र में सन्तुष्ट रहेंगी?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

सौथपोर्ट के बृटिश एसोसिएशन में सर जे० नार्मन लाकघर के व्याख्यान का पूरा अनुवाद **राजस्थान समाचार** में निकला है। उससे जाना जाता है कि प्राकृतिक पदार्थों के सिवा प्रजा की मानसिक शक्ति का बढ़ाना बड़ा उपयोगी है और यह शासकों का काम है। इसलिए राष्ट्र सम्बन्धी विषयों में विज्ञान की सम्मति आवश्यक है और इसलिए ही उक्त सभा वैज्ञानिकों की पार्लेमेंट बनती है। अमेरिका में १३४ विश्वविद्यालय हैं, जर्मनी में २२, इटली में २१, इंगलैण्ड में १३ और भारतवर्ष में ५, यही नहीं, जर्मन सरकार एक विश्वविद्यालय को इतना धन देती है जितना बृटिश द्वीपों के सारे विद्यालय पाते हैं। अतएव ३६० करोड़ रुपये के सूद से ८ विश्वविद्यालय, कई अध्यापक और प्रवन्ध बनाकर फ़ीस का पांचवां हिस्सा ही रक्खा जाय। भारतवासी इतना तो साहस नहीं करते कि जितना फ़ौज में व्यय होता है उतना शिक्षा के लिये मांगें, किन्तु वे युग-युग कृतज्ञ होंगे यदि ब्रौडरिक साहब जितना रुपया एफ्रिका की फ़ौज के लिए मांगते थे उतना ही विद्या-विभाग में हिन्दुस्तानियों को दिया जाय और फ़ीस बढ़ाकर उच्चशिक्षा के द्वार बंद न किए जायं।

●

बड़े लोग कहते आये हैं—'दान के घोड़े के दाँत नहीं देखने चाहिएं', किन्तु स्काटलैण्ड के निपुणजन इस नियम को नहीं मानते। एण्ड्यू कार्नेजी नामक धनी ने स्काटलैण्ड की यूनिवर्सिटियों को २।३ करोड़ का दान दिया है। इस पर **नेशनल रिव्यू** कहता है कि इस दान से स्काटलैण्ड का मान भंग हुआ है और उसके वासियों की स्वतन्त्रता कट गई है। विश्वविद्यालय कार्नेजी के गुलाम बन जायंगे, बिना उसकी आज्ञा के सुई भी न हिला सकेंगे। बिना काम के वैज्ञानिक, लंगड़े धर्मशास्त्री और विक्षिप्त साहित्यवित् टीड़ीदल की भांति देश को छा लेंगे। अभागे कार्नेजी! यदि तुम अपने दान का शतांश भी इस को देते तो सदा के लिए तुम्हारा स्तोत्रपाठ होता।

स्काटलैंड में शारीरिक शिक्षा के विषय में एक सरकारी कमीशन बैठी थी। उसने कहा है कि स्काटलैण्ड में विद्यार्थी वास्तव में दुर्बल होते जाते हैं। आयर्लैण्ड से द्विगुण विद्यार्थी दवाई लेते हैं और विद्यार्थियों में से दो तिहाई दवाई भी नहीं पाते। और भारतवर्ष में ?

•

बालक-बालिकाओं को साथ-साथ पढ़ाने के कई विद्वान् इसलिए विरोधी हैं कि इससे चरित्रगठन में शिथिलता हो जाती है। टीली साहब ने ६० बालक और ४० कन्याओं को साथ पढ़ाकर यह निश्चय किया है बालिकाओं और दवाइयों के होने से बालकों में सभ्यता और भलाई आ गई और कन्याओं में दृढ़ता, आत्म-निर्भरता और ज्ञान बढ़ा। बालकों ने स्त्रीजाति का आदर सीखा। "तुण्डे-तुण्डे सरस्वती।"

•

आषाढ़ का **सुदर्शन** भी निकल आया है और अपनी प्राचीन कीर्ति के अनुसार अच्छा है। अब के तवल्कारोपनिषद् के एक मन्त्र की विस्तृत टीका दी गई है। यदि सम्पादक सब उपनिषदों की ऐसी टीका बना दें तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है, किन्तु एक शर्त है। वह यही कि यह टीका भी वेवर के भ्रम वा दर्शनशास्त्र की तरह अधूरी न छोड़ी जाय। उपन्यासों के मत में सम्पादक बहुत कुछ सम्हल गए हैं और मालूम होता है कि प्रेरित लेखों के विचारों के पक्ष करने में निर्दोष होने पर भी उन्हें वृथा ही लोगों का कोपभाजन होना पड़ा। अब तो मामला इतना सुधर गया है कि एक equation समीकरण में ठीक हो सकता है। यदि देखा जाए तो पं० माधवप्रसाद का कथन भी ठीक ही है,

उपन्यासों की समालोचना वा जलाने-बहाने में जो बौखलापन हो रहा है और जिस प्रकार हिन्दी-पत्र-सम्पादकों ने एक तार पर अलापते-अलापते उसे श्रुतिकटु बना दिया है उसको देखते, उस जोश को ठण्डा करने के लिए 'सुदर्शन' का लेख समष्टि रूप से (पृथक्-पृथक् नहीं) ठीक ही है। अस्तु, पं० माधवप्रसाद ऐसी बातों से अधीर न हों। 'सुदर्शन' का चौथाई अंश और एक चित्र महामण्डल के अनन्त झगड़े को दिया गया है। ये लेख और चित्र किसी समाचार-पत्र की टेसू-झेंझी संख्या की शोभा बढ़ाते। साहित्य-सेवी महाशय को अब सब लोग पहचान गए हैं और हम उन्हें पहचानकर बहुत दुःखी हुए हैं। हमें यह आशा न थी कि काशी के एक सज्जन ने २ वर्ष १० महीने पहिले जो 'साहित्य' नामक लेख लिखने की प्रतिज्ञा की थी उसे एक साहित्यसेवी यों निबाहेंगे। किन्तु 'भारत-मित्र' ने इस विषय पर अपना पुराना उफान 'सुदर्शन' पर छांटा है। पं० माधव-प्रसाद अपने चित्त में इस बात के लिए बहुत दुःखी होंगे। इस समुद्रमन्थन का विष निकल चुका है और सब उचित है कि कोई शंकर इस विष को पी जाय और दोनों दल समुद्रमन्थन से बाज़ आवें। हम भी इस विषय के अपने लेख को न छापते किन्तु कई कारणों से हमने उसे यथावत् रहने दिया।

•

हिन्दी-संवादपत्रों की इस अशान्ति के तुमुल की भनक **हिन्दी बंगवासी** के कानों तक भी पहुंची है। "जिस अदालत का मैं मुन्सिफ हूं वह दीवानी है।"

•

सरयूपारी महासभा को हम बधाई देते हैं कि अबके अधिवेशन में वे पं० शिवकुमार जी को अपनी कार्यवाही में मिला सके हैं। नामांकित विद्वानों का यों काम करना बिरली बात है। महासभा को किसी प्रसिद्ध कालिज के पास सरयूपारी बोर्डिंग बनाना, नए शिथिल और अयोग्य कालिज खोलने की अपेक्षा, अधिक सुगम और उपयोगी होगा। सभा का यह प्रस्ताव भी अच्छा है, कि **बिहार-बन्धु** ही सभा का मुखपत्र रहे। हमारा निवेदन है कि नया पत्र निकालकर दुर्बल-पत्रों की संख्या बढ़ाना उचित नहीं। और भी कई सभाएं यदि अपने-अपने 'मुखपत्रों' को (जो कुछ दिन सिसकते हैं और अच्छे पत्रों के लेखक और ग्राहकों को घटाते हैं) घटा दें, तो बहुत कुछ भार उतर सकता है।

•

बिहारबंधु के साप्ताहिक हो जाने में हम बहुत प्रसन्न होंगे यदि उसे ग्राहकों वा सहायता के अभाव से फिर लौटकर पाक्षिक न होना पड़े और यदि उसका आकार बढ़ाया जाय, बदला न जाय। महाकाय पत्र अच्छे ही हों, यह कोई बात नहीं। भगवान् करे हमारा खर्व 'बिहारबन्धु' हिन्दी का 'इण्डियन नेशन' बने।

•

कुछ दिन हुए, मद्रास के **हिन्दू** पत्र की जुबिली हो गई। इन पचीस वर्षों में यह साप्ताहिक से दैनिक हो गया और इस काल में सर्वसाधारण मत का प्रतिनिधिपना देश-भाषाओं से उठकर अंग्रेज़ी पत्रों में चला गया। हमारे हिन्दी-पत्रों में 'भारतमित्र' २६वें बर्ष में है, और 'हिन्दीप्रदीप' पच्चीसवें में। 'भारतमित्र' ने हिन्दी-पाठकों के विचारों के प्रकाशित करने, सुधारने और बनाने में बहुत कुछ भाग लिया है अतएव यदि अब के वर्षारम्भ पर, 'भारतमित्र' की जुबिली बनाए जाय, तो बहुत अच्छी बात है। 'भारतमित्र' अपने अनुभव से २६ वर्ष की कालचक्र की गति सुनावै तो वह बहुत अच्छी मालूम होगी।

•

हम नहीं जानते कि **अवध समाचार** के बन्द हो जाने पर दुःख प्रकाश करें, वा न करें। जिस 'मतबे' ने हिन्दी की बदौलत इतना कमाया और जिसका हिन्दी पर इतना प्रेम है उसके यहां हिन्दी पत्र का इतने दिन जीना भी कठिन कार्य था। सम्भव है कि हमें यह 'हितवार्ता' के जन्म का बदला भरना पड़ा है। अब युक्तप्रान्त के सार्वजनिक मत को प्रकाशित करने में ('प्रयाग समाचार' के अतिरिक्त) 'भारत जीवन' को यत्नवान् होना चाहिए। खेद है कि युक्तप्रदेश का पश्चिमोत्तर अंचल गूंगा ही है। 'अवध समाचार' का फातिहा यही है—''जातो वा न चीरं जीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।'' 'मोहनी' ने बड़ा आकार धारण किया है, किन्तु उनके लेख भी आकार के योग्य होने चाहिए।

•

टाड राजस्थान को जब 'नागरी प्रचारिणी सभा' प्रकाशित करने ही लगी है तो एक दो बातों का विचार अवश्य होना चाहिए। सुनते हैं कि 'राजस्थान' का एक अनुवाद 'खंगविलास प्रेस' में और एक 'वेंकटेश्वर प्रेस' में रक्खा है। सो

सभा को उचित है कि इन दोनों अनुवादों से अपने अनुवाद का मिलान करके सर्वोत्तम अनुवाद को प्रकाशित करें। दूसरे, 'राजस्थान' की भूलों का सुधारना भी अत्यावश्यक है। इस काम को करना जितना आवश्यक है उतना ही इसका योग्य मनुष्य के हाथ से न होना अनावश्यक है अतएव उदयपुर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक गौरीशंकर हीराशंकर ओझा और पण्डित मोहनलाल पंड्या इस ग्रन्थ का संशोधन लिखें और 'राजस्थान समाचार' के मनीषी समर्थदान, बाबू राधा-कृष्ण दास, पण्डित माधवप्रसाद मिश्र, हिन्दी-सम्पादकों में से दो प्रतिनिधि और 'राजपूत महासभा' का एक प्रतिनिधि, उनके संशोधन को दोहरावें। पीछे यह निबन्ध 'नागरी प्रचारिणी सभा' वा 'राजपूत महासभा' की तरफ ने टाड के अतिरिक्त खण्ड के रूप में छपाया जाय। ऐसा ही प्रबन्ध रमेश बाबू के इतिहास के बारे में होना चाहिए। जिन सज्जनों के हमने नाम लिखे हैं वे इस काम को स्वीकार करें, केवल 'नागरी प्रचारिणी सभा' को यह करना चाहिए, वह करना चाहिए कहकर ही दूर न हो जायं।

•

जाति विशेष वा समाज विशेष के पत्रों का अच्छा वा बुरा होना उनके सम्पादक की योग्यता, मति, गति, रुचि, प्रवृत्ति के ऊपर निर्भर है। जाति विशेष की सेवा करते-करते वे देश भर की सेवा भी कर सकते हैं। वे अपनी टर्र में संकीर्ण भी हो सकते हैं। दो पत्रों की हम यहां तुलना मात्र कर देते हैं, टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं—

हिन्दुस्थान रिव्यू और कायस्थ समाचार	**राजपूत**
(कायस्थ पाठशाला, प्रयाग का अंग्रेजी मासिक)	(क्षत्रिय मध्यस्थ सभा, आगरा का हिन्दी पाक्षिक)
सम्पादक : बारिष्टर सच्चिदानन्द सिंह	सम्पादक : कुंवर हनुमन्त सिंह रघुवंशी (कदाचित्)
सितम्बर १६०३	१५ अक्टोबर १६०३
१. विक्टोरिया के समय की समीक्षा (लेखक बाबू रमेशचन्द्र दत्त सी० आई० ई०)	१. 'सुदर्शन' के साहित्यसेवी की धृष्टता

२. भारत में हिन्दू-मुसलमान (सरलादेवी घोषाल बी० ए०)	२. 'सुदर्शन' का दुर्व्यवहार
३. पृथिवी के आकृतिज्ञान में भारतवर्ष का काम (प्रोफेसरए.सी. दत्त; एम०ए० केम्ब्रिज)	३. 'भारतजीवन' सम्पादक का दुराग्रह
४. दम्पति के अधिकारों की रक्षा (गंजम् वेंकटरत्नम्)	४. 'समालोचक' का अनुचित आलाप
५. हैदराबाद को कैसे सुधारना ? (शासन का एक जिज्ञासु)	५. ब्राह्मणों के विषय में हमारी सम्मति ।
६. समाज-सुधार की रीति (डा० वी० कृष्णराव बी.ए.बी.एल.)	६. 'नागरी प्रचारिणी सभा' के एक व्याख्यान का अत्यल्प सारांश
७. विवाद— (क) यूरोपियन और भारत-वासियों में मारपीट (एक एंग्लो इण्डियन) (ख) भारतवर्ष में सामाजिक मेल-मिलाप (मुहम्मद अली बी०ए० आक्सफोर्ड)	७. प्रेरित पत्र (पंजाब में सभा खोलने के लिए)
८. समालोचना— दिल्ली-दरबार विषयक दो ग्रन्थों की	
९. टिप्पणियां— (क) वैज्ञानिक और वैद्यक (ख) साहित्य और शिक्षा (ग) कानूनी	
१०. गत मास	
११. कायस्थ जगत् । पृष्ठ १८१-२७८	पृष्ठ १-२४ पत्र भर में एक ही टण्टा,

{ बड़ी बढ़िया अंग्रेज़ी
{ उच्च विचार
{ उत्तम लेख

भाषा और विचारों का फैसला पाठक करें !!

●

'सरस्वती' में हार्नले का चरित्र, करसिरमयी मछली, और देशव्यापक भाषा के लेख बहुत अच्छे हैं। 'हार्नले पंचक' के लेखक ने हार्नले को गणेश, शेष की उपमा दी है, इससे कहीं सुदर्शन-सम्पादक इस लेख के लेखक के महामहोपाध्याय होने का सुख-स्वप्न न देखने लगें।

●

गुजराती मासिक पत्र **भारत जीवन** के कार्यालय से एक हिन्दी मासिक निकलने वाला है। प्रवासी और भारती, बंगाली पत्र, मासिक मनोरंजन, मराठी पत्र और पूर्वोक्त 'भारत जीवन' ने हमें अपने लेखों के अनुवाद करने की आज्ञा दे दी है, इसलिए इन्हें धन्यवाद है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

जुलाई की **सरस्वती** अपने चित्रों की सुन्दरता और संख्या से अपनी प्राचीन संख्याओं से बढ़-चढ़ कर है। नेपाल और फिज़ी द्वीपवासियों के वर्णन पढ़ने योग्य हैं। सौभाग्यवती रामदुलारी दुबे का उत्साह बढ़ाया जाना चाहिये। हां, गत अंकों में 'सरस्वती' की कविता कुछ आदर्श से उतरने लग गई है, उसमें भावों का अभाव होता जाता है। लाला पार्वती नन्दन की सरकारी भाषा दुर्बल होने पर भी मनोरंजक होती है। परन्तु सबसे अधिक ध्यान देने के योग्य निबन्ध, इस संख्या में, सम्पादक का 'मथुरा मास्टर' का चरित्र है। सम्पादक ने उत्तर भारत के अच्छे अंगरेजी पण्डित का मान कुछ कम ही रक्खा है। स्थान-स्थान पर उनकी दिल्लगी उड़ाने का यत्न किया है। लेखक को कुछ

अस्मद् शब्द का प्रेम अधिक होता जाता है। जब हम छठे क्लास में नैसफिल्ड की ग्रामर पढ़ते थे, तब उसमें एक ऐसे महावरे का का जिक्र पढ़ा था, जो प्रायः अंगरेजी में नहीं आता। फुटनोट नेसफिल्ड साहब लिखते हैं कि मैं इस प्रयोग को नहीं जानता था, परन्तु मथुराप्रसाद मिश्र ने मुझे इसका व्यवहार समझाया था। काशी के पुराने विद्वान् कहा करते हैं, अंगरेजी पढ़कर काशी में दो भ्रष्ट न हुए— एक तो बाबू प्रमदादास मित्र और दूसरे पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र जिनने अन्त-काल में अंगरेजी बोलने का त्याग कर दिया था, और जो गले में गुलूबन्द न बांधकर कपड़े में रुई भराकर उसे लपेटते थे। क्या अच्छा होता यदि सम्पादक महाराज उनके गंगाजल के प्रोक्षण और गीतापाठ से कुछ अधिक सहानुभूति दिखा सकते ! मिल्टन के विषय में डाक्टर मेसन ने कहा है—''छोटों को बड़ों के दोष भी भक्ति के साथ कहने चाहिए।''

•

हिन्दी प्रदीप का भी नया संस्करण हुआ ! पांच-छै महीने से वह नए सिरे से ठीक समय पर निकलने का उद्योग करता है। जिन नए पत्रों को वह नाक चढ़ाकर देखता था, उनसे उसने समय पर निकलना, सम्पादक से भिन्न देश देशान्तर के लोगों से लिखवाना, और टिप्पणियां देना सीखा है; परन्तु यह हमें पसन्द नहीं। 'हिन्दी प्रदीप' भारतवर्ष में, और हिन्दी में एक प्रकार का एडिसन का स्पैक्टेटर है। उसमें हमें भट्टजी की लेखिनी से जितना कुछ मिल सके पाने की आशा करनी चाहिए। और लोगों के लिए लिखने को और पत्र ही बहुत हैं। भट्टजी भी औरों को लिखता देखकर अपना लिखना कम कर देंगे जो हम लोग कभी नहीं चाहते। हम चाहते हैं, भट्ट जी के पत्र में 'भट्टजीपना' कम न हो।

•

सुना है कि **सुदर्शन** फिर दर्शन देने वाला है। अबके उसके नए उत्साह से निकलने का एक बड़ा भारी कारण है। काशी में रमेशचन्द्र दत्त के 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास' का हिन्दी अनुवाद निकला है और वह हिन्दी-पत्र-सम्पादकों को, जो 'इसमें लिखी बातों के समझने के एक मात्र उपयुक्त पात्र हैं' बिना आज्ञा के समर्पण किया गया है। सुना है, उस पुस्तक का स्वतन्त्र खंड छापने को 'सुदर्शन' जल्दी कर रहा है। अच्छी बात है। जो 'नया उत्साह' अकाल जलदों के समान बिना केन्द्र के मंडरा रहा था, उसे यह केन्द्र मिला। महामंडल का अनन्त झगड़ा वेवर के भ्रम का पातालभेदी विचार के सम्भव-असम्भव का तूफान और स्वार्था-

न्धप्रकाशिका के खंडन का परिकरबंध भी जिस 'सुदर्शन' की नियत समय पर निकलने की शक्ति को न जमा सकै, उसे यही बात उठावे तो सही। "मलय मरुतां वाता वाता, विकासितमल्लिकापरिमल्लभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि। घन ! घटयितुं तं निःस्नेहं य एव निवर्तने प्रभवति गवां, किं नश्छिन्नं ? स एव धनंजयः।" 'सुदर्शन' के निकलने में हमें एक और स्वार्थ है। उसके सम्पादक महोदय ने 'समालोचक' के स्वामी को एक पत्र में लिखा था—"आगामी श्रावण की संख्या में 'सुदर्शन' 'समालोचक' का स्वागत करेगा।" उस श्रावण को दो वर्ष बीत गये, पर हमारा स्वागत नहीं हुआ। वास्तव में हमारे दुर्भाग्य से ही ऐसा हुआ है। 'सुदर्शन' से हमारा एक और भी निवेदन है। वह यही कि दत्त के इतिहास की समालोचना करते समय वह इस बात का अवश्य ध्यान रक्खे कि बंकिम बाबू का 'कृष्णचरित्र' ही संसार भर की विद्याओं का सार नहीं है। 'कृष्ण-चरित्र' के मत के भरोसे जगत् भर के पीछे लाठी धरना ही पाण्डित्य की पराकाष्ठा नहीं है।

•

वैश्योपकारक पत्र, हमें आज मालूम हुआ, एक सम्पादक-मंडली से सम्पादित हुआ करता है। जब से 'निगमागम मंडली' 'भारतधर्ममहामंडल' में लीन हो गई वा उसे लीन कर गई, तब से हमें 'मंडली' नाम से कुछ भय हो गया है। जो हो, मंडली के सभी मंडन एक गुण में तो एक ही नदी के बट्टे जान पड़ते हैं। वह गुण है, व्यंग्य लिखना। प्रत्येक पंक्ति में व्यंग्य और वक्रोक्ति की चिनगारियां फूटती हैं, और इस दोषमिश्र गुण से रहित लेख लिखने में मंडनों को बड़ा क्लेश होता हुआ जान पड़ता है।

'वैश्योपकारक' को वैशाख की संख्या में महामंडल पर दो-तीन जगह लिखा गया है। एक जगह कहा गया है—"उन सबका शोच्य परिणाम महामंडल के इतिहास की निभृत कक्षा में है।" इतिहास कैसे निभृत हो सकता है और जब तक रहस्यवेत्ता लोग विद्यमान हैं और उनके चंचल ओष्ठों पर मधुर मौन की मोहर नहीं लगाई जाती तब तक उसकी निभृतता का क्या प्रमाण है? परन्तु छापे की भूल ने इतिहास को 'ईतिहास' छापकर बड़ा मज़ा कर दिखाया। अवश्य ही वे ईतियां, जो फलसस्यसम्पन्न महामंडल की कृषि को खा गईं, अपने प्राचीन गौरव और हथकंडों के स्मरण में हास करती होंगी। यह भी नई बात पढ़ी कि प्रसिद्धि किसी के 'अंक में जयमाल पहनाने के लिए तैयार' हो सकती है। अंक में विजय-मेखला भले ही पहना दी जाय। यह तो "भट्टस्य कट्यां सरटप्रवेशः"

वाली बात हुई । आगे चलकर जो कहा है कि महामंडल का वास्तव इतिहास वही होगा जिसमें दरी का कोना बाबू बालमुकुन्द के हाथ में बताया जाय । उसके विषय में वक्तव्य यह है कि जिस इतिहास में उन तर्कचूड़ामणि लोगों को रत्नसिंहासन पर न बिठाया जायगा जो अपनी निरंकुश लेखनी और अनर्गल वाणी से महामंडल की वर्तमान शोचनीय अवस्था के एक बड़े भारी अंश में कर्त्ता हैं तब तक उस इतिहास के पैर कभी न टिकैंगे । चाहे दरी का कोना कोई पकड़ै, चाहै कोई आदि पुरुष रहै पर यारों के कुछ महत् और विलक्षण उद्देश्यों को ऊर्ध्वबाहु होकर कह देना चाहिये था । मालूम होता है कि यदि मैक्समूलर के वेदानुवाद और एगलिङ् के शतपथानुवाद को ही लोग पढ़ैं और मूल ग्रन्थों को तिरस्कृत कर दें तो 'वैश्योपकारक' की सम्पादक-मंडली उसका मंडन करेगी । क्योंकि पंजाब में मंडल को उर्दू पत्र निकालते देख उसने कहा है—'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयीन श्रुतिगोचरा । इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिनाकृतम् ।' इसी तर्क को एक पद बढ़ा लेवें तो ग्रिफिथ के सामवेद और वाल्मीकिरामायण का पारायण करना "देशकाल के विचार से वास्तव में सुखदायक ही है ।"

उलटी बात तो यह है कि ब्राह्मण स्वयं वेद न पढ़ैं, अवच्छेदकता के खर्रों में जन्म बिता दें, या उससे भी दूर जा पड़ैं, परन्तु यदि कोई अन्य जाति कुछ पढ़ने-गुणने की बात करे जो ज़रा-ज़रा सी भूलें पकड़कर कहा जाता है कि विद्वान् ब्राह्मण ऐसी भूल नहीं कर सकता । स्वामी दयानन्द भी तो विद्वान् ब्राह्मण थे । राय बैजनाथ बहादुर के ग्रन्थ में कौथुमी शाखा को 'कौतुभी' छपा देखकर ठट्ठा करता **वैश्योपकारक** क्या यह नहीं जानता कि मारवाड़ियों के कुलगुरु, परन्तु मंहदी राग के क्रीतदास ऐसे पुरोहित कितने हैं, जिनका आदि कवि वज़ीरा तेली और महाकाव्य हकीमजी गर्मी वाले का ख्याल, जिनकी बाइबल शनिश्चरजी की कथा और कर्मकांड धूम्रपान है, उनमें कितने ऐसे हैं जो अपनी शाखा पूछने पर 'माधुंजणी' (माध्यन्दिनी) कह सकते हैं और कितने ऐसे हैं जो शाखा जानते हैं तो नीमकी या खेलरे की ?

इसी नम्बर में **समालोचक** पर भी कुछ फर्माया गया है । लेखक को जानना चाहिए था कि 'समालोचक' का 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' वर्ष जुलाई में पूरा होता है, दिसम्बर में नहीं । एक वाक्य बड़ा विलक्षण है—"लेखों में विशेषत्व होने पर भी देरी के कारण वह लुप्त और अनालोच्य हो गया ।" यदि ऐसा है तो मासिक पुस्तक क्या झख मारने को निकाले जाते हैं ? यदि रोल्ट केस की तरह मासिक पत्रों के विषय भी समय बीतने से अनालोच्य और यातयाम और लुप्त हो जायं, तो यह मासिक पत्रों का दोष नहीं है । यह उस रुचि का दोष है जो पत्रों को

आज पढ़कर कल फेंक देना चाहती है। अभी तो सुस्त पत्रों का क़िब्लेगाह 'सुदर्शन' विद्यमान है, जिसके लेख, दो दो वर्ष होने पर भी यातयाम नहीं होते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

हमारी आलमारी

अगस्त की **'सरस्वती'** में नेपाल राजवंश के कई सुन्दर चित्र हैं जो गत संख्या में छपने से रह गए थे। 'विविध विषय' के पीछे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'महाकवि माघ' लेख है। भाषा कुछ पण्डिताऊ होने पर भी कालनिर्णय और कवि का गुण-वर्णन अच्छा है। 'सार्थ' का (स्वार्थ नहीं) अर्थ 'सुयोग' नहीं है साथ अथवा Caravan है। देखो, 'गन्तव्ये सति जीवित ! प्रिय सुहृत्सार्थः किमुः त्यज्यते ?' और, सार्थवाह। प्रसङ्गागत श्लोकों का अनुवाद सुन्दर है। आशा है कि लेखक शीघ्र ही "विशेष-विशेष स्थलों के अच्छे-अच्छे पद्यों को अनुवाद-सहित फिर किसी समय लिखेंगे और उनकी समालोचना भी करेंगे।" वे 'माघ' के लिए वही कर सकते हैं जो राय देवीप्रसाद ने 'मेघदूत' के लिए किया है। 'पावसराज' और 'प्रेमपताका' नई भाषा में परिचित भावों की कविताएं हैं। रवि वर्मा के 'कुमुदसुन्दरी' चित्र के साथ सम्पादक की उसी विषय की चलती कविता है। निज़ाम शाह 'एक शिकारी की सच्ची कहानी' कहते हैं। बड़े हर्ष का विषय है कि सम्पादक ने "व्यर्थ निन्दा प्रतिबन्धक लोगों के लिए" मिल की 'स्वाधीनता' का अनुवाद किया है, जिसकी भूमिका इस संख्या में छपी है। "प्रति-बन्धहीन विचार और विवेचना की जितनी महिमा इस पुस्तक में गाई गई है उतनी शायद ही कहीं हो।' अन्त के पैरोग्राफ साकूत लिखे गए हैं और साकूत ही पढ़े जाने चाहिए। "जिन लोगों का यह खयाल है कि व्यर्थ निन्दा के प्रकाशन को रोकना अनुचित नहीं है, व सदयहृदय होकर यदि मिल साहब की दलीलों को सुनेंगे और अपनी सर्वज्ञता को ज़रा देर के लिए अलग रख देंगे तो उनको यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाएगी कि वे कितनी समझ रखते हैं। निन्दा प्रति-बन्धक मत के जो पक्षपाती मिल साहब की मूल पुस्तक को अङ्गरेजी में पढ़ने के बाद 'व्यर्थनिन्दा' के रोकने की चेष्टा करते हैं उनके अज्ञान, हठ और दुराग्रह की सीमा और भी अधिक दूरगामिनी है। क्योंकि जब मिल के सिद्धान्तों का खण्डन बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी विद्वानों से भी अच्छी तरह नहीं हो सका तब औरों की क्या

गिनती है ? परन्तु यदि उन्होंने मूल पुस्तक को नहीं पढ़ा तो अब वे कृपापूर्वक इस अनुवाद को पढ़ें । इससे उनकी समझ में यह बात आ जाएगी कि अपनी निन्दा के प्रकाशन को --चाहै वह निन्दा व्यर्थ हो, चाहे अव्यर्थ—रोकने की चेष्टा करना मानो इस बात का सबूत देना है कि वह निन्दा झूठ नहीं, बिलकुल सच है । व्यर्थ निन्दा के असर को दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि जब निन्दा प्रकाशित हो ले तब उसका सप्रमाण खण्डन किया जाय और दोनों पक्षों के वक्तव्य का फैसला सर्वसाधारण की राय पर छोड़ दिया जाय । ऐसे विषयों में जनसमुदाय ही जज का काम कर सकता है; उसी की राय मान्य हो सकती है । जो इस उपाय का अवलम्बन नहीं करते, जो ऐसी बातों को जनसमूह की राय पर नहीं छोड़ देते, जो अपने मुकद्मे में आप ही जज बनना चाहते हैं; उनके तुच्छ हेय और उपेक्ष्य प्रलापों पर समझदार आदमी कभी ध्यान नहीं देते । ऐसे आदमी तब होश में आते हैं जब अपने अहंमानी स्वभाव के कारण अपना सर्वनाश कर लेते हैं । ईश्वर इस तरह के आदमियों से समाज की रक्षा करैं !"

'देशव्यापक भाषा' में व्यापक भाषा और लिपि के सामाजिक आन्दोलन का विचार किया गया है । भूल से जस्टिस शारदाचरण को 'भूतपूर्व जज' लिखा है । अन्त में ग्रीव्ज साहब के चलती कैथी के प्रचार के प्रस्ताव के खण्डन का उपसंहार यों है—"पादरी साहब की नागरी लिपि देखने का तो सौभाग्य हमैं नहीं हुआ, पर परलोकवासी पिन्काट साहब की दो एक चिट्ठियां हमारे पास हैं । वे नागरी में हैं । उनको देखने से जान पड़ता है कि पिन्काट साहब ने एक-एक अक्षर एक-एक मिनट में लिखा होगा । यदि ऐसे लेखक कैथी लिखने वालों से कोसों पीछे पड़े रह जायं तो कोई आश्चर्य नहीं ।" 'व्योमविहरण' में बैलून का असमाप्त इतिहास है । 'लोमहर्षण शारीरिक दण्ड' वास्तव ने लोमहर्षण यों हैं कि उनका उपयोग सभ्य अंगरेजी राज्य के स्थापन की सहायता में किया गया था । जापानी जीत का कारण सामाजिक सूत्र की शिथिलता, विदेशियों को न घुसने देना, विज्ञान का बल, प्रभृति को लिखकर हिन्दुओं की उनसे तुलना करके अन्त में ये मर्मस्पृक् वाक्य लिखे गए हैं—"जापान में सब लोग परस्पर शादी-विवाह करते हैं, हिन्दुस्तान में अपने वर्ग में भी शादी करने में अनेक झंझट पैदा होते हैं । जापान में छुआछूत नहीं, हिन्दुस्तान में इसकी पराकाष्ठा है। ये बातें विचारने लायक हैं । पर विचार करने वालों ही की यहां कमी है। विचार करैं कौन ?" 'आँख' का नीरस लेख अभी चला जाता है ।

•

भारतमित्र में आविष्कार रहस्य, पुराने हिन्दी-पत्रों का इतिहास, शिवशम्भु का विदाई का चिट्ठा, पण्डित देवकीनन्दन त्रिपाठी का स्मरण, राजपूताने के सिक्कों की सभा, वर्षा-वर्णन और एकाक्षरप्रचार पर समय-समय पर अच्छे लेख, निकले हैं। इस पत्र के बड़े आकार को देखने से हमें दुःख होता है क्योंकि इसके बहुत-से लेख मासिक पत्रों के द्वारा रखने लायक होते हैं। बाबू योगेन्द्रचन्द्र वसु के अन्तकाल ही में 'हिन्दी बंगवासी' बिगड़ गया था, तो अब उसका सुधरना दूर-पराहत है। यदि वसु महाशय के विराट् आकार और विराट् उपहार की धूम न होती तो कदाचित् कलकत्ता प्रधान हिन्दी-पत्रों का स्थान न बनता, इसके लिए हिन्दी उनकी कृतज्ञ रहैगी। पण्डित लज्जारामजी के पृथक् होने से 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' बहुत गिर गया है। कागज़ के साथ-साथ लेख भी बिगड़ गये हैं। 'आचार्य पर आचार्य' के निष्फल लेख से हम कोई लाभ नहीं देखते, सिवाय इसके कि व्यवस्थाओं का रहा-सहा मान और नष्ट हो जाय। पहले सिख-मन्दिर का विषय अच्छा लिखा गया था, और राष्ट्रभाषा पर गुजराती साहित्यकारों के वचन खूब उद्धृत किये थे, परन्तु फिर कोई लेख ध्यान देने योग्य नहीं निकलता। पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र का विलाप ताता से भी अधिक किया गया है और न मालूम हिन्दी-साहित्य की सेवा में उन्हें भारतेन्दु का वा प्रताप नारायण का स्थान दिया है। एकाक्षर के मण्डन में इस पत्र ने देवनागरी लिपि को 'अनादिकाल से चली आई' कहा है। ऐसी भद्दी हिमायत की कोई ज़रूरत नहीं है और न इससे देवनागरी का पक्ष प्रबल होता है। देवनागरी लिपि हज़ार वर्ष की भी नहीं है और बंगला उससे प्राचीन है; देवनागरी का हक देश-व्यापकता और सरलता पर है न कि "ब्रह्मणो द्वितीय परार्द्धे" पर। बम्बई से निकलने वाले और हिन्दी साप्ताहिक पत्र उपेक्ष्य हैं। "अजमेर के **राजस्थान समाचार** ने युद्ध के दिनों में सीधे तार मंगाकर राजस्थान में एक प्रकार की हलचल और हिन्दी-साहित्य में एक नई बात कर दी थी, परन्तु हिन्दी-पत्रों ने उसे उत्साह का वाक्य भी न कहा। थाली फेरने वाले उपदेशकों को विश्वमण्डन कहने वाले उसके स्वामी के व्यय पर एक शब्द भी न कह सके। लेख भी उस पत्र में बीच में अच्छे निकलते थे परन्तु अब फिर पत्र बिगड़ चला है। अभी रूस-जापान का युद्ध बंद हो जाने से न मालूम कितने पत्रों के विषयों का दिवाला निकलेगा! **प्रयाग समाचार** और **भारत-जीवन** की दशा बहुत उन्नति की अपेक्षा रखती है।

•

प्रयाग के **राघवेन्द्र** ने अषाढ़ और श्रावण के अङ्क कुछ विलम्ब से निकालकर

अपना प्रथम वर्ष पूरा कर दिया। 'भीषण भविष्य' के निरर्थक लेख में हम कुछ लाभ नहीं समझते। स्वतन्त्र कन्या का झूठा आदर्श उस देश में क्यों खड़ा किया जाता है जहां दूध के दाँत टूटने के पहले ही कन्या पतिसात् कर दी जाती है? विचारी पढ़ने वाली कन्याएं कभी उन कृत्यों को नहीं करतीं जो द्वितीय प्रकरण में वर्णित हैं, अवश्य वे बाल-विधवा उनसे भी बढ़कर चरित्र करती हैं जिनकी संख्या बढ़ाने का यत्न धर्म लोकाचार और गड्डलिकाप्रवाह रात-दिन किया करते हैं। 'कुल और सम्प्रदाय' और 'सांख्यदर्शन' पठनीय और रोचक हैं। 'वाल्मीकीय रामायण' के 'कालनिर्णय' में लेखक लिखते हैं—"इस विषय (इतिहास) की मीमांसा में कुछ लोगों को तो केवल अटकलबाजी से ही सन्तोष हो जाता है और कुछ लोग आस्तिक बुद्धि, शास्त्रीय प्रमाणों के सहारे अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। हमारी समझ में इन दोनों में दूसरे नम्बर के जिज्ञासु श्लाघ्य हैं।"

याने शिलालेख के मानने वाले से गरुड़पुराण मानने वाला श्लाघ्य है। हिन्दी साहित्य फण्ड का वर्तमान हिन्दी-प्रचारक समाजों से पृथक् तितिम्मा खड़ा करना ठीक न होगा। हां, यदि पांचवें सवार बनने का शौक न पूरा हो तो दूसरी बात है। काशी की सभा या नागपुर की मण्डली यह काम कर सकती है। सोशल कान्फरैन्स और स्वामी विवेकानन्द पर लिखते समय सम्पादक को जोश अच्छा आया है। 'साम्यवाद' नीरस परिहास है। क्या अच्छा हो यदि कालिदास के विषय में ऐसी दन्तकथाएं न सुनाकर यह सुनाया जाय कि कालिदास, भवभूति और दण्डी एक काल में नहीं थे। "कालिदास गिरां सारं कालिदासः सरस्वती" यह श्लोक मल्लिनाथ का है। इसका उत्तरार्द्ध है—"चतुर्मुखोथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः"। और अर्थ भी लेखकोक्ति से भिन्न है। हिन्दी-साहित्य में मि० सप्रे की नागपुर की हिन्दी-प्रकाशक-मण्डली पर एक वाक्य है—"जो नियमावली हमको मिली है उसके आवरण पृष्ठ पर आरम्भ में श्री और 'सर्व धर्म्मे प्रतिष्ठितम्' लिखा देखकर हम इस मण्डली की भावी उन्नति की आशा करते हैं।" नहीं तो नहीं करते।

●

हिन्दीप्रदीप की अगस्त की संख्या में सम्पादकीय टिप्पणियां बहुत सुन्दर हैं। राजनीति, धर्मनीति, दोनों रैडिकल हैं। कुलीनता कौमियत का कलङ्क बहुत सरल भाषा में सरल लेख है, इसमें एक श्लोक क्षेमेन्द्र का क्या अच्छा लिखा है—

कुलाभिमानः कस्तेषां जघन्यस्थान जन्मनाम् ।
कुलकूलंकषा येषां जनन्यो निम्नगाः स्त्रियः ॥

भारतेन्दुजी के अप्रकाशित पद्य अमूल्य हैं । 'प्रेरित' में वर्णमाला में रोगों का चित्र है । कांग्रेस रिपोर्ट की समीक्षा में सर फिरोज़शाह की कांग्रेस की उपयोगिता के वर्णन का अनुवाद है। 'बन्दरसभा' महाकाव्य परिहास है, रोचक है । नई खबरें पहली एप्रिल का स्मरण कराती हैं । बड़े हर्ष की बात है कि भट्टजी का लेख अपनी पुरानी रोचकता को न खोकर समय पर निकलने लगा ।

•

वैश्योपकारक की ज्येष्ठ आषाढ़ की संख्याएं साथ निकाली हैं। आरम्भ में पंजाब में भूकम्प की कविता है जो 'समालोचक' में छप चुकी है । अपना एक ही लेख दो पत्रों में भेजने से यह लाभ तो होता है कि यदि एक के देर हो तो दूसरा झट छाप दे । 'लड़की की बहादुरी' का लिखने का ढंग बहुत अच्छा है। ऐसे रहस्यों का भण्डाफोड़ करना चाहिये, परन्तु पाप-मार्गों का अधिक परिचय नहीं । जाट का चरित्र बहुत अच्छा खैंचा गया है । पुराने मारवाड़ियों के अस्त होते रत्नों में भक्त और कवि रामदयाल ने नेवटिया के विषय में लिखा है— "यदि इस ढंग की कविता कोई अभिमानी कवि विबुध जननी काशी के आसपास का कोई साधारण मनुष्य प्रकाश करता तो कुछ लिखने योग्य बात न थी । किसी स्वच्छ सरोवर में कमल का पुष्प खिल उठे तो कुछ आश्चर्य नहीं पर यदि यह अर्क प्रधान मरुभूमि में खिलता दिखलाई दे तो आश्चर्य है ।" 'टोगो की विजय भेरी', सुकवि राधाकृष्ण मिश्र की मनोहर कविता है नमूने सुनिये—

भिला-जुला के खराब कर दें मनुष्य जो काम काज के हों ।
राजद्रोही कहैं उन्हें जो हितैषी अपने समाज के हों ॥
स्वतन्त्रता से न बोलने दें न बात लिखने दें जी की भाई ।
नियम के बन्धन से बांध दें यों गऊ को बांधे हैं ज्यों कसाई ॥
समझते अपने को सभ्य हैं ये, असभ्य औरों को हैं बनाते ।
गुलाम करते हैं एशिया को उधर गुलामी फिर छुटाते ॥
दोष कहां तक गिनावें इनके ? पराधीनता बुरी बला है ।
सम्हलने पाया न देश फिर वो जो इससे कटवा चुका गला है ॥

•

जापानी मारवाड़ी गूढ़ अभिसन्धि युक्त उपन्यास है। 'बनावटी कुंजलाल' रोचक कथा है। 'अन्योक्ति पुष्पावली' कोरे अप्रयुक्त शब्दों को लाकर कुछ कविता को नीरस कर देते हैं। पंजाब-भूकम्प पर मारवाड़ियों की मुट्ठी ढीली न होने पर सम्पादक-मंडली कहती है—"ट्रान्सवाल की लड़ाई के समय उनकी दानशक्ति अंग्रेजों के लिए उछलने लगी थी। बड़े बाज़ार के बालगोपालों की मण्डली में उन्हीं की (राय हरिराम गोयनका) मुरली बाज रही है इसलिए उन्हीं से पूछते हैं कि प्रेसीडेन्ट बहादुर ! आपने अपनी एसोसियेशन की उदारता का पर्दा अभी तक किसलिये नहीं उठाया ?"

●

श्रावण के **वैश्योपकारक** में कई छोटी-छोटी कविताएं हैं। एक सीकर निवासी 'क्या वैश्य को आर्य नहीं कह सकते ?' के उत्तर में एक विलक्षण तर्क लिखते हैं—"और विलायत वालों के गुरुघंटाल मैक्सम्यूलर साहब तो 'आर्य' शब्द का असली अर्थ किसान ही बतलाते हैं, ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मण' शब्द का गौरव ही क्या है जिसमें ब्राह्मण लोग कृपणता करते ? 'गुप्त गुरु का सुपना', 'शिल्प और वाणिज्य', 'खेती करना बुरा नहीं हैं' और छोटे-छोटे लेख हैं। 'पुस्तक', 'बड़ा आदमी', 'ईश्वर ही सच्चा बन्धु है' अच्छी कविताएं हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोलक** : सितम्बर, १९०५ ई०]

इसी वर्ष, कानपुर से, **कान्यकुब्ज** नामक मासिक पत्र निकला है। जिस रीति से इसके जनवरी, फरवरी के अङ्क सम्पादन किये गये हैं वैसे ही यदि यह पत्र चला तो बहुत उपकारी होगा। जैसा 'योनूचानः स नो महान्' इसका सिद्धान्त है वैसे ही इसके नवयुवक लेखकों को न पुराने दुराग्रहों का पक्ष है, न नई उच्छृङ्खलता का खण्डन। यद्यपि छोटे-छोटे जाति विशेष सम्बन्धी पत्रों की बढ़ती हानिकारक है, तो भी उचित सम्पादन से वे बहुत कुछ हित कर सकते हैं। फरवरी की संख्या में पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० ने सिद्ध किया है कि पढ़े-लिखे कान्यकुब्ज दब्बू न बनें तो क्या करें ?

क्योंकि "वे समाज से पृथक् होकर उन्नति करना नहीं चाहते।" "अपनी जाति की प्रचलित रीति को देखकर अपने-अपने हृदय की उदारता तथा संकीर्णता के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य सुधार की एक सीमा स्थापित कर लेता है। उस सीमा के आस-पास यदि वह किसी को देखता है तब तो वह दूसरे मनुष्य से हार्दिक सहानुभूति प्रगट करता है किन्तु ज्यों ही वह किसी अन्य व्यक्ति को उक्त सीमा से बहुत आगे वा बहुत पीछे देखता है कि वह उस मनुष्य पर बाज-सा टूट पड़ता है।" "जो कुरीतियां हम लोगों में घुस आई हैं उन्हें बाहरी मनुष्य बड़ी सुगमता से जान लेते हैं···पर स्वयं कान्यकुब्जों को वे देख ही नहीं पड़तीं···इसी भांति सर्वसाधारण हिन्दू-समाज में भी बहुतेरी कुरीतियां अपने आप घुस आई हैं और बाहरी लोगों को थोड़ा-सा भी ध्यान देने पर··दृष्टिगोचर हो जाती हैं परन्तु सर्वसाधारण हिन्दू···लोग बातचीत चलते ही उन कुरीतियों का चट समर्थन करने लगते हैं।" बहुत सत्य है। कान्यकुब्ज या और ऐसी ही किसी बिरादरी के स्थान में छोटी टोली और सर्वसाधारण समाज के लिए बड़ी टोली शब्द रखकर इस सत्य को यों प्रकाशित कर सकते हैं कि बड़ी टोली वाले छोटी टोली के दोषों को जल्दी देख लेते हैं परन्तु अपने दोष उन्हें स्वयं नहीं दीखते और उनकी-सी दूसरी बड़ी टोलियों को वे दीखते हैं। इस axiom की एक corollary भी है जिस पर शायद मिश्र युगल ने ध्यान नहीं दिया होगा। वह यह है कि छोटी टोली वाले अपनी टोली के दोषों की बात पर तो फूंक-फूंकर पांव धरते हैं और बड़ी टोली के दोषों पर, जो उन्हें भी बड़ी आसानी से देख पड़ते हैं, ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्लाने लगते हैं। छोटी टोली के बारे में तो वे सिद्ध करते हैं कि हम दब्बू न बनैं तो क्या करें, पर बड़ी टोली के बड़े दोषों को, जो बड़े परिश्रम से धीरे-धीरे हटाए जा सकेंगे, वे एक कलम हटाना चाहते हैं। वहां 'समाज से पृथक् होकर भी उन्नति' करने दौड़ते हैं। लेख के आरम्भ में वे सात कलम बड़ी टोली के दोष गिना जावेंगे परन्तु छोटी टोली की बात चलने पर 'मलाई की बर्फ का खाया जा सकना' ही सन्तोषदायक मानैंगे। छोटी टोली में तो 'स्वजनों से नम्रतापूर्वक क्षमा मांगने' का 'दब्बूपन' चलावेंगे पर बड़ी टोली की बातों में उनका 'कान्शन्स' मुंह को आता है और 'धर्म-धर्म का रोर मचाने वाले अखबारों का लेना बन्द' करके 'हिम्मत वाले' बनना चाहते हैं! छोटी टोली के 'धर्मधुरन्धर आंख पर पट्टी बांधकर दौड़ने वाले' लोगों से डरकर तो छोटे सुधारों को 'लम्बी जकन्द' मानते हैं और बड़ी टोली का ध्यान 'उन्नतिशील समाज की सातों सभ्यताओं और भारतेन्दु के प्रसिद्ध छन्दों' पर खैंचते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

राजपूत और हम

राजपूत का कथन—

अवश्य ही ध्यान देने के योग्य होता यदि उसके 'समालोचक' नामी लेख में 'अयोग्यता के कारण', 'गम्भीरता का नाम नहीं है', 'न्यायप्रियता का' परिचय कहीं यह वाक्य झूंठ-मूंठ बाबू रामकृष्ण को प्रसन्न करने को तो नहीं लिखा गया ?' 'खूब अनादर के वचनों से इसका तिरस्कार किया था,' 'शायद बाबू रामकृष्ण को खुशकर लेना चाहा हो,' 'साल भर बाद भी सुधरने के बदले और भी बिगड़ेगा', 'दिखावे की सहानुभूति', 'भंगड़ियों का-सा वाक्य', 'बेतुका वाक्य', 'झूंठ-मूंठ साहित्य प्रेम ब्याज से 'क्षत्रियों की निन्दा करना और बात है', 'समालोचक की अंडबंड बातों पर ध्यान ही न देना चाहिए', 'समालोचक नाम को कलंकित करने वाले इस पत्र की ऐसी बाहियात बातों', 'अपने समालोचक नाम को दूषित करना' इत्यादि मीठे वाक्यों के प्रयोग से उसकी गम्भीरता और योग्यता का परिचय न होना।

हिन्दी पठित समाज को हम बधाई देते हैं कि उनके पुण्यबल से इस कलिकाल में ऐसे शिष्ट पत्र विद्यमान हैं। इस लेख का उत्तर देने को यह भी ऐसी भाषा और भावों पर उतर आते किन्तु यह उच्च साहित्य के नियमों के विरुद्ध हैं।

हां, 'राजपूत' के कुछ ऐसे विचार अब के इस लेख में प्रकट हुए हैं जो हिन्दी भाषा के प्रेमियों के जानने योग्य हैं और जिनके लिए उचित है कि 'राजपूत' को एड्रेस दिया जाय। आशा है 'नागरी प्रचारिणी सभा' के गृहप्रवेशोत्सव पर 'राजपूत' को सामयिक पत्र लारियेंट, बनाया जाएगा।

१. 'समालोचक' के अनुसार या तो हिन्दी भाषा के नाते उपन्यासों को कुछ न कहना चाहिए, या प्रशंसा करने वाले उपन्यासों की विरुद्धता की जाय।

२. 'भारतजीवन' ने 'समालोचक' को वर्षभर उलटी-सीधी सुनाई, और 'राजपूत' ने इसकी पीठ ठोंकी तो 'समालोचक' को जन्मभर के लिए पहले पत्र का कट्टर शत्रु और द्वितीय का क्रीतदास हो जाना चाहिए था।

३. अब तक जो 'समालोचक' नहीं बोला तो उसे अब भी अपनी जीभ मुंह के भीतर ही रखनी चाहिए। 'समालोचक' ने पहले कभी कुछ भी न लिखा इससे अब इनकी सहानुभूति दिखावे की है।

४. 'राजपूत' ने और भ्रष्ट किताबें भी मंगवा ली हैं (धन्य ! साधु !!) और उन पर भी लेख लिखे जायंगे, किन्तु यदि 'समालोचक' में 'जादूगर' की उनकी मनचाहती आलोचना हो जाय तो ही 'समालोचक' का जन्म सफल है, नहीं तो—

"तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः"

"किं कृतं तेन जातेन जननीक्लेशकारिणा"

५. साहित्य विषयक पुस्तक होने के कारण, उपन्यासादि पुस्तकों में गाली हो तो भी, कोई उनके विषय में कुछ न कहै। 'समालोचक' इस विचित्र सम्मति को अपने पास ही रक्खै।

६. 'राजपूत' 'समालोचक' के सम्बन्ध में निन्दा की पुस्तकें लिखवाकर दिखाना चाहता है कि यह पुस्तकें कैसी बुरी हैं। (कितना उदार और उपकारी व्यापार है !!)

७. भविष्यत् में 'समालोचक' नाम को कलंकित करनेवाले इस पत्र की ऐसी वाहियात बातों पर राजपूत जी दृष्टि नहीं देंगे।

(आप अपने ग्राहक बढ़ाने की चेष्टा कीजिए, वा ब्याह-शादी का खर्च घटाइए, बखुदा इन वाहियात बातों पर दृष्टि नहीं देंगे)।

अकलितमहिमानः केतनं मंगलानां कथमपि
भुवनेऽस्मिंस्तादृशाः सम्भवन्ति।

•

ज़ाहिद के सिर पै जमाई तड़ाक से।
और हाथ मल रहे हैं कि अच्छी पड़ी नहीं॥

'राजपूत' वीररस से रौद्ररस में प्रविष्ट हो गया है। केवल इसीलिए कि हम 'मोहमयी प्रमादमदिरा' पीकर लट्ठ बांधे किसी एक पक्ष में नहीं खड़े हुए हैं और मध्यस्थ वृत्ति को रखने का यत्न कर रहे हैं, वा यों कहिए, दोनों लड़कों की भली-बुरी बातों को क्रमशः 'हां', 'ना' कह सकने के लिए, अपने मस्तिष्क को नहीं बेच चुके हैं, 'राजपूत' हमारे विरुद्ध जेहाद की बहादुरी दिखाता है। किन्तु इस 'जामेगुलाबी' ने 'राजपूत' पर खूब ही असर किया है। (कोई है ? साजन मद में गुण घणा कैसे कहूं बनाय) सुनते थे कि सोम-पान करके इन्द्र यह कहता था कि "मैं इस पृथ्वी को यहां रक्खूं वा वहां" वा "मेरे मन में आती है कि गौ या घोड़ा दान कर दूं।" किन्तु उदार 'राजपूत' गालीदान में कर्ण की पदवी पाना चाहता है मानो 'राजपूत' अपने को हिन्दी सम्वादपत्रों का अग्रणी मानता हो, वा सारे साहित्य का फैसला अपना ही काम मानता हो। 'राजपूत' का उत्तर उसीके समान साधु शब्दों में दिया जा सकता है और उस भाषा को उपयोग करने में हम असमर्थ हैं। कहना यही है कि—'ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तः।'

१५ अक्टूबर के 'राजपूत' की योग्यता की बानगी इन शब्दों में दिखाई देती है—"इसके लेखों का उत्तर देना अपना और पाठकों का समय नष्ट करना है", "व्यर्थ बातों का भी उत्तर", "ऊटपटांग छिछोरेपन की बातें", "ऊल जलूल बातें" इत्यादि। अनेक धन्यवाद हैं कि आपने अपने भ्रमों के रहते भी हमारे 'सत्यप्रियता का भी परिचय' को माना है और हमारे 'प्रेरित पत्र' से आपके चित्त में बड़ा प्रभाव हुआ है। सत्यप्रियता तो यदि आप चश्मा उतार दें तो और बहुत जगह दिखाई दे किन्तु 'खुली चिट्ठी' की बात को आप पचा जाते दिखाई देते हैं। 'खुली चिट्ठी' का लेखक तो यह कहता है कि राजपूत' इस गन्दी पुस्तक का प्रचार बन्द करावै, अस्तु यह बात पत्र-प्रेरक के काम की है, हमारी नहीं। हां, बाबू गोपाल राम ने तो यही लिखा है कि वह टिप्पणी उनकी लिखी नहीं है फिर 'पसन्द न की' यह आपके मस्तिष्क में कैसे समा गया ?

अन्त में, 'राजपूत' अपनी जाति की हिन्दी-सेवा गाने लगा है (क्यों ? अजमेर के पत्र को या किसी भाट को कह दिया होता और उसे सिरोपाव देकर लिखवा लेते कि हिन्दी राजपूतों की बांदी है) 'इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।

हमारा तो यही निवेदन है कि यदि आपको 'समालोचक की सम्पादक-कर्तव्य के विरुद्ध मतिगति का अच्छी तरह पता लग' गया है, तो बखुदा अपना काम करें, ग्राहक बढ़ावें, वा मादक निवारण करें, जिस विषय में आपका अधिकार नहीं, उसे न छेड़ें।

तथापि हम हिन्दी पठित समाज से अपील करते हैं कि हमारे सिवाय और पत्रों को 'राजपूत' ने जो गालियां दी हैं, उन्हें सुनना नहीं चाहिए। हमें तो गालियां खाने का शौक है किन्तु और पत्र इस उग्र भाषा को कब तक सहेंगे। यदि 'राजपूत' चटकै तो हम भी उनके विषय में कहना छोड़ दें—

'त्वंचेद्रोषमुरीकरोषि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।'

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

●

सरस्वती जिस प्रचण्ड पण्डित्य से सम्पादक महाशय ने भाषा के नए-पुराने सभी लेखकों को अपने व्याकरण के आगे अनर्गल और अशुद्ध समझा है उसपर 'भारतमित्र' चाहे कुछ कहै, हम उस प्रौढ़ लेख की स्तुति ही करेंगे। परन्तु क्या सम्पादक महाशय यह बतलायेंगे कि 'अथ शब्दानुशासनम्' यह पाणिनि का सूत्र है, यह उन्हें किसने बताया ? यह 'पातञ्जलमहाभाष्य' का प्रथम वाक्य है, पाणिनि का

नहीं । इस 'अनुशासन' शब्द के उपसर्ग को पृथक् करके जो विलक्षण गमक निकाला गया है कि पाणिनि ने अपने समय तक के शब्दों का ही अनुशासन किया है, वह निरर्थक है । 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं' कौन नहीं जानता ? और इसी हिसाब से द्विवेदीजी ने भी अपने पहले हिन्दी-आचार्यों को सम्हाल ही लिया है । परन्तु यदि 'अनु' होने से यह अर्थ निकाला गया तो अनुष्ठान=पीछे खड़े होना, अनुमान=पीछे नापना, अनुसार=पीछे रेंगना, अनुरोध=पीछे रोकना भी मानना चाहिए । एक बात हम और नहीं समझे । हिन्दी के पुराने लेखकों पर तो कृपा इस वास्ते हुई है कि उनने दुर्भाग्य से भली या बुरी वह हिन्दी लिखी थी जिसे आज द्विवेदीजी रौनक बख्शते हैं, परन्तु अंग्ररेजी, मराठी, बंगला के वे टुकड़े क्यों दिए गए हैं जो निर्दोष कहे गए हैं ? क्या उनके देने में अपनी बहुभाषाभिज्ञता दिखाने की छाया नहीं है । पण्डित बलदेवप्रसाद के लेख में कुछ निन्दा है, कुछ स्तुति । मक्का का लेख कुछ विस्तृत होना चाहिए था ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०]

□

काव्य

प्रार्थना

द्रुतविलम्बित

कठिन यद्यपि काव्य यहें प्रभो !
करिय ना इहितें अवहेलना ।।
निठुर श्रीफल अन्तर में रहैं ।
विमल नेहं रु कोमल मिष्टता ।।

समर्पण

कला निधान हिं निरख अति, रतनाकर उमड़ाय ।
जदपि ताहि शशिकान्त की, नई लहर हरखाय ।।

द्रुतविलम्बित

गहत पूज्य सदा अति प्रेम तें ।
परम भक्ति समर्पित पाँखुरी ।।
विनय तें प्रभु कर्ज मैं करौं ।
तुमहिं भेंट यहें "कुसुमाञ्जली" ।।

कुसुमाञ्जलि

दोहा

पालनहार प्रकाश कहँ, जानत अलिख जहान ।
या हित भूपति भान कों, देत मान प्रभु मान ।। १ ।।

छन्द वेताल

भोग भाग-सूरज अस्त भारत साथ भारत-जंग।
छा गई तामसि आपदा-जीमूत-जूथन संग ।।
घुटि रह्यो घर घर घेर तब अन्धेर चहुँघाँ छाय।
वह दीन्ह निज पर ज्ञान मानव भाव-हितु भुलाय ।। २ ।।

लहि लाह यवन शाह वह दमकी धनञ्जय रोचि।
अति अन्ध विह्वल हिंद तिहिँ प्रभु अंश प्रभकर सोचि ।।
सनमानि लिय गुन (पुनि) जानि हुतभुक पूरि पूरन नेह ।
अवकाश सुदशा संग दिय परकाश चहि बिच गेह ।। ३ ।।

पैं पाय वह मद-संग अति लिय लाय रूपहिँ झाल।
किय काल पथ निज नाम सारथ बाढ़ि हेति कराल ।।
अनमाप दुस्सह ताप तें निरदोष प्रज सन्तापि।
अति घोर त्रासक शाह शब्दहिँ लोक हिय दिय छापि ।। ४ ।।

पै अन्त शाह हु नहि सके अपनी हु सत्ता टारि।
आधार भस्मक वह बुझी राज्य अंगन जारि ।।
हा ! हन्त !! जो लों सूखि ना चिर दुखी प्रज चख धार।
तिम बीर-बाहुज-वंश की भीनी जु कर-तरवार ।। ५ ।।

तो लों मरठ्ठन ओ पिँडारन आर्द्रता सु मझारि।
सु हिरण्यरेत विचार गुन पुनि डारि नव चिनगारि ।।
दिय भूम धूम मचाय तिहिँ अन्धेर घोर हि छाय।
दुख अवधि पहुँच्यो हिंद इम दम प्रान घुंट घुटाय ।। ६ ।।

तहँ भई करुणा दृष्टि करुणा-सिन्धु की जु महान।
वा पाय पूरन पतन पायो हिन्द पुनरुत्थान ।।
अति प्रबल पश्चिम तें प्रभंजन कम्पनी पद गेरि।
सहसा हि दिय दुखदाइ बछल धूम आदि बिखेरि ।। ७ ।।

तहँ सके करेउ न ठहरि परि बिच चण्ड तिहिं झकझोर।
कुट मूल सिथिलहु बनत भारत भो कृतज्ञ बहोर ।।
पुनि मात सविता शक्ति श्रीविकटोरिया महारानि।
रहते हु पच्छिम क्षितिज तिहिं अपनाम लिय सुतमानि ।। ८ ।।

लखि अन्तरिच्छहि स्वच्छ करि पुनि बात सीतल मन्द ।
निज विजइ केतन के तरें गहि सूरज हिन्द ।।
चकि चकित भारत भूमि कों किय भेजि प्रतिनिधि चन्द ।
चहुं कोद शान्ति विनोद दिय प्रज चित्त पूरि अनन्द ।। ६ ।।

जो दिए सुख जगमात वहु कहि सकें नहि कवि जीह ।
है धन्य अति सुहि जननि पालें सन्ततिहिं तिहि लीह ।।
भुवि पंच खण्ड रु सप्त सागर पें जु हाल अनूप ।
एड्वर्ड सप्तम तपें प्रभकर द्वादशतमक रूप ।। १० ।।

जड़ता विनाशक हेतु जीवन दूरदर्शक राह ।
नय शांत शासक वे प्रकाशक मौलि शाहंशाह ।।
सिरताज राजनराज भो सिरताज धरि इहिँ बार ।
दीर्घायु नीरुज रखें तिहिं श्री कृश्नचन्द्र मुरार ।। ११ ।।

भो आज भारत-मुकुट दिल्ली पाट उत्सव पाय ।
चिरकाल विस्मृत मान यह महमान लीन्ह बधाय ।।
ध्वज आश ढंकत राज दूष्यन शृंग नभ रहि चूमि ।
उल्लंघि चख मर्य्याद चहुँघाँ छई छत्रन भूमि ।। १२ ।।

जिहिँ लयो पाण्डव राज को शुभ धर्म्म आसन मान ।
जहँ देशवत्सल वीर आसन रख्यो पति चहुवान ।।
जहँ शाह जवनन विछ्यो तख्त वदान्य क्रूर रू तोत ।
तहँ आज भ्राजत ब्रिटिश सिंहासन सुनीति उद्योत ।। १३ ।।

तहँ जुरी कौतुक हेतु कोसन लों जु लक्वन मीर ।
दल मिले सहँसन बिबिध बल विन्यास कौशल बीर ।।
जन मनन कर्शन दैन हर्षन रचि प्रदर्शन ठाम ।
सौभाग्य देहलि देहली भई नेह लीला धाम ।। १४ ।।

इक भाग षष्ठम रहित मंडल आकृति अनुकार ।
गिरदाय विजयी वैजयन्ती रच्यो तहँ दरबार ।।
प्रति भूमि खंडन के जु मंडन मान थल तिहिँ धारि ।
समकक्ष हिन्दू जवन अवनिप जुरे जहँ शतचारि ।। १५ ।।

जे धरत वैभव धीधरा कमला सुशासन जन्य ।
ते सकल द्वादश सहँस आसन गहे तहँ महमन्य ।।
दुहं ओर भूपति पंति बिच साम्राज्य पट्ट विधाय ।
लिय लाह बैठन शाह प्रतिनिधि राह वायसराय ।। १६ ।।

हिय हिन्द हीरन हार के अनुहार हारत नैन ।
विलसन्त कैधों वाल ध्वज धर गर्म्भ आशय ऐन ।।
भुवि काम धेनू की मंथनि किधों जुत नवनीत ।
मन्द शीश भारत दृश्य अन्तर लसत परम पुनीत ।। १७ ।।

किधों शुभ ऋतु शरद राका अरध दृश्य अनूप ।
खस्वस्त राजत लार्ड कर्जन पूर्ण हिमकर रूप ।।
नक्षत्रराजक अवलि दुहुधाँ नमि चलि जिहिँ अग्न ।
चख हृदय सीतल त्योँहि मोहित करनहार समग्न ।। १८ ।।

आह्लादि उमडन हेतु प्रजजन चित्त सिन्धु अथाहि ।
आगमन तें हू गिन्यो भारत बन्दनीय जु जाहि ।।
प्रजराज जन पद भक्ति ओषधि करत रस संचार ।
बिच शान्ति भासत भव्य कांति सुकलानिधि तमहार ।। १९ ।।

इम बहेँ अनुपम छटा धारत धारत सभा मंडप राज ।
किय इन्द्रप्रस्थ जु नाम सारथ पूर भारत भ्राज ।।
तिहिँ विपुल वैभव सकल बरनि न सकें समसन साथ ।
है धन्य जीवन सफल तिन जिन कीन्ह नैन सनाथ ।। २० ।।

सुखराशि कुमुद विकाशि ननु जग मित्र प्रतिनिधि रूप ।
तम चरन कर्जन चन्द्र कर्जन से जु भेजि अनूप ।।
शत आयु नीरुज रहहु श्री एडवर्ड वह ग्रह ईश ।
हिय हरषि भक्ति अनन्य धरि यह देत कवि आशीष ।। २१ ।।

दोहा

भक्त हिन्द अनुरक्त वनि, लिय बधाय क्षण एहु ।
पैँ पुनि माँगत इष्ट तेँ, लघु यह दिन जिन देहु ।। २२ ।।

प्रथम जनवरी ख्रीस्ट सम, नयन बिन्दु गुण इन्द ।
राजमुकुट एड्वर्ड हित, किय कर्जन मह हिन्द ।। २३ ।।

षटपदी

पुष्कर प्रभु उम्मेद हेतु सि···राज जु सराहत ।
चहो मित्र एड्वर्ड मित्रता कहें जिम चाहत ।।
तरनि रूप पात शाह लखत जिम पदवी हेतुहि ।
लखो तिम हूं सत्ताहिं ध्रुव सुहड्डन केतुहि ।। २४ ।।

[प्रथम प्रकाशन : अज्ञात]

भारत की जय

(राग खम्माच)

(१)

मिलो सर्व भारत-सन्तान,
एक तान-मन-प्राण
गाओ भारत का यशोगान ।

भारतभूमि तुल्य नहिं कोई स्थान
नहिं गिरि हिमाद्रि समान
फलवती बसुमती, स्रोतस्वती पुण्यवती
शतखण्ड रत्न का निधान ।

रहो भारत का जय
जय भारत का जय
गाओ भारत का जय
क्या भय ? क्या भय ?
गाओ भारत का जय ।
(सब मिलकर)

(२)

वीरों की यह भूमि, वीरों की जननी
ब्याप रही थी अज्ञान रजनी ।
सुगम्भीर तिमिर, कभी रहै नहीं चिर,
दीख रहा अब दीप्त दिनमणि ।
(सब मिलकर)

(३)

रामभूमि, कर्णाटक, कुर्ग, मध्यप्रान्त,
मालव, सिन्ध, पंच नदीधाम ।
बंग, मद्र, गुर्जराष्ट्र, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र,
ब्रह्मदेश, राजपुत्रस्थान ।

(सब मिलकर)

(४)

हिन्दू, जैन, सिख, बौद्ध, कृस्ती, मुसल्मान,
पारसीक, यहूदी, और ब्राह्म ।
भारत के सब पुत्र, परस्पर रहो मित्र
रखो चित्ते गणना समान ।

(सब मिलकर)

(५)

हिन्दूभूमि दुःख डूबी, दारिद्रय विस्तार
महासभा करो बारंबार बार ।
उठो उठो कर उत्साह, मांगो सुख प्रभु हाय
कर धरि कर लो उद्धार ।

(सब मिलकर)

(६)

क्यों डरो भीरु ? करी साहस आश्रय
यतो धर्मस्ततो जयः
छिन्न भिन्न हीनबल, ऐक्य से पाओगे बल
मात मुख उज्ज्वल करो, कौन भय ?

(सब मिलकर)

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

स्वागत !!!

आ त्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु या त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥
इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥
इहैव स्तं, मा वियौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहै ॥

जो जो देव 'क्रुटीक'[1] की कतरनी से हैं बचे आज लों;
जो प्राचीन महत्व 'गप्प सब है' से भी बचा आज लों;
गंगा में जल, पम्प वा नहर से, जो है बचा आज लों;
श्रीमन् ! राजकुमार ! ! मंगल सदा तेरा करैं वे सभी ॥१॥

सोते-क्षार-समुद्र में हरि सदा; ब्रह्मा डटे शून्य में;
मेरे शंकर हैं श्मशान बसते धारे हुए रुद्रता ।
आओ सर्व सुरेश-रूप ![2] तुमको, खारा सदा दुःख से,
जीर्णारण्य, श्मशान, शून्य, कहता हूं, मूक भी, 'स्वागतम् !' ॥२॥

घूमे थे जब ट्रान्सवाल, अथवा आस्ट्रेलिया, कैनडा,
'हुर्रे रूल बृटानिया' सब कहीं गाया सुना आपने ।
मैं भी उत्सव हर्ष में यदि कहूं 'बन्दे प्रियां मातरं',
हो जाता वह कर्णशूल कुछ को; हा कष्ट ! कैसे कहूं !! ॥३॥

प्रिंसैस् में ! युवराज जारज ! वही है देश पैरों तले,
सर्वोत्कृष्ट, महत्वयुक्त, जिसकी मानी गई सभ्यता;

१. क्रुटीक—समीक्षक
२. सर्वदेवमयोऽतिथिः

विद्या फ़ारिस, ग्रीस, चाल्डिक, तथा रोमादिकों ने पढ़ी;
माना है सब ने गुरु गणित का ले काम में 'हिन्दसे'[1] ।।४।।

ये वो देश नहीं जहां नृप चढ़े स्वच्छन्दता की बली;
जो आदर्श नृपाल, वे सब यहां पूजे नये विष्णु से ।
'राजा ही जगदीश है' यह कभी चार्वाक-सिद्धान्त था;
माना है हमने !! तथापि अभयाशा है नृपों से नहीं !!५।।

मेरे याद, दिलीप भूपति गये थे जो वनों में कभी,
होती शान्त दवाग्नि तो सब कहीं जल्दी, बिना वृष्टि के ।
होती थी फल, पुष्प-वृद्धि अधिका, औ' प्राणियों में, वहां,
जो थे दुर्बल जीव, मार उनको सक्ता बली था नहीं ।।६।।[2]

है लोकोक्ति—"बहू ! त्वदीय घर है, छूना नहीं किन्तु" यों;
आये हो; इससे विरुद्ध सब ही हूं देखता भाग्य से !
अग्नी स्वागत में लगी ! सब कहीं दुर्भिक्ष फैला पड़ा !!
श्रीमान् फूलरजंग भी गरजते बंगालियों पै सदा !!!७।।

तो भी प्लेग छिपाय, काल ढंक के, घोंटा असंतोष को,
मांगे शाल, ढका प्रसन्न बनके कंगाल कंकाल[3] को ।
आंसू पोंछ, कहूं सुहास्य मुख से, 'आओ पधारो यहां,
लाखों मंगल सर्व-मंगल करे ! जोड़ी बनी ही रहै !!८।।

जो विद्या, वह राजपुत्र् ! तुम को ऐड्रेस देने खड़ी,
जो धीरत्व, कुमार आज वह भी छाता लिए है खड़ा ।
लक्ष्मी जो कुछ है सभी वह लगी दीपावली में अभी,
या चन्दे लिखती फिरे सब कहीं जो आप आए यहां ।।९।।

जो तल्वार कुमार ! आज वह भी बूटों तले आपके,
अच्छा हो यदि सात टूक करके वो आप पै वार दें ।
है स्वातन्त्र्य नहीं तथापि उसकी छाया खड़ी सोचती,
"ऐसा तो न कहूं कुमार जिसको विद्रोह माने कहो" ।।१०।।

१. हिन्दसे=अंक
२. रघुवंश : सर्ग-२
३. ककाल=हड्डी

'लेवी' से अभिमान आज अपना सन्मान है मानता,
जो सद्वंश, सुवश्य, वो अरदली या चोबदारी करें।
आई हैं गृहलक्ष्मियां सब करें पृन्सेस की आरती;
देखो, केवल 'ताज' एक बढ़िया 'बेताज' के पास है!!११।।

तुम्हारी सेवा हो, तन-पतन से वा जतन से,
तुम्हारी पूजा हो, मन-शमन से वा दमन से।
तुम्हारी अर्चा हो, धन-निधन से वा दहन से,
तुम्हारे तोपार्थों तन-मन-धनों को नहीं गिनें।।१२।।

माना रत्न मुझे प्रधान सबने इंगलैंड के ताज में,
मानैं कंकर-सा कुमार! मुझ को जो न्याय मांगूं कभी।
औरों का मुख देखता थक गया, चाहूं बनाना स्वयं
मैं वस्त्रादि; कुमार! देवि!! कह दो रोकै न कोई मुझे।।१३।।

आए हो, सब देखना मन लगा, होगा तुम्हें 'अस्ति' का
मेरा ज्ञान; भला लगूं जब, भला होगा कभी 'भांति' भी।
पीछे भाग्य हुए कुमार! 'प्रिय' भी होऊं कभी आपका;
भागेंगे तब 'नामरूप' नकली जो शासकों ने धरे।।१४।।

राजा हैं सब घास-पात, कुचलो चाहै, न खाओ कभी,
मट्टी हैं हम, रौंद दो, पर कभी खाओ हमें भी नहीं।
खोवें जो वृक, रींछ, जम्बुक, बने भाई सभी आप के!
गैंडे वा गज हैं न!—खूब करिए—"शार्दूलविक्रीड़ितम्!!! १५।।[1]

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०]

१. (क) शार्दूलविक्रीड़ितम्—सिंह का खेल और छन्द का नाम
(ख) मैंने यह कविता 'गुलेरी रचनावली' (किताबघर, गांधीनगर, दिल्ली) में पृष्ठ ३४६-३४८ पर भी दी थी, लेकिन 'समालोचक' की मूल फाइल देखने पर पाया कि वह पाठ अशुद्ध तथा अपूर्ण है। इसलिए यह कविता पुनः प्रस्तुत की जा रही है।
—सम्पादक

रवि

धन्य, धन्य दिननाथ ! धाम कल्याण परम के !
हिम रिपु जीवनदातृ मूर्ति शुभ ज्योति चरम के !
रवि ! छवि तव बहु भांति विविध कविगन ने गाई,
द्युमणि ! सुनहु कछु आज कुकवि के चित्त समाई ।।१।।

हे खगोल के केन्द्र ! प्राण जीवन गणितन के ।
अहो फलितसुरवृक्ष ! सहारा दैवज्ञन के !
ज्योतिर्विद नक्षत्रसूचि सब के अनदाता !
जय सिद्धान्त सम्राट धर्म कल्पद्रुम धाता ।।२।।

नव गति गणना चारुचलन कलना चिन्तामनि !
जय प्रकास के आदि आचारज सुभमति धनि !
दिगदिगन्त गत तेज ! यन्त्रराजन के प्यारे !
म्लेच्छ तमिस्र हटाय पूज्य मूरति रखवारे !३।।

यज्ञमूल यजु वाजसनेयी शाखा चालक !
अश्वमेध विध विविध पूज्य यज्ञन के पालक !
धर्म ग्लानि मिटाय कर्म विस्तार कियो जय !
शुभ ज्योतिष्पथ देव ! कियो निष्कंटक निर्भय ।।४।।

उलगवेग[1] लाहैर[2] मान्यवर, जनक ज़ीच[3] के ।
नाथ ! उबारहु शास्त्र पर्‌यो तव बीच मीच के ।

१. एक समरकंद का गणितवेत्ता ।
२. एक पोर्च्युगैल का गणितवेत्ता ।
३. सारणी, पंचांग ।

सायन निरयन वाद नाटिकल की नटखट भी।
दृश्य धर्म्य को भेद लेत हठि मिलि याको जी ॥५॥

आर्य ब्रह्म कमलाकर मिहिर सूर्य पर—भास्कर!
केतक[1] फिरें वेताल भ्रमैं रमनीय सुधाकर।
छिन में सकल विवाद मिटै यदि रवि! तुम आओ,
राशिवलय की चाल सत्य यदि तुम दिखलाओ ॥६॥

रत्नाकर[2] को पुण्डरीक[3] तेरो कहँ प्रियतम?
नाम शेष वह आज, छयो सेवाल महातम।
निज कर प्रातःकाल संवारी जो तैं नगरी,
अन्धकार तहं निबिड़, धर्म की फूटत गगरी ॥७॥

सदा नित्य प्रत्यक्ष देव देवाधिदेव तव।
महिमा घटती जाय, भूलते वा मनीषि अब?
दुर्गति है यह नाथ! तेरी वा तव अंश की?
कीर्ति लोप हो जाय, अदिति कश्यप[4] सुवंश की? ॥८॥

कहां 'भर्ग सुवरेण्य'[5] हमारी मति जो प्रेरै?
कहां पुरुष वह दिव्य, वेद जिहि 'सोऽसौ'[6] टेरै?
दीखै हमको नाहिं, 'हिरण्यश्मश्रु'[7] मनोहर।
कह दो वैदिक विष्णु! कहां 'त्रेधा पद पांसुर'[8]? ॥९॥

१. कितने ही।
२. समुद्र।
३. कमल।
४. 'इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयः प्रकीर्तिताः' वेद में कश्यप=कच्छप=पश्यक। सूर्य अदिति और कश्यप (आकाश) का पुत्र है।
५. ऋग्वेद ३।६२।१०, (गायत्रीमंत्र) भर्ग=तेज, वरेण्य=चाहने लायक।
६. योऽसौ आदित्ये पुरुषः सोऽसौ अहम् (यजुर्वेद ४०।१५), सोऽसौ=वह ही वह।
७. यः एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखा त्सर्व एव सुवर्णः (छान्दोग्य १।३।६।६)।
८. ऋग्वेद १।५।२२।१७ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढ़ मस्य पांसुरे।

कहां तुरीय ब्रह्म[1] अत्रि ने जासों जान्यो,
आसुर जब स्वर्भानु तोहि तम मांहि छिपान्यो ?
हम भी खोजैं तोहि होंय झटिति संशयरहित,
नहिं कहलावें 'मुग्ध' यथा पुरुष 'अक्षेत्रवित' ।।१०।।

छिप्यो मेघ में सूर्य ! राहु ने अथवा खायो ?
जड़ विज्ञान प्रवीण छिद्र तो में दिखलायो ।
हे मृताण्ड से जात[2] बदन क्यों नहिं दिखलावै ?
मुरझाती यह देश-पद्मिनी क्यों न खिलावै ?११।।

यह रजनी नहिं, नहिं दिशा, नहिं कैरविणी[3] ही ।
पावै मोद विकाश इन्दु-भूषण-जय से ही ।
बिना तिहारे नाहिं पद्मिनी की गति जानहु ।
छाँडि मेघ, हनि राहु, याहि सन्मुख मन आनहु ।।१२।।

ऐसो मण्डल तेज चक्र तोहि घेरि रह्यो है ।
जा में गुरु कवि[4] आय मान बिन अस्त लह्यो है ।
पाय तिहारे हिन म्लान द्विजराज[5] कलाधर[6] ।
रहत सदा अति दूर जाय उन्नत सुषमाधर[7] ।।१३।।

विजय लोभ में आय हाय ! खोयो लवणाकर[8] ।
त्वरितवेग रथ मूल्य खो दियो अति ऋजु बनकर ।
श्येन[9] श्वान[10] मदकुम्भ[11] अंगना[12] संग पतंग[13] ले,
होय सनातन विष्णु[14] विष्णुपद[15] पै तू पद दे ! ।।१४।।

१. यत्त्वा सूर्यंस्वर्भानु:तमसा अविध्यत् आसुरः । अक्षेत्रवित् यथा मुग्धो भुवनानि अदीधयुः '...गूढ़ं सूर्यं तमसा अपव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा अविन्दत् अत्रि: (ऋग्वेद ५।४०।५-६), तुरीय =चौथा, ब्रह्म=कर्म, यंत्र ? आसुर=असुरवंशीय, स्वर्भानु=राहु । अक्षेत्रवित्=क्षेत्र न जानने वाला ।
२. अष्टौपुत्रासो अदितेर्ये जाता तन्वस्परि । देवां उपप्रेत्सप्तभिः परा मार्ताण्ड आस्यत् (ऋग्वेद १०।७२।८) ।
३. कुमुदनी । ४. वृहस्पति, शुक्र । ५. चन्द्रमा । ६. चन्द्रमा । ७. शोभा वाला । ८. समुद्र । ९. एक तारापुंज (cygnus) । १०. एक तारापुंज, लुब्धक (sirius) । ११. कुंभ राशि । १२. कन्या राशि । १३. सूर्य । १४. पूषों विष्णु सनातनः । १५. आकाश ।

कन्यालय में सूर्य ! जाहु किमि सिंहासन तजि ?
तुला परीक्षा छांडि होहु झट वृश्चिक खिजि ?
बनि अधीन अनुसरहु, कुजन-नृप-धूमकेतु को।
उच्च मार्ग तजि करहु कुसम्मत संग नीच को ।।१५।।

अहो अहल्या-जार![1] उर्वशी-प्रिय पुरूरवा[2] !
कान्तिनाथ ! मर्य्याद छांड़ि क्यों यह नई हवा ?
बालक तरु अरु पुष्पिता लता को रस चाखत।
दिन में बदन छिपाय अन्य देसन निसि भरमत ।।१६।।

पूरब से पा वृद्धि वृथा क्यों पश्चिम धावै ?
छायापति ! निज दोष उदधि में जाय छिपावै।
किरणभंग, भय, अस्त, जलधि में मज्जन गिरि सों
निहचय मिलै दिनेस ! वारुणी[3] के संगम सों ।।१७।।

जीवन तोय हमारो तू निज कर[4] सों खैंचत।
बरसावत इत नाहिं म्लेच्छ विषयन[5] महँ फैंकत।
कर डारत आदित्य ! अदिति[6] ही अम्बर[7] पर।
धात्री[8] पर करि राग[9] सोय निम्नगा-पति[10]-घर ।।१८।।

बडवा[11] हित वनि अश्व पाशवी वृत्ति दिखाई,
सुत तेरे यम मन्द[12] सृष्टि प्रतिकूल बताई।
तारा रासी भोग मिटै नहिं प्रेम वासना,
नीच गृहन में दृष्टि दिये बिन रह्यो जात ना ।।१९।।

उदय पूर्व में पाय, पश्चिमासा[13] को धावत,
डारत वहां प्रकास यहां अन्धेर मचावत।
जल थल नभ गिरि मांह छांह के पीछे धावत,
भूतल-सायिनी ताहि करै, नहिं सरमावत ।।२०।।

१. अहल्या रात्रि अथवा उषा; जार नष्ट व वृद्ध करने वाला अतएव सूर्य। २. उर्वशी=उरूची=उषा, पुरूरवा=सूर्य। ३. पश्चिम दिशा। ४. किरण। ५. देशों में। ६. द्यौ। ७. आकाश। ८. पृथ्वी। ९. ललाई। १०. नदियों का पति अर्थात् समुद्र। ११. घोड़ी (छाया का रूप)। १२. यमराज और शनि। १३ पश्चिम दिशा।

पश्चिम जाय यहां पर कर उच्छिष्ट[1] पठावत,
लोकबन्धु ! खद्योत[2] ! नयो यह न्याय चलावत !!
भास्कर ! हत तव कान्ति, आज दोषाकर[3] चरनन,
कर करवाल चढ़ावत; मानहानि हिं गिनत न ? ॥२१॥

एक काल बनि द्वादशार्क[4] के सब देस जरावहु ।
अथवा वेद पढ़ाय यज्ञ मारग में लावहु ।
देहिं तुम्हें यज्ञांस किन्तु पेटहि अब खाली,
"बाहर खावें मार देहिं घरकन कहँ गाली ।" ॥२२॥

रवि ! तेरो नहिं दोष, परम तेजोमय उज्वल !
हम ही हैं अति नीच परम संसारी चंचल !
निज चंचलता, पाप, कलुष अरु नीच-वासना,
करि तो पर आरोप लखैं यह टेव जात ना ॥२३॥

क्षमा करहु, जगचक्षु ! लोकसाक्षी ! अनुचित वहु ।
कवि मयूर[5] सम हृदय-ज्ञान-लव-कुष्ठ मिटावहु ।
नहिं देखैं हम दीर्घ घोर अँधियारी[6] रातें,
चित्रावसु[7] के पार जायँ, दिन की हों बातें ॥२४॥

'अपत कटीली डार' सेई चाहें कुसुमन को ।
'हारे को हरिनाम' 'राम ही बल निर्बल को' ।
मन ! बनि है कब दास मदन मोहन[8] चरनन को ?
या लहि है सायुज्य चन्द्रधर[9] पद कमलन[10] को ? ॥२५॥

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १६०६ ई०]

□

१. बाकी ।
२. सूर्य ।
३. चन्द्रमा ।
४. प्रलयकाल में वारहों सूर्य साथ चमकते हैं ।
५. सूर्यशतककर्ता ।
६. उर्वश्यां अभयं ज्योतिः इंद्र मा नो दीर्घा अभि नशन् तमिस्राः (ऋग्वेद २।२७।१४) ।
७. चित्रावसो स्वस्ति ते पारं अशीय (तैतिरीय संहिता १।५।५।४) चित्रावसु=रात्रि ।
८. विष्णु ।
९. शिव ।
१०. शशधर का अनुकरण, व्रजवासी लेखक से क्षमा प्रार्थनापूर्वक ।

पत्र-साहित्य

खुली चिट्ठियां

१. खरे सज्जनों को खरी चिट्ठयां

[श्रीमान् आनरेबल पण्डित मदनमोहन मालवीय
बी० ए०, एल० एल० बी०]

मान्यवर महोदय,

आप बड़े हैं। बड़ों को पुरानी बातें याद होती हैं। हमारे एक दयालु मित्र खो गए हैं। वे हमारे कृपालु थे, हमारी हिन्दी के बड़े भारी सेवक और लेखक थे। उनका आपको कुछ पता है? कहां हैं? क्यों एकान्तवास करते हैं? उनकी बोलती क्यों बन्द हो गई है, इसका आपको पता है? हमारे वे सौम्यदर्शन ब्राह्मण मित्र 'पण्डित मदनमोहन बी०ए०' इस नाम को भूषित करते थे और 'दैनिक हिन्दुस्तान' के वे चिराग थे। क्या आपने कभी उन्हें देखा है? क्या मालूम वे कहां है? अथवा क्या आपको उनका स्मरण भी नहीं? कुछ लोग तो कहते हैं कि वे ही महाशय शैलूप की तरह नई भूमिका में 'आनरेबल मालवीय' के नाम से आ गए हैं। क्या यह भी सच है? युक्तप्रान्त की कचरियों में नागरी का चंचुप्रवेश करने वाला जो प्रसिद्ध है, वह और जो किसी काल में हिन्दी का लेखक था, क्या एक ही व्यक्ति की सविधि (= चित्र, यह शब्द हुजूर ही की तसीनफ़) है? तो क्या वह महाशय धूपछाया के रंग का है? वा 'अनेक रूपरूपाय' का भक्त होने से 'रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव' हो गया है? या लोगों के चश्मे का रंग बदल गया? या उसे हिन्दी लिखने में लज्जा मालूम होती है? या इसमें यश नहीं मिलैगा? क्या कारण है कि उसके हाथ में नड़ की ग्रामीण कलम न देखकर सभ्य फाउन्टेन पेन देखते हैं?

क्या उसने और बातों में भी अपनी चाल बदल ली है ? अंग्रेजी में एक कहावत है, जो कथा के रूप में आपने सुनी होगी ।

महाराज ! एक शिक्षक को अपने इन्सपेक्टर के दौरे का भय हुआ और वह क्लास को भूगोल रटाने लगा। कहने लगा कि पृथ्वी गोल है । यदि इन्सपेक्टर पूछे कि पृथ्वी का आकार कैसा है, और तुम्हें याद न हो, तो मैं सूंघनी की डिबिया दिखाऊंगा, उसे देखकर उत्तर देना । गुरुजी की डिबिया गोल थी । इन्सपेक्टर ने आकर वही प्रश्न एक विद्यार्थी से किया और उसने बड़ी उत्कंठा से गुरु की ओर देखा । गुरु ने जेब में से चौकोर डिबिया निकाली (भूल से दूसरी डिबिया आ गई थी) । लड़का बोला—"बुधवार को पृथ्वी चौकोर होती है, और सब दिन गोल ।" वैसे ही जिन लोगों ने मालवीय जी की देखादेखी हिन्दी का पक्ष लिया था, जो मालवीय जी की हिन्दी को हिन्दी मानते थे, वे आज मालवीय जी की दूसरी डिबिया को देखकर, चकराते हुए कह रहे हैं—'सरल हिन्दी, उर्दू मिश्रित हिन्दी ।' जिज्ञासा यह है कि यह डिबिया, जेब में कहां से आ गई ? पहले ही से थी, या अब इसकी जरूरत पड़ी है ? और क्या पालसी में हिन्दी भी बुधवार को चौकोर, सप्ताह में छै दिन गोल हो जायगी ?

क्या यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि आपके-से कट्टर और पुराने कांग्रेसमैन के रहते भी युक्तप्रान्त में तीसरी कांग्रेस का नम्बर न आवे ? बम्बई तो पांच-पांच कांग्रेस कर डाले, और और अयोध्यानाथ का देश तीसरी कांग्रेस का मुंह न देखे ? जस्टिस चन्द्रावर्कर जिस सप्ताह में कांग्रेस के सभापति चुने गए थे, उसी सप्ताह वे हाईकोर्ट के जज नियत हुए । इस पर एक मसखरे ने कहा था कि वे एक दिन तो भारतवर्ष के बिना मुकुट के राजा थे और दूसरे दिन विदेशी सरकार के तुच्छ (puny) दास हो गए । भगवान् आपके मनोरथ सुफल करै, आपके भी प्यूनि (puisne) होने का मौका आवै, तो हम लोग तो बधाइयां देंगे ही, किन्तु आपकी तो मन की मन में रह जायगी ? समय रहते कर लीजिए नहीं तो फिर स्मृति की दूरबीन उस प्रशस्त पण्डाल में विराजमान मालवीय को देखैंगी, और स्मर्ता का मन 'तिरश्चीनमलातशल्यं' भोगेगा ।

इधर आपकी संस्कृत यूनिवर्सिटी दोहद लक्षणों को धारण करैगी । किन्तु इस काम में आपको दो बातों से बचना चाहिए । एक तो उस भिड़ों के छत्ते से, जो अपने हितकारियों को शत्रु कहा करता है, और दूसरे स्वयं काम न करके औरों के यन्त्रों में मीन-मेष करने वालों से । वे लोग आपको 'अन्तःशाक्ता बहिः-शैवाः' कहैं तो भी निडर होकर काम करते जायं । किन्तु विचारी हिन्दी में आप अवश्य कुछ लिखें । भक्तवत्सल मदनमोहन ने एक बलवान् भक्त की प्रतिज्ञा के

लिए अपना हठ छोड़ दिया था, आप तो चीज़ ही क्या हैं? तथापि सुन छोड़िए—

आशाप्रतीते संगतं सूनृतांश्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृंक्तेपुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

और—

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं मांगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥

आप शतायु हों। दिन-दिन आपका यश बढ़े।

आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद, तूष्णी मासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।

—चिट्ठीवाला

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०४ ई०]

२. 'कुछ लोगों' के नाम

महाशयो,

एक राजधानी में, जिसका नाम लेना उचित नहीं, एक पण्डित हैं। उनका नाम बहुत बड़ा है। उनकी उपाधियां कोसों तक लटकती हैं। किसी पण्डित को एक उपाधि, शास्त्री, या विद्यावागीश, मिली तो क्या, पण्डितजी की उपाधियों में सबकी उपाधियों का तीर्थ है। प्रतिक्षण वे उपाधियां बढ़ती जाती हैं। एक, दृष्टान्त लीजिए। राह चलते मुझसे उन्होंने कुशल-प्रश्न पूछा। मैंने उत्तर दिया। घर जाकर उनकी नाम की बही में (उनका नाम किसी की जिह्वा पर नहीं है, और न ही उन्हें ही याद है, वह है उनकी बही पर) यह नाम जोड़ा गया— "विद्वानों से पूजित, अमुक-अमुक ग्रंथों के वेत्ता, अंग्रेजी में इतनी योग्यता रखने वाले, 'समालोचक' के लेखक, हिन्दी के फलाने, अमुकजी महाराज, राजमान्य से सम्भाषण करके शास्त्रार्थ के सभी प्राचीन नवीन नियमों से उनके मन को

रंजित करने वाले, उनको पराजित करने वाले वा अपने शिष्य प्रशिष्य प्रशिष्य के द्वारा उनसे वाङ्मिश्रण करने वाले—" यह विशेषण चट उनकी बही में जुड़ गया। कहां उनने खांसा, किसे देखकर उन्हें हँसी आई, कहां उन्हें लघुशंका की बाधा हुई, ये बातें उनकी सदा उपचीयमान विशेषण प्रचारिणी माला में जुड़कर उसे सकल करेंगी या नहीं, यह निश्चय नहीं किन्तु हिन्दी के कितने सेवक और भारतवर्ष के 'कुछ लोग' ऐसी ही चेष्टा किया करते हैं। वे समझते हैं, अब तक जिनने कुछ काम किया है, वे सभी मूर्ख हैं, काम हम करेंगे। अपनी कुल्हिया में गुड़ वे फोड़ने भी लग जाते हैं। किसी परिषद् ने किसी दोष को सुधारने का यत्न किया, कि एक चिट्ठी 'ईंजानिब' की भी पहुंच गई और यदि वह दोष सुधर गया तो सब मेहनत यारों की, और काम करने वालों ने यारों की नकल की। घर ही में सब दफ्तर, जोर अपना, कुछ मिल गए, ऐसे जो कहें सो लिख दें, छाप दें, बड़ों को उपदेश दें ये कि 'व्यायतनामधेय' जो करते हैं वैसा करो! किसी ग्रंथ को छपवाने की समाज को ज़रूरत पड़ी या सूझी। यारों को पता लगा। बस, अखबारों में यह तो निकला कि 'कुछ लोग' उसे छपवाने का यत्न कर रहे हैं। दो-तीन आदमियों को चिट्ठियां लिखी गईं कि हमारा यह प्रस्ताव है, और इसका यह फाइल-नम्बर है। उसने उत्तर न दिया तो उसकी मूर्खता! नहीं तो उसकी चिट्ठी, खूब सफ़ाई से छाप दी जाती है, चाहै उसमें इन्हें सूखा बूरा ही खिलाया गया हो। इत्तिफ़ाक से इनने एक ऐसे को चिट्ठी लिखी जो पहले से उस किताब को छपा रहा था। बस, यह भी छाप दिया गया। पूछै कि इसमें आपका 'क्रेडिट्' क्या? आपके सजेश्चन और धूम से क्या हुआ?

कुछ लोगो! तुम ध्यान धरो। काम से प्रेम है, काम करना है, तो स्वयं कुछ करो। दुनिया भर में ढोल पीट मारा कि जो यह करैगा, वह करैगा उसे हम मैडल देंगे, किन्तु काम करने के नाम से भागते हैं। स्वयं क्यों नहीं काम करके रुपया ले लेते? औरों के काम का न्याय कर सकते हो, स्वयं क्यों नहीं कुछ बनाते? जिन कामों में और लगे हुए हैं उनमें क्यों भांजी मारते हो? और काम कुछ नहीं हैं? या अपने नाम का इतना विचार हैं? मेरा लेख अच्छा हो तो चाहै अपने को मैं 'सी० आई० ई०' कहूं, चाहै 'क, ख, ग,' से चिट्ठी दूं, उसका आदर होगा। फिर यह चिन्ता क्यों कि कोरे घधड़ातामट' नाम से बहुत कुछ अगाड़ी-पिछाड़ी के बिना लगाए हम लिखें नहीं।

कुछ लोगो! तुम्हारे घर में जानते हो कितना कूड़ा भरा पड़ा है? उसे क्यों नहीं साफ़ करते? तुमारा हिस्सा कितना 'अनकूथ' है, दूर-दूर क्यों झांकते हो? मुहल्ले के म्युनिसिपलिटी ठीक न करके देश के सुधार को क्यों दौड़ते हो? और उस चन्द्रमा के किरणों की कृपा पाए पण्डित की तरह कैसे नाम बढ़ाते हो?

इन्हीं कामों का परिणाम तुम में एक और है, जिससे हम Carlyle के शब्दों में तुम्हें Pruinent windbag कह दें। जब तक तुम्हारे लिए हम अखबारों में न लिखें, तब तक तुम्हें अन्न न पचै। अखबारों में लीडर लिखो, हमारी तारीफ़ करो, भगवान् दुहाई, हमें कुछ मानो, विना उसे पढ़े हमें नींद नहीं आती, हमारे खाँसने तक की रिपोर्ट करो, यह क्या बौखलपन है ? भले मानसो, कुछ ठोस काम करो, पराए धन पर व्यापार मत चलाओ। बड़ों की नकल न करो, उनके दोषों को सुधारो, पर स्वयं काम करके। जगत् में तुम्हीं कोरे वैयाकरण नहीं हो। तुम में ही सब काव्य नहीं आ गए हैं। तुम समझते हो, कि हम यों कहकर बड़ा पाप करते हैं। क्योंकि तुमने यह व्यापार छोड़े कि जगत् के घूमने की कीली में जंग लगा। पहिए रुके। ऐसी चिन्ता मत करो। जगत् ने बड़े-बड़े बिछोहे सहे हैं। वह इसे भी सह लेगा, और कल सवेरे पृथ्वी अपनी धुरी पर ऐसे ही घूमती मिलैगी जैसी कि आज आपके साकल्य की बदौलत।

अच्छा ! तुम अपने रूप को जान गए ? अब यही निवेदन है कि यह टोपी तुम्हारे सिर पर आती है तो ओढ़ लो।

—वही चिट्ठीवाला

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०४ ई०]

३. 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के कार्यकर्ता !

प्रिय महाशयो !

भारतवर्ष के दो विप्रकृष्ट प्रान्तों में, गत मास, घटनाएं ऐसी हो गई हैं जिनका परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, परन्तु उन दोनों को मिलाकर आप लोगों की और सर्वसाधारण के मत की अवस्था पर दो-तीन बातें कहने का मन करता है।

भारतवासियों में पुरातत्त्व की खोज के लिये जो नाम राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने पाया था, उससे कहीं अधिक यश डाक्टर भाण्डारकर के भाग्य में था।

उनका वाक्य योरोप और अमेरिका के पुरातत्त्ववेत्ता आदर से मानते हैं। उनकी खोज में निष्पक्षपात विवेक है। गोत्राङ्गण की यूनिवर्सिटी में उन्हें डाक्टर की पदवी बहुमान के साथ मिली थी। सरकार की ओर से पुरातत्त्ववेत्ताओं की कांग्रेस में वे प्रतिनिधि बनाए गए, और शुष्क पण्डिताई के लिए उनका सम्मान कई बार किया गया। इतना होने पर भी वे प्रजा से पृथक् रहे। कुछ तो पुरातत्व के सच्चे या झूंठे, परन्तु देश के माने सिद्धान्तों के विरुद्ध विचारों को मानने से कुछ वास्तव समाज-संशोधन के नेता होने से, और कुछ बात-बात में राज कर्मचारियों को 'जो आज्ञा' कहने के सन्देह में लिपटे जाने से वे प्रजाप्रिय न हो सके। गत वर्ष सरकार की एक नीति में सत्यवचन कहने वाले बनकर उनने एक ऐसे काम का मण्डन किया जिसके सारा देश विरुद्ध था, और यों 'बिल्ली का पञ्जा' बनने के कारण उनकी सारी पण्डिताई और एन्टिक्वेरी उनकी और की प्रजा की उदासीनता को घटा न सकी। बम्बई यूनिवर्सिटी ने उन्हें, यल० यल० डी० की उपाधि से विभूषित करना विचारा जो उनकी विद्वत्ता के योग्य होने पर भी, सार्वजनिक मत की वर्तमान अवस्था में, जो भाण्डारकर के नए उल्वण कर्तव्य को न भूल सका था, उलटे अपमानसूचक हुई। चाहे चान्सलर ने अपने भाषण में उनकी स्तुति की, किन्तु श्मशान की तरह शून्य विश्वविद्यालय के हाल में लोगों ने भाण्डारकर को लपूटा के टापू में रहने वाले उस पण्डित से तुलना दी जो प्रजा के रोष की कमचियां खाकर भी नहीं चेतता। इससे आप समझ जायं कि कोरी रिपोर्ट लिखने से लोकप्रियता पाने की आशा भ्रम है, और सरकार से कुछ रुपया सहायता पा लेना ही अपनी उपयोगिता और प्रजाप्रियता की जांच नहीं है।

दूसरी शोकदायक घटना पंजाब में हुई है। वह लाला मुन्शीराम एम० ए० का यावत् आर्यसमाजिक प्रबन्धों से पृथक् होना है। चाहे कोई संकीर्ण हृदय सनातन धर्मी इस घटना पर दर्प करें और इसका उल्लेख हर्ष से करें परन्तु हमें इस पर वास्तव में शोक हुआ है। चाहे लाला महात्माजी ने अपने साथियों की कार्रवाइयों से तङ्ग आकर यह लौकिक नीति चली हो, चाहे उनका आर्यसमाजीय प्रबन्ध सम्बन्धी उपकारिता से विश्वास हट गया हो, एक बात निश्चय है; वह यह कि भारतवासी समाज की जड़ में बड़ा बुरा कीड़ा लग गया हुआ है जो सच्चे हितकारियों को काम नहीं करने देता। अवश्य ही लाला जी ने अपने धर्मसिद्धान्त नहीं बदले हैं और न इनका छोड़ना उनका-सा है जो आर्य-समाज का हलुआ पूरा करके सनातनधर्मियों की खीर के लिए मतवाले बनते हैं। जहां तक सुना गया है, लालाजी ने अपनी अच्छी चलती वकालत में बट्टा डालकर, अपना और अपने मित्रों का हजारों रुपया एक अपनी समझ में देशोपकारी

कार्य के लिए इकट्ठा किया और लगाया है। उस समय उनका बोझ बहुत कम लोगों ने बांटा। जब उनका काम पूरा हो गया तब उसमें दोष दिखानेवाले, छिद्र निकालने वाले, समाचार-पत्रों के कालम और पढ़ने वालों के मस्तिष्क को खाने वाले कई मिल गए, और अन्त को मुन्शीजी को यह 'स्टेप' लेना पड़ा। यह ही इस देश के मनुष्यों में गुण हैं। वे कन्स्टीट्यूशन से, नियम से, क्रम से, किसी काम को चलने देना नहीं चाहते। यह देशवासियों के मन और देश की मट्टी की दुर्बलता का सूचक है कि यहां प्रबन्ध से कोई कार्य टिक नहीं सकता। पहले तो लीडर नहीं मिलते। यदि कोई लीडर मिला भी, तो उसका कहना मानने वाले नहीं। यदि लीडर वास्तव में योग्य हो तो उससे कोई भय नहीं, किन्तु कई मनुष्य लीडर न बनके लीडर बनने की हवा बांधा करते हैं। यह सत्य हैं कि सेनापति अपने संग्राम के प्लेन को दीनता के साथ प्रत्येक सिपाही को नहीं दिखाता और न अपने हृदय को अपनी आस्तीन पर बांधे फिरता है जिससे कौए भी उस पर चोंच मारते जायं, प्रत्युत यदि उसके हाथ में मुट्ठी भर सत्य है, तो समय पर वह अपनी चिट्टी अंगुली ही खोलता है। किन्तु यदि कल्पित सेनापति इन सब अधिकारों को काम में ले तो ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त यदि पन्द्रह मनुष्यों में एक का मन चौदह से न मिला, तो वह अपने चतुर्मुख विधाता का ताऊ मानता है। और कभी अपने विचारों को सुधारने का स्वप्न भी नहीं करता। वह, यदि उसके मत पर लोग न चलैं तो त्रिवेणी में कूदने की धमकी देता है, मानो वैसा करने से सारी मण्डली डूब जायगी।

'सभा' समझ जाय, उसको यदि कभी खतरा है तो कल्पित नेताओं से, और उन्हें दिक करने वाले और उनका धैर्य नष्ट करने वाले त्रिवेणी में कूदने वाले से। वे स्वयं न कुछ करते हैं न कुछ कर सकते हैं। नेता नहीं बन सकते, पर पीछे भी नहीं चलना चाहते, और सिवाय त्रिवेणी में कूदने की धमकी के, वे परमेश्वर ने किसी काम के लिए नहीं रचे। उनके इस चिढ़ाने पर काम करने वाले यदि पत-वार छोड़ बैठते हैं तो जगत्-हँसाई होती है। और, वे महाशय भी मूसा पैगम्बर के प्यारे मित्रों की तरह मुंह चिढ़ाया करते हैं। मुसलमान धर्म्म में एक कथा बड़ी विलक्षण, सत्य और रोचक है।—प्रेत समुद्र के पास किसी नगर के वासी बड़े विलासी और आलसी थे, और परमेश्वर ने उन्हें धर्म्मोपदेश करने को, हज़रत मूसा को भेजा। मूसा ने बड़ी गम्भीरता से उन्हें अपने सिद्धान्त समझाए और धर्मोपदेश दिया। उन महाशयों ने मूसा की ओर मुंह चिढ़ाया, और उसके भाषण को सुनकर जंभाइयां लीं। और दाँत निकालकर मूसा को स्पष्ट सुना दिया कि हमें तुम्हारी जरूरत नहीं है। मूसा ने अपना रास्ता लिया। और कथा कहती है कि वे सब मनुष्य बन्दर हो गए। अब वे जगत् की ओर मज़े में मुंह चिढ़ाते हैं और

चिढ़ाते ही रहेंगे।—क्यों मित्रो ! कभी आपने भी ऐसे मनुष्यों को देखा है ? उनकी दृष्टि में सारा जगत् ही 'हम्बग्' है और आप लोग और भी ज्यादा। मालूम होता है, मूसा के वैसे मित्र आजकल बढ़ गये हैं। वे अपने काम, काम पर काम करने वालों का धैर्यच्युत करना चाहते हैं।

गत दो वर्षों में 'भारतधर्ममहामण्डल' के नाम से जो तमाशे हुए हैं, उनसे कम-से-कम पच्चीस वर्ष तक कोई मनुष्य जिसे चावल भर भी आत्मगौरव होगा, कभी महामण्डल या धर्मसभाओं से अपना सम्बन्ध रखना नहीं चाहेगा। यदि लाला मुन्शीराम जी का मामला बढ़ा तो आर्यसमाज में रहना उतने चाव की बात न रहेगी। अभी तक आप लोगों में गिना जाना प्रतिष्ठा समझी जाती है। आप लोग इसी बात का यत्न करें कि परस्पर की खेंचाखेंच से वह समय कभी न आवे, जब आपके साथी कहलाना प्रतिष्ठा न मानी जाय। बस अपना काम करो और बकबक को और त्रिवेणी में कूदने वालों को पीछे रहने दो।

—वही चिट्ठीवाला

पुनश्च :

सभा के 'गृहप्रवेशोत्सव' पर सर जेम्स लाट्श ने जो संस्कृत-शिक्षा विस्तार का चित्रपट खैंचा था, उसके विषय में अबके कन्वोकेशन में उनने जो शब्द कहे थे, आप लोगों को कैसे लगे ? अलीगढ़ ने तो कथनानुसार एक अंग्रेज प्रोफेसर और एक सहकारी रख लिया। किन्तु "जो सलाह देने योग्य थे" उनने क्या किया ? यदि काशी के पवित्र संस्कृतपीठ में भी किसी विदेशी आचार्य ही का जमना इष्ट हो, तो संस्कृत की वह उन्नति नहीं चाहिए किन्तु क्या सर जेम्स को नहीं मालूम है कि उनके सलाहकार या तो काशी से एनीबेसेंन्ट के कालेज को अपदस्थ करने के विचार में हैं और या उनके मन्तव्य हमारी संस्कृत यूनिवर्सिटी की चार मील की परिधि के भीतर शूद्र न आने पावैं, इसी में समाप्त होते हैं ? और सभा के उद्देश्यों में संस्कृत की उन्नति कदाचित् नियमावली की ही शोभा के लिए है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

४. हिन्दी भाषा के उपन्यास-लेखकों के नाम

प्रिय महाशयो,

आप लोग दो प्रकार की रचना करते हैं। एक तो उन विलक्षण और असंभव ऐयारियों और तिलिस्मों में गोते खिलाना है जो कभी न थी और जो विज्ञान की चाहे कितनी ही उन्नति हो जाय, कभी भी सम्भव न होंगी। दूसरा गार्हस्थ्य और समाज के उन आदर्श चित्रों को दिखाना है जो वर्तमान समय में नहीं हैं, या तो प्राचीन समय में थे, या उस समय भी कल्पना ही में थे। उन्हीं के रंगने में दोनों प्रकार के सज्जन अपना समय और पढ़ने वालों का सब व्यय करते हैं। दोनों ढंगों में नायक सब गुणों का पुतला होता है, प्रतिनायक सब दोषों की खान बताया जाता है। नायिकायों के रूप में अनन्वयालंकार ही चलता है, उनके रूप में कोई भी कमी नहीं। ग्रन्थकार के प्यारों में गुण-ही-गुण है, और उसके विरोधियों में दोष-ही-दोष। स्वतंत्र रमा में दोषों का एटलान्टिक है और परतंत्र लक्ष्मी में सद्गुणों का पौसिफ़िक। धर्मात्मा सुख-ही-सुख पाता है, और व्यावहारिक मनुष्य दुःख-ही-दुःख। उनके नायक ब्राह्मण तोते की तरह धर्मशास्त्र को स्वप्न में भी जपा करते हैं, क्षत्रिय शौचकाल में तरबार बांधे फिरते हैं, नायिकायें नदी में डूबते भी पति का जूता उठाना ही बर्ताती हैं, और सिटल्लू ऐयार भी अपने बटुए से नहीं चूकता। परन्तु क्या आपने कभी खयाल किया है कि जगत् में क्या ऐसी ही सृष्टि है? आप मुझ से कहेंगे—"क्यों? चरित्रों को गोशमाली और छिद्रान्वेषण क्यों करें? क्या ब्राह्मण के मुख से 'पीत्वा, पीत्वा' कहलवा दें? क्यों दिव्य की प्राचीन प्रथा को छोड़कर नवीन वकीलों की कलकल मचावें? क्या यह सुन्दर नहीं मालूम देता कि सद्गुणों का और पाठकों के प्रेम का एक पात्र बीसों बिस्वे तैयार कर दिखावें? यदि तुम भी उपन्यास-लेखक हो तो किसी गद्दीधारी महन्त के मुख से शतरंज या मदिरा की बात न कहलवाकर धर्मोपदेश करा देते जो उसके मुँह से कार्तिक-माहात्म्य की तरह सुनाई देता?"

यदि मेरे मत में उपन्यास-लेखक का सबसे ऊंचा व्यवसाय चरित्रों को, जैसे वे कभी न थे और न होंगे वैसे बनाना ही होता, तो मैं अवश्य ऐसा ही करता। तब तो जीवन और चरित्र को बिलकुल अपनी ही रुचि के अनुसार मैं गढ़ सकता था, मैं धर्मोपदेशक का सर्वोत्तम नमूना चुन लेता और सभी मौकों पर मेरे रुचिर उपदेश उसके मुंह में रख देता। किन्तु आश्चर्य है कि मेरा (अर्थात् सच्चे उपन्यास-लेखक का) सब से प्रबल यत्न यही होता है कि ऐसे उच्छृङ्खल और इकतरफा चित्र से किनारा कसूं और मनुष्य और वस्तुओं का वैसा सच्चा चरित्र दूं जैसे कि वे मेरे हृदय-कांच में अंकित हुए हैं। अवश्य ही कांच में दोष हैं; चरित्र कभी-

कभी बिगड़ गए हैं, छाया भी धुंधली या बिगड़ी हुई है, किन्तु मैं आप लोगों को अपने विचारों को ठीक-ठीक समझाने में वैसा ही बाधित हूं जैसा कि हलफ़ उठाकर ठीक गवाही देने में। यदि वास्तव चरित्र को आपने देख और समझकर कलम पकड़ी है, तो, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता हूं, कि जिसकी स्तुति में आपने पृष्ठों पर पृष्ठ रंगे हैं, वह कदाचित् नीरस, अयोग्य और अनुपादेय चरित्र था। कदाचित् आप कहेंगे—"यह बहुत ही बिरला संयोग होता है जब कि वास्तव दशा उस सुन्दर चित्र पर पहुंच जाय जो हमारे उन्नत विचार और शुद्ध रसों के अनुकूल है। तो वास्तव दशा पर कुछ उन्नति ही न कर दो, उन्हें उन शुद्ध विचारों से अधिक मिलती हुई बना दो जिनके रखने का हमारा अधिकार है। ठीक जैसा हम चाहते हैं, वैसा तो यह जगत् है ही नहीं; कुछ इसको रसमयी पैन्सिल से रंग दो, और विश्वास करा दो कि यह इतना उलझा हुआ मामला नहीं है। जिन मनुष्यों के विचार निर्दोष हैं उनसे निर्दोष ही काम कराना। अपने अपराधी चरित्रों को भ्रम के मार्ग पर रहने दो और धर्मात्मा चरित्रों को सरल मार्ग पर। तो हम एक दृष्टि से ही देख सकेंगे कि किसी को सराहैं, और किसको कोसैं। यदि ऐसा करोगे तो हम अपने पुराने विचारों को कुछ भी हिलाए बिना चरित्रों की स्तुति कर सकेंगे, और उस परम असन्देह विश्वास उत्पन्न जुगाली के स्वाद के साथ कुछ चरित्रों को घृणा भी कर सकेंगे।"

मेरे प्यारे मित्र! कहो तो उस अपने ही गाँव के मित्र का तुम क्या करोगे जिसने तुम्हारे भाई से थानेदारी छीन ली? उन नए पाठशाला के अध्यापक को क्या करोगे जो 'सुद्ध्युपास्य:' भी स्लेट पर लिखकर साधता है और जिनके पढ़ाने की ढाल उसके पूर्वज से बुरी होने से दुःखदायक है? उस योग्य नौकर को क्या करोगे जो अपने एक दोष से आपका सिर खपाता है? अपने पड़ोसी रामसेवक का क्या करोगे जिसने बीमारी में आपकी इतनी सेवा की परन्तु जब से आप अच्छे हुए आपके विषय की अनुचित बातें गाँव में फैलाईं? और भला अपनी उस प्राणप्यारी कमलनयनी का क्या करोगे जिसका चिढ़ाने वाला स्वभाव उस समय कांच की चूड़ियों की चर्चा छेड़ता है जिस समय आप उसे रूस-जापान के युद्ध का कारण समझते हों या अपने अटल प्रेम के अनुमोदन में हवा में हाथ हिलाकर व्याख्यान दे रहे हों? इन साथी मर्त्यों में प्रत्येक जैसा है उसको वैसा ही लेना और समझना पड़ेगा; तुम न उनके नाक सीधे कर सकते हो, न उनकी हँसी को चमका सकते हो, न उनके स्वभावों को ठीक कर सकते हो, और इन लोगों को ही जिनमें आपको अपना जीवन बिताना पड़ैगा, सहना सम्हालना और प्यार करना तुम्हें आवश्यक है। ये ही न्यूनाधिक कुरूप, मूर्ख और असम्बद्ध मनुष्य वे हैं जिनकी भलाई की बड़ाई करने को तुम्हें समर्थ होना चाहिए और जिनके

लिए तुम्हें यथासम्भव आशा और यथासम्भव सन्तोष काम में लाना पड़ेगा। यदि मुझमें सामर्थ्य भी हो तो भी मैं वह चतुर उपन्यास-लेखक नहीं होना चाहता जो इस जगत् से एक ऐसा अच्छा जगत् बना देता है कि जिस जगत् में हम प्रत्येक प्रातः काल अपना काम करने को उठते हैं, उसको छोड़कर, मेरे ग्रन्थ को पढ़ लेने पर रेतली सड़कों और साधारण हरे खेतों पर तुम उपेक्षा की निर्दय दृष्टि डालो, —सच्चे स्वास लेते हुए मनुष्यों पर तुच्छता लगाओ जो तुम्हारी उदासीनता से ठिठर सकते हैं, या तुम्हारे कोप से नष्ट हो सकते हैं, जिन्हें तुम्हारी सहानुभूति, दया, और स्पष्टवादी वीरन्याय से भरोसा और काम में सहायता मिल सकती है। मैं नहीं चाहता कि तुम सच्चे मनुष्यों को भूलकर ऐयारों के लिए आह भरते फिरो।

इसीसे चीज़ें जैसी हैं उससे वे अच्छी दिखाई दें, ऐसा यत्न किए बिना अपनी सीधी कथा कहने में ही मैं सन्तुष्ट हूं। सिवा झूंठ के मैं किसी से नहीं डरता। अपनी सबसे अच्छी सम्हाल करने पर भी उससे डरने का कारण है। झूंठ इतना सीधा है, सत्य इतना कठिन है। जब लेखिनी किसी राक्षस का चित्र बनाती है तो हमें प्रसन्नता और सरलता मालूम होती है, दाँत जितने बड़े हों, और पंख जितने फैले हों उतना ही अच्छा; किन्तु यदि हम सच्चा मनुष्य का चित्र खैंचना चाहते हैं तो वह अद्भुत आसानी जिसे हम अपनी प्रतिभा का फल मानते थे, न मालूम कहां भाग जाती है। यदि अपने शब्दों को ठीक तोलकर देखें तो जान पड़ेगा कि यदि झूंठ बोलने का कोई प्रयोजन न भी हो, तो भी ठीक सत्य कहना कठिन है।

सत्य के इस अद्भुत और अमूल्य गुण के कारण हमें वे सादे चित्र अच्छे मालूम देते हैं जिन्हें आपके-से उच्च विचारों के मनुष्य घृणा करते हैं। साधरण गार्हस्थ्य जीवन के सच्चे चित्रों में इसीलिए आनन्ददायक सहानुभूति मिलती है, क्योंकि फूलों की सेज, या परमधर्म, वियोगान्त जीवन या जगत् को अकचकान वाले तिलिस्म की अपेक्षा वह अधिक भाइयों के हिस्से में आता है। बिना शंका के, विमान पर चढ़े हुए देव, वनकन्या, परमहंस और जादूगरनी से हम मुंह फेर लेते हैं, और प्रेम से अपने फूलों को सींचती, या पत्ते पर भोजन करती बुढ़िया की ओर देखते हैं, जब कि मध्याह्न का प्रकाश, पत्तों के पड़दे में से झरता हुआ उसके चरखे को छू रहा है और उसके ताम्बे के लोटे अथवा किसी ऐसी सस्ती 'जीवन जड़ी' को चमका रहा है। 'छिः' हमारे आदर्श के प्यारे मित्र बोल उठेंगे—"कैसी ग्रामीण बातें हैं। इस विराट परिश्रम उठाने से क्या लाभ है कि बुढ़िया का या गंवारों का ठीक-ठीक चित्र उतारा जाय? जीवन का कितना हलका चित्र है! कैसे भद्दे और जंगली मनुष्यों की चर्चा है!"

परन्तु, क्या नायक सदा ही गुलाबजल में डूबा हुआ और सोने की मूठ की तरबार से खेलता होना चाहिए ? जो चीज़ बिलकुल सुन्दर नहीं है वह भी तो प्रेम के लायक हो सकती है ? क्या यह नहीं जानते कि मनुष्यजाति के अधिक सज्जन कुरूप ही हैं, और सबसे सुन्दर जातियों में भी टेढ़े नाक और वैठे गाल बहुत कम नहीं मिलते। तो भी क्या उनमें परस्पर प्रेम नहीं होता ! हमारे एक मित्र ऐसे हैं जिनका मुखारविन्द भिड़ों के छत्ते का-सा है, कुछ ऐसे हैं जिनके चेहरों पर पेशानी का मोड़ देखकर क्रोध आता है, किन्तु यह निश्चय है कि उनके हृदय है, और मित्रों के हृदय उनके लिए तड़फते हैं। उनके चित्र (चाहे वे सुन्दर न हों) एकान्त में चूमे जाते हैं। कई माताएं ऐसी हैं जो अपनी युवावस्था में भी सुन्दरी न थीं, परन्तु अपने पति के युवावस्था के प्रेम को वे सपुलक स्मरण करती हैं, और तुतलाते बच्चे प्रेम से उनके पीले चेहरे से अपना नाक रगड़ते हैं। और मुझे विश्वास है कई महाशय ओछे कद और दुबली मूछों के—ऐसे भी होंगे जिनने एन्ट्रेन्स पास करते ही प्रतिज्ञा की थी कि "डाना काटा परी" या इन्द्र की परी से न्यून किसी से प्रेम न करेंगे, परन्तु कुछ अवस्था बढ़ने पर उनने प्रसन्नतापूर्वक भैंडी पत्नियों के साथ जीवन बिताया है। इन सब बातों के लिए परमेश्वर का धन्यवाद है। मनुष्य का भाव उन विशाल नदियों की तरह से है जो पृथ्वी को शोभित करती हैं। यह सुन्दरता के लिए प्रतीक्षा नहीं करता परन्तु अरुद्ध वेग से दौड़ता है और अपने साथ सुन्दरता लाता है।

स्वरूप की देवी सुन्दरता को उचित सम्मान के साथ प्रणाम है। मनुष्यों में स्त्रियों में, बागों में, घरों में, यह सबसे अधिक विराजै। परन्तु हमको उस दूसरी सुन्दरता को भी प्यार करना चाहिए जिस का रहस्य देह की गठन नहीं है परन्तु गम्भीर मनुष्य सहानुभूति है। यदि सामर्थ्य है तो ऐसे देवता का चित्र खैंच दो जिसके आसमानी वस्त्र हों और चेहरे पर दैवी प्रकाश की आभा का मण्डल हों, ऐसी राधा का चित्र खैंच दो जो दैव भगवान् की प्रतीक्षा में हाथ धरे अपने सुकुमार मुख को सुखा रही है, परन्तु हम पर उन कल्पित नियमों को मत चलाओ जो उपन्यास या सुकुमार शिल्प के राज्य में से अपने काम से घसे हाथों से आलू उबालती हुई बुढ़ियाओं को, उन गोल पीठों क्षौर सब ऋतुओं को सहने वाले चेहरों को जिनने हल और कुदाली पर झुक-झुककर काम किया है, होली में थोड़ी-सी भांग पर मस्त गंवारों को, उन पीतल के बरतनों वाले घरों, मट्टी की हंडियों, लेडीं कुत्तों, और प्याज़ के छिलकों को निकाल दें। इस जगत् में ऐसे सीधे-सादे भोंटे आदमी इतने अधिक हैं, जिनमें कृत्रिम उपन्यासों के लायक सहानुभूति नहीं है। उनके यहां होने को हम स्मरणी रक्खें यह अत्यन्त आवश्यक हैं। नहीं तो हम अपने धर्म और दर्शन में उनकी चर्चा बिलकुल छोड़ जायंगे, और

उच्च कल्पनाएं बना लेंगे जो केवल असम्भव जगत् में ही घटेंगी। इसलिए कल्पनामय उपन्यासों को चाहिए कि हमें सदा उनका स्मरण कराते रहें, इसलिए हमें ऐसे उपन्यास-लेखक चाहिए जो प्रेममय परिश्रम से इन साधारण वस्तुओं के सच्चे चित्रांकन करें, ऐसे मनुष्य जो इनमें सुन्दरता देखते हैं और जिनको यह दिखाने में आनन्द आता है कि स्वर्गीय प्रकाश इन सीधी वस्तुओं पर किसी तरह पड़ता है। संसार में बहुत कम महापुरुष होते हैं, बहुत कम परम सुन्दरी स्त्रियां होती हैं, बहुत कम वीर होते हैं। इन बिरले असम्भवों को मैं अपना सम्पूर्ण प्रेम और सम्पूर्ण सहानुभूति नहीं दे सकता, मेरे प्रेम के भाव का अधिकांश मुझे अपने प्रतिदिन के साथियों के लिए चाहिए, विशेषतः उनके लिए जो सदा मेरे पास हैं, जिनके चेहरे मैं जानता हूं, जिनके हाथ मैं छूता हूं और जिनके लिए अदब के साथ मुझे मार्ग छोड़ना पड़ता है। चमत्कारी ऐयार और अद्भुत हत्यारे अपनी रोटी आप खाने वाले स्वतन्त्र मजदूर से अधिक मिलते भी नहीं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुझ में स्नेह की एक तन्तु तो बचे जो मुझे उस मैले कपड़ों वाले भाई से मिलावै जो मेरी शक्कर तोलता है इसकी अपेक्षा कि मैं अपने स्नेह को ज़री की टोपी पहनने वाले कल्पित दगाबाज़ पर अपने भावों को 'भस्मनिहुतम्' करूं। यह आवश्यक है, मुझे पड़ोसियों के सुख-दुःख से सहानुभूति हो, और न उन कल्पित नायकों से जो कहासुनी में ही हैं अथवा जो आदर्श उपन्यास-लेखक के आदर्श ही हैं।[1] समझे?

—वही चिट्ठी वाला

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

प्रेरित-पत्र

१. 'राजपूत महासभा' और 'राजपूत' के नाम पत्र

अखण्डऐश्वर्यं भूयात्—

यद्यपि हम ब्राह्मणों को स्वार्थी कहने में संसार की सब जातियां कम्पिटीशन कर रही हैं, तथापि लोग जानते हैं कि हमारी-सी निःस्वार्थ, नहीं नहीं, स्वार्थद्विट्

१. श्रीमती जार्ज इलियट की छाया, एडम बीड से।

जाति संसार में कोई नहीं है । और जगह तो aristocracy of talent विद्वानों की रईसी स्थापन करके पण्डित लोग सब से अधिक शक्ति और आराम के हकदार बनते हैं, किन्तु हमारा वेद जानना और महत्व इसी में समाप्त होता है कि संन्यासी हो जायं वा घास-पात खायं, किन्तु जगत् को अपने ज्ञान-भाण्डार का बारिस बनाएं । श्राद्ध में सब लोग पितरों से मांगते हैं कि हम किसी से भी न मांगें, किन्तु हमने वह घृणित पेशा उदारता से अपने ऊपर ओढ़ लिया है । स्वार्थ से नहीं, किन्तु इस बुद्धि से कि संसार से कम-से-कम वेतन लेकर उसे अधिक-से-अधिक माल दें । जगत् में जो कुछ ज्ञान-भण्डार है वह हमारा ही दिया है । अब भी इस बुझी हुई ब्राह्मणाग्नि में से वह चिनगारियां निकलकर देशोपकार कर रही हैं जो और जातियों में सात जन्म से भी न हो ।

किन्तु हमारा यह महत्व क्षत्रियों के भरोसे हैं । ममल है कि खूंटे के बल बछड़ा नाचे । हमारी चोटी-बेटी-रोटी-लंगोटी के बचाने वाले आप हैं, और हमारा-आपका सदा से सद्भाव रहा है । आप के रार्जषि जनक की हमने तास्सुब से जात बाहर नहीं किया किन्तु उनसे ज्ञानोपदेश लिया । आपके भीष्म को हमने पितामह माना और आपके बड़ों को हमने अवतार मानकर पूजा और पुजाया । आपने भी धर्मसंकट में हमारी सहायता की है । आपके अर्जुन ने दीन ब्राह्मण की कुटी की रक्षा के लिए १२ वर्ष का वनवास सहा और भगवान् रामचन्द्र ब्राह्मण-कुमार को अकाल मृत्यु के बचाने के लिए स्वयं तपस्वी को मार आये थे, आपके कोदण्ड के भरोसे हमारा वैणवदण्ड है, आपके तरकस के भरोसे हमारे वेद हैं, और आपके अभय के भरोसे हमारी वाक्सिद्धि है । "विद्या ह वै ब्राह्मण-माजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेहमस्मि" किन्तु हमने वह प्रसाद सबको बांट दिया है । यद्यपि आप में से कई सज्जन धर्मभ्रष्ट हो गए हैं तथापि हम उन अन्नदाताओं को देखकर भी यही कहते हैं कि—

यही आस उरझयो रहै, अलि गुलाब के मूल ।
ह्वै है बहुरि बसन्त पुनि, इन डारन के फूल ॥

किन्तु धर्मावतार ! 'स्वार्थान्धप्रकाशिका' नामक भ्रष्ट पुस्तक ने हमें बेतहाशा गालियां दी हैं, और आपके गुरुओं को हज़ारों पदों से भूषित किया है । कुछ लोग कहते हैं कि वह ग्रन्थ राजपूत महासभा ने बटवाया है, एक राजा ने छपवाया है। क्यों ? क्या आप मरों को मारने की बहादुरी लेते हैं ? अपनी गौवों पर······? स्मरण रहे, ब्राह्मणों को जो आपने दिया है, वह अति तुच्छ है, उसे ब्राह्मण तैत्तिरीय संहिता की भांति आज ही फेंक सकते हैं, किन्तु ब्राह्मणों ने आपको जो दिया है उसीके बल आप आप हैं, और उससे आप अलग नहीं हो

सकते जब तक कि आप (मनुष्य जाति) मनुष्यत्व से इस्तीफा न दें। आपका जनेऊ, आप की वर्णमाला, आपके वेद सब हमारे दिये हैं। हमारी बपौती का हिस्सा तो ले चुके हैं, और अब हमें गालियां दिवाते हैं ?

किन्तु नहीं, धर्मावतार ! यह सब झूंठ है। आपका उस ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं है। हमारी जाति तो ऐसी आत्मविस्मृत हो गई है कि एक रुपये के लिए उसी पुस्तक पर संमति करती है और गालियां और धक्के खाती है ! किन्तु इतने क्षत्रियों के जीते-जागते उनके गुरु ब्राह्मण यों गालियां खायं, यह क्या आपकी मूंछों को शोभा देता है। आपका कुठार आजकल हिन्दी-साहित्य पर चल रहा है, आप अपने कई बड़े आदमियों की निन्दा के ग्रन्थ जलवा चुके हैं, कृपा करके अपने गुरुओं के, अपने गुरु-पुत्रों के इस निन्दा-ग्रन्थ को भी जलवा दें, बहा दें, मिटा दें। संसार जाने तो कि क्षत्रिय अब भी गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए जीभ हिला सकते हैं, अब भी उनमें पुराना क्षत्रियत्व शेष है। इस कलंक-कथा का नाश करना क्षत्रियों का धर्म्म है। वही इस ग्रंथ पर जो उचित समझें सो करें नहीं तो, हम ब्राह्मणों का तो कौल ही है—"मज्जी मौलिरयं पतन्तु विपदस्तासां कृतं स्वागतम्।" जय श्रीकृष्ण !

आशीर्वादक
एक बी० ए० ब्राह्मण

कृपा करके सब समाचार-पत्र ब्राह्मणों की इस गुहार की नकल करें।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३]

२. सरस्वती-सम्पादक के नाम

सम्पादक महाशय !

सितम्बर की 'सरस्वती' में जो 'पृथ्वी' का लेख छपा है उसके विषय में आप इन पंक्तियों को स्थान दीजिए। यह लेख विवादग्रस्त विषय पर है। अभी तक कई धर्म संसार में विद्यमान हैं जो पृथ्वी को चपटी और स्थिर मानते हैं।

विशेषतः आधुनिक सिद्धान्त हमारे जैन धर्म के बिलकुल विरुद्ध है। अतएव ऐसे विवाद ग्रस्त विषयों पर लेख नहीं छपने चाहिए।

भवदीय— एक जैन

जैन महाशय के इस मत से हम सम्मत नहीं है। यही नहीं उनके मत के हम बिलकुल विरुद्ध हैं। यदि वे, या और कोई हिन्दी जानने वाले जैन 'दो चन्दा दुए सुज्जा' का वर्णन 'सरस्वती' में लिख भेजें तो हम कह सकते हैं कि उसके छापने में सम्पादक को कोई आपत्ति न होगी। विज्ञान की विराट् उन्नति में किसी धर्म का इज़ारा नहीं है तथा प्राचीन बातों को सिद्ध करने वा बचाने का उपाय उनका प्रकाशन है, न कि उनके विरुद्ध लेखों को रोकना। यों ही कई लोग 'नागरी-प्रचारिणी सभा' को 'रमेशदत्त' के इतिहास का अनुवाद छपाने से रोकते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। यदि रमेश बाबू का इतिहास दूषित है तो सच्चा इतिहास कहां है और कौन है? वह क्या दोषदर्शियों के सन्दूक में बन्द है? दूषित ग्रंथ के छपने पर तो उसका खण्डन भी हो सकता है, किन्तु उस ग्रंथ को छपने से रोकना बड़ी भारी भूल है। यदि वेबेर साहब के ग्रन्थ का भाषानुवाद न छपा होता तो पं० माधवप्रसाद उसका खण्डन कहां से करते? रमेश बाबू के इतिहास के विरोधी इस बात को भूलते हैं कि रमेश बाबू स्वदेशी हैं, उनके लेख को दूषित कहना भी जरा काम रखता है। ना० प्र० सभा को कोई आपत्ति न होगी यदि दत्त के इतिहास का खण्डन कोई छपा देता किन्तु इसलिए कि कुछ हठी लोग किसी ग्रंथ को बुरा समझें, उसे छपाना ही नहीं वा उस विषय पर लिखना ही नहीं, यह कोई बात नहीं। विज्ञान हठधर्मी से नहीं चलता, चलता है खोज से, अध्यवसाय से।

समालोचक-सम्पादक।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

३. समालोचक-सम्पादक के नाम-१

सम्पादक महाशय,

सरकार गवर्मेन्ट प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध, देशोपकारी लोगों के मकानों पर स्मारक लगाना चाहती है। जयपुर के एक मेम्बर के प्रस्ताव पर 'नागरी प्रचारिणी-

सभा' ने भारतेन्दु जी के स्थान पर स्मारक लगाने का यत्न करना विचारा है। काशी के विद्वानों से निवेदन है कि घरू लड़ाई छोड़ इस मौके पर १. श्री १०८ पंडित काका रामजी २. श्री १०८ गौड़स्वामी जी और श्री १०८ विशुद्धानन्दजी और ३. श्री १०८ बालशास्त्री जी के स्थानों पर स्मारक लगवावें। महामहोपाध्यायों की गुरुदक्षिणा का यह अच्छा अवसर है। उत्तर भारत के सभी विद्वान इनकी कृपा हैं, और उनका काशी में सरकार से स्मारक होना किसे इष्ट नहीं है? क्या 'सुदर्शन' के सम्पादक इस काम में अग्रसर न होंगे?

काशी का एक हिन्दू।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

४. समालोचक-सम्पादक के नाम-२

प्रिय सम्पादक महाशय, नमस्कार;

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' कहता है कि डाक्टर गणेशप्रसाद को जाति से च्युत करना, कायस्थों की सच्ची जातीयता का, सच्चे स्वधर्म प्रेम का काम है। सम्पादक की जातीयता और धर्मनिष्ठा की परिभाषा जैसी श्लाघ्य है उससे मालूम होता है कि यदि कायस्थ लोग (कुछ पत्र-सम्पादकों के साथ) बम्बई में जहाज से उतरते ही डाक्टर साहब को समुद्र में ढकेल देते तो उनके लिए भगवान् बैकुण्ठनाथ अपना आसन छोड़कर भाग जाते।

ब्रह्महत्या वा भ्रूणहत्या करके, गुरुपत्नी वा विधवागमन कर और न मालूम क्या-क्या पैशाचिक दुराचार करके मनुष्य जाति में रह सकता है। काले पानी में अपराधी हो, रहकर, लौटकर भी जाति में मिलता है। इसके सिवाय दुराचारी दाम्भिकों के रोब के रौरव में डूबा समाज यह नहीं पूछता कि, "उनके मुंह में कै दांत हैं?" डाक्टर गणेशप्रसाद ने क्या पाप किया है? उनका कोई दोष है तो यही है कि उनने इस कृतघ्न देश में जन्म लिया, और जर्मन-पण्डितों में काली कायस्थ जाति का नाम किया। इस पाप पर पाप यह है कि उसे अभी अपने को 'भारतवासी' कहने की लत है वह इस दुष्ट जाति और नीच देश को 'तं देशं परिवर्जयेत्' नहीं कहता। इस पाप का यह प्रतिफल है।

जिस कायस्थ जाति में कोई मजलिस और भोज खुल्लमखुल्ला मद्यपान वा

मांस-भोजन के बिना प्रायः नहीं होता सुना जाता, जो सुधारकों में आगे बढ़ती थी उसमें यह बुढ़ियापुराण के रस्मों से लिपटना कैसा मालूम देता है। या वे भी इन बेतुके सम्पादकों की तरह आनन्द से गदगद हो रहे हैं ?

मैं सिंह गर्जन से कहता हूं कि जिस दैवी वा पैशाचिक अधिकार से छपरे की सभा वाले डाक्टर गणेशप्रसाद को जाति से पृथक् करते हैं उस ही दैवी या पैशाचिक अधिकार से डाक्टर गणेशप्रसाद निर्दोष हैं, वे अपने गणित-ज्ञानाग्नि में उलटे उन धर्म-कीटों तक के पापों को भस्म कर सकते हैं।

—एक कायस्थ

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जून-जुलाई, १९०४ ई०]

५. समालोचक-सम्पादक के नाम-३

प्रिय महाशय,

बहुत दिनों से नीचे लिखे कवित्त को सुनता हूं परन्तु न मालूम अर्थ में क्या पेच है साफ-साफ नहीं खुलता। सम्भव है कि कहीं पर छन्द अशुद्ध हो या पाठ बदल गया हो। आपके पाठकों में से किसी की दृष्टि में यदि यह आया हो तो वे इसके कवि का नाम मूल पाठ और अर्थ कृपापूर्वक लिख भेजें जिससे मेरा सन्देह हटै।

कुम्भ से बदन बैन **मीन** से हमारे नैन,
देखत ही लेख **मेख** मन भटकायो है।
वृष हूके जरे पात, **मिथुन** हू जरायो गात,
करक और **नाहर** ने हार छिटकायो है॥
कन्या और **तुल** **वृश्चिक** में मिल्ने जाय,
निर्धन हूको दान **धन** **मकर** मटकायो है।
होत जो निखालिस आवते हजार बार,
बैरन बसन्त मेरो कन्त अटकायो है॥

राजपूताना में बहुत लोगों के मुँह से यह टुकड़ा सुना गया है—

चित्त **चन्देरी** मन **मालवे** हिय **हाड़ौती** मांहि ।[1]

परन्तु इसका दूसरा अर्थ कहीं नहीं मिला । क्या कोई आपके लोकोक्ति-प्रेमी पाठक इसे पूरा कर देंगे ।[2]

आपका—भ्रमर

[प्रथम प्रकाशक : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

६. मिस्टर जैन वैद्य के नाम

प्रिय मिस्टर जैन वैद्य,

'वैश्योपकारक' ने और उसके आधार से 'भारत जीवन' ने मुझे 'सगालोचक' का सम्पादक बतलाया है । अब, जब मैंने परतंत्र जीवन आरम्भ कर दिया है, ऐसे अन्यथावाद, चाहे वे 'समालोचक' के हितकारक ही क्यों न हों, नहीं चलने देने चाहिए । और यह भरम अधिक दिन नहीं रहने देना चाहिए । मैंने अपने नाम से, या बिना नाम से आपके सम्पादकों को, केवल दो-तीन लेख दिये थे । कृपा करके आप मेरे इस पत्र को प्रकाशित कर दें, जिससे लोग वास्तविक स्थिति को जान जायं और टक्करें न मारें ।

भवदीय

४-११-०४[2] **श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी**

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

१. पुराना तो कहीं सुना नहीं, परन्तु इसका यह नया अर्थ शायद 'भ्रमर' साहब को पसन्द आवै—

'पूंगल' प्रान सनेह 'सर' जीव 'जावरे' जांहि । —समा० सं०

२. लगता है 'समालोचक' का यह अंक 'नवम्बर' में छपा है । —सम्पा०

व्यक्तिगत पत्र

१. सम्पादक 'भारत मित्र' के नाम

(हिन्दी में ऋग्वेद)

श्रीयुत सम्पादक 'भारत मित्र', कलकत्ता ।

क्या आप मुझे यह आज्ञा देंगे कि मैं आपके प्रतिष्ठ पत्र के द्वारा हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान 'ऋग्वेद' के एक बहुत अच्छे अनुवाद की ओर खींचूं ।

पंजाब, मुलतानवी राय शिवनाथ साहब 'आहिताग्नि ऋग्वेद संहिता' का एक अति उत्तम संस्करण निकाल रहे हैं । इसे निकलते प्रायः तीन वर्ष से ऊपर हो गये । पहिले महीने में मात्र एक संख्या निकलती थी, अब दो महीने में निकलती है । इसमें पहले प्रत्येक श्रुति का देवता और छन्द लिखकर मंत्र छपा होता है । उसके नीचे पद-पाठ, प्रत्येक शब्द का अर्थ और व्याकरण की विशेषता रहती है । उसके नीचे सरल संस्कृत में अर्थ देकर सरल हिन्दी में अनुवाद और व्याख्यान और कठिन विषयों पर टिप्पणियां दी जाती हैं । कर्म, विनियोग, इतिहास और तत्वों का विचार भी यथास्थान रहता है ।

अब तक इसके ३८ अंक (१६९६ पृष्ठ) निकले हैं जिनमें 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल के सूत्रों का व्याख्यान छप चुका है । वार्षिक मूल्य केवल दो रुपये है । प्रति वर्ष इतनी थोड़ी रकम देने से साधारण लोग इस भाष्य के ग्राहक बहुत अच्छी तरह बन सकते हैं जिससे एक साथ बड़ी रकम देने का भार उन पर नहीं पड़े ।

मेरे मत में ऐसा सरल और ऐसा विशद भाषानुवाद और कोई नहीं हुआ । इसमें किसी सम्प्रदाय-समाज की खैंच-खांच नहीं है, केवल शब्दार्थ और तत्वार्थ लिखा जाता है । हिन्दी के प्रेमियों को, संस्कृत के अनुरागियों को, हिन्दू-धर्म के अनुयायियों को, और भारतवर्ष के प्राचीन गौरव के भावुकों को, सबको ही आहिताग्नि शिवनाथ जी के इस पुरुषार्थ की सहायता करनी चाहिए । शंकर पण्डित तक के मराठी 'वेदार्थ यत्न' और रमेशचन्द्र दत्त के 'ऋग्वेद' के बंगला अनुवाद के जोड़ का यह कार्य है । भेद इतना ही है कि इसमें साथ में नाद-पदार्थ संस्कृत में भी है जिससे इसकी उपयोगिता कई गुनी बढ़ गई है । यदि

सर्वसाधारण सहायता करें और उत्तेजना दें तो वह 'वैदिक जीवन' भाष्य इतना धीरे न छपे।

इसमें सन्देह नहीं कि आहिताग्नि शिवनाथ जी और उनके सहायक न केवल हिन्दी भाषा के एक बड़े भारी अभाव को पूरा कर रहे हैं प्रत्युत हिन्दी भाषा के गौरव को ऊंचा कर रहे हैं इसके लिए सबको उनका कृतज्ञ होना चाहिये और कृतज्ञता का इससे अच्छा प्रमाण नहीं हो सकता कि सभी यथाशक्ति ग्राहक बनें जिससे उनको स्वयं भी स्वाध्याय का पुण्य हो और यह संस्करण भी प्रकाशित होता चला जाय। पत्र-व्यवहार—आवागमन वाली कोठी, मुलतान, पंजाब—के पते से किया जाना चाहिए।

श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी
अजमेर

[प्रथम प्रकाशन : **भारत मित्र** : शनिवार, माघ सुदी सं० १९६६]

२. सम्पादक 'अभ्युदय' के नाम

श्रीयुत सम्पादक 'अभ्युदय', प्रयाग

क्या आप मुझे कृपा करके यह आज्ञा देंगे कि मैं आपके प्रसिद्ध पत्र के द्वारा, मेरे उन कृपालु मित्रों को हृदय से धन्यवाद दूं कि जिनने अपने हृदय की उदारता से मेरे पितृ-वियोग के कारण दुःखावसर पर अपनी सहानुभूति प्रतिनिधि पत्र वा तार द्वारा प्रकाशित की। मेरे जीवन के इस परम दुःखमय अवसर में उनकी इस समवेदना का मैं बहुत ही उपकृत हूं, उनके आश्वासन-पत्रों ही ने मुझे मानो शोक-समुद्र से बांह पकड़कर उबारा है। मैं सबको पृथक्-पृथक् पत्र लिख रहा हूं परन्तु सबके पास मेरे उत्तर भेजने में समय लगेगा।

श्री १०८ श्रीतात-चरणों के ब्रह्मलीन होने से मैं और मेरा परिवार ही छत्र रहित होने से दुखी हैं, ऐसा नहीं, प्रत्युत संस्कृतज्ञ और धर्मप्राण समाज-मात्र को उनका अभाव, अभाव जान पड़ता है। यह मेरी मन्द अवस्था में मेरे

ऊपर होने वाली सहानुभूति की वर्षा से प्रतीत होता है । अतएव मुझे 'महाभारत' के एक श्लोकार्द्ध के अनुसार आश्वासन है कि—

'नं जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।'

हिन्दी सम्वाद-पत्रों के सम्पादकों को मैं कितना धन्यवाद हूं कि जिनने मेरी तुच्छ नगण्य सेवाओं के नाते मेरी इस विपद को अपना लिया और मुझे सान्त्वन किया । मैं सदा उनका कृतज्ञ रहूंगा । हाथ जोड़कर सबसे यही प्रार्थना है कि मुझ और मेरों पर सदा कृपा रक्खें और मुझे यह आशीर्वाद दें कि श्री १०८ श्री महाराज-सी पद्धति पर चलता रहकर उनका पुत्र कहलाने का पात्र बना रहूं ।

—श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी

[प्रथम प्रकाशन : **अभ्युदय** : १६ फरवरी, १९११ ई०]

□□

परिशिष्ट

१. समालोचक : कुछ सम्मतियां

"**समालोचक** के प्रबन्ध में यथोचित परिवर्तन देखकर बहुत आनन्द हुआ। मेरे विचार से इस कार्य में कभी ईर्ष्या-द्वेष को स्थान न देना चाहिए और जो कुछ कहा जाय, वह गम्भीरतापूर्वक हो। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इसके विपरीत अब काम हो रहा है। परन्तु मेरा उद्देश्य यही है कि इन उद्देश्यों को सदा सामने रखकर कार्य होना चाहिए।"

—(बाबू) श्यामसुन्दर दास[१]

"जो खराब चीज़ें हैं उनको यदि लोग साफ़-साफ़ खराब बता दिया करें तो इतना विवाद और प्रलाप न बढ़े। गन्दी और खराब चीज़ों से किसी साहित्य का भला नहीं हो सकता। मेरे खयाल में खराब साहित्य से साहित्य का न होना ही अच्छा है। इससे पशु-पक्षियों का-सा जीवन भला है। क्योंकि पशु-पक्षियों में यदि साहित्य नहीं है तो कुसाहित्य भी नहीं है। मेरे विचार में मित्र शत्रु की कुछ जरूरत नहीं है, जहां तक बने सच कहना चाहिये।"[२]

—(बाबू) बालमुकुन्द गुप्त

२. "...हम बहुत प्रसन्न हुए... टिप्पणियां बहुत अच्छी हैं।"

—भारत मित्र

२. "...अबकी बार आपने कोई अच्छा पराक्रमी पुरुष ढूंढ़ा है।"

—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

३. "...कोतूहलप्रिय, मर्मज्ञ, विद्वान, सम्पादक..."

—पण्डित माधवप्रसाद मिश्र[३]

"A Hindi monthly Literary journal...This Vast and rapid development is clearly noticeable on perusing the pages of this excellent magazine. The SAMALOCHAK Contains reports of

१,२. समालोचक : अत्र तत्र सर्वत्र : पृ०, १९१; जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०

३. समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ का मुख पृष्ठ.

the proceedings of religious and Literary societies, criticisms on current Hindi Literature, biographies of men of note, letters from correspondents, and articles on scientific, educational and other instructive topics, contributed by learned well-known writers. Voll, 1903-04 Contains amongst many other interesting articles the commencement of a series of criticisms on the life and writings of the famous Hindi poet, Bhushana···The SAMALOCHAK is well—Printed, and full of interestings matter; and should be in the hand of every student of Hindi literature."

Extract from Luzac's Oriental List and book Review, July-oct. 1905.[1]

गुलेरी जी की रचनाएं

कथा/कहानी :

१. उसने कहा था : 'सरस्वती'—जून, १६१५ ई०

२. घण्टाघर : 'वैश्योपकारक'—वर्ष १, संख्या ८, कार्तिक १६६१ वि०; १६०४ ई०

३. धर्मपरायण रींछ : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १६०६ ई०

४. बुद्धू का कांटा : 'पाटलीपुत्र'—१६१४-१५ ई० (?)

५. सुखमय जीवन : 'भारत मित्र'—१६११ ई०

६. हीरे का हीरा : 'जनसत्ता'—६ जुलाई, १६८७ ई०

संस्मरण :

७. बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण : 'समालोचक'—अगस्त, १६०५ ई०

इंटरव्यू (भेंटवार्ता) :

८. संगीत की धुन : 'समालोचक'—सितम्बर, १६०५ ई०

निबन्ध/लेख/टिप्पणियां :

६. अक्ल बनाम नस्ल (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १६२० ई०

१. समालोचक : नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ के अंक का अन्तिम पृष्ठ

१०. अधिक सन्तति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह (टिप्पणी)—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
११. अधिकार चर्चा (लेख) 'भारतमित्र'—१९११ ई० (?)
१२. अनमेल (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१३. अनुवादों की बाढ़ (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
१४. अपनी बात (टिप्पणी) 'समालोचक'—दिसम्बर, १९०३ ई०
१५. अमंगल के स्थान में मंगल शब्द (निबंध) 'सरस्वती'—नवम्बर, १९११ ई०
१६. अवन्ती सुन्दरी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
१७. अशोक शास्त्री (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
१८. अश्वमेध (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१९१२ ई०
१९. असूर्यम्पश्या राजदारा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
२०. आँख (निबंध) 'सरस्वती'—फरवरी, मार्च, मई, जून, अगस्त तथा सितम्बर, १९०५ ई०
२१. आगमन (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १९०२ ई०
२२. आत्मघात (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
२३. आर्षहिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
२४. इण्डियन नेशनल कांग्रेस (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
२५. उलुलू ध्वनि=हुर्रा (टिप्पणी) 'सरस्वती'—जून, १९१५ ई०
२६. एकतंत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०५ ई०
२७. एक प्रसिद्ध मंत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
२८. कछुआ धरम (निबंध) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९१९ ई०
२९. कलकत्ते का अशोकारिष्ट (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
३०. कस्तूरी मृग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९२० ई०
३१. कांग्रेस और स्वदेशी (टिप्पणी) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
३२. काकपद (टिप्पणी) 'सरस्वती'—जुलाई, १९१३ ई०
३३. कादम्बरी के उत्तरार्द्ध का कर्त्ता (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
३४. कादम्बरी दशकुमारचरित के उत्तरार्द्ध (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
३५. कानपुरी राय (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०

३६. कालिदास के समय में हूण (लेख) 'सरस्वती'—सितम्बर, १९१३ ई०
३७. काशी (निबंध) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०५ ई०
३८. काशी की नींद और काशी के नूपुर (निबन्ध) 'भारतमित्र'—१९ मार्च, १९१६ ई०
३९. काशी के पण्डित—१-२ (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी; मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
४०. काशी नागरी प्रचारिणी के कार्यकर्त्ता (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०
४१. क्रियाहीन हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
४२. कुछ पुराने रिवाज और विनोद (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' —१९२२ ई०
४३. क्या संस्कृत हमारी भाषा थी ? (लेख) 'समालोचक'—मार्च, १९०४ ई०
४४. खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
४५. खेल भी शिक्षा है—१-२ (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
४६. खोज की खाज (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
४७. गुलेरीजी : अपने शब्दों में (आत्मपरिचय), ८ जुलाई, १९१७ ई०
४८. गोसाईं तुलसीदास जी के रामचरितमानस और संस्कृत-कवियों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव—१-२ (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
४९. घड़ी के पुर्जे (लेख) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०
५०. चतुर्भाषी (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
५१. चाणूर अंध्र (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
५२. चार भाषाएं (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
५३. चारण (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
५४. चारणों और भाटों का झगड़ा : बारहट्ट का परवाना (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
५५. छट्ट (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
५६. जय जमुना मैया की (लेख) 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
५७. जयसिंह प्रकाश (शोध्र लेख) 'सरस्वती'—१९१० ई०

५८. जातीय साहित्यालोचना की आवश्यकता (अनुवाद) 'समालोचक'—सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर; १९०३ ई०
५९. जालहंस की सुभाषित मुक्तावली और चंद की षट्भाषा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९१९ ई०
६०. जोड़ा हुआ सोना (लेख) 'प्रतिभा'—जून, १९२० ई०
६१. झख मारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९२० ई०
६२. डिंगल (निबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
६३. डिनामिनेशनल कालेज (लेख) 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
६४. ढेले चुन लो (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
६५. तुतातिल = कुमारिल (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
६६. दूध के पैगम्बर (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०
६७. देवकुल (निबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
६८. देवानां प्रिय (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
६९. देशी कपड़ा (टिप्पणी) 'वैश्योपकारक' वर्ष २, संख्या ५, भाद्रपद; १९६२ वि०
७०. दो प्रश्नों का एक उत्तर (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०
७१. धनौरे की भटियारी की गन्दा दहनी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल; १९२० ई०
७२. धर्म-संकट (लेख) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
७३. धर्म के शत्रु (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
७४. धर्म और समाज (निबन्ध) 'प्रतिभा'—जून, १९२० ई०
७५. धर्म में उपमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०
७६. नागरी भवन का उत्सव (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
७७. नागरी प्रचारिणी सभा (टिप्पणियां) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०
७८. निदर्शन पर सम्मति (टिप्पणी) 'भारतमित्र'—८ जुलाई, १९११ ई०
७९. निवेदन (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
८०. नौरंगशाह के नौरंग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९२० ई०
८१. न्यायघण्टा (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
८२. पंच महाशब्द (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०

८३. पंडित महामण्डली का पत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
८४. पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस्, यस् = ज़ (z) (टिप्पणी) 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
८५. पाठ्य-पुस्तकों का सुधार (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी; १९०४ ई०
८६. पाणिनी की कविता (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—जनवरी, १९२० ई०
८७. पुराना व्यौपार (लेख) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
८८. पुरानी पगड़ी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
८९. पुराने राजाओं की गाथाएं (टिप्पणी) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
९०. पुराण प्रसंग (लेख) 'अभ्युदय'—१९१० ई० (?)
९१. पूत्कार = पुकारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
९२. पूर्णपात्र (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
९३. पृथुवैन्य का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
९४. पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (लेख) 'सरस्वती'—जून, १९१३ ई०
९५. पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
९६. प्रदर्शिनी (टिप्पणी) : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
९७. वंग का भंग (लेख) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०५ ई०
९८. बनारसी ठग (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
९९. बिरामण की सरवण की (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१००. बेसिर की हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
१०१. बौद्धों के काल में भारतवर्ष (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१०२. ब्रह्मचारी को पान खिलाना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९२० ई०
१०३. भारतधर्ममहामण्डल का उत्सव (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
१०४. भारद्वाज गृह्यसूत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
१०५. भाषा की भाषा (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०

१०६. भिक्षा के कण (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१०७. मण्डी की मनोरमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मार्च, १९२० ई०
१०८. मध्याह्न में चाण्डाल (टिप्पणी) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
१०९. मनु वैवस्वत (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
११०. मनोरंजक श्लोक—१, २, ३ (टिप्पणी) सरस्वती—अगस्त, १९०४; नवम्बर, १९१०; नवम्बर, १९११ ई०
१११. मनोरमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
११२. मनोरमा की आर्ष हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
११३. मनोरमा की चीत्कार (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
११४. महर्षि च्यवन का रामायण (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
११५. महर्षियों की वृष्टि (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
११६. मान्यवर गोखले (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
११७. मारेसि मोहिं कुठाऊं (निबन्ध) 'प्रतिभा'—सितम्बर, १९२० ई०
११८. मीराबाई (लेख) 'अभ्युदय'—१९१० ई० (?)
११९. मेंढ़कों की टर्र (टिप्पणी) 'वेंकटेश्वर'—१८ मार्च, १९१० ई०
१२०. यंत्रक (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१२१. युवराज की पहुनई (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर, १९०५ ई०
१२२. यूनानी प्राकृत (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
१२३. यूनिवर्सिटी बिल (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी फरवरी, १९०४ ई०
१२४. यूरोपियन संस्कृत (लेख) 'श्री राघवेन्द्र'—सं० ९-१०, वैशाख-ज्येष्ठ १९६२ वि०, १९०५ ई०
१२५. रंग की दुरंगी (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०
१२६. रड्डा छन्द (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
१२७. राजसूय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
१२८. राजाओं की नीयत से बरकत : उनका कमाई के लिए मूर्तियां पधराना (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१२९. राष्ट्रभाषा का प्रस्ताव (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०
१३०. लायलपुर के बछड़े (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०

१३१. लासा के लासा लग गया (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१३२. वंशच्छेद (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०
१३३. वर्ण विषयक कतिपय विचार (लेख) 'मर्यादा'—जून, १९२० ई०
१३४. वाजपेय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१९१२ ई०
१३५. विक्रमोर्वशी की मूल कथा—१,२ (शोध लेख) 'समालोचक'—अप्रैल; नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
१३६. विचार स्वातंत्र्य (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१३७. विलायती राजनीति (टिप्पणी) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
१३८. विवाह की लाटरी (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२२ ई०
१३९. वेद में पृथिवी की गति (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
१४०. विश्वविद्यालय बिल (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१४१. वेलावित्त (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१४२. वैदिक भाषा में प्राकृतपन (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१४३. शिक्षा का सुधार कैसे होगा ? (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
१४४. शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन (लेख) 'विद्यार्थी'—१८ नवम्बर, १९१४ ई०
१४५. शुनःशेप की कहानी (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१९१२ ई०
१४६. शैशुनाक मूर्तियां (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
१४७. श्वेतकृष्ण (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
१४८. श्रद्धा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
१४९. श्री श्री श्री श्री (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
१५०. संगीत (भाषण-लेख) 'मर्यादा'—मार्च, १९११ ई०
१५१. संपादक नागरी प्रचारिणी पत्रिका के नाम (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९१० ई०
१५२. संस्कृत-प्रेम (टिप्पणी) 'समालोचक'—दिसम्बर, १९०३ ई०

१५३. संस्कृत की टिपरारी (निबन्ध) 'सरस्वती'—अप्रैल, १९१८ ई०
१५४. संस्कृत में अकबर का जीवनचरित (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१५५. समालोचक : कुछ टिप्पणियां 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१५६. समालोचक का प्रथम वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०
१५७. समालोचक का तीसरा वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १९०४ ई०
१५८. समालोचक का चौथा वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १९०५ ई०
१५९. समालोचक का नया वर्ष (लेख) 'समालोचक'—अगस्त, १९०५ ई०
१६०. सरलादेवी घोषाल का विवाह (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर, १९०५ ई०
१६१. सवाई (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१६२. साँप के काटने का विलक्षण उपाय (लेख) 'इंदु'—जनवरी, १९१३ ई०
१६३. साधु-संन्यासी (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१६४. सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधि स्थल : कालिदास की देशभाषा (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' भाग-१—१९२० ई०
१६५. सिटीजन आफ इण्डिया (टिप्पणी) 'समालोचक'—दिसम्बर-जनवरी, १९०४ ई०
१६६. सुकन्या की वैदिक कहानी (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
१६७. सुगतेता मृगनेत्रा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
१६८. सोऽहम् (लेख) 'समालोचक'—अगस्त-नवम्बर, १९०३ ई०
१६९. सौत्रामणी का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
१७०. स्वदेशी वस्त्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१७१. हलवाई (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —दिसम्बर, १९२० ई०
१७२. हिन्दी के अनुवादकर्ता (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
१७३. हिन्दी-साहित्य (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९२० ई०
१७४. हूण (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०

१७५. होली की ठिठोली वा एप्रिल फूल (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

समीक्षा : पुस्तकें/पत्र-पत्रिकाएं

१७६. अर्धांगिनी : 'समालोचक'—अगस्त, १९०४ ई०

१७७. अवध-समाचार : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१७८. आनंदकादम्बिनी : 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०

१७९. 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा' का द्वितीय वार्षिक विवरण : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०

१८०. उपन्यास : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०

१८१. करपल्लवी और गुप्तलेख : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०

१८२. कलकत्ता रिव्यू : 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०

१८३. कान्यकुब्ज : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

१८४. कायस्थ-समाचार : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१८५. काल निर्णय : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१८६. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास : 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर, १९०३ ई०

१८७. केनो : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१८८. खूब तमाशा : 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०

१८९. गीतार्थ पद्यावली : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०

१९०. ग्लैंडष्टोन का जीवनचरित्र : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१९१. चीनदर्पण : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०

१९२. छपी हुई व्यवस्था : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१९३. जैनमत समीक्षा : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०

१९४. ज्ञानमण्डल का स्वार्थ : 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९१९ ई०

१९५. टाड राजस्थान : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

१९६. त्रैभाषिक व्याकरण शब्दावली : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०

१९७. दो नवीन चरित्र : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०

१९८. धर्म संगीत : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

१९९. नवीन भारत—१-२ : 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५; जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

२००. निगमागमचन्द्रिका : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०

२०१. निबन्धमालादर्श : 'समालोचक'—जून-जुलाई, १९०३ ई०
२०२. पंचगीत : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२०३. परमापंच प्रकाश : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
२०४. पायनियर : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०
२०५. प्रयाग समाचार : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
२०६. प्रवासी : 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०
२०७. प्राचीन हिन्दी पोथियों की खोज-रिपोर्ट : 'समालोचक'— जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
२०८. बाबू रामदीनसिंह की जीवनी : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
२०९. बिहार बंधु : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२१०. ब्रज-विलास : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
२११. भारतवर्ष का इतिहास : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
२१२. भारत-जीवन : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; सितम्बर, १९०५ ई०
२१३. भारतमित्र : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०५ ई०
२१४. भारतमित्र की उपहार पुस्तकें : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३; जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२१५. मनोविनोद : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२१६. मोजफ्फरपुर हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
२१७. राघवेन्द्र : 'समालोचक'—सितम्बर; नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
२१८. राजपूत : 'समालोचक'—सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२१९. राजपूत और हम : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२२०. राजस्थान समाचार : 'समालोचक'—अगस्त; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; सितम्बर, १९०५ ई०
२२१. वृहद्देवता : 'समालोचक'—अगस्त, १९०५ ई०
२२२. वेंकटेश्वर : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०; अप्रैल, १९०५ ई०
२२३. वैश्योपकारक : 'समालोचक'—अगस्त-सितम्बर, १९०५ ई०
२२४. श्री भारतधर्म महामण्डल रहस्य : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२२५. समुद्रयात्रा पर व्यवस्थाएं : 'वेंकटेश्वर'—२८ अक्तूबर, १९१० ई०

२२६. सरस्वती : 'समालोचक'—अगस्त; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; अगस्त-सितम्बर; नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
२२७. सहयोगी साहित्य : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी; मार्च-अप्रैल; मई; जून-जुलाई; अगस्त, १९०४ ई०
२२८. साधु संन्यासी : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२२९. सुदर्शन : 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; अगस्त, १९०५ ई०
२३०. सुदर्शन की सुदृष्टि : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२३१. हिन्दी-प्रदीप : 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर, १९०५ ई०
२३२. हिन्दी बंगवासी : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२३३. हिन्दू : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
२३४. हिन्दूस्थान रिव्यू और कायस्थ समाचार/राजपूत : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

काव्य

२३५. अमल की तारीफ : (राजस्थानी कविता)—१ मार्च, १९०५ ई०
२३६. आहिताग्निका : 'समालोचक'—अक्तूबर, १९०५ ई०
२३७. झुकी कमान : 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
२३८: प्राकृत के कुछ सुभाषित : (अनूदित) 'सरस्वती'—दिसम्बर, १९१९ ई०
२३९. प्रार्थना : कुसुमांजलि – जनवरी, १९०२ ई०
२४०. बेनाक बर्न : (अंग्रेजी से अनूदित) 'समालोचक'—अगस्त, १९०५ ई०
२४१. भारत की जय : 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
२४२. रवि : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२४३. सुनीति : (अंग्रेजी से अनूदित) 'पाटलीपुत्र'—३१ अक्तूबर, १९१४ ई०
२४४. सोऽहं : 'सरस्वती'—नवम्बर, १९०७ ई०
२४५. स्वागत : 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०

जीवनचरित

२४६. आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी : 'मर्यादा'—फरवरी, १९१२ ई०
२४७. मनीषि समर्थदान जी : 'सरस्वती'—अक्तूबर, १९१४ ई०
२४८. महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी : 'सरस्वती'—अक्तूबर, १९१४ ई०
२४९. महेन्द्रलाल सरकार (डॉ०) : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
२५०. राव संसारचन्द्र सेन बहादुर : 'सरस्वती'—जुलाई, १९०९ ई०

२५१. हर्वर्ट स्पेंसर : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
२५२. हाहा ताता !!! : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०

पत्र-साहित्य

खुली चिट्ठियां

२५३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यकर्ता ! : 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
२५४. कुछ लोगों के नाम : 'समालोचक'—अगस्त, १९०४ ई०
२५५. खरे सज्जनों को खरी चिट्ठियां : 'समालोचक'—अगस्त, १९०४ ई०
२५६. हिन्दी भाषा के उपन्यास-लेखकों के नाम : 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०

प्रेरित पत्र

२५७. मिस्टर जैन वैद्य के नाम : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
२५८. 'राजतूत महासभा' और 'राजपूत' पत्र के नाम : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०
२५९. समालोचक-सम्पादक के नाम : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल; जून-जुलाई, १९०४ ई०; जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२६०. सरस्वती-सम्पादक के नाम : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

व्यक्तिगत पत्र

२६१. सम्पादक 'अभ्युदय' के नाम 'अभ्युदय'—१९ फरवरी, १९११ ई०
२६२. सम्पादक 'भारतमित्र' के नाम (हिन्दी में ऋग्वेद) : 'भारतमित्र'—शनिवार माघ सुदी, सं० १९६६ वि०; १९०९ ई०

सम्पादित ग्रंथ/शोध/अनुवाद

१६३. गोधन [पं० झाबरमल्लशर्मा विरचित 'गोधन' ग्रंथ की भूमिका]
२६४. निवेदन [ज्ञान योग (विवेकानन्द ग्रंथावली, प्रथम खण्ड) की भूमिका] 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—१९२१ ई०
२६५. परिचय (पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'बुद्धचरित' की भूमिका) 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—१९२० ई०
२६६. अशोक की धर्मलिपियां (सह-सम्पादित शोध ग्रंथ) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२०१९२२ ई०
२६७. देवीचन्द्रगुप्तम् (खण्डित नाटक) : विशाखदत्त पर शोध कार्य (?)

२६८. पुरानी हिन्दी (निबंध-प्रबंध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२०-२२ ई०
२६९. पृथ्वीराजविजयो महाकाव्य (सह-सम्पा०) वैदिक यंत्रालय, अजमेर
२७०. शकुंतलातत्व [श्री चंद्रनाथ वसु विरचित बंगला-पुस्तक का हिन्दी रूपांतर (अज्ञात)]
२७१. हिदुत्व [श्री चंद्रनाथ वसु विरचित बंगला पुस्तक का रूपान्तर](?)

संस्कृत-साहित्य

२७२. आशीर्वाद (कविता) 'भारतमित्र'—१.७.१९११ ई०
२७३. ईश्वर से प्रार्थना (कविता) 'पाटलीपुत्र'—३१ अक्तूबर, १९१५ ई०
२७४. गोदानम् (अज्ञात)
२७५. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (कविता)—१९१० ई०
२७६. महिमा, आशीःप्राय (कविता)—अज्ञात
२७७. राजराजेश्वर का स्वागत (कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
२७८. वात्स्यायनीय-कामसूत्रटीकाया जयमंगलायाः कर्त्ता (लेख) 'संस्कृत-रत्नाकर'—१९१४ ई०
२७९. वैदिक पृषता (लेख) 'संस्कृत-रत्नाकर'—१९१४ ई०
२८०. वैदिक षष्टतप (अज्ञात)
२८१. शिवाऽर्चनम् (कविता)—२२ जुलाई, १९०५ ई०

अंग्रेजी-साहित्य

२८२. आन शिवा-भागवता इन पातंजलिज़ महाभाष्या (लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—नवम्बर, १९१३ ई०
२८३. ए पोयम बाई भास (अंग्रेजी-लेख) 'दि इण्यिन एण्टीक्वरी'—नवम्बर, १९१२ ई०
२८४. ए साइन्ड मौलाराम (लेख) 'रूपम्'—अप्रैल, १९२० ई०
२८५. ककातिक माकन्स (लेख) 'द इण्डियन एण्टीक्वरी'—जनवरी, १९१३ ई०
२८६. द जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड बिल्डर्स (सह-सम्पादन) १९२० ई०
२८७. द रियल ऑथर ऑफ जयमंगला : ए कमेंटरी ऑन वात्स्यायन काम-सूत्रा (लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—जुलाई, १९१३ ई०
२८८. द लिटरेरी क्रिटिसिज्म (लेख) 'रूपम'—१९१९ ई०

□□□
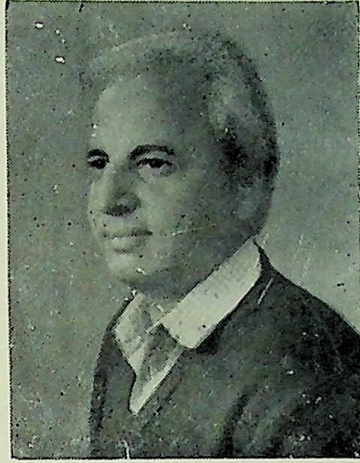
डॉ० मनोहरलाल

जन्म : २० सितम्बर, १९४८ ई०; गाँव : बड़ेट (चिन्तपुरनी), जिला : ऊना (हि० प्र०)

शिक्षा : एम० ए०; एम० लिट्०; पीएच० डी०; शोध-प्रबंध 'चन्द्रशेखर वाजपेयी का काव्य'—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से।

लेखन : गत दो दशकों से पत्र-पत्रिकाओं में ललित निबंध, लेख, समीक्षा, बाल-साहित्य तथा हिमाचली लोक-संस्कृति पर नियमित लेखन।

कृतियां : **घनआनंद कवित्त : प्रथम शतक** (सम्पादन-लेखन); **घनआनंद के काव्य में अप्रस्तुत-योजना** (लघु शोध-प्रबंध); **अमृतवाणी : सूक्तिकोश** (संकलित); **माटी मेरे गाँव की** (ललित निबंध : भाषा एवं संस्कृति निदेशालय, हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा 'श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी-सम्मान' से पुरस्कृत); **भेड़ का मुण्डन-संस्कार** (व्यंग्य); **सेवा के सौ काम** (प्रौढ़ों के लिए : भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत); **हिमाचल प्रदेश के व्रज-कवि** (आलोचना); **गुलेरी-साहित्यालोक** (सम्पादन-लेखन); **गुलेरी रचनावली** (सम्पादित) तथा **उसने कहा था और अन्य कहानियां** (सम्पादन-लेखन)।

सम्प्रति : १९७१ ई० से श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी-विभाग में।

पुरानी हिन्दी और शेष रचनाएं